युगीन परिप्रेक्ष्य में

# कबीर और अखा

की

# विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन

( महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा की पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत व स्वीकृत महानिबन्ध )


लेखक

डॉ० रामनाथ घूरेलाल शर्मा

एम. ए. ( हिन्दी, अंग्रेजी ), बी. टी., पी-एच. डी.

प्रवक्ता हिन्दी-विभाग, कला-संकाय

म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा ( गुजरात )


विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

# KABIR AND AKHA
# A COMPARATIVE STUDY

*by*

**Dr. R. N. Sharma**

प्रथम संस्करण : १९८३ ई०

मूल्य : अस्सी रुपये

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक

विद्या प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्माघाट, वाराणसी

# समर्पण

पूज्यपाद पिता श्रीयुत घूरेलाल शर्मा ( निधन
दि० १५ सितम्बर १६४६ ई०, गुरुवार )
के प्रति अपनी श्रद्धा का यह
प्रथम-पुष्प माता श्रीमती
महादेवी शर्मा के
कर-कमलों में

# निर्देशक के दो शब्द

हिन्दी कविता का मध्यकाल भारतीय मनीषा एवं प्रतिभा को उसकी सम्पूर्ण ऊर्जा के साथ प्रस्तुत करने के कारण महत्वपूर्ण है। इसके भक्तिकाव्य की अनेक रचनाएँ भक्ति तथा व्यक्ति के उदात्त संस्कारो के विशद आयामों को ही नही प्रकाश में लातीं अपितु व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक एवं सास्कृतिक जीवन-मूल्यो की युगानुरूप प्रतिष्ठा भी करती है। इस युगानुरूपता के बावजूद उसमे चिरंजीवी जीवनी शक्ति का ऐसा स्रोत प्रवहमान है जो एक सीमा तक आज के सन्दर्भ मे भी उपादेय तथा प्रासंगिक है। भारत की भावनात्मक एकता तथा उसकी सांस्कृतिक परम्परा की सूत्रबद्धता की अद्भुत चेतना उसमे विद्यमान है। विशेषकर निर्गुणधारा के कवि रचनाकार से अपेक्षाकृत युगद्रष्टा अधिक है। उनके काव्य मे जनवादी चेतना के साथ-साथ क्षेत्र या प्रदेश विशेष की सीमाओं को तोडकर समन्वय की विराट् चेष्टा की व्यापक भूमिका के हमें दर्शन होते है। यह उल्लेखनीय है कि यह समन्वय समझौतावादी नही है किन्तु विविध मतों एवं जीवन दृष्टियों की एकात्मवादी भूमिका से ऊर्जस्वित है। इन सन्त कवियों के जो प्राचीन संग्रह हमें प्राप्त होते हैं, उनमे उक्तियों के चयन मे कही भी यह नही दृष्टिगोचर होता कि संग्रहकर्ता किसी भी प्रकार के मत-पंथ या क्षेत्रीय भावना से प्रभावित है। गुरुग्रंथ साहब, प्राचीन सन्त काव्य-संग्रह तथा सर्वंगी ग्रंथ इसे प्रमाणित कर देते है।

सन्त कबीर और अखा उपर्युक्त भाव-धारा के मूल्यवान् रत्न है। सम्बन्धित प्रदेश तथा कालावधि मे बाह्यतः एक बडे अन्तराल को देखा जा सकता है; किन्तु जीवनदृष्टि, विचारधारा और जागतिक सन्दर्भगत उनकी प्रतिक्रिया आदि के दृष्टिकोण से वस्तुतः अन्तराल के स्थान पर साम्य दिखायी पडता है। युगीन परिप्रेक्ष्य मे भारतीय चिन्ताधारा इन दोनों ही द्रष्टाओं के काव्य मे नयी व्याख्या के साथ प्रस्तुत होकर अत्यन्त प्रासंगिक बन गयी है। वह यत्र-तत्र भौतिकता अथवा लौकिक उत्कर्ष की तुलना में निःश्रेयस् को अधिक महत्व देती है, किन्तु इसके बावजूद वह जीवन की यथार्थता की उपेक्षा नही करती। इन कवियों मे तत्कालीन जन-जीवन की दीन-हीन दशा के प्रति गहरी संवेदना है, प्रवंचित करके उसका शोषण करने वाले उच्च वर्ग के प्रति तीखा आक्रोश है और साथ ही रूढिग्रस्त व्यवस्था के कारण हीनता ग्रंथि के शिकार हुए निर्धन, निस्सहाय और नीच कहे जाने वाले जन-मानस मे आत्म-विश्वास एवं आत्मगौरव के संचार का अकम्पित संकल्प भी है।

उपर्युक्त तथ्यो के प्रकाश मे इनके काव्य की सोद्देश्यता स्वयंसिद्ध है। अत इसे सम्यक् न्याय-पावना देने के लिए युगीन परिप्रेक्ष्य मे उसका अध्ययन-अनुशीलन सर्वथा सार्थक ही कहा जायगा, क्योंकि युगीन चेतना का काव्य अतीत के स्वप्नों की दुनियाँ मे नही भ्रमण करता। वह परम्परा से यथावश्यक जीवनरस ग्रहण करके अपने कालगत सन्दर्भो को ही उजागर नही करता, अपितु उन्हे समुचित गति और दिशा भी प्रदान करता है। अत इस कारण ऐसा काव्य जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण का समर्थक ही कहा जायेगा। यह हर्ष का विषय है यह शोध प्रबन्ध इस अध्ययन दृष्टि से अनुप्राणित होकर तथ्यशोध और तत्त्ववोध को सार्थकता प्रदान करता है।

इसके लेखक डा० रामनाथ शर्मा एक निष्ठावान् प्राध्यापक है। अध्ययन के प्रति ललक, निरन्तर अध्यवसाय और अधीत निष्कर्षो को बारंबार परखने की इनकी चेष्टा विशेष उल्लेखनीय है; जिसका अनुभव मैने स्वयं विचार-विमर्श के अवसरों पर किया है। मुझे विश्वास है यह शोध कार्य भविष्य मे प्रकाश मे आने वाले अन्य अध्ययनो का पथ-प्रदर्शक सिद्ध होगा। आशा है, सुधीजन इस ग्रंथ को समादृत करेंगे।

आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग
म०स० विश्वविद्यालय वडौदा, गुजरात
गणतत्र दिवस २६ जनवरी, १९८३ ई०

मदनगोपाल गुप्त

# प्राक्कथन

संतों की विचार-श्रेणी के प्रति लेखक की अभिरुचि उसके विद्यार्थी-जीवन से ही रही है। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि गुजराती भाषा व साहित्य मे अखा का वही स्थान है जो हिन्दी मे कबीर का है और उनकी हिन्दी कृतियाँ सांस्कृतिक एवं साहित्यिक महत्व रखती है, तब उनके विषय में कुछ जानने की इच्छा क्रमशः तीव्रतर होती गयी। गुजरात राज्य मे अपने स्नातकोत्तर अध्ययन को पूर्ण करने और अध्यापन कार्य स्वीकार करने पर 'अक्षयरस' में प्रकाशित उनकी हिन्दी कृतियों का अध्ययन किया। उससे अखा के (हिन्दी व गुजराती के) समस्त साहित्य के गम्भीर अध्ययन की प्रेरणा मिली। उनकी रचनाओं और संबंधित विवेचनात्मक साहित्य के अध्ययन से जो तथ्य प्रकाश में आये वे निम्नांकित थे—

(१) अखा ने कबीर को 'भक्ति-स्तम्भ' व 'सब संतन का पीर' कहकर तथा उनकी गणना ध्रुव व प्रह्लाद जैसे आदर्श भक्तों में करके, उनके प्रति अपना सम्मान व्यक्त किया है और स्वयं को नामदेव, कबीर, रैदास, सेन एवं दादू की कोटि का ही एक 'हरिजन' अथवा संत कहा है।[1] अखा के प्रमुख शिष्य लालदास ने असंदिग्ध शब्दों मे कबीर को स्वयं की आत्मा आदि कहा है।[2]

(२) संत-साहित्य के विवेचकों अथवा अखा की रचनाओं के संपादकों में से श्री जगन्नाथ दामोदर त्रिपाठी, डा० चन्द्रप्रकाश सिंह, डा० अम्बाशंकर नागर एवं परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति विद्वान् अखा को उत्तर-भारत की संत-परंपरा का एक संत मानते है, जबकि डा० योगीन्द्र त्रिपाठी, डा० उमाशंकर जोशी एवं डा० एन०ए० थूंठी प्रभृति विद्वान् ऐसा नही मानते।

(३) अखा की विचारधारा के विषय में जो कुछ कहा गया है वह या तो एकदम परिचयात्मक है या फिर पूर्वग्रह से युक्त है। अर्थात् 'केवलाद्वैत इन गुजराती

---

१. द्र०, अक्षयरस : भोरी भक्ति अंग, सा० ५ व संतप्रिया कवित्त २१-२२।

२. हम कबीर के पास हैं कबीर हमारा ओर।
एक जुग जुग प्रत्ये आवत है परमहंस महाघोर॥

भगवान् जी महाराज संपादित : संतोनी वाणी, पृ० ५०।

कबीर हमारी आत्मा हम कबीर की मत।
एक सुझे रमी रह्या कोई न जाणे गत॥ वही, पृ० ५३।

पोयट्री' के लेखक की दृष्टि में अखा आदि यदि केवलाद्वैतवादी, अजातवादी व वेदान्ती आदि हैं तो 'दि वैष्णवाज ऑफ गुजरात' के लेखक की दृष्टि में पुष्टि-मार्गीय-वैष्णव। शेष विद्वानो मे से अधिकाश ने अखा को एक ओर केवलाद्वैत-वादी, वेदान्ती व ज्ञानी आदि सिद्ध किया है दूसरी ओर उनके भाव, विचार, भाषा, काव्य-रूप, खण्डनात्मक आलोचना एवं निर्भीक स्वभाव आदि पर कबीर की प्रतिच्छाया या प्रभाव भी माना है।[1] गुजराती के विद्वानों ने उनकी गुजराती-रचनाओं को ही महत्व दिया है तो हिन्दी विद्वानों ने हिन्दी-रचनाओं को।

(४) इस समग्र स्थिति का निष्कर्ष यह था कि अखा यद्यपि अन्तर्बाह्य साक्ष्यों से उत्तर-भारत की संत-परंपरा के एक प्रतिभाशाली सन्त सिद्ध होते है, तथापि उनके विचारधारा-विषयक अध्ययन या तो उसके मूल-स्रोत से विच्छिन्न करके किये गये है या फिर वे एकदम परिचयात्मक हैं। अब यदि अखा के साथ न्याय करना है अथवा उनकी विचारधारा को सही अर्थ में समझना है तो यह आवश्यक है कि या तो उसका अध्ययन संत-मत के परिप्रेक्ष्य में किया जाय अथवा संत-परंपरा के मूल-स्रोत कबीर के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। कहना न होगा, द्वितीय विकल्प मे प्रथम का भी समावेश हो जाता है। अध्ययन-क्षेत्र की इस आवश्यकता का अनुभव लेखक गत कई वर्षों से करता रहा है। इस कार्य को प्रारम्भ करने की अपनी इच्छा जब उसने श्रद्धेय डा० मदनगोपाल गुप्त से निवेदित की तो उन्होंने इसे अधिक वैज्ञानिक, शोधपूर्ण एवं उपादेय बनाने की दृष्टि से युगीन परिप्रेक्ष्य के प्रकाश मे इसे पूर्ण करने के महत्वपूर्ण सुझाव के साथ अपनी स्वीकृति दे दी।

कबीर एवं अखा से संबंधित आलोचनात्मक साहित्य की समीक्षा यद्यपि यथा-स्थान आगे की गई है, फिर भी यहाँ इतना उल्लेख्य है कि कबीर-विषयक समीक्षात्मक अध्ययन जितना विस्तृत, गम्भीर एवं वैविध्यपूर्ण है उतना अखा-विषयक नही। अखा-विषयक विवेचन का अधिकांश उनके जीवनवृत्त, रचनाओं के परिचय, उनके रचना-क्रम एवं संख्या तथा काव्य-कौशल विषयक ही है। उनका विचारधारा-विषयक विवेचन, जैसा कि ऊपर कहा गया है या तो एकदम परिचयात्मक है या फिर पूर्वग्रहो से युक्त। उनकी साधना व सामाजिक विचारधारा से संबंधित कोई गम्भीर प्रयत्न प्रायः नही देखा जाता। अतः उनका आध्यात्मिक एवं सामाजिक विचारधारा-विषयक तटस्थ व गम्भीर अध्ययन आज भी किसी शोधार्थी से अपेक्षित है।

---

१. द्र०, डा० उमाशंकर जोशी : अखो अेक अध्ययन, पृ० १३६, ३७, २६५, अखेगीता-प्रवेशक, पृ० ११।

डा० अम्बाशंकर नागर : गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ, पृ० ८।

ध्यातव्य यह है कि किसी भी व्यक्ति अथवा कवि के व्यक्तित्व व विचारधारा का निर्माण या विकास प्राय युगीन 'परिप्रेक्ष्य मे ही होता है। सामान्य व्यक्ति अपने इस युगीन परिवेश से जहाँ प्रभावित मात्र होता है, प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति उसे प्रभावित भी करता है। कहना न होगा कि स्वयं के वातावरण को प्रभावित करने के उसके प्रयत्नों में ही उसकी विचारधारा या जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्ति होती है। अतः प्रथम तो यह कि उसकी विचारधारा अपने युगीन परिप्रेक्ष्य के प्रति एक या दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया रूप होती है। दूसरे यह कि उसकी इस विचारधारा का मूल्यांकन उसकी समसामयिक या सर्वकालीन, प्रादेशिक या सार्वभौमिक एवं साम्प्रदायिक या सार्वजनिक उपयोगिता के आधार पर ही होता है। अत· युगीन परिप्रेक्ष्य मे किया गया किसी कवि की रचनाओं का मूल्यांकन जितना वैज्ञानिक, प्रामाणिक व न्यायसंगत हो सकता है उतना काव्य-शास्त्रीय नियमों के अधीन रहकर उसके द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूप, रस, छन्द, अलंकार एवं भाषा आदि से संबंधित विशेषताओं का निरूपण नही।

युगीन परिप्रेक्ष्य मे अखा-विषयक कोई अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। कबीर का एतद्विषयक जो अध्ययन हुआ है वह एक तो डा० सरनामसिंह, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य परशुराम चतुर्वेदो प्रभृति विद्वानों की रचनाओं में यत्र-तत्र विकीर्ण अवस्था मे है, दूसरे उनमे इन विद्वानों द्वारा जहाँ-तहाँ अपने निष्कर्षो का आधार कबीर की संदिग्ध रचनाओं को भी बनाया गया है। मध्ययुगोन संत-काव्य मे प्रतिबिम्बित भारतोय संस्कृति का निरूपण डा० मदनगोपाल गुप्त के शोध-प्रबंध मे पर्याप्त व्यवस्थित व विस्तृत ढंग से किया गया है। लेखक उसकी विषय-व्यवस्था से लाभान्वित भी हुआ है, किन्तु एक तो वह कबीर तक ही सीमित नही है, दूसरे उसमे भी जहाँ-तहाँ कबीर की संदिग्ध रचनाओं का आधार ग्रहण किया गया है। डा० प्रह्लाद मौर्य का शोध-प्रबध 'समकालीन भारतीय समाज और कबीर का समाज-दर्शन' हाल ही मे 'कबीर का समाज-दर्शन' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। विद्वान् लेखक ने कबीर की उक्तियों के मन-माने अर्थ करके उन पर अपने विचारों का असंगत आरोपण इस हद तक किया है कि उसके निष्कर्षो की विश्वासनीयता ही समाप्त हो गई है। अत प्रामाणिक रचनाओं के आधार पर युगीन परिप्रेक्ष्य मे किये गये इस अध्ययन का न्यूनाधिक महत्व दोनों कवियों की दृष्टि से बना ही रहता है।

किसी कवि अथवा कृति का समीक्षात्मक अध्ययन यद्यपि महत्वपूर्ण होता है तथापि उसे पूर्णता तो तुलनात्मक अध्ययनों से ही दी जा सकती है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर, सूर एवं तुलसी के क्षेत्रीय, या उनकी रचनाओं तक ही सीमित, अध्ययन को अपूर्ण या घाटे का व्यापार बताते हुए लिखा है कि 'यदि हम सचमुच सूरदास को समझना चाहते है तो चंडीदास, विद्यापति, ( नरसो मेहता ) या अन्य वैष्णव कवियों को समझें

क्योंकि उन्हें समझे बिना हम बहुत घाटे में रहेंगे।''[1] डा० द्विवेदी के इस विचार को यदि प्रस्तुत विषय के संदर्भ मे कहना चाहे तो कह सकते है कि यदि अपि कबीर को समझना चाहते है तो उनके समान गुण-धर्म वाले उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती, देश के अन्य निर्गुणियाँ संतों का अध्ययन करें—जिनमे से गुजरात के अखा भी एक हैं। यदि अखा को समझना चाहते हैं तो संत-परंपरा के मूल स्रोत संत कबीर का अध्ययन करें और दोनो को एक साथ समझना चाहते हैं तो उनका तुलनात्मक अध्ययन करें। युग-प्रवर्तक कहे जानेवाले इन दोनों कवियो का तुलनात्मक अध्ययन अभी तक नही हुआ है। अतः जैसा कि ऊपर कहा गया है इसमे अखा के साथ तो न्याय किया ही जा सकेगा, कबीर-विषयक अध्ययन को पूर्णत्व प्रदान करने में भी यत्किंचित् योगदान दिया जा सकेगा। इससे विषय की मौलिकता व शोध-क्षेत्रीय उपादेयता स्वयंसिद्ध है।

राष्ट्रभाषा के रूप मे मान्यता प्राप्त होने के बाद हिंदी का जो देश-व्यापी अध्ययन प्रारंभ हुआ है उससे एक ओर तो उसके क्षेत्रीय साहित्य की गवेषणा को प्रोत्साहन मिला है, दूसरी ओर उसके और बंगला, मराठी, तमिल, तेलुगू एवं मलयालम आदि भाषाओं के विशिष्ट साहित्यकारो, कृतियो एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों आदि के तुलनात्मक अध्ययनों का मार्ग प्रशस्त हुआ है। गुजरात प्रान्त भी इसका अपवाद नही है। यहाँ के क्षेत्रीय हिन्दी साहित्य के गवेषणात्मक अध्ययनो के उपरान्त हिन्दी व गुजराती के विशिष्ट साहित्यकारों, कृतियो, काल-खण्डो, काव्य-भेदो एव साहित्यिक प्रवृत्तियों के अनेक तुलनात्मक अध्ययन हो चुके है और संप्रति हो रहे है। यह अध्ययन इसी श्रृंखला की एक आवश्यक कडी है।

अध्ययनगत सुविधा के विचार से प्रस्तुत शोध-प्रबंध को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है, जिनकी विषय-व्यवस्था का संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है—

प्रथम अध्याय 'विषय-प्रवेश' का है, जिसमे इस अध्ययन की द्विविध आधारभूत सामग्री—(१) कबीर एव अखा की प्रामाणिक रचनाएँ एवं (२) उनसे संबंधित आलोचनात्मक साहित्य का परिचय प्रस्तुत किया गया है। किसी कवि की विचारधारा के अनुशीलन के लिए उसकी रचनाओ की प्रामाणिकता का निश्चय होना भी आवश्यक होता है। इसलिए सर्वप्रथम तो दोनो कवियो की रचनाओं की प्रामाणिकता-विषयक प्रवर्तित मान्यताओं की समीक्षा की गई है। इससे कबीर की रचनाओ के विषय में किसी नवीन निष्कर्ष पर यद्यपि नही पहुँचा जा सका है, तथापि अद्यतन सामग्री के प्रकाश में की गई इस समीक्षा का अपना महत्व है। अखा की रचनाओं की प्रामाणिकता, उनकी संख्या, छन्द-संख्या एवं पाठान्तर आदि के विषय में कुछ ऐसे नवीन एवं उपयोगी निष्कर्ष निकाले गये है कि उनसे न केवल उनके पाठ-शोधन एवं पुनः संपादन की, वरन् एत-

१. मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १३६।

विषयक उपलब्ध शोध सामग्री के भी पुनः संस्कार अथवा नवीन अनुसंधान की, आवश्यकता असंदिग्ध रूप से प्रतिपादित होती है। प्रामाणिक मानकर जिन रचनाओं को इस अध्ययन का आधार बनाया गया है उनकी सूची यथास्थान दे दी गई है, और दोनों कवियों के जीवनवृत्त से संबंधित अन्तर्बाह्य-साक्ष्यों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

प्रथम अध्याय मे, दोनों कवियों के जीवन-काल निश्चित करने और वैज्ञानिक ढग से उनका जीवनवृत्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इससे कबीर के जोवन-विषयक जो निष्कर्ष निकले है वे सर्वथा नवीन न होकर भी अनुपेक्षणीय है, अखा के जीवन-विषयक कुछ निष्कर्ष निश्चय ही नवीन और अद्यावधि प्रवर्तित अनेक भ्रामक मान्यताओं के निवारण मे उपयोगी है। दोनों के जीवनवृत्तो की तुलना से ज्ञात होता है कि काल-खण्ड, प्रदेश, भाषा, व्यवसाय, जाति, शिक्षा-दीक्षा आदि के भिन्न होने पर भी उनके निष्कपट, निर्द्वन्द्व, स्पष्टवादी, संवेदनशील एवं परोपकारी स्वभाव व व्यक्तित्व मे अद्भुत साम्य था। निश्चय ही यह साम्य किसी बाह्य परिबल के कारण नही वरन् उनकी सत्यनिष्ठा व आत्मबल के कारण था। कवि के कृतित्व के अध्ययन मे उसके व्यक्तित्व तथा उसके जीवन की घटनाओं व परिस्थितियों के ज्ञान को आवश्यक मान कर यह प्रयत्न किया गया है।

द्वितीय अध्याय मे, कबीर और अखा की समकालीन—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों की—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निरूपण और उन पर पडे उसके प्रभाव का निर्देश किया गया है। तदुपरान्त दोनों कवियों के देश-कालगत परिवेश का अन्तर स्पष्ट करके उनकी रचनाओं तथा मान्यताओं मे एतज्जन्य वैशिष्ट्य को दर्शाया गया है। इसी पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य मे, आगे के अध्यायों मे आलोच्य कवियों के धार्मिक एवं सामाजिक विचारों का अनुशीलन किया गया है।

तृतीय अध्याय मे, दोनों कवियों की समसामयिक दार्शनिक पृष्ठभूमि और उन पर पड़े उसके प्रभाव का निरूपण किया गया है। परंपरागत दार्शनिक मतों एवं साधना-पद्धतियों मे से किसने किस कवि को सर्वाधिक प्रभावित किया है यह भी स्पष्ट किया गया है। इस प्रभाव-निरूपण से दोनों कवियों की सारग्राही-वृत्ति का उद्घाटन हुआ है। किन्तु सारग्रहण अथवा विविध दार्शनिक मतों व साधनाओं से दर्शाये गये उनके भाव, विचार एवं उक्ति-साम्य का यह अर्थ नही है कि उन्होने उन सबका विविध ज्ञान या अनुभव प्राप्त करके सारग्रहण किया था। तथ्य यह है कि पारस्परिक आदान-प्रदान की दीर्घ-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उनके समय तक एक मत या साधना की अविरोधी बातो का दूसरे मत या साधना मे ऐसा सम्मिश्रण हो गया था कि उन्हें पृथक् करना संभव न था। अत. यह आवश्यक नही कि उन्होंने प्रत्येक मत व साधना के प्रभाव को सीधे उसी से ग्रहण किया हो, अन्य स्रोतों एवं सामान्य वातावरण से भी यह संभव था। आगे आलोच्य कवियो के आध्यात्मिक विचारों का अनुशीलन इसी पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य मे किया गया है।

चतुर्थ अध्याय मे, कबीर एवं अखा के ब्रह्म, जीव, माया, मोक्ष एवं सृष्टिरचना-विषयक, यत्र-तत्र विकीर्ण विचारो को तर्क-सगत अथवा व्यवस्थित ढग से प्रस्तुत किया गया है। आवश्यकतानुसार उनकी उक्तियो से विचारसाम्य रखनेवाली संस्कृत-ग्रंथों की उक्तियो के प्रस्तुतीकरण अथवा संदर्भ उल्लेख द्वारा उनके मूल-स्रोतों का भी सकेत किया गया है। सारग्राही प्रवृत्ति से प्रेरित होकर विभिन्न स्रोतों से ग्रहण की गई मान्यताओ व पारिभाषिक शब्दो का स्वमतानुकूल नवीन अर्थघटन करके उन्होंने विरोध मे अविरोध और भिन्नत्व मे एकत्व स्थापना का जो प्रयत्न किया है उसे उद्घाटित किया गया है। तुलनात्मक निष्कर्षो के अतर्गत दोनों कवियों के विचार-वैशिष्ट्य को स्पष्ट किया गया है, जिससे सत-मत के कबीर के परवर्ती विकास पर प्रकाश पडता है।

पंचम अध्याय मे, कबीर और अखा की साधनात्मक अनुभूति की व्यंजक, यत्र-तत्र विकीर्ण, उक्तियों के आधार पर उनके साधना-विषयक विचारों को व्यवस्थित ढग से प्रस्तुत किया गया है। उनकी साधना मे स्वीकृत हुए ज्ञान, योग एवं भक्ति के स्वरूप, उनके अगागी सम्बन्ध, एव समग्रतया उनकी साधना के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। जिससे विविध स्रोतों से अविरोधी तत्वों के चयन तथा नवीन अर्थघटन द्वारा विरोध में अविरोध की स्थापना करके अपनी साधना को सर्वग्राह्य एवं सर्व-सुलभ रूप देने के उनके प्रयासो पर प्रकाश पडता है। अखा की साधना का इतने विस्तृत, व्यवस्थित एवं प्रामाणिक ढंग से यहाँ सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया है। दोनों कवियों के साधना-विषयक विचार-वैशिष्ट्य मे व्यक्त हुई युगीन विशेषताओ को भी लक्षित किया गया है।

षष्ठ अध्याय मे, संत-मत से भिन्न धर्म, मत एवं साधनाओं के प्रति आलोच्य कवियों की प्रतिक्रिया का अवलोकन किया गया है। व्यक्तिगत या मताग्रहजन्य, रागद्वेष से निर्लिप्त रहकर विविध धर्म, मत व साधनाओ, भेद-भाव की पोषक रूढिया, बाह्याचारों एवं वेशादिक की इनके द्वारा की गई बौद्धिक आलोचना से इनके सुधारवादी व्यक्तित्व का उद्घाटन हुआ है। विविधाचारों, क्रियाओ एव वेशादि के इन्होंने जो मानसिक विकल्प प्रस्तुत किये है उन्हे यथास्थान प्रस्तुत करने मे इनके धार्मिक विचारो के रचनात्मक पक्ष को यहाँ अधिक सुसंगत रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इनके विचार-वैशिष्ट्य में व्यक्त हुई युगीन प्रवृत्तियो को भी स्पष्ट किया गया है।

सप्तम अध्याय मे, व्यक्ति और समाज, मध्ययुगीन समाज का स्वरूप और उसकी सुधारवादी चेतना का अवलोकन करते हुए आलोच्य कवियों के समाज-दर्शन को प्रस्तुत किया गया है। प्रचलित अर्थ में उनमें से कोई भी समाजशास्त्री अथवा समाज-सुधारक यद्यपि न था तथापि वे इस ओर से सर्वथा उदासीन भी न थे। अत अपने साधना-विषयक कथन की स्पष्टता के लिए लौकिक जीवन से उन्होंने जिन अनुभवों का आधार ग्रहण किया है, तथा जिन उक्तियों मे अपनी सर्वात्मवादी दृष्टि का प्रतिपादन और सामा-

जिक जीवन की विकृतियों की आलोचना की है, उन्ही के आधार पर उनके सामाजिक विचारों का निरूपण किया गया है। सामान्यतः सामाजिक जीवन की विकृतियों की उनकी आलोचना को ही उनका समाज-सुधार माना जाता रहा है, तथापि यहाँ उनके एतत्संबधी विचारों को समाज-शास्त्रीय नियमों के प्रकाश मे प्रस्तुत किया गया है। इससे उनके समाज-दर्शन का रचनात्मक पक्ष अधिक स्पष्ट व सुसगत बन सका है।

अष्टम अध्याय मे, आलोच्य कवियों के राजनीतिक, आर्थिक, व्यक्तिगत, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोणों का अनुशीलन किया गया है। कहना न होगा कि कबीर एवं अखा मुख्यतः आध्यात्मिक क्षेत्र के व्यक्ति थे; अतः व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं सास्कृतिक जीवन-विषयक उनके विचार जितने स्पष्ट व पूर्ण हो सकते है उतने राजनीतिक व आर्थिक आदि-विषयक नहीं। इस अनुशीलन से अर्थ, राजनीति एवं साहित्य-विषयक उनके जो विचार प्रकाश में आते है वे सर्वांगीण व पूर्ण न होने पर भी, सर्वात्मवादी दृष्टि के पोषक होने के कारण, अपना सार्वभौमिक एवं सर्वकालीन महत्व रखते हैं।

उपसंहार शीर्षक के अंतर्गत, इस अध्ययन की उपलब्धियों, आलोच्य कवियों की विचारधारा के महत्व, उसके साम्य व वैषम्य, तथा उसके व्यापक प्रभाव का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के पश्चात् यहाँ इतना निवेदित कर देना भी आवश्यक है कि इस शोध-प्रबंध का विषय सर्वथा नवीन एवं मौलिक है। उसका प्रस्तुतीकरण भी नवीन और तर्कसंगत निष्कर्षो मे सहायक हो सके इस ढग का अपना है। आलोच्य कवियो की उक्तियों की नवीन व्याख्या करते समय वैचारिक संगति और औचित्य का सर्वथा ध्यान रखा गया है।

कबीर की विचारधारा के अनुशीलन के लिए इस अध्ययन मे डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' को मुख्य आधार बनाया गया है, क्योंकि उसमे सकलित रचनाओं के प्रामाणिक होने की संभावना सर्वाधिक है। अतः इस अध्ययन के निष्कर्ष, बीजक आदि सदिग्ध रचनाओ के आधार पर निकाले गये अन्य विद्वानो के निष्कर्षो से यदि अभिन्न है तो इनकी प्रामाणिकता अधिक है और यदि भिन्न है तो ये नवीन और प्रामाणिक दोनो है। अखा की प्रामाणिक समझी गई, हिन्दी व गुजराती की, समस्त रचनाओं का आधार ग्रहण किया गया है, अत. उनकी विचारधारा का प्रतिनिधित्व जितना यह अध्ययन कर सकता है उतना गुजराती विद्वानो द्वारा अखेगीता, छप्पा एवं अनुभवविन्दु जैसी कुछ गिनी-चुनी रचनाओ के आधार पर, अथवा हिन्दी के विद्वानों द्वारा उनकी हिन्दी रचनाओं के आधार पर, किये गये अध्ययन नही कर सकते।

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से भी स्पष्ट है; इस अध्ययन का उद्देश्य कबीर एवं अखा-विषयक ऐतिहासिक तथ्यों का अनुसंधान करना नहीं—(यद्यपि उनका भी अपना महत्व है); प्रत्युत उनके वैयक्तिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे उनकी विचारधारा का तटस्थ-

दृष्टि से, अध्ययन करके, उनके साथ न्याय करना तथा मध्यकालीन भारत की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकता, कबीर के देश-व्यापी प्रभाव, संतमत के विकास, हिन्दी भाषा के तत्कालीन सांस्कृतिक महत्व, एव उसके विकास व विस्तार में संतो के योगदान आदि को प्रकाश मे लाना है। इन सभी दृष्टियों से देखने पर इस अध्ययन को सर्वांगीण एवं पूर्ण यद्यपि नही कहा जा सकता, तथापि एतद्विषयक अनेक गुत्थियो को सुलझाने में लेखक को जो न्यूनाधिक सफलता मिली है उससे इन कवियों के, विशेषकर अखा के, आगे के अध्ययनो का मार्ग अपेक्षाकृत रूप से अधिक सरल व प्रशस्त होगा, इसमे सदेह नही। अन्त मे यह कि अपने-अपने क्षेत्र मे कबीर एवं अखा की गणना शिरोमणि संतो के रूप मे होती आई है। उनका यह तुलनात्मक अध्ययन किसी एक को ज्येष्ठ व श्रेष्ठ तथा दूसरे को कनिष्ठ व लघु सिद्ध करने के पूर्वग्रह से सर्वथा मुक्त है। दोनो ही के व्यक्तित्व एवं विचार-विषयक वैशिष्ट्य की रक्षा सर्वथा तटस्थ रहकर की गई है।

इस शोध-कार्य को पूरा करने मे श्रद्धेय डा० मदनगोपाल गुप्त का जो स्नेह सहकार-युक्त मार्ग-दर्शन मिला उसके लिए उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना तो औपचारिकता का पालन मात्र है, लेखक उनका सदा ऋणी रहेगा।

इस अध्ययन के लिए आवश्यक सदर्भ ग्रंथों को उपलब्ध कराने मे श्रीमती हंसा मेहता लाइब्रेरी, महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, वडौदा, केन्द्रीय पुस्तकालय वड़ौदा, सेठ टी० सी० कापडिया आर्ट्स कालेज, बोडेली, एव एम० के० अमीन आर्ट्स एण्ड सायन्स कालेज एण्ड कालेज आफ कामर्स, पादरा, के ग्रन्थपालों से जो सहकार मिला है उसके लिए लेखक उनका आभारी है।

तदुपरान्त इस अध्ययन मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जिन विद्वानों के विचारों से लेखक लाभान्वित हुआ है उन सभी के प्रति अपनी श्रद्धा व कृतज्ञता व्यक्त करना वह अपना धर्म समझता है।

इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन-हेतु 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' दिल्ली से **पाँच हजार रुपये** की 'सहायता-राशि' प्राप्त हुई है। उसके लिए लेखक उक्त सस्था का कृतज्ञ है।

इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व स्वीकारने के लिए लेखक विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के सचालक **श्री पुरुषोत्तमदास मोदी** का आभारी है।

रामनवमी, संवत् २०३८ वि०
दिनाक २-४-१९८२ ई०

**रामनाथ घूरेलाल शर्मा**

# विषयानुक्रमणिका

## प्रथम अध्याय

# जीवन-वृत्त

**विषय प्रवेश**–व्यक्ति के व्यक्तित्व अथवा उसके शारीरिक स्वास्थ्य, स्वभाव, आचार एवं विचार आदि के विकास मे उसकी आनुवंशिकता ( Heredity ) एवं संस्कार आदि का विशेष महत्व होता है। समाजशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य भी एक जीव होता है अतः जीवशास्त्र ( Biology ) के कतिपय नियम जिस तरह वनस्पतियों पर लागू होते हैं उसी तरह व्यक्तियों पर भी। अच्छी उपज के लिए जिस तरह अच्छे बीज, छाया-धूप या ऋतु की अनुकूलता, उर्वरा-भूमि, उर्वरक एवं पानी की उचित मात्रा, समय पर निराना एवं आवश्यक देखभाल आदि महत्वपूर्ण होते हैं उसी प्रकार व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए व्यक्ति का वंश, जाति, कौटुम्बिक वातावरण, उद्यम या आर्थिक सम्पन्नता, शिक्षा-दीक्षा, गुरु, जीवन-काल एवं पर्यटन आदि होते है। माता-पिता से जिन शारीरिक एवं बौद्धिक गुण-धर्मों को ग्रहण कर वह जन्म लेता है उनका नियोजित विकास उक्त सभी तत्वों की अनुकूलता द्वारा ही संभव होता है। किन्तु व्यक्ति वनस्पतियों के पौधों की तरह स्थिर, निष्क्रिय, विचार-शून्य एवं असहाय नही होता। परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने या स्वयं उनके अनुकूल हो जाने की क्षमता भी उसमे पाई जाती है। परिणाम-स्वरूप उपर्युक्त तत्वों की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता मे उसका क्रियात्मक अथवा प्रति-क्रियात्मक विकास संभव होता है।

उल्लेख्य यह है कि व्यक्ति-विशेष के जीवन से सम्बन्धित उपर्युक्त सभी तत्वो के समीक्षात्मक अवलोकन को उसका 'जीवनवृत्त' कहा जाता है, और जैसा कि निर्देश किया जा चुका है, ये सभी तत्व एक या दूसरे रूप मे उसको विचारधारा को भी प्रभावित करते हैं। अतः कवीर एवं अखा की विचारधारा को सम्यक् रूप से समझ सकने की दृष्टि से उपर्युक्त तत्वों के आधार पर उनका जीवनवृत्त प्रस्तुत किया जाएगा।

### (१) कबीर का जीवन

कवीर के विषय मे जो तथ्य निर्विवाद रूप से स्वीकृत कहे जा सकते है उनमे से एक है—कपड़े बुनने का उनका उद्यम और दूसरा उनका नाम। अतः यहाँ एतद्विषयक अनावश्यक विस्तार में न पड़कर अन्त:साक्ष्य के रूप मे, उनके नाम की स्पष्ट सूचना देने-वाली, निम्नांकित उक्तियाँ प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त होगा—

जाति जुलाहा नाम कवीरा अजहूँ पतीजो नाहीं।
\+ + +
जाति जुलाहा नाम कवीरा बनि बनि फिरो उदासी ॥[1]

---

१. क० ग०, पद २७०, पृ० १३५।

उल्लेख्य यह कि उनकी रचनाओं मे उनके नाम की 'छाप' के रूप मे 'कबिरा', 'कवीरा', 'कवीरौ', 'कबीरु', 'जनकबीरा' एवं 'दास कवीरा' आदि का प्रयोग हुआ देखा जाता है, किन्तु ये सभी 'कबीर' के ही रूपान्तर है जैसा कि निम्नांकित उक्ति से भी सिद्ध होता है—

'कबिरा तुही कवीरु तू तेरो नाउँ कबीर ।[1]

## माता-पिता एवं परिवार

कवीर के माता-पिता के सम्बन्ध में अन्तर्साक्ष्य से कोई प्रकाश नही पडता अत. इस विषय मे बहिर्साक्ष्य का आश्रय ग्रहण करने के लिए लेखक विवश है। द्रष्टव्य यह है कि इन बहिर्साक्ष्यो के प्रणेताओं मे से कबीर को चाहे कोई पुरइन के पत्तों पर अवतरित हुआ माने[2], या विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न[3], उनके असली पिता के रूप में चाहे स्वामी अष्टानन्द को स्वीकार करे[4] चाहे किसी बडे गुंसाई को[5], यत्किंचित परिवर्तन के साथ यह सभी स्वीकार करते है कि उनका पालन-पोषण नीमा व नीरू नामक जुलाहे-दंपत्ति के घर हुआ था। इस प्रकार अधिकाश विद्वान् उन्हे नीमा व नीरू का पोषित पुत्र ही मानते है, किन्तु कुछेक उन्हें उनका औरस-पुत्र भी मानते है।[6] इस दूसरी मान्यता के विषय मे एक तो पुष्ट प्रमाणो का अभाव है, दूसरे नीमा व नीरू के पोषित पुत्र होने की मान्यता न केवल परपरा मे प्रसिद्ध है वरन् यत्किंचित परिवर्तन के साथ कबीर-पंथ मे भी स्वीकृत है। ऐसी स्थिति मे कवीर को नीमा व नीरू का पोषित पुत्र ही माना जा सकता है।

कबीर के परिवार के विषय मे भी निर्भ्रान्त रूप से कुछ कहना कठिन है, क्योंकि उनके अनुयायियों ( या पंथ ) मे प्रचलित मान्यतानुसार वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। उनकी पत्नी समझी जानेवाली लोई उनकी शिष्या थी, और उनकी सन्तान समझे जानेवाले कमाल एव कमाली विभिन्न अवसरो पर मृत-अवस्था मे प्राप्त कोई बालक एवं बालिका थे जिन्हे जीवित कर उन्होने अपना शिष्य एवं शिष्या बना लिया था।[7] इस मान्यता से उपर्युक्त माता-पिता के अतिरिक्त किसो अन्य से उनका कोई पारिवारिक सम्बन्ध स्पष्ट

---

१ क० ग०, परिशिष्ट, सा० १७७, पृ० १९९।

२ कवीर पथ मे स्वीकृत मान्यता है। देखें, ब्रह्मलीन मुनि कृत 'श्रीसद्गुरु कबीरचरितम्'।

३ देखें, महाराज रघुराज सिंह . भक्तमाल, रामरसिकावली।

४ देखे. अहमदशाह दि बीजक आफ कबीर, पृ० ४-५।

५ दे०, डा० रामकुमार वर्मा . सत कबीर, कबीर का जीवनवृत्त, पृ० ७२।

६ दे०, डा० रामजीलाल सहायक कबीर दर्शन, पृ० २०। डा० सरनाम सिंह : कबीर व्यक्तित्व कृतित्व एव सिद्धान्त, पृ० २६। डा० त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० ४०।

७. दे०, ब्रह्मलीन मुनि कृत सद्गुरु कबीरचरितम्।

नही होता। परन्तु सामान्यतः उनके परिवार मे उनके माता-पिता, पत्नी-लोई या अन्य कोई, एक पुत्र-कमाल और एक पुत्री-कमाली के होने की मान्यता प्रचलित है। इधर डा० रामकुमार वर्मा ने[1] उनकी दो पत्नियाँ होने व डा० सरनामसिंह ने[2] दो पत्नियों, दो पुत्रियों, पत्नी की देवरानी, जेठानी एवं ननद आदि होने की संभावना व्यक्त करके उनके परिवार की सदस्य संख्या मे पर्याप्त वृद्धि की है। वस्तुतः इन विद्वानों द्वारा रूपक-प्रिय कबीर की रचनाओं (दे०, क० ग्र० पद २२७, २२९, २२, परि-पद १२६, १३६) के लौकिक अर्थ लेकर इस प्रकार के निष्कर्ष निकाले गये है।

'आदि ग्रंथ' मे संकलित 'कबीर बानी' की एक साखी मे कमाल का नाम आता है।[3] तदुपरान्त उनके नाम से कुछ रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमें उन्होने स्वयं को 'कबीर का बालक' अथवा 'उनी का पूत कमाल' कहा है।[4] 'बोध-सागर' की एक उक्ति मे 'कबीर-मत' के प्रचार हेतु उनके अहमदाबाद जाने का उल्लेख है।[5] इस तरह उनके अस्तित्व के विषय मे तो शंका नही रहती किन्तु वे कबीर के पुत्र थे या शिष्य यह स्पष्ट नही होता।

उल्लेखनीय यह है कि कबीरपंथियों एवं एकाध अन्य अपवाद को छोड़कर कबीर का आजीवन गृहस्थ होना प्रायः सभी को स्वीकृत है। अतः उनके पत्नी व कुछ संतानों का होना स्वाभाविक है, किन्तु पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे उनकी संख्या निश्चित करना कठिन है इसलिए एतद्विषयक परम्परागत मान्यता को ही ग्राह्य रखा जा सकता है।

## कबीर का जीवन-काल

**जन्म**—कबीर का जीवनकाल निश्चित करने के लिए उनकी रचनाओ मे से निम्नांकित उक्तियो को अन्त.साक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है—

सनक सनंदन जैदेव नामा। भगति करी मन उनहुँ न जाना॥ क० ग्रं०, पद ३३
संकरु जागै चरन सेव। कलि जागे नामा जैदेव॥ क०ग्रं०, पद ३८७

इन उक्तियों मे जिन ऐतिहासिक व्यक्तियों जयदेव एवं नामदेव का उल्लेख हुआ है उनमे से प्रथम का समय ईसा की १२ वी सदी[6] और द्वितीय का समय सन् १२७० से

१. संत कबीर : कबीर का जीवनवृत्त, पृ० ७२।
२. दे०, कबीर का व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० २८-३२।
३. बूडा वंश कबीर का उपज्यो पूत कमाल। क०ग्रं० परिशिष्ट, साखी, १८५।
४. दे०, परशुराम चतुर्वेदी, उ०भा०सं०प०, पृ० ८६७।
५. चले कमाल सीस नवाई। अहमदाबाद पहुँचे आई॥ बोधसागर; पृ० १५। उ० भा० सं० प०, पृ० ८६७ से।
६. दे०, मोनियर विलियम्स : ब्रह्मनिजम एन्ड हिन्दूइजम, पृ० १४६। एवं मैकलिफ : सिक्ख रिलीजन, ग्रंथ ६, पृ० १०।

१३५० ई०[1] निश्चित है। उल्लेख्य यह है, नामदेव को उन्होने न केवल एक जागृत भक्त कहा है वरन् उनकी भक्ति के प्रभाव से मदिर के द्वार का पंडितो की ओर से उनकी ओर हो जाने की चमत्कारिक घटना मे भी अपना विश्वास व्यक्त किया है :

वेद न जानूं भेद न जानूं जानूं एकहि रामा।
पडित दिसि पछिवारा कीन्हा मुख कीन्हों जित नामा ॥
(क० ग्रं०, पद १२२)

इस प्रकार की चमत्कारिक घटनाएँ किसी महात्मा की मृत्यु के एक-दो पीढी या ५०-६०वर्ष बाद ही विश्वसनीय बन पाती है। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि कवीर का जन्म नामदेव की मृत्यु स० १४०७ वि० के पर्याप्त बाद मे हुआ होगा।

वाह्य-साक्ष्य के रूप मे नाभादास कृत 'भक्तमाल' ( रचनाकाल सं० १६४२ वि० ) एवं अबुल फजल अल्लामा कृत 'आईन-ए-अकबरी' (रचनाकाल सन् १५९८ ई० या सवत् १६५५ वि०) मे कबीर का उल्लेख है[2] इससे स्पष्ट होता है भक्तमाल की रचना संवत् १६४२ वि० या सन् १५८५ तक वे दिवंगत हो चुके थे।

कबीर के जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण व्यक्ति स्वामी रामानन्द है। किन्तु स्वामी जी के जीवनकाल के विषय मे विद्वानों मे मतैक्य नही पाया जाता। डा० फर्कुहर एवं 'की' साहब रामानन्द का समय १४०० ई० से १४७० ई० मानते है। इससे वे कबीर के समकालीन तो सिद्ध हो जाते है किन्तु उनकी ७० वर्ष की उम्र 'भक्तमाल' की 'बहुत काल वपु धारिकै' उक्ति के अनुरूप नही है। 'अगस्त्य-सहिता' मे स्वामी जी का जन्म कलिकाल के ४४०० वे वर्ष अर्थात् वि० सं० १३५६ दिया गया है, और एक सौ ग्यारह साल की उनकी आयु मानकर उनका निधन सवत् १४६७ वि० माना गया है। डा० भन्डारकर, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० बडथ्वाल एव डा० ग्रियर्सन आदि ने इसे स्वीकार भी किया है। किन्तु डा० रामकुमार वर्मा, डा० सरनामसिंह, डा० त्रिगुणायत, डा० रामजीलाल सहायक प्रभृति विद्वान् इस मत से सहमत नही है। इसका मुख्य कारण यह है कि जनश्रुति,एव भक्तमाल के साक्ष्य तथा अन्य स्रोतों से भी 'पीपा' स्वामी रामानन्द के शिष्य और उनके समकालीन माने जाते है। डा० फर्कुहर[3] ने पीपा का जन्म संवत् १४८२ या सन् १४२५ई० माना है। डा० रामकुमार वर्मा एव डा० सरनाम सिंह आदि विद्वानो ने इसे प्रमाणित माना है। अब यदि पीपा अपनी २० वर्ष की अवस्था

१. दे०, डा० आर० जी० भण्डारकर : वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृ० ९२, एवं परशुराम चतुर्वेदी, उ० भा० सं० प०, पृ० १०८-१२। डा० वडथ्वाल : हिन्दी काव्य मे निर्गुण सप्रदाय, पृ० ८७।
२. डा० रामकुमार वर्मा : सत कबीर, प्रस्तावना, पृ० ३७।
३. दे०, आउट लाइन ऑफ रिलीजस लिटरेचर ऑफ इंडिया, पृ० ३२३।

मे भी स्वामी रामानन्द के शिष्य हुए हों तो संवत् १५०२ वि० तक उनका जीवित रहना सिद्ध होता है। यदि 'अगस्त्य संहिता' की जन्मतिथि को प्रमाणित माना जाय तो इस समय स्वामी जी की आयु १४६ वर्ष की होती है जो बुद्धिगम्य नही है।

'प्रसंग पारिजात' के लेखक 'स्वामी चेतनदास' का दावा है कि संवत् १५०५ वि० मे स्वामी रामानन्द की वर्षी के समय वे उपस्थित थे।[1] लेखक के इस दावे का खण्डन किसी अन्य स्रोत से हुआ नही देखा जाता, अत इस संवत् को स्वामी जी का निधन सवत् माना जा सकता है। जनश्रुतियों से रामानन्द की आयु १२० वर्ष मानी जाती है जो भक्तमाल की 'बहुत काल वपु धारिकै' उक्ति के अनुरूप भी है अत उनका जन्म संवत् १३८५ वि० निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार (सं० १३८५ से १५०५ वि० उनका जीवन काल रहा होगा। 'श्री रामार्चन पद्धति' मे स्वामी रामानन्द ने अपनी जो गुरु परम्परा दी है उसके अनुसार वे स्वामी रामानुजाचार्य (१०१६ ई० से ११३७ ई०) के बाद चौदहवें स्थान पर आते है। चौदह शिष्य पीढियो के मध्य लगभग ३०० वर्ष का जो अन्तर है वह उचित ही कहा जायगा। इस प्रकार इस साधन से भी रामानन्द के उपर्युक्त समय का समर्थन किया जा सकता है।

तदुपरान्त उल्लेख्य यह है कि पीपा ने अपनी एक उक्ति मे कबीर की जो प्रशंसा की है उसमे स्पष्ट कहा गया है कि उनसे उन्होने कुछ प्राप्त किया है—

जो कलि मांझ कबीर न होते।
तौ लै वेद अरु कलिजुग। मीलीकरि भगति रसातल देते।
+ + +
नाम कबीर साच परकास्या तहाँ पीपै कछु पाया॥[2]

इससे स्पष्ट है कि पीपा कबीर से उम्र मे छोटे रहे होंगे और उनके समय तक कबीर प्रसिद्ध हो चुके होगे।

इस प्रकार कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कबीर का जन्म नामदेव की मृत्यु १४०७ विक्रम के बाद और रामानन्द की मृत्यु १५०५ विक्रम एवं पीपा के जन्म १४८२ विक्रम के पूर्व होना चाहिए।

इस विषय मे बाह्य साक्ष्य के रूप मे 'कबीर चरित्र बोध' विशेष रूप मे इसलिए उल्लेख्य है कि उसमें 'पन्द्रह सौ पचपन विक्रमी, ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा, सोमवार के दिन कबीर के अवतार का स्पष्ट उल्लेख है।'[3] कबीरपंथियो मे इस विषय मे निम्नांकित उक्ति भी प्रसिद्ध है—

---

१. दे०, हिन्दुस्तानी, अक्टूबर १९३२, 'रामानन्द और प्रसंग पारिजात' लेख।
२. दे०, डा० रामकुमार वर्मा : संत कबीर, प्रस्तावना, पृ० ५४-५५।
३. दे०, कबीर चरित्र बोध, स्वामी युगलानन्द द्वारा संशोधित, पृ० ६।

चौदह सौ पचपन साल गये चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी वरसायत को पूरनमासी तिथि प्रकट भए॥
घन गरजे दामिनि दमके बूंदे वरषें झर लाग गए।
लहर तालाव मे कमल खिले तह कवीर भानु प्रगट हुए॥[1]

डा० श्यामसुन्दरदास ने इसे 'कवीरदास के प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी धर्मदास' की उक्ति कहा है।[2] और इसमे प्रयुक्त 'गये' शब्द का अर्थ 'बीत गये' करके १४५६ विक्रमी को कवीर का जन्म संवत माना है। आचार्य शुक्ल प्रभृति विद्वानों ने भी इसे ही स्वीकार किया है। किन्तु डा० माताप्रसाद गुप्त ने एस०आर० पिल्लै की 'इंडियन क्रौनोलाजी' के आधार पर गणना करके सवत् १४५५ वि० की ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को सोमवार का होना निश्चित किया है।[3] डा० बडथ्वाल ने सं० १४२७ वि० और परशुराम चतुर्वेदी ने स० १४२५ वि० को कवीर के जन्मसवत् होने का अनुमान किया है। किन्तु १४५५ विक्रमी के विरुद्ध जव तक कोई पुष्ट प्रमाण न मिले तव तक अनुमान का आश्रय लेना वहुत ठीक नही। इसलिए १४५५ वि० को कवीर का जन्म सवत् मानना ही अधिक तर्कसगत होगा।[4]

**मृत्यु**—कवीर की मृत्यु सवत् के विषय मे निम्नांवित उक्तियाँ उपलव्ध होती है—

(१) सवत पंद्रह सो पचहत्तरा किया मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादसी रलो पौन में पौन॥ (जनश्रुति)
(वावू लहनासिंह, कवीर-कसौटी : रचना सं० १९४२ वि०)

(२) पन्द्रह सौ औ पाँच मे मगहर कीन्हो गौन।
अगहन सुदि एकादसी मिल्यौ पौन मे पौन॥ (जनश्रुति)

(३) पन्द्रह सौ औ उनचास मे मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदि एकादसी मिल्यौ पौन मे पौन॥ (भक्तमाल टीका)
रूपकलाजी १९६५ वि०)

(४) सवत् पन्द्रह सौ उनहत्तरा रहाई।
सतगुरु चले उडि हंसा ज्याई॥ (धर्मदास 'द्वादश पंथ')

इनमें से अंतिम अथवा १५६९ विक्रमी सम्वन्धी उक्ति को धर्मदास की उक्ति होने के कारण डा० माताप्रसाद गुप्त ने प्रामाणिक माना है, किन्तु उनकी इस मान्यता को

१. डा० श्यामसुन्दर दास : क० ग्रं० भूमिका, पृ० १३।
२. वही, पृ० १३।
३. दे०, डा० माताप्रसाद गुप्त : कवीर ग्रथावली, प्रस्तावना एवं डा० रामकुमार वर्मा : सन्त कवीर, प्रस्तावना, पृ० ५५-५६।
४. दे०, डा० रामकुमार वर्मा : संत कवीर, प्रस्तावना, पृ० ५६, एवं डा० सरनामसिंह : कवीर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० ४।

अन्यों का समर्थन एवं आवश्यक प्रसिद्धि प्राप्त नही हो सकी है। संवत् १५४९ वि० की उक्ति का भी प्राय. कोई समर्थन नहीं देखा जाता। अतः मुख्य विवाद १५०५ वि० एवं १५७५ वि० के विषय में है।

१५०५ विक्रमी को कबीर का निधन संवत् मानने वाले विद्वानों का मुख्य आधार ए फ्यूरर की वह रिपोर्ट है जिसमें कहा गया है कि—'मगहर की पूर्व दिशा मे आमी नदी के दायें तट पर जो कबीर साहब का रोजा है, उसे बिजली खाँ ने सन् १४५० ई० मे बनवाया था, और सन् १५६७ ई० मे फिदाई खाँ ने उसका जीर्णोद्धार कराया था।'[1] अत' डा० बड़थ्वाल[2] एवं परशुराम चतुर्वेदी[3] प्रभृति विद्वानो की मान्यता है कि कबीर का निधन इस रोजे के निर्माणकाल १४५०ई० या १५०७ विक्रमी से पूर्व अर्थात् १५०५ विक्रमी मे ही हो गया होगा। संवत् १५०५ विक्रमी से सम्बन्धित उपर्युक्त दोहा डा० बड्थ्वाल के अनुसार सर्वप्रथम डा० एच० एच० विल्सन (सं० १८८५ विक्रम) को प्राप्त हुआ था।[4] इसी आधार पर उन्होंने भी कबीर का यही निधन संवत् स्वीकार किया है। डा० क्षितिमोहन सेन भी इसी मत से सहमत है।[5] किन्तु दूसरी ओर डा० श्याम-सुन्दरदास, डा० त्रिगुणायत, डा० सरनामसिंह एवं पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव प्रभृति विद्वान् उपर्युक्त रिपोर्ट मे दर्शाये गये वर्षो को इसलिए विश्वासनीय नही मानते कि लेखक ने उनके आधार का कोई उल्लेख नही किया है।

उल्लेखनीय यह है कि अनन्तदास (सं० १६५७ वि०) कृत 'कबीर की परचई' एवं भक्तमाल की प्रियादास (१७६९ वि०) की टीका मे शाह सिकन्दर द्वारा कबीर को दण्डित करने के उल्लेख मिलते है। अन्त'साक्ष्य के रूप मे इस घटना की पुष्टि कबीर की निम्नांकित उक्तियों से भी हो सकती है—

अति अथाह जल गहर गंभीर बाँधि जंजीर जलि बोरे है कबीर ॥

+ + +

कहै कबीर मेरे संग न साथ जल थल मैं राखै जगनाथ ।(क०ग्रं०, पद ३४१)
अहो मेरे गोव्यंद तुम्हारा जोर, काजी बकिवा हस्ती तोर ।
बाँधि भुजा भलैं करि डार्‌यौ हस्ती कोपि मूंड मे मार्‌यौ ॥

+ + +

---

१. दी मौन्यूमेन्टल एन्टीक्विटीज ऑफ नार्थ वेस्ट प्रोविन्सेज एण्ड अवध, भाग २, पृ० २२४।

२. दे०, हि० का० वि० सं०, पृ० १०६-०७।

३. दे०, उ० भा० सं० प०, परिशिष्ट, पृ० ८६९।

४. दे०, हि० का० वि० सं०, पृ० ४३२।

५. दे०, मिडीवल मिस्टिसिज्म (लंदन १९२९ ई०), पृ० ८८।

तीनि वेर पतियारा लीन्हाँ मन कठोर अजहूँ न पतीनाँ। (क०ग्रं०,पद ३६५)

\+ + +

यद्यपि इन पंक्तियों में किसी राजा का नाम नही दिया गया है,और डा० रामप्रसाद त्रिपाठी[1] कबीर व सिकन्दर के विग्रह को ऐतिहासिक घटना के रूप में स्वीकार भी नही करते, किन्तु डा० रामकुमार वर्मा ने ऐसे इतिहासकारों की एक लम्बी सूची दी है कि जिन्होने कबीर और सिकन्दर को समकालीन माना है।[2] इससे इस घटना के ऐतिहासिक होने की सभावना बढ जाती है।

इतिहासकार ब्रिग्स के अनुसार सिकन्दर लोदी ( शासनकाल १४८८-१५१७ ई० ) सन् १४९४ ई० अर्थात् संवत १५५१ विक्रम मे काशी आया था।[3] यदि उपर्युक्त घटना इसी साल घटित हुई हो तो इस समय तक कबीर का जीवित रहना सिद्ध होता है। इसलिए सं० १५०५ वि० को उनका मृत्यु संवत् मानना संगत नही कहा जा सकता। उक्त रोजा के विषय मे डा० रामकुमार वर्मा की मान्यता है कि कबीर के भक्त या अनुयायी बिजली खाँ ने उनके प्रति अपनी भक्ति या श्रद्धा के आवेश मे उनके जीवन काल मे ही, उनकी जन्मभूमि-मगहर मे इसे 'सिद्धपीठ' या 'स्मृति-चिह्न' के रूप में बनवाया था। १२७ वर्ष बाद १५६७ मे जब फिदाई खाँ ने इसका जीर्णोद्धार किया तब से यह कबीर का रोजा मान लिया गया होगा। डा० वर्मा[4] की इस मान्यता का समर्थन डा० त्रिगुणायत एवं डा० सरनाम सिंह प्रभृति ने भी किया है।

संवत् १५७५ को कबीर का निधन संवत् बतानेवाला दोहा संभवतः उस समय भी प्रसिद्ध था, जबकि गार्सां-द-तासी ने अपनी फ्रेन्च पुस्तक इस्त्वार दला लितेहात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी 'अर्थात्' हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी का इतिहास' की रचना ( स० १८९६ मे ) की थी।[5] इस प्रकार यह दोहा भी उतना ही प्राचीन सिद्ध होता है जितना कि संवत् १५०५ वि० वाला है।

वेस्टकॉट साहब के अनुसार गुरु नानक अपनी २७ वर्ष की अवस्था में कबीर से मिले थे। नानक का जन्म संवत् १५२६ विक्रमी स्वीकृत है। इस हिसाब से वे कबीर से १५५३ विक्रम मे मिले होगे। नानक पर पडे कबीर के प्रभाव को देखते हुए उनके मिलने को सत्य मानने की प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। अनन्तदास ने कबीर की

१. दे०, हिन्दुस्तानी, जनवरी १९३२, 'कबीर जी का समय' लेख।
२. दे०, सत कबीर, प्रस्तावना, पृ० ३७-४०।
३. दे०, हिस्ट्री आफ दी राइज आफ मोहमडन पावर इन इंडिया (लदन १८२९ ई०), पृ० ५७१-७२।
४ दे०, संत कबीर, प्रस्तावना, पृ० ५०।
५ परशुराम चतुर्वेदी : उ० भा० सं० प०, पृ० ८४८।

आयु १२० वर्ष होने का उल्लेख किया है। कबीर का जन्म संवत् १४५५ वि० स्वीकार करने पर १२० वर्ष की आयु संवत् १५७५ वि० मे पूर्ण होती है। जिसे कबीर का निधन संवत् स्वीकार किया जा सकता है। इससे वे सिकन्दर लोदी, नानक, रामानन्द एवं पीपा आदि के समकालीन सिद्ध हो सकते है। डा० भण्डारकर, डा० त्रिगुणायत, डा० सरनामसिंह, वेस्टकाट, मैकलिफ, एवं डा० श्यामसुन्दर दास प्रभृति विद्वानों ने भी इसी मत का समर्थन किया है।

इस प्रकार कबीर का जीवन काल १४५५ से १५७५ विक्रमी निश्चित होता है।

## जन्म, निवास एवं मृत्यु स्थान

कबीर के जन्मस्थान के रूप में विद्वानों ने काशी[२], मगहर[३], आजमगढ़ जिले के बेलहरा गाँव[४], मिथिला प्रदेश[५], 'कुरह' टक्क प्रदेश ( पूर्वी पंजाब )[६] एवं लहर तालाब से तीन मील दूर चाँदपुर गाँव[७] आदि का अपने-अपने ढंग से समर्थन किया है। इनमे से अंतिम चार का समर्थन-संबन्धित पुरस्कर्ता के अतिरिक्त अन्य किसी विद्वान् द्वारा नहीं किया गया अपितु उनका खण्डन ही किया है। अतः मुख्य विवाद मगहर और काशी से सम्बन्धित है।

जिन्होंने मगहर को कबीर का जन्म स्थान माना है उनके मुख्य तर्क निम्नांकित हैं—

१. 'आदिग्रंथ' मे संकलित 'कबीर बानी' की इस उक्ति कि—पहले दरसन मगहर पायो फुनि कासी बसे आई[८] से सिद्ध है कि उनका जन्म मगहर मे हुआ था, बाद में वे काशी मे आकर बस गये थे।

२. डा० त्रिगुणायत ने इस विषय मे अन्य तर्क मे दिए है कि—'मगहर में अधिकतर बस्ती मुसलमान-जुलाहों की है, कबीर ने मगहर को काशी सदृश ही पवित्र माना है, उसे अपने मृत्यु-स्थान के रूप मे पसंद किया है, ऐसी भावना व्यक्ति मे

---

१. बीस सउ लगि कीनी भगती। ता पीछै पाई है मुक्ती॥ डा० रामकुमार वर्मा : हि० सा० आ० इतिहास, पृ० ३२९।

२. दे०, अयोध्यासिंह उपाध्याय : कबीर वचनावली, मुखबंध, पृ० ३।
दे०, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव : कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० ३४५।
दे०, डा० श्यामसुन्दरदास : कबीर ग्रंथावली, प्रस्तावना; पृ० २१।

३. दे०, डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल : हिन्दी काव्य मे निर्गुण संप्रदाय, पृ० ९६-९८।

४. आचार्य चन्द्रबली पाण्डे : विचार-विमर्श, पृ० ५-६।

५. डा० सुभद्र झा, डा० पा०ना०त्ति० द्वारा कबीर बानी संग्रह, पृ० ९-१३ पर चर्चित।

६. डा० माताप्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ३।

७. डा० पारसनाथ तिवारी : कबीर वाणी संग्रह, कबीर जीवनवृत्त, पृ० १४-१६।

८. क० ग्रं० परि० पद ११०, पृ० २२६।

उसके जन्म स्थान के प्रति ही हो सकती है। बिजली खाँ ने उनके जीवन काल मे उनकी जन्मभूमि-मगहर-में 'स्मरण चिह्न' के रूप मे रोजे का निर्माण करवाया था। किन्तु उनका निष्कर्ष है कि—"कबीर का जन्म स्थान मगहर काशी का समीपवर्ती मगहर था।" बस्ती जिले के मगहर मे स्थित रोजे को उनकी जन्मभूमि का 'स्मरण चिह्न' कहना और काशी के निकटस्थ मगहर मे कबीर का जन्म मानना इन दोनो विधानों की असंगति स्वतः सिद्ध है।"[1]

३. डा० बड्थ्वाल की मान्यता है कि मगहर गोरखपंथी साधुओं के मुख्य स्थान गोरखपुर के निकट है। संभव है गोरखपुर आते-जाते समय वे मगहर रात्रि-विश्राम करते हों और इस स्थिति मे कबीर से उनका संपर्क स्थापिता हुआ हो। कबीर पर उनका प्रभाव स्पष्ट है।[2]

डा० त्रिगुणायत के सभी तर्कों का खण्डन डा० सरनामसिंह[3] कर चुके हैं, उनका पुनरावर्तन यहाँ आवश्यक नही है। अतः यहाँ काशी को कबीर की जन्मभूमि माननेवाले विद्वानो द्वारा प्रस्तुत तर्कों के सारांश का उल्लेख ही यथेष्ट होगा—जो इस प्रकार हैं—

१ बाह्य साक्ष्य के रूप मे कबीरपंथी साहित्य की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'कासी में हम प्रगट भये रामानन्द चिताए।' जो यह सिद्ध करती है कि उनका जन्म काशी मे हुआ था। 'पहले दरसन मगहरो पायो' वाली उक्ति मे प्रयुक्त दर्शन शब्द का अर्थ जन्म लेना नही वरन् 'किसी मान्य व्यक्ति या इष्टदेव का साक्षात्कार होना है।'[4] इस उक्ति के आधार पर अधिक से अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि कबीर का शैशव मगहर मे बीता था, या सिद्धि लाभ से पूर्व मगहर मे रहते थे।[5]

२. मगहर मे मुसलमान-जुलाहों की बस्ती होने से यह सिद्ध नहीं होता कि कबीर इन्ही जुलाहो मे उत्पन्न हुए थे, उन्होने मगहर को काशी के सदृश इस अर्थ मे कहा है कि जिसके हृदय मे राम स्थित है उसके लिए दोनो समान है, कबीर जैसे निस्पृही के मन मे किसी स्थान विशेष के प्रति महत्व की भावना नही हो सकती। उन्होने उसे मृत्यु स्थान के रूप मे अपनी जन्मभूमि होने के कारण नही वरन् इस अन्धविश्वास को निस्सार सिद्ध करने के हेतु से पसद किया था कि

---

१. दे०, कबीर की विचारधारा, पृ० ३०-३१ एवं संतकबीर, पृ० ४९-५०।

२. दे०, हि० का० नि० स०, पृ० ९६-९८।

३. दे०, कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० ८-१४।

४. दे०, उ० भा० सं० प०, पृ० १४७।

५. दे०, कबीर ग्रंथावली ( श्यामसुन्दरदास ) प्रस्तावना, पृ० १७; 'कबीर दर्शन', पृ० २३-२४ एवं कबीर . व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० १४।

वहाँ पर मरने से अधोगति होती है या गदहा बनना पड़ता है।[1] वहाँ का रोजा उनकी जन्मभूमि का स्मरण चिह्न है यह सिद्ध नही किया जा सकता।

३. जनश्रुति या परंपरा से प्रसिद्ध है कि नीमा व नीरू नामक जुलाहे दंपति को कबीर, नवजात-शिशु के रूप मे, लहर तालाब पर मिले थे। तदुपरान्त अनन्त-दास की परचई (१६४५ वि० रचनाकाल) मे कहा गया है कि—साचो भगत कबीर है, कासी प्रगट्यो आई।'[2] गरीबदास ( स० १७७४-१८३९ वि० ) की उक्ति है कि—'गरीब कासी कस्त किया उतरे उधर मझार।'[3] एव धनी धरम-दास की उक्ति है कि 'प्रगट भये कासी मे दास कहाइया'[4] इत्यादि इन सबसे उनका जन्म-स्थान कासी सिद्ध होता है।

४. अन्तःसाक्ष्य के रूप मे उनकी 'तू बाम्हन मै कासी का जुलाहा'[5] तथा 'सकल जनम सिवपुरी गँवाइया।'[6] उक्तियाँ उन्हे काशी का जुलाहा सिद्ध करती है।

कहना न होगा कि प्रथम की अपेक्षा द्वितीय मत अधिक तर्कसंगत है, फिर परंपरा भी इसी का समर्थन करती है, अत. मगहर के विषय मे जब प्रमाण-पुष्ट सामग्री उपलब्ध नही होती तो कबीर के जन्म-स्थान के रूप मे काशी को ही मान्य रखा जा सकता है। जब काशी मे जन्म लेकर मगहर मे उनके शैशव के बीतने की यदि कोई सभावना है तो वह तभी संभव है कि जब मगहर नीरू का गाँव रहा हो और काशी उसकी ससुराल रही हो। ऐसी स्थिति मे प्रात.कालीन वेला मे यह युगल काशी से निकला होगा और लहर तालाव से नवजात शिशु 'कबीर' को लेकर मगहर पहुँचा होगा। जहाँ उनका पालन-पोषण हुआ। लेकिन कालान्तर मे लोकोपहास या लोकरंजन से बालक को बचाने या व्यवसाय की शोध मे यह परिवार काशी मे आकर स्थायी रूप से बस गया होगा।

उनके मृत्यु-स्थान के रूप मे आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय ने रतनपुर का समर्थन किया है।[7] 'आईने अकबरी', 'खुलासा तुन्तवारीख' तथा आरायिशे मोहफिल मे इस समाधि के उल्लेख है। साथ ही आईने अकबरी मे उन्हे जगन्नाथपुरी वाली समाधि मे दफनाए जाने का उल्लेख किया है, टैवर्नियर ने भी इस समाधि का उल्लेख किया है।[8] अनेक

---

१. दे०, कबीर : व्यक्तित्व,कृतित्व एवं सिद्धान्त,पृ० ८-१४, कबीर दर्शन,पृ० २२-२४
२. डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित : परचई साहित्य, पृ० १०४।
३. कबीर मंसूर, पृ० २५३, गरीबदास . पारख को अंग।
४. धनी धरमदास की शब्दावली, पृ० ३।
५. क० ग्रं० पद २५०, पृ० १२८।
६. वही, परि० पद १०३, पृ० २२४।
७. दे०, विचार विमर्श, जिद कबीर की संक्षिप्त चर्चा, पृ० १५-१६।
८. विशेप के लिए देखें, आ० परशुराम चतुर्वेदी : उ० भा० सं० प०,पृ० १४२-४३।

स्थलों पर मिलनेवाली समाधियाँ उनके निधन स्थान के निश्चय मे उलझन पैदा करती है। रतनपुर एवं जगन्नाथपुरी की उनकी समाधियाँ अधिक विश्वसनीय नही है, क्यों कि न तो ये स्थान कबीर के मृत्यु स्थान के रूप मे किसी परम्परा से प्रसिद्ध है, न इन्हें आज तक ऐसी ख्याति ही प्राप्त हो सकी है, और न अन्तःसाक्ष्यों से ही किसी रूप मे इनका समर्थन होता है। जबकि मगहर उक्त सभी दृष्टियो से प्रसिद्ध है।

अब प्रश्न यह है कि जिससे कबीर का सम्बन्ध जोडा जाता है वह मगहर है कौन सा ? क्योकि मगहर दो है—(१) काशी के पंचकोसी क्षेत्र से बाहर गंगापार का क्षेत्र जिसे कोई 'मगह' कहता है तो कोई 'मगहर' कह देता है। यहाँ कर्मनाशा नदी है। इसी क्षेत्र के विषय मे प्रसिद्ध है कि यहाँ मरनेवाले को गदहा बनना पडता है।[1] (२) दूसरा मगहर बस्ती जिले मे गोरखपुर से १४ मील दूर आमी नदी के तट पर है। बिजली खाँ द्वारा निर्मित कबीर का रोजा यही पर है। इस विषय मे वास्तविक स्थिति तो यही है कि 'मगहर' एक ही है और वह बस्ती जिले मे है। काशी के निकट का क्षेत्र 'मगध' है जिसका अपभ्रंश रूप 'मगह' है, इसी को किसी-किसी ने मगहर भी कह दिया है। सभव है कि नाम साम्य के कारण 'मगह' के अन्धविश्वास का सम्बन्ध 'मगहर' से भी जोडा जाने लगा हो और यह स्वयं कबीर के जीवनकाल में ही प्रचलित हो चुका हो। जो हो उपलब्ध सामग्री के आधार पर कबीर का मृत्यु स्थान बस्ती जिले का मगहर ही तर्कसंगत है। अत: निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि कबीर का जन्म काशी में हुआ था। उनका शैशव सभवत: मगहर मे बीता था। बाद मे काशी मे स्थायी रूप से रहे और अंतिम समय मे मगहर मे जाकर शरीर त्याग दिया।

## उद्यम एवं जाति

इस विषय मे कोई विवाद नही है कि कबीर का व्यवसाय कपड़े बुनना था। यह हम देख चुके है कि उनका पालन-पोषण नीमा व नीरू नामक जुलाहे दपति के यहाँ हुआ था। किन्तु उनकी जाति के मूल स्वरूप के विषय मे निम्नांकित मत देखे गये है—

१. जनश्रुति है कि उनका जन्म विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से हुआ था।[2]

२. उनका पालन ऐसे परिवार मे हुआ था जिसने कुछ समय पहले ही इस्लाम धर्म स्वीकार किया था अतः वह हिन्दू धर्म के पुराने संस्कारो से सर्वथा मुक्त न हो सका था।[3]

---

१. दे० श्री सद्गुरु कबीर चरितम्, श्लोक ७ पृ० ५९४, एवं 'मगहर मरै सो गदहा होय' बीजक शब्द १०३, एवं 'मानस पीयूष' बालकाण्ड ६-४ की व्याख्या।

२. दे०, अयोध्यासिंह उपाध्याय . कबीर वचनावली, मुखबंध, पृ० ४।
डा० श्यामसुन्दरदास : क०ग्र०प्रस्तावना, पृ० १७, आचार्य शुक्ल : हि०सा०इ०, पृ० ७०

३. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हि० का० नि० सं०, पृ० ९५।

३. कबीर नीमा व नीरू के औरस पुत्र थे अतः जन्मजात जुलाहे थे।[1]

४. कबीर जिस जुलाहा वंश मे पालित हुए वह नाथ मतावलम्बी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था।[2]

५. कबीर का जन्म जुलाहे परिवार मे हुआ था; उनके पिता मुसलमानी और शिवोपासक 'दसनामी' संस्कारो से युक्त थे, गोसाई कहलाते थे।[3]

६. उनकी माता मुसलमान स्त्री थी, पिता हिन्दू-कोरी या जुलाहे थे, बाद में उन्होंने भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।[4]

कहना न होगा कि उपर्युक्त सभी मन्तव्यों मे जुलाहे (मुसलमान) कबीर की रचनाओं में हिन्दू संस्कारों के उपलब्ध होने की समस्या का समाधान प्रस्तुत करने के प्रयत्न निहित हैं। इन विद्वानों ने अपने-अपने मत के समर्थन में जो तर्क या सामग्री प्रस्तुत की है उसकी प्रामाणिकता प्राय. उन्ही तक सीमित होकर रह गई है। कोई भी मत सर्वमान्य या अधिकांश को मान्य नही हो पाया है।

वास्तविक स्थिति यह है कि 'कबीर' एक इस्लाम-धर्मी नाम है। और उनके परिजनों के रूप में नीमा, नीरू, लोई, कमाल एवं कमाली आदि जो नाम गिनाये जाते हैं वे भी इस्लामी नाम हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि कबीर का नामकरण इस्लाम-धर्मी परिवार मे हुआ था, और उनका गृहस्थ जीवन भी इस्लाम-धर्मी रहा था। उन्होने स्वयं का परिचय भी 'जाति जुलाहा नाम कबीरा'[5] कहकर दिया है। यद्यपि उनकी रचनाओं में दो या तीन स्थानों पर 'कोरी' शब्द (जो हिन्दू बुनकरो के लिए प्रयुक्त होता है) का प्रयोग हुआ है लेकिन दो स्थानो[6] पर तो स्पष्टतः 'ब्रह्म' वाचक है, केवल एक स्थान पर जाति का सूचक अवश्य है—

परिहरि कांम रांम कहि बौरे सुनि सिख बंधू मोरी।
हरि को नाम अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी॥[7]

बहुत कुछ संभव है कि इस उक्ति मे प्रयुक्त 'कोरी' शब्द ऊपरवाली पंक्ति मे प्रयुक्त 'भोरी' शब्द की तुक बिठाने के लिए प्रयुक्त करना पड़ा हो। अतः मात्र इसी आधार पर उन्हें जाति का कोरी-हिन्दू-सिद्ध नही किया जा सकता।

---

१. दे०, डा० गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० ३४-३९।
२. दे०, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, प्रस्तावना, पृ० २५।
३. डा० रामकुमार वर्मा : 'संत कबीर' कबीर का जीवन वृत्त, पृ० ७१-७५।
४. डा० रामजीलाल सहायक : कबीर दर्शन, पृ० १९-२०।
५. क० ग्रं०, पद २७०, पृ० १३४-३५।
६. दे०, वही, अष्टपदी रमैणी ५, पृ० १८२ एवं परि० पद ४९, पृ० २१२।
७. क० ग्रं०, पद ३४६, पृ० १५४।

किन्तु उनकी रचनाओं मे हिन्दू विश्वासो, संस्कारो एवं रीति-रिवाजों का जो प्रचुर एवं सटीक प्रयोग हुआ है, उसे देखकर विल्सन साहब की यह अनुभूति भी सर्वथा उचित प्रतीत होती है कि 'हिन्दू भावनाओं को स्पष्ट रूप मे अपनानेवाले कबीर साहब का जाति तथा धर्म पहले से भी मुसलमान होना यदि असंभव नही तो विचार-विरुद्ध अवश्य है।' वे तो यहाँ तक मानने को तैयार है कि इनका नाम 'कबीर' भी काल्पनिक ही रहा होगा।[1] अततोगत्वा विचारणीय प्रश्न यही उठता है कि उन्हे हिन्दू सस्कारों का प्रवेश किस माध्यम से हुआ? इस विषय मे पहली बात यह कही जा सकती है कि वे किसी हिन्दू सत के शिष्य रहे होगे, जिसकी चर्चा यथास्थान की जायगी। दूसरी संभावना मे हिन्दू सतो का सत्सग एवं हिन्दुओ की संस्कार नगरी-काशी मे उनका स्थायी निवास उल्लेखनीय है। फिर जन्म से मुसलमान होकर हिन्दू संस्कारो से प्रभावित होना यो भी असंभव नही है क्योकि, रहीम, रसखान, खुरसान निवासी शाह जलालुद्दीन, दादू, रज्जब, दरिया साहेब ( मारवाडवाले ) आदि ऐसे अनेक व्यक्ति हो चुके है कि जिन्होने जन्मजात मुसलमान होने पर भी हिन्दू धर्म को तो नही परन्तु हिन्दुत्व की भावना को अपना लिया था। कबीर के विषय मे भी यही संभावना व्यक्त की जा सकती है—

छाडि कतेब राम कहि काजी खून करत हो भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की काजी रहे झख मारी॥[2]
तनना बुनना तज्या कबीर, राम नाम लिख लिया शरीर।[3]

इन उक्तियों से कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है कि कालान्तर में अपने कुलागत आचारों को त्यागकर उन्होने रामभक्ति को अपना लिया था। रैदास[4] एवं कबीर मंसूर[5] की उक्तियों से भी कुछ ऐसी ही ध्वनि निकलती है।

निष्कर्ष रूप मे यह कि उनका शैशव एवं गृहस्थ जीवन जुलाहे परिवार में बीता था, वैराग्य उत्पन्न होने पर उन्होंने हिन्दू धर्म को नही परन्तु हिन्दुत्व की भावना एवं दर्शन को अपना लिया था जिसका मुख्य श्रेय उनके गुरु को दिया जा सकता है।

१. उ० भा० सं० प०, पृ० १४६ से उद्धृत।
२. क० ग्रं०, पद ५९, पृ० ८३।
३. वही, पद २१।
४. जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे वध करहि, मानहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बापि वैसी करी पूत ऐसी करी, तिहुरे लोक परसिद्ध कबीरा॥
आदिग्रंथ ( भगत रविदासजी ) रागु मलार, पृ० ६९८।
५. माया तुरकनी बाप जुलाहा बेटा भक्त भये। कबीर मंसूर, पृ० १३, कबीर ग्रथावली के पद १५१ एवं परि० के पद १२९ से भी यही ध्वनि निकलती है।

## आर्थिक स्थिति

जिस देश-काल मे कबीर ने अपना जीवन-यापन किया था, उसमे श्रमिकों, शिल्पियों और कृषकों को दरिद्रता विरासत मे मिलती थी। कबीर भी इसके अपवाद न रहे होंगे। उनकी रचनाओं मे उपलब्ध उनके व्यवसाय सम्बन्धी रूपकों का आध्यात्मिक अर्थ यदि थोड़ी देर के लिए भुला दिया जाय तो इस धन्धे की तत्कालीन परिस्थितियों पर निश्चय ही कुछ प्रकाश पड़ता है। उनकी कुछ उक्तियों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि उस समय इन लोगो से बेगार ली जाती थी। ग्राहक लोग इनकी प्रामाणिकता के प्रति शंकाशील रहते थे। अत. माप या तौल मे थोड़ी सी भी कमी-बेसी होने पर इनसे झगड़ा कर बैठते थे। ऐसी स्थिति मे तग आकर ये लोग गाँव छोड़कर भाग जाया करते थे।[1] इन्हें जैसी सान्त्वना बुनाई के पूरी होने पर होती थी वैसी ही ताने-बाने की चोरी हो जाने पर भी होती थी।[2] शायद ऐसी स्थिति मे वे उत्तरदायी न समझे जाते होंगे।

कबीर की स्वयं की आर्थिक स्थिति के विषय मे इतना तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि प्रभु के स्मरण और परिवार के पोषण का साथ-साथ निर्वाह कर सकने की स्थिति मे वे न थे—

तननां बुननां तज्या कबीर, राम नाम लिख लिया शरीर।
जब लग भरी नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह॥
ठाड़ी रोवै कबीर की माई, ए लरिका क्यूँ जीवै खुदाई।
कहै कबीर सुनहुँ री माई, पूरण हारा त्रिभुवन राई॥[3]

शायद उनके स्वयं के घर की स्थिति भी यही रही हो कि—

घर बाजरौ बलीड़ौ टेढौ औलाती डरराइ॥[4]

'कबीर ग्रंथावली' के परिशिष्ट के एक पद में उन्होंने भूखाँ रहकर भजन कर सकने में अपनी असमर्थता व्यक्त करके माधव से सुबह और शाम के लिए दो सेर आटा, पाव सेर घी, साथ मे नमक, आधा सेर दाल की याचना की है।[5] जो हो, निष्कर्ष रूप मे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी आर्थिक स्थिति सन्तोषकारक न रही होगी।

**कबीर के गुरु**—कबीर के गुरु के विषय मे डा० मोहनसिंह का विचार है कि कोई देहधारी उनका गुरु न था। केवल ब्रह्म(राम)या 'विवेक' या 'शब्द' ही उनका गुरु था।[6]

---

१. दे०, क० ग्रं०, पद १९३, पृ० ११५ और दे०, वही, परि०, पद ५९,पृ० २१४।
२. वही, पद २०, पृ० ७४।
३. वही, पद २१, पृ० ७५।
४. वही, पद २२, पृ० ७५।
५. दे०, वही, परि० पद १५६, पृ० २४०।
६. दे०, डा० मोहनसिंह : कबीर एण्ड हिज बायोग्राफी, पृ० २२-२४।

लेकिन अन्य विद्वानों द्वारा उनके गुरु के रूप मे शेख तकी[1], महात्मा मतिसुन्दर[2], स्वामी रामानन्द[3] एवं पीताम्बर पीर[4] आदि का समर्थन किया है। कबीर की यह उक्ति गुरु व गोविन्द के पृथकत्व को स्पष्टः ध्वनित करती है—'जब गोविन्द कृपा करी तब गुरु मिलया आई।'[5] अतः इसमे संदेह नही कि कोई देहधारी व्यक्ति उनका गुरु था जिसकी प्राप्ति उन्हे गोविन्द की कृपा से हुई थी। 'बीजक' की जिन रमैणियों के आधार पर शेख तकी को उनका गुरु सिद्ध किया जाता है वे ये है—

शेख अकरदी शेख सकरदी मानहु वचन हमार।
आदि अन्त औ उतपति परलय देखहु दृष्टि पसार ॥[6]
नाना नाच नचाइ कै नाचै नट के वेख।
घट घट अविनासी वसै सुनहु तकी तुम सेख ॥[7]

प्रथम तो यहाँ उपदेष्टा के रूप मे कबीर का हाथ ऊँचा है और श्रोता के रूप में शेख का सिर नीचा, दूसरे कबीर का स्पष्ट कथन भी है कि—

राम नाम कै पटंतरै देवे को कछु नाहिं।
क्या ले गुरु संतोषिये हौस रही मन माहिं ॥[8]

अतः स्पष्ट है कि जिस गुरु ने उन्हे 'राम नाम' दिया है वह कोई शेख नही रहा होगा।

डा० पारसनाथ तिवारी ने जिस उक्ति के आधार पर महात्मा मतिसुन्दर को कबीर का गुरु माना है वह यह है—

सोचि बिचारि देखो मन माही औसर आइ बन्यौ रे।
कहे कबीर सुनहु मति सुन्दर राजा राम रमौ रे ॥

कहना न होगा यहाँ भी उपदेश मति सुन्दर को दिया जा रहा कबीर को नही, अतः मात्र इसी आधार पर उन्हें कबीर का गुरु नही माना जा सकता।

---

१. दे०, रे वेस्टकाट : कबीर एण्ड दि कबीर पंथ, पृ० २५।
दे०, मौलवी गुलाम सरवर : खजीनतुल आसफिया (१८६८ ई०)
२. दे०, डा० पारसनाथ तिवारी : हिन्दी अनुशीलन, १०-२ ( १९५७ ई० ) महातम मतिसुन्दर लेख।
३. हिन्दी के प्राय. सभी वरिष्ठ विद्वान् इसी मत का समर्थन करते है।
४. इस मत का उल्लेख प्राय. सभी करते है लेकिन स्पष्ट समर्थन किसी के द्वारा किया गया नही देखा गया।
५. क० ग्रं०, गुरुदेव को अंग, सा० १३, पृ० १।
६. बीजक रमैणी, ४८।
७. वही, रमैणी, ६३।
८. क० ग्रं० गुरुदेव को अंग, सा० ४, पृ० १।

कबीर के गुरु स्वामी रामानन्द थे—इस मत का समर्थन हिन्दी के प्रायः सभी वरिष्ठ विद्वानों ने किया है। जिनमें बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, डा० सरनामसिंह, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एवं डा० रामजीलाल सहायक आदि उल्लेखनीय हैं। कबीर-पंथी मान्यता भी इसी मत का समर्थन करती है।[१] प्राचीन उल्लेखों की दृष्टि से भी यह मान्यता सर्वाधिक प्राचीन सिद्ध होती है, क्योंकि ओडछेवाले हरिराम शुक्ल व्यास (सं० १५६७-१६६९वि०)[२], अनन्तदास (सं० १६४५वि०)[३], नाभादास (सं० १६४२वि०)[४] एवं भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास (सं० १७६९ वि०), मोहसिन फानी (मृत्यु १६७० ई०)[५], मौलवी नसीरुद्दीन,[६] चेतनदास,[७] एवं सेन (सं० १५०५वि०)[८] आदि की उक्तियों मे कबीर को स्वामी रामानन्द का शिष्य कहा गया है।

उपर्युक्त सभी संदर्भों की तार्किक समीक्षा करके आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने 'मीराबाई के समय (सं० १५५५-१६०३ वि०) तक कबीर के विषय मे चमत्कारपूर्ण वर्णनों का आरंभ हो जाना और व्यास जी (सं० १६१२ वि० मे वर्तमान) के समय से उनके रामानन्द-शिष्य कहे जाने की प्रथा का चलना' सिद्ध किया है।[९] इस तरह उनके अनुसार ये उल्लेख जितने प्राचीन है उतने विश्वसनीय नही। उनकी मान्यता है कि 'कबीर किसी एक व्यक्ति से दीक्षित न होकर अनेक व्यक्तियों के सत्संग से लाभान्वित हुए होंगे।'[१०]

---

१. काशी में प्रगटे दास कहाये, नीरू के गृह आये।
   रामानन्द के शिष्य भये भवसागर पंथ चलाए। कबीर-कसौटी, पृ० ३३
   काशी में हम प्रगट भये रामानन्द चेताये ॥
   कबीर शब्दा० भाग—२, पृ० ६१ एवं कबीर वचनावली।
   कबीर रामानन्द को सतगुरु भये सहाय।
   जग में युक्ति अनूप है सो सब दई बताय ॥
   सद्गुरु कबीर साहेब का साखी ग्रंथ, पृ० १५।
२. दे०, हिन्दी काव्य का निर्गुण संप्रदाय, पृ० १०१ पर उद्धृत पद।
३. दे०, डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित : परिचई साहित्य ( १९५७ ई० ) पृ० १०७ पर उद्धृत साखी।
४. दे०, भक्तमाल : छप्पय ३१।
५. दे०, कबीर एण्ड कबीर पंथ (१९५३ ई०), पृ० २२-२३ का उद्धरण।
६. दे०, उ० भा० सं० प०, पृ० १५६ का उद्धरण।
७. दे०, प्रसंग पारिजात (कथित र० सं० १५१७ वि०)।
८. दे०, सत कबीर : प्रस्तावना, पृ० ६२-६३ का उद्धरण।
९. उ० भा० सं० प०, पृ० ८६५-६६।
१०. वही, पृ० १६०।

किन्तु आचार्य चतुर्वेदी स्वयं ही इस विचार को अंतिम रूप से ग्रहण करते प्रतीत नही होते, क्योंकि एक स्थान पर वे यह भी लिखते हैं कि कबीर ने 'स्वयं भगवान् को ही गुरुवत् स्वीकार' किया है।[1] तो अन्यत्र वे स्वामी रामानन्द को कबीर का गुरु मानने वालो का समर्थन करते प्रतीत होते है।[2]

कबीर की विचारधारा पर वैष्णवी प्रभाव की चर्चा यथास्थान की जायगी: यहाँ इतना उल्लेख ही यथेष्ट होगा कि कबीर की रचनाओ मे कुछ उक्तियाँ तो ऐसी है कि यदि उनमे कबीर के स्थान पर सूर व तुलसी की छाप लगा दी जाय तो उन्हे कबीर की उक्ति कहना कठिन होगा। उस समय वाराणसी मे रामानन्द ही सुप्रसिद्ध वैष्णवाचार्य थे। अत: सभव है कि उन पर यह वैष्णवी प्रभाव रामानन्द जी के माध्यम से ही पड़ा हो, और इसलिए वे उनके गुरु भी रहे हो। दूसरे यद्यपि 'राम नाम' का महत्व गोरख-बानी एवं नामदेव की पदावली मे भी स्वीकृत हुआ है फिर भी कबीर ने उसे 'तारक मन्त्र' मानकर जो महत्व दिया है[3], वह नामदेव आदि से प्रकृत्या भिन्न होने से रामानन्दजी के प्रभाव की संभावना को बल प्रदान करता है। तीसरे भक्ति के क्षेत्र मे जाति-पाँति को स्वामी रामानुज ने अमान्य ठहराया था, तो रामानन्द ने उसे 'ब्रह्म-भोज' या खान-पान के क्षेत्र मे भी अमान्य ठहराया। इतना ही नही अपने शिष्यो मे जाट, नाई, चमार एव जुलाहे को भी स्थान दिया। जनश्रुति है कि कोई एक स्त्री (सभवत: कोई वेश्या) भी उनकी शिष्या थी।[4] शायद इसी सदर्भ मे यह उक्ति प्रसिद्ध हुई कि 'जाति-पाँति पूछे नही कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' जाति-पाँति के विरोध मे कबीर ने संभवत: इसी विचार को और आगे बढाया है। चौथे वैष्णवी परंपरा मे, विशेष रूप से 'भक्त-माल' मे, 'भक्तों' की महिमा भगवान् के सदृश ही स्वीकार की गई है, कबीर की रचनाओ मे भक्तों की महत्ता इसी रूप मे स्वीकार की गई है।[5] अत. संभव है कि वे रामानन्द के शिष्यो की परम्परा मे भी रहे हो। पाँचवें, डा० फर्कुहर के अनुसार स्वामी रामानन्द ( दक्षिण से ) 'अध्यात्म रामायण' एवं 'अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-सवाद' को उत्तर मे साथ लाये थे। आज यह चाहे सिद्ध न हो सके लेकिन रामानन्द के अनुयायियो मे उक्त

---

१. कबीर साहित्य चिन्तन, (सन् १९७० ई०), पृ० १३३।

२. सत साहित्य के प्रेरणा स्रोत (१९७५ ई०), पृ० १००।

३. राम कहे भला होइगा नहितर भला न होय।

क० ग्रं०, सुमिरण को अंग, सा० १, पृ० ४।

+ + +

राम नाम ततसार है सब काहू उपदेश ॥ वही, सा० २, पृ० ४।

४. डा० त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० ११४।

५. कै सेवा करि साध की कै गोविन्द के गुण गाय ॥ क० ग्रं० चितावणी को अंग और दे०, वही, साध को अग साखी १०, पृ० ३९ एव पद २७, पृ० ७६ (सा० ३६, पृ० १९)

ग्रंथों का महत्व अद्यापि स्वीकृत है।[1] उक्त दोनों ही कृतियाँ अद्वैत मत की प्रतिपादक है, अत संभव है रामानन्द के विचारों मे रामानुज का विशिष्टाद्वैत और अध्यात्म रामायण के अद्वैत इन मतों का समन्वय रहा हो, और यही प्रभाव कबीर को ग्राह्य बना हो। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मत का समर्थन किया है।[2] लेकिन डा० त्रिगुणायत उक्त मत से सहमत नही है।[3] डा० बडथ्वाल ने यह सिद्ध किया है कि रामानुज की परम्परा मे भक्ति के साथ योग का महत्व स्वामी राघवानन्द से स्वीकृत हो चुका था।[4] राघवानन्द ने अपनी योग-विद्या से ही अपने शिष्य रामानन्द को 'मृत्यु-योग' से बचाया था। कहा जाता है कि स्वामी रामानन्द पहले किसी अद्वैतवादी के शिष्य भी रहे थे।[5] अतः रामानन्द के विचारों मे विशिष्टाद्वैत एवं अद्वैत और साधना में भक्ति एवं योग का समावेश हो चुका था। स्वामी राघवानन्द की प्रकाशित कृति—'सिद्धान्त पंच-मात्रा'[6] मे वैष्णव मत के साथ योग मत्र व अवधूतो के रहने की चर्चा है तथा 'स्वामी रामानन्द की हिन्दी रचनाओं'[7] को देखने से प्रतीत होता है वे संत मत के प्रमुख प्रचारक थे। अत सभव है कि कबीर की रचनाओ मे जो अद्वैतमूलक विचार व ज्ञान, भक्ति एवं योग का समावेश है वह उन्हे सीधे रामानन्द से ही प्राप्त हुआ है।

आदि ग्रथ मे संकलित 'कबीर वानी' मे उपलब्ध एक पद मे कबीर ने गोमती तीर (संभवत जौनपुर, निवासी किसी पीताम्बर पीर की प्रशंसा की है।[8] किन्तु एक तो यह सदिग्ध रचना है,दूसरे इस प्रसंग मे वह भावना व्यक्त नही होती जो कबीर की अन्य गुरु-विषयक उक्तियों में व्यक्त हुई है। अत. निष्कर्ष रूप मे परंपरा,प्राचीन उल्लेख एवं विद्वानों के मन्तव्यों को मान्य रखकर स्वामी रामानन्द को कबीर का गुरु मानना ही उचित है।

**विद्याध्यन**

कबीर के विद्याध्ययन के विषय मे प्रमुख रूप से दो मान्यताएँ प्रचलित है (१) डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल[9],आचार्य शुक्ल[10], डा० गोविन्द त्रिगुणायत[11] एवं डा० सरनाम

---

१. दे०, एन आउट लाइन आफ दि रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया, पृ० ३२४।

२. दे०, कबीर 'ब्रह्म और माया' (१९७१ ई०), पृ० १०९-१०।

३ दे०, कबीर की विचारधारा (सं० २०२४ वि०), पृ० ११३।

४. दे०, योग प्रवाह (सं० २००३ वि०), पृ० १-२२।

५. दे०, वही, पृ० १।

६. दे०, वही, पृ० १८-२२।

७. दे० ना०प्र० सभा काशी द्वारा सं० २०१२ मे प्रकाशित।

८. दे०, क० ग्रं० परि० पद २१५, पृ० २५३।

९. दे०, हि० का० नि० सं०, पृ० १११।

१०. दे०, हि० सा० इति०, पृ० ७२-७३।

११. दे०, कबीर की विचारधारा, पृ० ४३।

सिंह[1] आदि का मत है कि—कबीर बहुश्रुत थे 'पढे लिखे नही थे।' (२) पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव[2], डा० रामकुमार वर्मा[3] एवं डा० माताप्रसाद गुप्त[4] प्रभृति का मत प्रायः यह है कि 'चाहे द्विज कुलोचित शास्त्रीय शिक्षा अथवा मकतबी तालीम उन्हें न मिली होगी (लेकिन) यह नही कि वे अक्षर-ज्ञान से कोरे थे।' लेखक को दूसरी मान्यता अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है। इसके समर्थन मे कबीर की निम्नांकित उक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती है—

बावन आषिर सोधि करि र रे म मैं चित लाइ।[5]
यह तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करक की लिखि लिखि राम पठाउँ॥[6]

बीजक की जिस उक्ति के आधार पर कबीर को निरक्षर सिद्ध किया जाता है वह यह है कि—

मसि कागद छूयौ नही कलम गही नहि नाथ।
चारिउ जुग को महातम मुखहि जनाई बात॥[7]

पहले तो इस उक्ति के कबीर कृत होने मे ही संदेह है। यदि इसे प्रामाणिक भी मानें तो इसकी प्रथम पंक्ति के आधार पर ही उनकी निरक्षरता का निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा, और यदि दोनों पंक्तियो का अर्थ एक साथ किया जाय तो भाव यही होगा कि 'मैं सदा सर्वदा मौखिक उपदेश ही देता हूँ, इसके लिए मुझे लिखने पढने के प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं पडती।' अतः इसमे पुस्तकीय उपदेशो की अपेक्षा मौखिक या गुरुमुखैकगम्य अनुभूत ज्ञानोपदेश का महत्व प्रतिपादित किया गया है। स्वयं के निरक्षर होने की स्वीकृति नही है। निष्कर्ष रूप मे कहना होगा कि कबीर साक्षर अवश्य थे।

**पर्यटन**

'तीर्थाटनो से कबीर का सैद्धांतिक विरोध था, लेकिन देशाटन उनके स्वभाव के अनुकूल था।' अतः उन्होने गुरु की शोध[8] और अपने सिद्धान्तों के प्रचार[9] के लिए

---

१. कबीर एक विवेचन, पृ० ६३।
२. कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ० ६३-६४।
३. संत कबीर, प्रस्तावना, पृ० १०।
४. कबीर ग्रंथावली, प्रस्तावना।
५. क० ग्रं०, कहणी बिना करणी को अंग सा० २, पृ० ३०।
६ वही, विरह को अंग सा० १२; पद ६, और भी देखें सम्रथाई को अंग, सा० ५-६, पृ० ४८।
७. कबीर साहब का बीजक : कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, सा० १८७, पृ० १९०।
८. खोजत खोजत सतगुरु पाया रहि गई आवण जाणी, क०ग्रं०,पद १९७, पृ० ११६।
९. मोहि आग्या दई दयाल दया करि काहूँ कूँ समझाइ : क०ग्रं०,पद ३१८,पृ० १४७।

देशाटन अवश्य किया होगा। अतः उनकी इन उक्ति मे 'अति' हो सकती है लेकिन असत्य नही—

कबीर सब जग हंडिया मंदिल कंदि चढाई।[1]

आदिग्रंथ मे संकलित 'कबीर बानी' की एक उक्ति से उनका गोमती तीर निवासी पीताम्बर पीर से मिलने जाना सिद्ध होता है।[2] बीजक की एक उक्ति के अनुसार उनके कुछ समय तक मानिकपुर मे रहने और वहाँ से शेख तकी से मिलने के लिए झूंसी जाने का उल्लेख है।[3] जगन्नाथपुरी एवं रतनपुर मे कबीर की समाधियां (या कब्रें) है[4] अतः संभव है वे वहाँ गये हों। 'हिस्ट्री आफ मराठा पीपुल' मे उनकी पंडरपुर की यात्रा का उल्लेख किया गया है।[5] 'कबीर मंसूर' मे उनकी बगदाद, बुखारा, समरकन्द आदि स्थानों की यात्राओं और 'गुरु महिमा' ग्रंथ मे उनकी गढवाल यात्रा का उल्लेख है।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कबीर की गुजरात यात्रा को प्रामाणिक माना है।[6] अनन्तदास की परचई के अनुसार कबीर गुरु रामानन्द की शिष्य-मंडली के साथ पीपा के देश (गाम रौनगढ़)भी गये थे, और वहाँ से द्वारिका गये थे। भरुच से तेरह मील दूर नर्मदा के तट पर शुक्ल तीर्थ नामक स्थान पर 'कबीर-वट' अद्यपि उनकी गुजरात यात्रा का 'स्मृति-चिह्न' माना जाता है।

उपर्युक्त उल्लेखो मे ऐतिहासिक तथ्य कितना है, यह कहना कठिन है लेकिन तत्कालीन परिस्थिति एवं साधन-सामग्री को ध्यान मे रखते हुए इतना ही कहा जा सकता है कि जगन्नाथपुरी से द्वारिका एवं पंढरपुर के मध्य का, उनका कार्य-क्षेत्र ही, पर्यटन-क्षेत्र भी रहा होगा।

### शिष्य परंपरा

चेलों की जमात खड़ी करना कबीर जैसे निस्पृह महात्माओं के स्वभाव व सिद्धान्तों के विरुद्ध होता है; किन्तु 'मोहि आग्या दई दयाल दया करि काहूँ कूं समझाइ'[7] के अन्तः-साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने किसी को समझाया अवश्य होगा,

१. वही, विर्कताई को अंग, सा० १०, पृ० ४८।

२. हज्ज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहि पीताबर पीर॥

क० ग्रं० परि० पद २१५, पृ० २५३।

३. मानिकपुर कबीर बसेरी। मदत सुनी शेख तकी केरी।
अजै सुनि यमनपुर धामा। झूंसी सहर पिरन को नामा॥ बीजक-रमैणी ४८।

४. दे०, आईने अकबरी, कर्नल एच० एस० द्वारा अनूदित, भाग २।

५. दे०, हिस्ट्री आफ मराठा पीपुल, पृ० १०७।

६ दे०, मिडिवल मिस्टिसिज्म आफ इंडिया, पृ० ९८-९९।

७. क० ग्रं० पद ३१८, पृ० १४७।

और जिसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ वही उनका शिष्य कहलाने का अधिकारी है। लेकिन इस विषय मे आधारभूत सामग्री का प्राय अभाव है,जो कुछ उल्लेख मिलते भी है उनमें एक वाक्यता नही पाई जाती। नाभादास जी ने भक्तमाल मे पद्मनाभ को कबीर का शिष्य कहा है।[1] भक्तमाल की टीका मे प्रियादास ने तत्वा-जीवा को दक्षिण देश का निवासी और कबीर का शिष्य कहा है।[2] अनन्तदास की परचई मे वीरसिंह बघेला को कबीर का शिष्य कहा गया है। कबीर-पंथी ग्रंथो मे कबीर के द्वादश शिष्यो—बके जी, चतुर्भुज, सेहते जी, वाई, मौलिकराय, बिजली खाँ, वीरसिंह बघेला, कवलापति, भोपालराय, रानी-मुधर्मा-मथुरा, रत्नाबाई एवं कदोईजी—की मान्यता स्वीकृत है। दादूपंथी राघवदास[3] ने कबीर के नौ शिष्यों–कमाल, कमाली, पद्मनाभ, रामकृपाल, वीर, नीर, ग्यानी, धर्मदास और हरिदास—का उल्लेख किया है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी[4] ने कबीर के दश शिष्यों-कमाल, कमाली, पद्मनाभ, तत्वा जीवा, ज्ञानी, जागूदास, भागूदास, सुरतगोपाल एवं धर्मदास का विस्तृत परिचय दिया है जो लेखक को ग्राह्य है; अतः यहाँ इस विषय के विस्तार की आवश्यकता नही रहती।

**कबीर का व्यक्तित्व एवं स्वभाव**

व्यक्तित्व; व्यक्ति के शारीरिक गठन या स्थूल आकृति, मानसिक विकास-स्तर या शिक्षा-दीक्षा, और उसके स्वभावगत लक्षण इत्यादि का सामूहिक रूप होता है। जिसके निर्माण में वशानुगत संस्कार, स्वभाव एवं वातावरण इत्यादि सहायक होते है।[5] कबीर के वश एवं शिक्षा-दीक्षा का परिचय पूर्ववर्ती पृष्ठों मे दिया जा चुका है, वातावरण का निरूपण आगे किया गया है, यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा कि उनका समय अशांति, अस्थिरता एवं अव्यवस्था का युग था। धार्मिक क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता की सकीर्ण मनोवृत्ति इतनी प्रबल थी कि लोग मात्र इसी एक आधार पर एक दूसरे की जान के ग्राहक बन बैठे थे। सामान्य जनता धर्म-तत्व से अनभिज्ञ थी, अन्धश्रद्धा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान थी। धर्म के ठेकेदारों ने इस स्थिति का लाभ लेकर बाह्य वेश-भूषा एव धार्मिक क्रिया-काण्ड को ही धर्म-सर्वस्व का रूप दे डाला था। वर्ण-भेद के कारण ऊँच-नीच एव छुआछूत की भावना घर कर चुकी थी। आर्थिक दृष्टि से दुर्बल वर्ग का समाज मे कोई स्थान न था।

ऐसी स्थिति मे एक ऐसे व्यक्तित्व की नितान्त आवश्यक थी जो अज्ञान, अन्धश्रद्धा, संकीर्ण-स्वार्थ, साम्प्रदायिक कट्टरता, असमानता एवं ऊँच-नीच की भावना इत्यादि का

---

१ दे०, भक्तमाल, छप्पय ६८।
२. दे०, वही, कवित्त ३१२।
३. राघवदास कृत भक्तमाल : छप्पय ३५३।
४. उ० भा० सं० प०, पृ० २६०।
५. विस्तृत विवरण के लिए देखें,आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य सहचर,पृ० १७।

निर्भीक रूप से प्रतिरोध कर मानवतावाद की पुनःस्थापना करने मे या उसका समर्थन करने मे समर्थ हो। जो निहित स्वार्थ व्यक्तियों के बल, विद्या एवं वैभव से पराभूत न होकर निर्द्वन्द्व, निशंक एवं निडर भाव से सत्य का उद्घाटन कर सके। कहना न होगा कबीर का व्यक्तित्व एक ऐसे ही युग-पुरुष का व्यक्तित्व था। व्यक्तित्व की दृष्टि से उन्हें अक्खड, फक्कड एवं घुमक्कड कहा जाता है। किन्तु ध्यातव्य यह है कि उनकी अकड़ दंभ का पर्याय नही है, उनका फक्कडपन उत्तरदायित्व-शून्य-स्वभाव का द्योतक नहीं है, और उनका घुमक्कडपन तीर्थाटन या देशाटन मात्र का प्रमाद नही है। उनकी अकड मे सत्य का तेज है, गुणकारी कटुता है,ममता की फटकार है, लाड को ललकार है,हितकारी उपदेश है। उनका फक्कडपन ईश्वरीय सत्ता मे उनकी प्रगाढ श्रद्धा से उत्पन्न आत्म-विश्वास या निश्चिन्त भावना का प्रतिफल है; और उनका घुमक्कडपन परहित-कामना से प्रेरित है।

उनके स्वभाव के विषय मे कहना होगा—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतासि कोनु विज्ञातुमर्हति ॥

क्योंकि वहाँ एक ओर वे मदिर व मस्जिद के स्वामियो पर अपने तीक्ष्ण वाग्बाणों की वर्षा मे कोई न्यूनता नही आने देते—

कृतिम सुनित्य और जनेऊ, हिन्दू तुरक न जानै भेऊ।
मन मुसले की जुगति न जाने मति भूले द्वै दीन बखानै ॥[1]

वहाँ यह उपदेश देते हुए भी देखे जाते है—

ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय।
अपना मन सीतल करे औरन को सुख होइ ॥[2]

तदुपरान्त स्वयं के विषय मे उनकी यह उक्ति भी द्रष्टव्य है—

कबीर चेरा संत का दासनि का परदास।
कबीर ऐसे ह्वै रह्या ज्यूं पाऊँ तलि की घास ॥[3]

भाव स्पष्ट है कि असत्य, दंभ, दिखावा, बाह्याडम्बर, अनाचार, अज्ञान एवं अन्ध-विश्वास आदि के प्रति वे जितने निर्मम है, सत्य निष्ठा, भक्ति एवं सदाचार आदि के प्रति वे उतने ही विनम्र है। विचारों मे सर्वात्मवादी दृष्टि और आचार मे कथनी व करनी की एकता—कबीर के व्यक्तित्व के ये दो प्रमुख गुण है। सबके प्रति आत्म-भाव, समानता का भाव, ऊँच-नीच व छूआछूत का विरोध,परदुःख—कातरता, अहिंसा, निर्वैरता

---

१. क० ग्रं०. अष्टपदी रमैणी, पृ० १८१।

२. वही, उपदेश को अंग, सा० ९, पृ० ४४।

३. क० ग्रं०, जीवन मृतक को अंग, सा० १३, पृ० ५१।

आदि का कारण उनकी सर्वात्मवादी दृष्टि है तो, स्पष्टवादिता, निर्भीकता, नम्रता, शील, संतोष, निर्लोभता, त्याग एवं वैराग्य आदि कथनी व करनी की एकता के प्रतिफल है। उनके चरित्र का सर्वोत्तम गुण उनकी बुद्धिवादिता है, कोई भी शास्त्र उनके लिए प्रमाण-भूत नही है, गुरु के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति अनुकरणीय नही है। अनुभव की कसौटी पर जो खरा सिद्ध हो वह सत्य उन्हे स्वीकार्य है, अन्यथा वेद, कतेब, पडित, मुल्ला, जोगी, सन्यासी, जटाधर, मुनि सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ है। निर्भीकता इतनी है कि बल उन्हे झुका नही सकता, कोरा ज्ञान उन्हें पराभूत नही कर सकता, और धन उन्हें लुभा या खरीद नही सकता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन सत्य के निकट है कि—'हजार वर्ष के इतिहास मे कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नही उत्पन्न हुआ।'[१]

## (२) अखा का जीवन

**नाम**—श्री सीताराम सहगल के अनुसार अखा का पूरा नाम 'अखेराय' था।[२] श्री नर्मदाशकर देवशकर मेहता द्वारा प्रस्तुत किये गये अखा के पीढ़ीनामा मे उनका नाम 'अखेराम' दिया गया है।[३] डा० रमणलाल पाठक ने अखा का जो पीढीनामा प्रस्तुत किया है उसमें उनका नाम 'अखा' है और अन्ततः उन्होंने इसी नाम को स्वीकार किया है।[४] अखा की गुरु-शिष्य परपरा सम्बन्धी जो 'अक्षय वृक्ष' सागर महाराज की डायरी से प्राप्त हुआ है उसमे उनका नाम 'अखा जी' दिया गया है।[५] श्री विजय राय कल्याणराय वैद्य 'अखा भगत' को 'अक्षयदास' भी कह देते है।[६]

अखा ने अपनी रचनाओं मे अपने नाम की छाप के रूप में मुख्य रूप से अखा शब्द का ही प्रयोग किया है लेकिन जहाँ-तहाँ, अखे[७], अखो[८], अषो[९], अख्खा[१०], अखेजु[११],

१ दे०, कबीर : उपसंहार, पृ० २२१-२८।
२. 'कल्याण' भक्त चरिताक, (१९५२ ई०), पृ० ७०६।
३. अखा कृत काव्यो, भाग १ (१९३१ ई०), अखानु क्षरजीवन, पृ० ३।
४. सं॰ क०अ०जी० और उ० हि० कृ०, आ० अ०, पृ० ४५ एवं ४१।
५. वही, पृ० ३९ एवं अक्षयरस : प्रस्तावना, पृ० ३२।
६. गुजराती साहित्यनी रूपरेखा : भाग पहेलो-मध्यकाल (१९६५ ई०), पृ० ८९।
७ छप्पा २६१।
८. अखेगीता कडवु ३, पंक्ति १०।
९. अक्षयरस, हरिजन अंग, साखी ३०, पृ० २५६।
१०. वही, भजन १०, पृ० ११४ एवं अप्रसिद्ध अक्षयवाणी, पृ० १९४।
११. अक्षयरस : संतप्रिया, कवित्त ८२।

अखेराम[1], अखो जी[2], इत्यादि का भी प्रयोग किया है। यह उल्लेखनीय है कि अषो तो लिपि भेद से 'अखो' ही है और शेष सभी रूप 'अखा' के ही रूपान्तर है, जो चाहे छन्द की आवश्यकता के अनुसार स्वीकार किये गये हों या किसी अन्य कारण से। 'अखा' शब्द 'अखा' या 'सम्पूर्ण' का श्लेषार्थ लिए हुए है, तो 'अखेजु' का अर्थ 'अखा ने तो' होता है। 'अखो जी' इत्यादि प्रयोगो मे प्रेस अथवा लिपिक की भूल हो सकती है, उदाहरण के लिए अक्षयरस मे संकलित सतप्रिया के कवित्त संख्या ९० मे 'अखो' को 'अखी' करके छाप दिया गया है। जो हो, इतना स्पष्ट है कि वे अपने समाज मे 'अखा' नाम से ही जाने जाते थे—

सब कोई पूछत सुन अखा कौन गुरु तेरा पंथ।[3]
नाम धरन कुं अखा सोनारा सदा निरन्तर राम हे सारा ।।[4]

उपर्युक्त विवरण तथा अन्त साक्ष्य के प्रकाश मे उनका पूरा नाम 'अखेराय'[5] व अखेराम[6] इन दो मे एक अवश्य रहा होगा और वह संभवतः उनका जन्म किसी 'अक्षय-तृतीया' के दिन होने के कारण रखा गया होगा। क्योंकि उन दिनों सप्तवार एवं पन्द्रह तिथियो मे से जन्म दिन या जन्म तिथि के आधार पर नाम रखने की प्रथा प्रचलित थी। ग्रामीण क्षेत्रो मे आज भी पाई जाती है।

**माता-पिता एवं परिवार**

अखा के पिता के विषय में श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने सर्वप्रथम यह लिपिवद्ध किया कि 'अखा की उम्र जव लगभग १५ साल की थी, तब उसके पिता उसे लेकर अहमदाबाद आये।'[7] इसके बाद यह जोडा गया कि अखा की बीस वर्ष की उम्र होने से पूर्व ही इसके पिता का देहान्त हो गया।[8] श्री न० दे० मेहता ने स्वयं को अखा का वंशज कहनेवाले श्री लल्लूभाई से सुनकर अखा का पीढीनामा प्रस्तुत किया, जिसके आधार पर उनके पिता का नाम 'रहिआदास' निश्चित हुआ। अखा की माता के विषय मे शायद श्री के०का० शास्त्री ने सर्वप्रथम यह लिखा कि अखा के बाद एक पुत्री को जन्म

१. अक्षयरस : अखा, पदसंख्या १५।
२. वही, भजन-संख्या १५, पृ० ११९।
३. अ० र० गुरु अंग, सा० १, पृ० १७३।
४. अखानी वाणी तथा म-प-पद ११६।
५. चित्त विचार संवाद में कवि ने चित्त के लिए 'चित्तराय' शब्द का प्रयोग किया है। अत: संभव है उनका मूल नाम 'अखेराय' रहा हो। चि० वि० सं० चौ० ३२१, २१६ एवं ६३।
६. ब्रह्मानद चरणे अखो भणे अखेराम ज कहीआ। अखानी वाणी तथा म०प०पद ९०
७. बृहद्-काव्य-दोहन, भाग ३ (१८८८ ई०), पृ० ७-८।
८. स्वामी स्वयं ज्योति : अखानीवाणी (१९१४ ई०) अखानो परिचय, पृ० ७।

देकर उसकी माता मृत्यु को प्राप्त हो गई।[1] इस कथन से यह स्पष्ट है कि अखा की माता की मृत्यु जेतलपुर मे ही हो गई होगी, लेकिन एक शोध या संशोधन यह भी देखने मे आया कि 'अपनी माँ और बहिन को जेतलपुर मे ही छोड़कर अखा अपने पिता के साथ अहमदाबाद चले आये····धीरे-धीरे व्यवसाय मे प्रगति हुई और अखा की माँ तथा बहन उन्ही के पास आकर रहने लगी।[2] लेखक अखा के माता-पिता की मृत्यु उनके टकसाल के अधीक्षक पद तक पहुँचने के बाद मानता प्रतीत होता है। जो हो, इस विषय मे इतने से ही संतोष करना चाहिए कि अखा के माता-पिता के विषय मे कोई आधारभूत सामग्री उपलब्ध नही है।

अखा के परिवार के विषय मे भी कोई संतोषप्रद जानकारी उपलब्ध नही है। श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने सर्वप्रथम यह लिखा कि अखा के एक बहन भी थी। जिस पर उसका अतिशय स्नेह था। परन्तु उसके बाल्यकाल मे ही मर जाने के कारण कवि बहुत दुःखी हुआ और उसी दिन से उसमे स्वाभाविक वैराग्य उत्पन्न हुआ।[3] अखा की यह बहिन उनसे छोटी थी या बड़ी ? श्री इ०सू० देसाई की इस शंका का समाधान श्री के० का० शास्त्री के उपर्युक्त कथन से हो जाता है। अखा के गृहस्थ जीवन के विषय मे श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने लिखा है कि उनका विवाह बाल्यावस्था में ही हो गया था, उनकी यह (पहली) पत्नी बाल्यकाल मे ही मर गई थी' दूसरी स्त्री के साथ उन्होंने गृह सुख भोगा हो यह संभव है।[4] श्री के० का० शास्त्री का अनुमान है कि अखा की पहली शादी और उनकी पहली पत्नी की मृत्यु जेतलपुर में ही हो गई होगी। श्री न० दे० मेहता अखा की दो शादियो का उल्लेख नही करते लेकिन न मालूम कहाँ से इतना ढूंढ निकालते है कि–'अखा की पत्नी झगड़ालू स्वभाव की थी।[5] श्री थूंठी साहब मानते है कि अखा ने इस झगडालू स्वभाववाली पत्नी से अहमदाबाद मे टकसाल का अधीक्षक होने के बाद शादी की थी।[6] डा० रमणलाल पाठक के मतानुसार अखा की 'प्रथम पत्नी झगडालू थी। कवि की उसके साथ अच्छी पटती थी। अतः उसके चल-बसने पर अखा ने दूसरा विवाह किया। द्वितीय पत्नी का स्वभाव अच्छा था।[7]

अखा के वंशजो का एक पीढीनामा श्री न० दे० मेहता ने ( १९३१ ई० ) प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार आज (१९३१ ई० मे, अखा के भाई गंगाराम की पाँचवी पीढी

१. श्री के०का० शास्त्री, कविचरित, भाग १-२, पृ० ५६३-६४।
२ डा० वेदप्रकाश, (कल्याण वर्ष ४८ अंग १२) दार्शनिक संत कवि अखा, पृ० १११।
३. बृहद्-काव्य-दोहन, भाग ३, पृ० ७।
४ दे०, वहीं, भाग ३, पृ० ८।
५ दे०, न०दे० मेहता। अखाकृत काव्यो, भाग १, अखानुं अक्षरजीवन, पृ० ३।
६ दे०, डा० थूठी 'दी वैष्णवाज आफ गुजरात, पृ० २३७।
७. डा० रमणलाल पाठक : सं० क०अ०जी० और उ०हि०कृ०आ०अ०, पृ० ४६।

विद्यमान है। दूसरा पीढ़ीनामा डा० रमणलाल पाठक द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिसके अनुसार आज ( १९६७ ई० मे ) अखा के भाई गंगाराम की ७ वी पीढ़ी विद्यमान है।[१] इन दोनों 'पीढीनामाओं मे से एक भी विश्वसनीय प्रतीत नही होता। क्योंकि एक तो उनका आधार लिखित न होकर मौखिक है, दूसरे इन पीढीनामाओं मे पर्याप्त अन्तर भी है। तीसरे श्री वल्लभाचार्य के समय से आज ( स० २००४ वि० ) तक उनकी गद्दि यों पर कम से कम १५वाँ और अधिक से अधिक १७वाँ व्यक्ति विद्यमान है।[१] गोकुलनाथजी जो अखा के समकालीन थे, वल्लभाचार्य के पौत्र थे। अत. दो पीढी कम गिने तब भी आज कम से कम १३, १४ पीढ़ियाँ तो होनी ही चाहिए। फिर इन पीढीनामाओ को प्रस्तुत करनेवाले विद्वान् भी एक ओर लिखते हैं कि अखा के पिता उन्हे और छोटो बहिन को लेकर अहमदाबाद आये थे। दूसरी ओर वे अखा के दो भाइयो का भी उल्लेख करते है तो क्या अहमदाबाद आते समय वे उनके साथ न थे ? सब मिलाकर इन पीढी-नामाओ को हम ऐसे व्यक्तियो के मस्तिष्क की उपज मानते है जो अकारण ही अखा के साथ अमर हो जाना चाहते है।

अतः पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे अखा के परिवार एवं पारिवारिक जीवन के विषय में केवल यही माना जा सकता है कि जनश्रुति के अनुसार अखा के एक बहिन भी थी, जो सम्भवतः उनसे छोटी थी। कहा जा सकता है कि अखा का प्रथम विवाह उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था। पहली पत्नी के देवलोक सिधार जाने के बाद उन्होने दूसरा विवाह किया था। यह दूसरी पत्नी भी अखा के अँधेरे आँगन मे कोई कुलदीप प्रगटाये बिना ही उनको एकांकी छोडकर, अकाल मे ही स्वर्गारोहण कर गई।

**जीवन काल**

अखा का जीवन काल निश्चय करने मे कोई बाह्य-साक्ष्य प्रायः उपलब्ध नही है इसलिए उनके जन्म एवं मृत्यु संवत् मुख्यतः अन्त.साक्ष्यों के सहारे ही निश्चित करने के प्रयत्न किये गये है। ये अन्त साक्ष्य इस प्रकार है—

१. 'अखेगीता' मे उसका रचना काल सं० १७०५ वि० दिया गया है—

> सवत सत्तर पचलोत्तरो शुक्लपक्ष चैत्र मास।
> सोमवार रामनवमी पूरण ग्रंथ प्रकाश॥[२]

२. 'गुरु शिष्य संवाद' का रचना काल सं० १७०१ भी अमुक पाण्डुलिपियो मे प्राप्त हुआ है—

> संवत १७०१ सत्तर प्रथम हवो ग्रथ उत्पन्न।
> ज्येष्ठ मासे कृष्ण पक्षे नवमि सोमवार दीन्न॥[३]

---

१. दे०, श्री वल्लभ वंश-वृक्ष (२००४ वि०)।

२. अखेगीता, कडवु ४०, छन्द १०।

३. फार्वस गुजराती सभा : वम्बई, ह० लि० पोथी ३३६।

३. अखा ने गोकुलनाथ जी से गुरु-दीक्षा लेने का उल्लेख किया है। गोकुलनाथ जी का जीवन काल सं० १६०८ वि० से १६९७ वि० मान्य है।

गुरु कर्या मै गोकुलनाथ, नगुरा मनने घाली नाथ ॥[1]

४. अखा ने एक छप्पा मे कहा कि पढने लिखने से जो वुद्धि उल्टी ही रही वह बावन के बाद आगे बढी—

बावने थी बुध्य आधी वटी, भण्या गण्या थी रही उलटी ॥[2]

५. एक अन्य छप्पा मे उन्होने कहा है कि तिलक करते-करते त्रेपन (वर्ष) बीत गये, जप करते-करते माला के मनके घिस गये, तीर्थ-यात्रा करते-करते चरण थक गये, तो भी हरि की शरण मे न पहुँचा, कथा सुनते-सुनते कान फूट गये फिर भी ब्रह्मज्ञान न आया।

तिलक करता त्रेपन थया, जप मालाना नाका गया।
तीरथ फरी करी थाक्या चरण, तोय न पाहोतो हरिने शरण।
कथा सुणी सुणी फूट्या कान, अखा तोय न आव्यु ब्रह्मज्ञान ॥[3]

६. छप्पा न० ७२४, ७२५ एव ७२६ मे संभवतः उन्होने सगुण-लीला-गायक कवि प्रेमानन्द (जीवन काल सं० १६९२-१७९० वि०) की गायक मंडली पर व्यंग्य किया है।

७. उन्होंने कबीर, रैदास, सेन एव दादू का उल्लेख किया है। दादू उनके निकटतम पडते है क्योकि उनका जीवन काल स० १६०१ से १६६० वि० मान्य है—

चमार जुलाहा नाई धुनीआ दादु रैदास सेना कविराई ॥[4]

८. ८ जून १६५८ ई० को औरंगजेब ने शाहजहां को कैद किया, २५ जून को मुराद को कैद किया और उसे ४ दिसंबर १६६१ ई० को मार डाला। ३० अगस्त १६५९ ई० को दारा को मृत्युदण्ड दिया।[5] इन घटनाओ का सकेत अखा कृत इन पंक्तियों मे है—

जेम राजपुत्र नो न्याय उपाय त्यां तेमज करवो।
ज्येष्ठ कनिष्ठ भ्रात तात लग वाछे मरवो ॥[6]

---

१. अखाना छप्पा १६८।

२. छप्पा २४२।

३ वही, ६२८।

४. संतप्रिया : कवित्त २१।

५ डा० यदुनाथ सरकार, औरंगजेब (हिन्दी संस्करण), पृ० ६४५-४६।

६ अनुभवबिन्दु, २५।

सभव है कि अखा की इस उक्ति में कथित ऐतिहासिक घटना का संकेत न होकर

अखा के जीवन काल का निर्णय करनेवाले विद्वानों ने इन अन्त साक्ष्यो को अपनी रुचि एवं मति से पृथक्-पृथक् प्रकार से प्रयुक्त करके अपने-अपने निष्कर्ष निकाले है। उपर्युक्त अन्त साक्ष्यों मे से निर्णायक-महत्व केवल दो या तीन का ही रहा है। एक है अखेगीता का रचना काल सं० १७०५ वि०, दूसरा गोकुलनाथ जी का निधन सं० १६९७ वि० एवं अन्य है 'बावन' व 'त्रेपन' की युक्तिवाले छप्पा और छप्पा नं० १६६—जिसमे कहा गया है कि—ब्रह्म को हृदय के अन्दर जान लेने के बाद मेरी वाणी उघडी या खुली—

'अखे' उर अंतर लीधो जाण, त्यार पछि उघडी मुज वाण ॥

अब देखें कि अखा के जीवन काल-सम्बन्धी निर्णय किस प्रकार और किस क्रम से लिये गये है—

१. श्री नर्मदाशंकर एव डाह्याभाई 'घेलाभाई' पंडित ने यह कहकर काम चला लिया कि 'अखा सं० १७०५ मे था।'[1] अतः इस दिशा मे सबसे पहला प्रयत्न श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने किया। उन्होने अखेगीता को अखा की प्रथम रचना माना और इसकी रचना के समय अखा की उम्र ३०-३५ वर्ष मानकर १७०५ मे वि० मे से ३० या ३५ वर्ष कम करके जन्म संवत् १६७०-७५ माना, और अखा की शेष रचनाओ के लिए अखेगीता की रचना के बाद १५ या २० वर्ष मानकर मृत्यु-सवत् १७३०-३५ माना।[2] विद्वान् लेखक की यह मान्यता परवर्ती विद्वानो मे समादृत नही हुई।

२. दूसरा प्रयत्न श्री अंबालाल जानी ने किया। उन्होने 'बावने थी बुध्य आधी वटी''''छ २४२ मे प्रयुक्त बावन शब्द को अखा की आयु का सूचक माना और उसकी संगति 'त्यार पछी उघड़ी मुज वाण' छ. १६९ से बिठाकर यह आशय ग्रहण किया कि अखा को ५२ वर्ष की उम्र मे ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ और उसके बाद उन्होने कविता की। क्योकि अखेगीता (रचना १७०५ वि०) उनकी प्रथम रचना है अतः सं० १७०५ में से ५२ वर्ष कम कर देने पर अखा का जन्म स० १६५३ वि० माना जा सकता है।[3]

३. तीसरा प्रयत्न श्री नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता का है। उन्होने छप्पा नं० २४२ मे प्रयुक्त 'बावन' शब्द को तो अखा की आयु का सूचक न मानकर गुजराती भाषा की वर्णमाला के ५२ अक्षरो का सूचक माना है, परन्तु छप्पा नं० ६२८ मे प्रयुक्त 'त्रेपन'

---

सामान्य नीति-विषयक उल्लेख ही हो जैसा कि हितोपदेश के इस श्लोक मे है—

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृत्।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता॥ सुहृद्भेद १७८।

१. जूनु नर्म गद्य पृ० ४५७ एवं कविचरित, भाग २, पृ० ७१।

२. दे०, बृहद्-काव्य-दोहन, भाग ३, भूमिका, पृ० ११।

३. दे०, साहित्यकार अखो : सं०मं०र० मजूमदार (द्वि०आ० १९७४ ई०), पृ० १६४ (अखो भक्त अने तेमनी कविता : निबंध)

शब्द को अखा की आयु का द्योतक माना है। उनकी मान्यता है कि अखेगीत अखा की प्रथम रचना नही हो सकती। अत उक्त छप्पा के लिखते समय अखा की आयु ५३ वर्ष हो और अखेगीता उसके ३ साल बाद लिखी गई हो तो अखेगीता के रचनाकाल सं० १७०५ मे से कुल ५६ वर्ष कम करने पर अखा का जन्म संवत् १६४९ वि० हो सकता है। लेकिन अपने इस निष्कर्ष के बावजूद भी वे अखा का जीवन काल सन् १६१५ ई० से १६७५ ई० मानते है।[1]

४. स्वामी स्वय ज्योति[2] एवं श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी अखा का जीवनकाल १६१५ ई० से १६७५ ई० मानते है परन्तु उन्होने इस मान्यता का कोई कारण नही दिया है।

५ इस दिशा मे पाँचवाँ विचारपूर्ण प्रयत्न श्री उमाशकर जोशी ने किया है। प्रारभ मे 'बावन' अथवा 'त्रेपन' मे से एक भी शब्द को वे अखा की आयु का बोधक यद्यपि नही मानते परन्तु कोई अन्य उपाय न देखकर अन्त मे ५३ के चक्कर मे उलझ ही जाते है, किन्तु सं० १७०५ वि० की ओर से नही, गोकुलनाथ जी के निधन सं० १६९७ वि० की ओर से यह स्वीकारते हुए कि छप्पा ६२८ की रचना तक, अर्थात् अपनी आयु के ५३वे वर्ष तक, अखा पालथी मारे (साहित्य सर्जन किये बिना) बैठा न रहा होगा, वे मानते है कि, गोकुलनाथ जी से दीक्षा लेते समय अखा अपनी आयु के ५३ वर्ष पूरे कर चुके होगे। अत गोकुलनाथ जी के निधन सवत् १६९७ वि० मे से ५३ वर्ष कम करके १६४४वि० को अखा का जन्म संवत् होने की सभावना व्यक्त करते है, परन्तु यह ध्यान आने पर कि यह तो वही त्रेपन का चक्कर है जिसे ऊपर अस्वीकार किया जा चुका है, वे १६९७ वि० मे से ५० वर्ष कम करके १६४७ वि० को अखा का जन्म संवत् स्वीकार कर लेते है। उनकी दूसरी मान्यता यह है कि छप्पा न० ७२४-२५ एवं ७२६ मे अखा ने महान् कवि प्रेमानन्द की निन्दा नही की है, अत. यह मानते हुए भी कि अखेगीता की रचना (स० १७०५ वि०) के बाद अखा २० वर्ष और जीवित रहा होगा अखा को प्रेमानन्द ( सं० १७०० से १७६० वि० )* की अल्पायु मे ही घोषित करने की दृष्टि से संवत् १७१० को वे अखा का निधन-सवत् घोषित कर देते है। इस प्रकार गोल-मोल रूप से सं० १६४७ वि० से सं० १७१० वि० तक अखा का जीवन-काल मानते है।[3]

---

१. दे०, अखाकृत काव्यो, भाग १—अखानुं क्षर जीवन, पृ० ४-१०।
२. दे०, अखानीवाणी अने म०प० : अखानो परिचय, पृ० २६।
३. दे०, अखो अंक अध्ययन (द्वि०सं० १९७३ ई०), पृ० ६८-७७ तक।
*श्री उमाशंकर जोशी ने प्रेमानन्द का यही समय दिया है जबकि श्री न०दे० मेहता प्रेमानन्द का जीवनकाल ( सं० १६९२ से १७९० वि० ) मानते है, दे०—अखाकृत काव्यो, भाग १, पृ० ११।

५ इस विषय मे छठा प्रयत्न डा० रमणलाल पाठक का है। उनके मतानुसार अखेगीता मे कवि की 'परिणत प्रज्ञा' के दर्शन होते है, इस प्रज्ञा को सिद्ध करने मे कवि को कम से कम २० वर्ष अवश्य लगे होगे। अतः अखेगीता के रचना-समय सवत् १७०५ वि० मे से २० वर्ष कम करने पर सं० १६८५ आयेगा। इस १६८५ मे से ५३वर्ष और निकाल देने पर स० १६३२ वि० रहता है। इसे हम कवि के जन्म सवत् के रूप मे स्वीकार कर सकते है। चूंकि अखा ने 'अनुभव बिन्दु' के छप्पय २५ मे औरंगजेब की नीति का उल्लेख किया है। औरगजेब ने मुराद को १६६१ ई० (सं० १७१६-१८वि०) मे प्राण दण्ड दिया था; अत. अखा की मृत्यु सन् १६६१ई० के बाद सम्भवतः १६६८ई० (सं० १७२५ वि० ) मे हुई। अत अखा का जीवन काल १६३२ वि० से १७२५ वि० हुआ।[1]

लेकिन आगे चलकर उन्हें अपनी उक्त मान्यता मे सुधार स्वीकार करना पडा है। अब वे मानते है कि—'अखा की वाणी उसकी ५२-५३ वर्ष की उम्र के बाद ही खुली होनी चाहिए इसलिए वि० सं० १७०१ ( गुरु शिष्य-संवाद का रचना काल ) मे से ५३ वर्ष कम करने से अखा का जन्म वि० सं० १६४८ के आसपास निश्चित होता है।'[2] विद्वान् लेखक ने इस संशोधन का कोई कारण नही दिया है।

लेखक उपर्युक्त किसी भी मान्यता से पूर्णत. सहमत नही है। क्योंकि प्रथम व द्वितीय मान्यता मे अखेगीता (रचना स० १७०५ वि०) को अखा की प्रथम रचना माना गया है जबकि अन्य विद्वानों ने उसे अखा की अंतिम रचना सिद्ध किया है, जो अधिक तर्कसंगत है। तदुपरात 'गुरु-शिष्य-संवाद' का रचना काल सं० १७०१ वि० प्रायः स्वीकृत हो चुका है। तीसरी मान्यता मे विद्वान् लेखक के विचारों एवं निष्कर्ष मे ही असंगति है। चौथे प्रयत्न मे श्री गोकुलनाथ जी के निधन (सवत् १६९७ वि०) के समय अखा की आयु ५३ वर्ष मान लेने में उसी अनुमान की स्वीकृति है जिसका कि विद्वान् लेखक ने स्वय ही खण्डन किया है। पाँचवीं मान्यता मे एक तो वही ५३ वर्ष कम करने की पद्धति स्वीकृत है दूसरे उसमे अनेक अन्तर्विरोध भी है। उदाहरणार्थ अखा का जन्म १६४८ वि० मे हुआ। ५३ वर्ष की आयु मे काव्य-लिखना प्रारम्भ किया। इसके २० साल बाद की रचना अखेगीता है। इस हिसाब से अखेगीता की रचना सं० १७२१ वि० में पड़ती है, जो भ्रामक है। यदि १६८५ वि० को अखा का कवि बनना स्वीकार किया जाय जैसा कि उन्होने माना भी है, तो ५३ वर्ष की आयु मे अखा के कवि बनने की बात खडित होती है। अत. विद्वान् लेखक से अपनी मान्यताओ मे फिर से संगति बिठाने का प्रयत्न अपेक्षित है।

---

१. दे०, सं०अ०जी०उ०हि०कृ०आ०अ (अप्रका०), पृ० ३७-३८।

२. दे०, वही, पृ० ४०।

३. दे०, अखो अेक स्वाध्याय : (१९७६ ई०), पृ० ३२।

वस्तु-स्थिति की समीक्षा के रूप मे कहा जा सकता है कि अखा की 'गुरुकर्या में गोकुलनाथ' उक्ति से इतना ही ग्रहण करना चाहिए कि गोकुलनाथ जी के निधन संवत् १६९७ वि० से पूर्व ही वे संसार से विरक्त हो चुके थे। संवत् १६९७ वि० से पूर्व ही उन्होने उनसे दीक्षा ली होगी और इस समय उनकी आयु अनुमानत: ४० के आसपास रही होगी। तदुपरान्त उन्होने कबीर, रैदास एवं सेन के साथ दादू (जन्म सं० १६०१ मृत्यु सं० १६६१ वि०) का उल्लेख किया है। इससे इतना ग्रहण करना असंगत न होगा कि 'संतप्रिया' की रचना तक दादू दिवंगत हो चुके थे और उनकी गणना कबीर आदि प्रसिद्ध संतो मे होने लगी थी। अत: अखा का जन्म दादू की मृत्यु के बाद न हुआ हो तो कम से कम उनकी उत्तरावस्था मे हुआ होगा और गोकुलनाथ जी के निधन सवत् से पर्याप्त पहले हुआ होगा। इस प्रकार अखा का जन्म विक्रम संवत की सत्रहवी सदी के छठे दशक मे मानना अधिक युक्तियुक्त जान पडता है।

अखा के निधन सवत् के विषय मे कहा जा सकता है कि अनुभव बिन्दु के छप्पय संख्या २५ मे अपने ज्येष्ठ एव कनिष्ठ भ्राता व अपने तात की मृत्यु चाहने की किसी राजपुत्र की जिस नीति की उल्लेख है यदि उसका सकेत औरगजेब की नीति की ओर है, तो उनकी उक्त रचना मुराद को सन् १६६१ ई० मे दिये गये मृत्यु दण्ड के बाद की रचना सिद्ध होती है और उस समय तक अखा का जीवित रहना सिद्ध होता है।

बाह्य साक्ष्य के रूप मे इतना उल्लेखनीय है कि भगवान् जी महाराज ने अखा के शिष्य लालदास का जीवनकाल १७१० वि० से १८०० वि० माना है।[1] यदि लालदास ने अपनी बीस साल की अवस्था मे अखा से दीक्षा ग्रहण की हो तो सं० १७३० वि० तक उनका जीवित रहना सम्भव है। इस समय तक वे छप्पा न० ५२४-२६मे उल्लिखित प्रेमानन्द (स० १६९२ से १७९० वि०) द्वारा स्थापित मडली को भी देख सके होगे।

अत: निष्कर्ष रूप मे विक्रम की सत्रहवी सदी के छठे दशक के मध्य अर्थात् १६५५ वि० को हम अखा का जन्म संवत् स्वीकार कर सकते है और सवत् १७३५ वि० के आसपास उनका निधन सवत् मान सकते है।

### जन्म एवं मृत्यु स्थान

श्री नर्मद[2] एवं श्री डाह्याभाई घेलाभाई पंडित[3] ने अखा के निवास स्थान के रूप में अहमदाबाद की खाडिया बस्ती मे देसाई की पोल ( गली ) का उल्लेख किया था। १८८४ ई० मे श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई को किसी मोतीराम सोनी से यह मौखिक सूचना प्राप्त हुई कि पहले वह ( अखा ) अहमदाबाद के पास स्थित जेतलपुर मे रहता

१. दे०, सन्तोनी वाणी।

२. दे०, जूनु नर्मगद्य . (१८६५ ई०), पृ० ४५७।

३. कविचरित (१८६६ ई०) भाग २, पृ० ७१।

था, और वहाँ से,जब इस कवि की उम्र अनुमानतः १५वर्ष की थी तब, उसका पिता उसे लेकर अहमदाबाद आया था।[1] अब अखा का जन्म-स्थान जेतलपुर माना जाने लगा। परिणामस्वरूप श्री नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता, कि जो अब तक अखा का जन्मस्थान अहमदाबाद मानते थे[2], ने भी अपनी मान्यता को सुधार करके लिखा कि—'जेतलपुर से वह (अखा) अहमदाबाद आकर बसा था। उसके रहने का घर खाडिया में रायबहादुर रणछोडलाल छोटालाल अथवा वर्तमान सर चिनूभाई के मकान के पास कुआवाला खाचा (गली, कूँचा) मे था; और जिस कमरे मे रहता था उसे आज भी 'अखा का कमरा' (अखानो ओरडो) कहते है।'[3] श्री उमाशंकर जोशी पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे अखा के जेतलपुर मे जन्म लेकर अहमदाबाद मे आकर बसने की मान्यता को निर्विवाद नही स्वीकार करते लेकिन अखा की भाषा को उत्तर गुजरात (अहमदाबाद एवं दसक्रोई का दक्षिण भाग) की सिद्ध करके इसे असंभव भी नही मानते।[4] डा० रमणलाल पाठक के अनुसार जेतलपुर गाँव के प्रतिष्ठित लोगों का कहना है कि अखा का घर पश्चिम दिशा मे गाँव ( जेतलपुर ) के छोर पर था।[5] कहना न होगा कि अखा के जन्मस्थल-संबंधी उपर्युक्त सभी मान्यताएँ मौखिक सूचनाओं पर आधारित है। श्री उमाशकर जोशी ने जो अखा की भाषा को उत्तर गुजरात की सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह भी निर्भ्रान्त नही है। कुछ गिने चुने शब्द-प्रयोगों को आज के वातावरण मे उत्तर गुजरात के सिद्ध करके, और वह भी यह जानते हुए कि अखा की भाषा मे—गुजरात के अन्य क्षेत्रीय—जैसे कि चणोतर एव सोरठ इत्यादि प्रयोगों का अभाव ही है, किसी निर्णय पर पहुँचना उचित नही है।[6] जो हो, यहाँ पुष्ट प्रमाणों के अभाव मे प्रचलित मान्यता को ही स्वीकार किया जा रहा है कि अखा का जन्म अहमदाबाद के निकट दसक्रोई तहसील के जेतलपुर गाँव मे हुआ था।

अखा का निवास स्थान अहमदाबाद था, काशी से लौटकर भी वे अहमदाबाद मे ही रहे थे इस विषय मे कोई विवाद नही है। लेकिन उनका देहान्त कहाँ हुआ इस विषय मे दो मान्यताएँ है—(१) श्री मोतीराम की सूचना के अनुसार 'इसकी (अखा की) मृत्यु

१. दे०, बृ० का० दो०, भाग ३, पृ० ७-८।

२. गुर्जर साक्षर जयन्तियो : (१९२१ ई०) अखा अने तेनु काव्य, पृ० १८।

३. श्री न० दे० मेहता : अखो (१९२७ ई०), पृ० २।

४. अखो अेक अध्ययन (द्वि० आ० १९७३), पृ० १४-१६।

५. डा० पाठक : सं० क० अ० जी० उ० हि० कृ० आ० ग०, पृ० १० एवं अखो अेक स्वाध्याय (१९७६ ई०), पृ० १५।

६. दे०, अखो अेक अध्ययन (१९७३ ई०), पृ० १५-१६।

अहमदाबाद मे नही, जेतलपुर मे हुई।'[1] महादेव रामकृष्ण जागुष्ठे[2] ने इसी मत का समर्थन किया है। (२) डा० रमणलाल पाठक के अनुसार—'जीवन के अंत तक अखा अहमदाबाद मे ही रहे थे।'[3] किन्तु उन्होंने इसका कोई प्रमाण नही दिया है। अतः लेखक को पहली मान्यता अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है।

जाति—अखा का जाति से स्वर्णकार या सुनार होना अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध है—

नाम धग्न कु अखा सोनारा सदा निरतर राम है सारा।[4]

+ + +

ज्यूं का त्युं एक राम सतंतर कहत अखा, सोनारा॥'[5]

बाह्य-साक्ष्यों मे भी इसका विरोध कही नही देखा गया। किन्तु गुजरात के स्वर्णकारो मे जो दो मुख्य उपजातियाँ हैं, उनमे से अखा 'श्रीमाल' थे या 'परजिया?' इस विषय मे थोडा सा प्रवाद है। श्री नर्मदाशंकर[6], श्री डाह्याभाई, घेलाभाई पंडित[7] एवं श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई[8] प्रभृति विद्वान् उन्हें 'श्रीमाल' सुनार मानते हैं[9], तो स्वामी स्वयज्योति, श्री उमाशंकर जोशी[10], एवं श्री के० का० शास्त्री[11] आदि उन्हें 'परजिया' 'सुनार' मानते है। श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई का कथन है कि अखा के किसी भी काव्य मे परजिया सुनार की भाषा के शब्द नही है। इस लिए वे श्रीमाल सुनार थे।' किन्तु विद्वान् लेखक ने उनके भाषा-वैशिष्ट्य को स्पष्ट नही किया इसलिए उनके कथन की परीक्षा नही हो सकती।

बनारसीदास कृत 'अर्धकथानक' की भूमिका मे श्रीमाल जाति के स्वर्णकारो का इतिहास दिया गया है, किन्तु उससे भी अखा के श्रीमाल होने न होने पर कोई प्रकाश नही पडता। अत. इस विषय मे किसी निर्भ्रान्त निणय पर पहुँचना कठिन है।

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिह के अनुसार सोनारों की जाति हीन नही मानी जाती, वे वणिक वर्ग के समकक्ष समझे जाते है। अत. अखा कबीर व दादू की जुलाहा व धुनियाँ

---

१. श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई : बृहद्-काव्य-दोहन, भाग ३, पृ० ११।
२. अखानीबानी अने गंग विनोद।
३. डा० पाठक : सं० अ० जी० उ० हि० कृ० आ० अ०, पृ० ११।
४. अखानीवाणी : पद १६६।
५. अक्षयरस : भजन ३०।
६. दे०, जूनु नर्मगद्य, पृ० ४५७।
७. दे०, कविचरित भाग २, प० ७१।
८. दे बृहद्-काव्य-दोहन, भाग ३, पृ० ७।
९. अखानीवाणी, भूमिका, पृ० २६।
१०. दे०, अखो अेक अध्ययन (१९७३ ई०), पृ० १२
११. कविचरित, भाग १-२, पृ० ५६३।

जैसी हीन माने जानेवाली जाति के न थे।[1] किन्तु यह बात विद्वान् लेखक को विस्मृत हो गई लगती है कि अखा बीसवी शताब्दी की सुनार जाति--कि जो वणिक वर्ग के समकक्ष मानी जाती है—के न होकर सत्रहवी शताब्दी की सुनार जाति के थे और उस समय सुनारों सहित सभी शिल्पो (या कर्मी) जातियाँ शूद्र वर्ण के अंतर्गत ही मानी जाती थी।[2]

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि अखा जाति के स्वर्णकार थे और उस समय की समाज-व्यवस्था में उनकी जाति की गणना भी शूद्र अथवा निम्न-वर्ण के अंतर्गत की जाती थी, इसलिए कबीर, रैदास, सेन एव दादू आदि की तरह ही वे भी निम्न कही जानेवाली जाति मे उत्पन्न संत थे। शायद इसीलिए काशी के ब्राह्मणों द्वारा अखा का विरोध किया गया था।[3]

**आर्थिक स्थिति**—अखा की आर्थिक स्थिति के विषय मे कहा जाता है कि 'अखा बहुत पैसादार था।'[4] वह 'अखा शेठ'[5] के नाम से भी जाना जाता था। यदि यह सत्य है कि अखा १५ वर्ष की अवस्था मे अपने पिता के साथ आकर अहमदाबाद मे बसे थे और उनकी २० वर्ष की आयु मे उनके पिता का शरीरान्त हो गया था, तो इतना स्वीकार करने मे कोई अनौचित्य न होगा कि जिस परिवार को व्यवसाय की शोध मे अपना गाँव छोड़ने को विवश होना पड़ा हो, उसकी आर्थिक स्थिति, उस समय, संतोष-जनक तो न रही होगी और पाँच वर्ष मे अखा के पिता ने दस-बीस हजार की राशि एकत्रित कर ली हो यह भी संभव नही है। इस प्रकार उन्हें विरासत मे पूंजी न मिली होगी। उन्होंने स्वयं ही बहुत सा धन कमा लिया हो, यह भी संभव नहीं, क्योंकि उन्होने टकसाल मे नौकरी स्वीकार की थी और कोई बहुत 'पैसादार' नौकरी-गुलामी-स्वीकार करे यह बात सामान्य अनुभव के विरुद्ध है। फिर यह इतिहास-प्रसिद्ध है कि उन दिनों सैनिक अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य किसी भी विभाग के वेतन-मान बहुत अच्छे न थे। अतः उनके नौकरी स्वीकार करने मे परिस्थिति की विवशता के अतिरिक्त अन्य कोई आकर्षण न रहा होगा।

'मिराते अहमदी' में जिस 'अखा शेठ के कुआ वाली गली'[6] का उल्लेख है वह वास्तव में अखा शेठ नही परन्तु 'आका शेठ की गली' है। जो आज भी इसी नाम से जानी

---

१. दे०, अक्षयरस, प्रस्तावना, पृ० ४६।

२. विशेष के लिए दे०, 'विमल प्रबंध' (र० सं० १५०९ई०) अर्ध कथानक, पृ० ४-५। 'पद्मावत' पृ० २०-२३ एवं ब्रह्मवैवर्त पुराणः ब्रह्मखंड, अध्याय १०।

३. दे०, अ०अ०वा० टीका, पृ० २६९।

४. नर्मदा शंकर, जूनु नर्मगद्य, पृ० ४५७।

५. कृ० मो० झवेरी, गुज० सा० मा० सू० स्त० अने बधु० मा० स्त०, पृ० ६६।

६. "Akhasetti's Well street" मिराते अहमदी, अनु० सैयद नवाबअली, पृ० ९।

जाती है। अतः उस समय अहमदाबाद मे कोई आका शेठ था जिसे भ्रमवश अखा शेठ समझ लिया गया है। फिर भी लेखक को यह स्वीकार्य है कि एक तो छोटा परिवार और दूसरे नौकरी के साथ-साथ स्वर्णकार का व्यवसाय करते रहने के कारण अहमदाबाद मे वसने के बाद, उनकी आर्थिक स्थिति मे कुछ सुधार हुआ होगा। उस समय समाज में दरिद्रता व्याप्त थी, रुपये का मूल्य बहुत ऊँचा था, अत चार-पाँच सौ की नकदी वाले भी उन दिनों धनी समझे जाते थे। अखा को यदि इसी कोटि का धनी माना जाय तो लेखक को इसमे कोई आपत्ति नही।

गुरु—अखा के गुरु के विषय मे श्री नर्मदाशंकर[1] ने सर्वप्रथम एक जनश्रुति का उल्लेख किया है, जिसका अक्षरश: अनुवाद इस प्रकार है—'ऐसे ऐसे कारणों से (अखा की धर्म-भगिनी द्वारा व्यक्त किया गया अविश्वास एवं टकसाल मे लगाया गया मिथ्यारोप) अखा को सुनार के धन्धे के प्रति धिक्कार-भाव जन्मा और उसने अपने हथियार कुएँ में डाल दिए। और बाद मे संसार मे सत्य क्या है, उसकी परिश्रमपूर्वक शोध करने लगा। जो जो पंथ प्रचलित थे वह उनके मठाधीशो के पास जाकर उनकी सत्यता परखता। परन्तु इसमे सर्वत्र उसने ठगबाजी देखी। एक बार स्वयं का नाम-भेष बदलकर किसी गोसाई जी के मंदिर मे गया था, वहाँ से उसे धक्के मारकर निकाला गया। तब उसने गोसाई जी से कहा—आप सब पैसे के साथी हैं, मानव एवं गरीब के साथी नही है, और फिर साखी लिखी कि—

> गुरु कीधा मे गोकुलनाथ घरडा बलदने घाली नाथ।
> धन हरे धोको नव हरे अेवो गुरु कल्याण शु करे ॥[2]

सत्य क्या है और सच्चा कौन है ? इसकी शोध मे वह गाँव-गाँव फिरा, परतु उसके मन का समाधान न हुआ। अंत मे काशी मे एक रात्रि को संन्यासी के एक मठ में गया, जहाँ कोई ब्रह्मानन्द नाम का सन्यासी एक अन्य सन्यासी के समक्ष वेदात की कथा (प्रवचन) कर रहा था, उसे संडास के आगे खड़े होकर सुना। वह उसे पसंद आई। बाद मे वह रोज वहाँ जाता और चुपचाप कथा सुना करता, और दिन मे वह अनेक प्रकार से उस सन्यासी से कनक-कामिनी की बातें करके प्रलोभन देता लेकिन वह ललचाया नही। तब अखा ने जाना कि यह कोई महापुरुष है, अवश्य। कथा (प्रवचन) सुनते एक वर्ष हो गया, इसी मध्य एक रात्रि को स्रोता संन्यासी से नीद के कारण 'हाँकारा' नही दिया गया। तब अखा ने 'हाँकारा' दिया। परन्तु ब्रह्मानन्द को शक हुआ इसलिए उन्होंने दीपक लेकर देखा तो अखा को देखा, बाद मे अखा ने कहा कि—'मुझ

१. दे०, जुनूं नर्मगद्य (१८६५ ई०), पृ० ४५८-६०।
२. मैने गोकुलनाथ जी को गुरु किया, जो बूढे बैल के नाथ डालने जैसा कृत्य हुआ। धन का हरण करे, लेकिन अज्ञान को न हरे, ऐसा गुरु कल्याण क्या करेगा ?

पर अनुग्रह करो।' उस दिन से अखा ने ब्रह्मानन्द की कथा सुननी प्रारम्भ की और वेदान्त के ग्रंथ लिखने लगा।

श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई को प्राप्त सूचना के अनुसार काशी पहुँचने से पूर्व 'मार्ग मे वह (अखा) जयपुर गया।····वहाँ गोसाई जो की शरण मे रहा। अखा के पास अत्यधिक धन होने के कारण महाराज ने उसका खूब सत्कार किया। वहाँ भोजन मे अच्छी मिठाइयाँ·······खोआ, मलाई आदि पदार्थ उसे रोजाना खाने को मिलते परन्तु उपदेश की तो चर्चा ही नही। इसलिए उसने महाराज को नमस्कार किया और भेंट-दक्षिणा देकर विदा ली। अखा वहाँ से गोकुल-मथुरा एवं काशी भी गया।

काशी मे मणिकर्णिका घाट के निकट एक झोपड़ी मे·······ब्रह्मानंद अपने एक शिष्य को ······पंचदशी में से वेदान्त का उपदेश दे रहे थे।····ब्रह्मानन्द के पूछने पर अखा ने एक साल से छिपकर सुने गये उपदेश को आद्योपान्त दुहरा दिया तो उसे अधिकारी समझकर उन्होने अपना शिष्य बना लिया। अखा काशी में तीन साल रहा और पंचदशी, अध्यात्म-रामायण, भवगद्गीता,योगवासिष्ठ एवं रामायण आदि वेदान्त के उत्तम ग्रंथों का श्रवण किया। 'काशी मे बहुत दिन रहने के बाद, अहमदाबाद वापस आते समय अखा दुवारा जयपुर गया और गोसाईं जी की परीक्षा करने के लिए, भेष बदलकर कहा कि मैं अखा सेठ हूँ। 'गोसाई' जी एवं उनके द्वारपाल ने यह कहकर उसे पहचानने से इन्कार कर दिया कि, अखा सेठ तो बड़ा धनी था तू तो फकीर है. अखा कहाँ से हो गया?[1]

श्री देसाई ने अखा व गोसाई जी के जयपुर मे हुए मिलन का जो उल्लेख किया है वह प्रतीतिकर नही लगता क्योकि, जैसा कि श्री नटवरलाल इच्छाराम देसाई ने सूचित किया है, जयपुर राजा जयसिंह द्वितीय द्वारा सन् १७२८ ई० में बसाया गया था।[2] श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी ने अपनी कृति 'माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर' की द्वितीय आवृत्ति मे उपर्युक्त भूल को सुधार कर कथित प्रसंग को गोकुल मे घटित हुआ बताया है।

श्री नर्मद द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त जनश्रुति को एक सुगठित कथानक का रूप देने के लिए विद्वानो ने अन्य अनेक काल्पनिक बातें जोड़ी है किन्तु उनका कोई विशेष महत्व न होने के कारण यहाँ छोड दिया गया है। ध्यातव्य यह है कि इस जनश्रुति का उल्लेख अखा के प्रत्येक अध्येता ने किया है। जिन्होने स्वामी ब्रह्मानन्द को अखा का गुरु माना है उन्होने इसका खण्डन न करके इसे अपनी मौन स्वीकृति दी है, जिन्होंने ऐसा नहीं माना है उन्होंने इसे एक जनश्रुति मात्र मानकर टाल दिया है। एक मात्र श्री उमाशंकर

१. दे०, 'बृहद् काव्य दोहन' भाग ३, पृ० ९-१०।

२. दे०, अक्षयरस : प्रस्तावना, पृ० २० एवं माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, दूसरी आवृत्ति।

जोशी ने इसे 'राई का पर्वत' अथवा 'अंगूठे का रावण' कहकर इसका उपहास किया है। किन्तु अन्त साक्ष्य या वहि साक्ष्य से इसकी समीक्षा या परीक्षा का गंभीर प्रयत्न किसी ने नही किया।

इस जनश्रुति की यथार्थता को परखने से पूर्व अखा के गुरु के विषय मे प्रचलित मान्यताओ की संक्षिप्त समीक्षा आवश्यक है। ये मान्यताएँ निम्नाकित है—

(१) श्री जयसुखराय पुरुषोत्तमराय जोसीपुरा के अनुसार—संसार की असारता से व्युत्पन्न वैराग्य ही अखा का महान गुरु बना। अखा की रचनाओ मे गुरु के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुए 'ब्रह्मानन्द' शब्द का अर्थ विद्वान् लेखक ने 'चित् शक्ति', 'आत्मस्वरूप' या आत्मज्ञान माना है और निष्कर्ष निकाला है कि, आत्मज्ञान के अतिरिक्त 'अखा का कोई अन्य गुरु हो ऐसा उनके काव्य से स्पष्ट नही होता।'[1] श्री उमाशकर जोशी ने भी एक प्रकार से उनके इस मत का समर्थन किया है।[2]

(२) श्री उमाशंकर जोशी की मान्यता है कि गोकुलनाथ जी के अतिरिक्त अखा ने यदि अन्य किसी को गुरु वनाया होता तो अवश्य ही वह इस वात को छत पर चढकर भारी उद्घोषपूर्वक संसार को वताता।[3] उनकी इस मान्यता का समर्थन श्री के०का० शास्त्री ने भी किया है।[4]

(३) डा० कातिकुमार भट्ट के अनुसार—वस्तुतः ब्रह्मानन्द नाम के किसी व्यक्ति का अस्तित्व नही होने से जगजीवनदास ही अखा के गुरु रह जाते है।[5]

(४) स्वामी स्वयंज्योति, श्री नर्मदाशंकर, देवशंकर मेहता एव डा० चन्द्रप्रकाश सिंह आदि के अनुसार-काशी-निवासी स्वामी ब्रह्मानन्द ही अखा के गुरु थे, उन्ही से अखा ने अद्वैत वेदान्त का ज्ञान प्राप्त किया था, जो उनके काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय है।[6]

इन मान्यताओ की समीक्षा के रूप मे कहा जा सकता है कि अखा ने अपनी प्रत्येक रचना मे गुरु-महिमा का गान किया है, गुरु के विना उन्होने ज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति असंभव मानी है—(देखें अखेगीता क० १ पंक्ति १०) निगुरो की उन्होने निन्दा की है,

१ दे०, सचित्र साक्षर माला (१९१२ ई०), पृ० २५-२८।
२. दे०, अखो अेक अध्ययन (१९७३ ई०), पृ० ३२।
३. दे०, वही, पृ० ५८।
४. दे०, कविचरित, भाग १-२ अखा-विषयक विवरण।
५. दे०, गुजरात मे कवीर परंपरा, (अप्रकाशित), ५६६।
६. दे०, अखानी वाणी ( १९१४ ई० ) अखानो परिचय, पृ० ८, अखो, पृ० ८, एवं अक्षयरस प्रस्तावना, पृ० २४-३४।

'गुरु कर्या मैं गोकुलनाथ' उक्ति पर्याप्त स्पष्ट है; अतः 'आत्मज्ञान' या 'वैराग्य' के अतिरिक्त उनका अन्य कोई गुरु न था—यह प्रथम मान्यता निराधार है।

गोकुलनाथ के अतिरिक्त अखा ने किसी अन्य को अपना गुरु नही बनाया एतत् संबंधी श्री जोशी जी की मान्यता का खण्डन डा० रमणलाल पाठक ने किया है।[१] अतः यहाँ इतना उल्लेख ही पर्याप्त है कि श्री जोशी जी का वह समग्र प्रयत्न अखा द्वारा की गई निन्दा से वैष्णव गुरुओं को मुक्त करने के पूर्वग्रह से प्रेरित है। इस आग्रह के वशीभूत होकर उन्होंने न केवल अखा की उक्तियो के मनोनुकूल अर्थ किये है वरन् अखेगीता एवं छप्पाओं का सम्पादन करने मे स्वयं को इष्ट पाठ-भेद को ही स्वीकारने और उक्तियों के क्रम मे मनोनुकूल उलट-फेर करने की आवश्यक चेष्टा भी की है।[२] तदुपरात उन्होंने अखा के निर्गुण-ज्ञान को उनके आत्मचिन्तन का प्रतिफल माना है किसी गुरु की देन नहं—जो एक नितान्त असंगत मान्यता है। क्योंकि अखा ने गुरु के प्रति अपने आत्म-निवेदन या शिष्यत्व प्रदान करने की अनुनय-विनय;[३] स्वयं के प्रति गुरु के अनुग्रह एवं वात्सल्य-भाव;[४] के वर्णन के साथ-साथ सांख्य, योग, वेदान्त, वैराग्य, विरह, नवधा एवं भक्ति आदि विपयक समस्त ज्ञान और साधना के गुरु से प्राप्त होने के स्पष्ट विधान किये है।[५]

तीसरे मत के विषय मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि ब्रह्मानन्द नाम के किसी व्यक्ति के अस्तित्व को नकारने जैसा अनुत्तरदायित्वपूर्ण विधान कोई दूसरा नही हो सकता। अखा की गुरु-शिष्य परम्परा मे ब्रह्मानन्द का नाम स्पष्टत. दिया गया है। तदुपरान्त जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट हो जायगा, जगजीवनदास अखा के नही, दादू के समकालीन व समवयस्क थे।

चतुर्थ अथवा अंतिम मान्यता के विपक्ष मे कुछ कहने से पूर्व, अखा के काशी गमन और वहाँ पर स्वामी ब्रह्मानन्द को गुरु रूप में वरण से संबंधित उपर्युक्त जनश्रुति की तथ्यपरकता की परख आवश्यक है। अखा ने छप्पा नं० १६७ एवं १६८ मे कहा है

१. दे०, फा०गु०स० पत्रिका (१९७१ई०), अंक ३, 'ब्रह्मानन्द चरणे अखो भणे' लेख।
२. द्रष्टव्य, अखो एक अध्ययन ( १९७३ ई० ) 'घरडा बलदने घाली नाथ' विषयक चर्चा एवं छ० १६८ का पाठ. तथा अखेगीता कड़वा १ का पाठ।
३. चरन कमल पर शीश धरिके सेवा स्तुति अतिशय करी ॥ ब्रह्मलीला ६।१-३।
४. द्रष्टव्य,अखानीवाणी अने म०प०,पद १४४-४५,१४३,१३७तथा संतप्रिया,क० ४४।
५. वीनी जु नवधा भक्ति भावैं, अधिकार परते गुरु कही।
प्रेमातुर वैराग केवल, जैसी कही तैसी ग्रही ॥ ब्रह्मलीला ६।४
सांख्य योग सिद्धान्त पायो कह्यो गुरु त्यां अभ्यसो।
तत्त्वमसि जो वाक्य श्रुति को गुरु कृपा ते सो भयो ॥ वही, ७।१-५

कि--'हरि को प्राप्त करने का मन मे दृढ संकल्प करके मैं खूब हैरान परेशान होता रहा, मैंने अनेक बाह्य कर्म किये, लेकिन मेरे मन की तपन शान्त न हुई, अनेक दर्शन एवं वेश देखे, और बाद मे मै गुरु करने के लिए गोकुल गया। वहाँ मैने गोकुलनाथ जी को अपना गुरु बनाया, लेकिन यह दीक्षा बूढे बैल के नाथ डालने जैसी निरर्थक एवं दु खद कृत्य रही, इससे मै स्वयं के मन को समझाने मात्र के लिए ही सगुरा हुआ, वास्तव मे मेरे विचार निगुरा जैसे ही रहे। सोचा, अखा तुझे क्या मिला ? (अर्थात् कुछ नही) जन्मजन्मान्तरो का तेरा मित्र (ब्रह्म) कहाँ है ?'[1] भाव स्पष्ट है कि श्री गोकुलनाथ जी की दीक्षा से उन्हे कोई आध्यात्मिक उपलब्धि नही हुई। श्री उमाशकर जोशी भी इतना तो स्वीकार करते है कि अखा को इस दीक्षा से सतोप न हुआ था—(दे०—अखो अेक अध्ययन, पृ० ५७)। इस प्रकार अन्तर्बाह्य साक्ष्यों से उपर्युक्त जनश्रुति का पूर्वार्द्ध सत्य सिद्ध होता है।

अब रही उसके उत्तरार्द्ध की बात। अखा का कथन है कि जिस 'गुरु की कृपा से मै अपने त्रिविध तापो से और सभी प्रकार के द्वैत भाव से मुक्त होकर सहज ही राम-रूप या ब्रह्म-स्वरूप होकर सुख से विचरण कर रहा हूँ वह सिद्ध गुरु मुझे समागम से प्राप्त हुआ।'[2] एक अन्य उक्ति के अनुसार गुणो का गायन गुणी का कर्म है, धारणा, ध्यान योगी का धर्म है, वैष्णव भक्ति-वैराग्य का कथन करते है, लेकिन वस्तु ब्रह्म) की प्राप्ति कर्मो से परे है, ये सब विविध प्रपच मात्र है, सच्चा ज्ञान तो सिद्ध गुरु देता है और साधक उसका पान करता है।[3] इन उक्तियो से सिद्ध है कि अखा ने श्री गोकुलनाथजी के अतिरिक्त भी किसी सिद्ध महात्मा को अपना गुरु बनाया था जो अखा की भाषा मे 'हरिस्वरूप' ही था। तदुपरात अखा का कहना है कि 'जैसे कपडे की बुनाई मे डाली गई आकृति ( डिजाइन ) अन्त तक रहती है वैसे ही एक बार की गई भूल सदैव दु ख देती है, अत बिना परखे तू किसी को गुरु (छप्पा ३०७) मत बना।' अखा गोकुलनाथ

---

१. दे०, कहे अखो हुँ घणुंये रट्यो, हरिने काजे मन आवट्यो ॥
घणा कृत्य कर्या मे बाज, तोय न भागी मननी दाझ ॥
दरशन वेप जोई बहु रह्यो, पछे गुरु करवाने गोकुल गयो ॥ छप्पा १६७
गुरु कर्या मे गोकुलनाथ, घरडा बलद ने घाली नाथ ॥ (हमे यही पाठ स्वीकार्य है)
मन मनावी सगुणे थयो, पण विचार नगुरानो नगुरो रह्यो ॥
विचार कहै पाम्यो शु अखा ?, जन्म जन्म नो क्या छे सखा ॥ छप्पा १६८

२. दे०, अखानीवाणो अने मनहर पद, अखाना पद, पृ० ५।
समागमे सिद्ध गुरु मल्या अने टाल्या त्रिविध ताप।
हवै सहज ने सुखे रमे, नहि थाप ने उथाप ॥

३ दे०, छप्पा २८६।

जी को गुरु बनाकर एक भूल कर चुके थे, दूसरी भूल के लिए तैयार न हों और उचित परीक्षा के बाद ही किसी को गुरु बनायें यही स्वाभाविक था, क्योंकि दूध से जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है। तदुपरान्त उनका कथन है कि—युक्तिपूर्वक परखकर ही किसी को गुरु बनाना चाहिए, सच्चा गुरु वही है जो कनक व कामिनी (छप्पा ४४८) में आसक्ति न रखता हो। अखा ने स्वयं भी इस युक्ति का सहारा लिया हो, यह भी संभव है। अत. उसने गुरु ब्रह्मानन्द को कनक-कामिनी के प्रलोभन दिये हो, जिन्हें उन्होंने स्वीकार न किया हो, और इस प्रकार उनकी अनासक्ति से प्रभावित होकर अखा ने उन्हें अपना गुरु बनाया हो तो इसमे असम्भाव्य कुछ भी नही है। गुरु की योग्यता की परख के लिए अखा ने उनका उपदेश छिपकर सुना हो यह भी संभव है और साथ ही यह भी कि गुरु ने भी शिष्य के अधिकारी होने की परीक्षा ली होगी, क्योंकि कोई भी सिद्ध पुरुष प्रायः अनधिकारी को शिष्य नही बनाता।

श्री उमाशंकर जोशी ने एक प्रश्न यह भी उठाया है कि अखा की रचनाओं में काशी का कोई उल्लेख नही है। किन्तु तथ्य यह है कि स्वयं श्री जोशीजी द्वारा संपादित 'अखाना छप्पा' मे से एक छप्पा (क्रम संख्या ८२) मे; तीर्थाटन के कट्टर विरोधी; अखा; मुक्ति के इच्छुकों का मार्ग-दर्शन करते हुए कहते है कि 'मुक्ति काशी तथा ( वहाँ के ) गंगा-तट पर उपलब्ध है। वहाँ एक हरि का दास रहता है, जो सर्वव्यापी हरि का दर्शन कराता है और रोकड़ (नकद) मुक्ति = जीवन्मुक्ति प्रदान करता है।' कहना न होगा कि सर्वभूतान्तर्यामी-ब्रह्म-का साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति का प्रदाता यह हरि का दास उनके गुरु के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नही हो सकता। तदुपरान्त अखा ने एक पत्र का वर्णन ( अखानी वाणी अने मनहरपद : पद १३५ ) किया है, जो उनके लिए उनके गुरु द्वारा लिखा तथा भेजा गया है। इसमे भी इस 'निर्मल हरि के दास' का निवास-स्थान 'अमरापुरी निज घाट' कहा गया है। यहाँ भी अमरापुरी से देव-नगरी = काशी ही इंगित की हुई प्रतीत होती है। यह हम आगे देखेंगे कि उन दिनों काशी भारतीय संस्कृति और शिक्षा का प्रख्यात केन्द्र थी। देश के सभी भागों से अध्यात्म-ज्ञान और साधना के उपासक वहाँ आते थे। काशी की यह ख्याति और गोकुलनाथ की दीक्षा से असंतोष अखा की काशी-यात्रा के कारण रहे होंगे। अतः उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्यों एवं तत्कालीन परिस्थितियों के प्रकाश मे लेखक इस जनश्रुति के सत्य होने की संभावना मे विश्वास करता है।

श्री जोशी जी एवं श्री के० का० शास्त्री मानते है कि अखा ने गुरु के अर्थ मे 'ब्रह्मानन्द' शब्द का प्रयोग ही नहीं किया है। किन्तु उनकी यह धारणा भी ठीक नहीं है; निम्नांकित उक्तियो मे, गुरु के अर्थ मे, स्वामी ब्रह्मानन्द का स्पष्ट उल्लेख है—

अखा गुरु ब्रह्मानन्द भेटता ज्योतमा ज्योत समाय ॥

(अ०अ०वा०, भजन ५, पृ० २२)

ब्रह्मानन्द चरणे अखो भणे, अखो राम ज कहीआ ॥
(अखानी वाणी अने म० प० पद ९५)

सद्‌गुरुजीअे सानमा समजाव्युं सुख अपार।
ओम ब्रह्मानन्द स्वामी अनुभव्या रे, मने भास्यु छे ब्रह्माकार ॥[1]

अखा की गुरु-शिष्य-परपरा को दर्शाने वाला जो 'अक्षयवृक्ष'[2] उपलब्ध हुआ है वह भी यही सिद्ध करता है कि अखा के गुरु स्वामी ब्रह्मानन्द ही थे। यदि कहा जाय कि अखा गोकुलनाथजी के समकालीन थे और उनकी गद्दियो पर आज १३ वी या १४ वीं पीढी विद्यमान है, तो अखा से भगवानजी महाराज तक सात पीढियां ही क्यों ? तो कहना होगा कि गोकुलनाथजी की परंपरा वंश-परंपरा है जिसमे दो पीढियां का अंतर २५ या ३० साल ही व्यावहारिक रूप से संभव है। जबकि ब्रह्मानन्द और अखा की परंपरा शिष्य-परम्परा है जिसमे यदि ८० वर्ष की अवस्था मे २० वर्ष के किसी व्यक्ति को शिष्य बनाया जाय तो अतर ६० वर्ष भी हो सकता है और यदि ७० वर्ष के व्यक्ति को शिष्य बनाया जाय और गुरु व शिष्य दोनो ५ साल बाद मर जाय तो अंतर ५ साल भी हो सकता है। ये दोनों ही बातें वंश-परंपराओ में प्राय. व्यवहार्य नही है, क्योकि किसी भी शादीशुदा के २५ या ३० वर्ष की अवस्था मे संतान हो ही जाती है और यही अंतर दो पीढियों मे बना रहता है। अत गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर को वंश-परम्परा के मानदण्ड से नही मापा जा सकता।

'सागर' महाराज की डायरी से प्राप्त 'अक्षयवृक्ष'[3] मे ब्रह्मानन्द के गुरु के रूप में जगजीवन स्वामी का नाम दिया गया है। 'अक्षयरस' की भूमिका के लेखक ने इन जगजीवन स्वामी के विषय मे उनके दादू का शिष्य होने की संभावना व्यक्त की है।[4] लेखक उनके मत से सहमत है। जगजीवन स्वामी दादू के समकालीन ही नही उनके समवयस्क भी थे क्योकि उन्होने दादू को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था।[5] अतः उनकी व दादू की उम्र मे अधिक अतर न रहा होगा। दादू को शास्त्रार्थ के लिए ललकारने के उल्लेख से यह भी सिद्ध है कि उन्हे अपने पुस्तकीय ज्ञान का अहंकार था, अर्थात् वे शास्त्रज्ञ थे। दादू का शिष्यत्व उन्होंने उनकी स्वभावगत सौम्यता से प्रभावित होकर

---

१. गु०वि०स०ह०लि० पोथी न० ७५३।
२. दे०, अक्षयरस, पृ० ३२, अ०अ० वाणी, पृ० २८०, अखाकृत काव्यो, पृ० १७। एवं सतोनी वाणी 'उपोद्‌घात', पृ० १५-१६।
३. दे०, अक्षयरस 'प्रस्तावना', पृ० ३२।
४. वही, पृ० ३४-३७।
५ दे०, परशुराम चतुर्वेदी, उ०भा०सं०प०, पृ० ४३३ एवं
जगजीवन बैल लदि आये चरचा काज।
गुरु दादू पहु पद कह्यो सब तजि सिष सिरताज ॥ अ०र० प्रस्तावना, पृ० ३६ से।

स्वीकार किया था, शास्त्रार्थ मे पराजित होकर नही । इन्ही शास्त्रज्ञानी जगजीवन स्वामी के शिष्य स्वामी ब्रह्मानन्द रहे हों तो आश्चर्य नही । किन्तु खेद है कि इनके स्वयं के जीवन एवं ग्रंथ आदि के विषय मे आवश्यक जानकारी का अभाव है । फिर भी अखा की रचनाओ मे शास्त्रीय ज्ञान की जो झलक पाई जाती है उसे इन्ही के ज्ञान का प्रतिबिम्ब मान लेना सर्वथा अनुचित न होगा ।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि जनश्रुति, अन्त.साक्ष्य एवं उपलब्ध शिष्य-परम्परा के बाह्य साक्ष्य से भी अखा स्वामी ब्रह्मानन्द के शिष्य सिद्ध होते है, जो स्वयं जगजीवन स्वामी के शिष्य रहे होंगे। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि अखा दादू-पंथी थे । उनका काव्य किसी भी मत या पंथ के आग्रह से सर्वथा मुक्त हैं; अत. उन्हे किसी पंथ से नही जोड़ा जा सकता । हाँ, दादू की शिष्य-परम्परा के संप्रदाय-निरपेक्ष (या मुक्त) संतों मे उनकी गणना अवश्य की जा सकती है ।

**विद्याध्यन**

अखा के विद्याध्ययन के विषय मे विद्वानों मे प्रायः एकवाक्यता पाई जाती है कि अखा बहुत पढ़े-लिखे न थे पर बहुश्रुत थे । बात कुछ ठीक भी है, क्योंकि आचार्यो का युग श्री वल्लभाचार्य के साथ समाप्त हो गया था, और डिग्रियाँ प्रदान करनेवाली शिक्षा-पद्धति अंग्रेजो के शासन-काल में अस्तित्व मे आई, अखा की स्थिति इन दोनों के मध्य की है । जिस देश-काल एवं सामाजिक व्यवस्था मे अखा ने जीवनयापन किया था उसमे आज के प्राइमरी स्कूलो की तरह प्रारंभिक शिक्षा 'चटशालो' मे दी जाती थी । मुसलमानो का शासन था, राजा टोडरमल ने राजकाज की भाषा फारसी घोषित कर दी थी ।[1] अतः इन चटशालाओं मे प्राकृत (प्रान्तीय भाषा), 'हिन्दुगो' (हिन्दी)और पारसी (फारसी) भाषाओं के प्रारभिक ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक हिसाब-किताब आदि की शिक्षा की व्यवस्था थी । उच्च शिक्षा सामान्य जन को न उपलब्ध थी, न उसमें उनकी रुचि थी । सामान्य मान्यता यह थी—

बहुत पढ़ै बाँमन अरु भाट । बनिक पुत्र तो बैठे हाट ।
बहुत पढै सो माँगै भीख । मानहु पूत बड़े की सीख ।।[2]

अखा भी न ब्राह्मण थे, न भाट, हाट मे उन्हे भी बैठना था; अतः न आचार्य हो सके, न शास्त्री । किसी 'चटशाला' में उन्होंने भी उपर्युक्त अक्षर-ज्ञान एवं हिसाब-किताब की शिक्षा पाई होगी, क्योंकि उक्त व्यावहारिकता को वे भी मानते थे—

भण्या भट भमे भव मांय........[3]

---

१. एम०आर० मजूमदार : कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० १३४-३५ ।
२. बनारसीदास कृत : अर्धकथानक(रचनाकाल सं० १६९३वि० के आसपास),पृ० ७ ।
३. छप्पा ५२

भण्या गण्या भल पाके पंच, न्याय उकेले जाणे संच ।
सभापाति थई वैसे मध्य, पण आतमनी नव वाणे विध्य ॥[1]

अब यदि यह सत्य हो कि अखा लगभग १५ वर्ष की अवस्था मे जेतलपुर से अहमदावाद आकर बसे तो यह अनुमान गलत न होगा कि उन्होंने जेतलपुर या उसके निकट की किसी 'चटशाला' मे अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया था, क्योंकि इन चटशालाओं में पढने की अवस्था प्राय ८ वर्ष से १२ वर्ष के आसपास की ही रहती थी।

अब रही उनके बहुश्रुत होने की बात, जिस अर्थ मे कबीरादि को बहुश्रुत कहते हैं उस अर्थ मे अखा को बहुश्रुत कहना उचित नही है। उन्होंने गुरु ब्रह्मानन्द के चरणों मे बैठकर-योगवाशिष्ठ, दत्तगीता, महाभारत, भगवद्गीता, भागवत, पचदशी, आत्मपुराण, बृहदारण्याकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद, शाकरभाष्य, अध्यात्म रामायण एवं पुरुष सूक्त[2] आदि का विधिवत् अध्ययन किया था। यदि ऐसा न होता तो वे इस प्रकार के सदर्भ देने मे समर्थ न हो पाते कि—

तत्र चौविस अे भागवत लखे ।[3] (पंजीकरण चौ० ६)
अखे ते उरमां ग्रह्यु जे कह्यु जे कह्यु चतु. श्लोके ॥[4]
(अ० वा० अने म० प० पद ४०)
गीता के अध्याय मातवें भक्त चार कह्या ते समे ॥[5] (छप्पा ५२३)

इस प्रकार के अनेक सदर्भो के अतिरिक्त उनकी रचनाओ मे दिये गये अनेक सस्कृत ग्रंथों के नाम उन ग्रथो के कर्ताओ, वक्ता एव श्रोताओं के नाम; उनका वर्ण्य-विषय और उनकी आलोचना, तथा पौराणिक गाथाओं के उल्लेख; जैन, बौद्ध-शून्यवादो, पट्दर्शन की मान्यताओ के उल्लेख व उनके खंडन आदि से यह प्रतीति हुए बिना नही रहती कि अखा को इन सबका न्यूनाधिक ज्ञान अवश्य था; जो एक मात्र सत्सग से प्राप्त नही किया जा सकता—जैसा कि कुछ विद्वान् मानते है।[6] उन्होने गुजराती कवि नरसी मेहता, माडण एव नरहरि आदि द्वारा प्रयुक्त काव्य रूढियो को अपनाया है। हिन्दी के कवि-कबीर, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, रहीम, दादू, सुन्दरदास आदि के काव्य की छाया भी उनके काव्य पर प्रत्यक्ष दिखाई देती है। अत. उन्होने उक्त कवियों की रचनाओ को देखा अवश्य होगा। उनकी ऊबड-खाबड भाषा और उनके द्वारा की गई पिंगल शास्त्र की अवहेलना तथा उनकी नम्रता की सूचक इस उक्ति—

१ वही, ७१५।
२ दे०, श्री न०दे० मेहता, अखाकृत काव्यो, भाग १, पृ० २२।
३ दे०, श्रीमद्भागवत ११।१९।१४।
४. दे०, वही, २।९।
५ दे०, श्री मद्भगवद्गीता ७।१६।
६ दे०, उमाशकर जोशी अखो अेक अध्ययन, पृ० ६१।

ना मे पढ्या गुन्या-अखा गा मोहे कृत्य का जोर।[1]

के आधार पर उन्हें वहुश्रुत मात्र कहकर आत्मसंतोप कर लेना ठीक नही है।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते है कि अखा गुजराती, हिन्दी और फारसी के माक्षर थे। पंजाबी भाषा से भी उनका परिचय था। संस्कृत ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन किया था। पशु-पक्षी, वाहन, यात्रा, गृहस्थ आदि संबंधी उनका ज्ञान अनुभवजन्य था और ज्योतिष का उनका ज्ञान सामान्य से कुछ अधिक है अतः वह भी उन्होने किसी गुरु से प्राप्त किया होगा; किन्तु सांसारिक गुरु मानकर उन्होने उसका उल्लेख नहीं किया है। व्यावहारिक हिसाब-किताब एवं अंकगणित और प्रायोगिक व्याकरण आदि का उन्हे ज्ञान था। पिंगल को उन्होंने साधा नही पर उससे अनभिज्ञ न थे।

**पर्यटन**

जिस प्रकार कबीर राम और रहीम को हृदय मे ही स्थित मानते थे उसी प्रकार अखा भी, 'तन तीरथ तु आतमदेव' के सिद्धान्त मे आस्था रखते थे,अत तीर्थाटन उन्होंने न किया होगा; किन्तु 'गुरु करवाने गोकुल गयो' के अन्त साक्ष्य से सिद्ध है कि वे गोकुल गये। अहमदाबाद से गोकुल जाने के लिए उन दिनों पालनपुर, आबू, मारवाड, अजमेर, आमेर ( वर्तमान-जयपुर ), भरतपुर, मथुरा एवं दिल्ली मार्ग; एक सुलभ मार्ग था। अकवर भी गुजरात-विजय के अभियान मे इसी मार्ग से अहमदाबाद आया था। अतः अखा ने इस मार्ग के मध्य मे आनेवाले शहरों की यात्रा अवश्य की होगी। गुरु की शोध मे काशी जाने और स्वामी ब्रह्मानन्द का शिष्यत्व स्वीकार करने का उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके है। अत. गोकुल से काशी के मार्ग मे आनेवाले कतिपय शहरों की भी उन्होने यात्रा की होगी। काशी मे वे पर्याप्त समय तक रहे थे। अतः संभव है प्रयाग भी गये हों। श्री सागर महाराज के अनुसार काशी मे अखा को अपना गुरु या आचार्य मानने वालो का एक वर्ग था। यह वर्ग पंजाबी एवं मारवाडी 'हरिजनों' का था। 'ये (पंजाबी लोग श्री अखाजी को सम्मानपूर्वक अपने देश मे बुलाकर ले गये और वहाँ के 'हरिजनों' के मध्य रहते समय उन्होने हिन्दी-पजावी-उर्दू मिश्रित भाषा मे स्वयं ब्रह्मसाक्षात्कार को व्यक्त किया है।'[2] अखाकृत 'झूलणा' की भाषा मे पंजाबी और उर्दू का असाधारण प्रभाव है। संभव है कि यह प्रभाव उनकी पंजाव यात्रा का प्रतिफल हो।

निष्कर्ष यह है कि वे अहमदावाद से गोकुल होते हुए काशी तक गये थे। संभव है वहां से प्रयाग भी गये हो। लौटते समय वे काशी से सभवतः पंजाव होकर अहमदावाद आये।

---

१. अक्षयरस · क्रीपा अंग : साखी २।

२. द्रष्टव्य : अप्रसिद्ध अक्षयवाणी : टीका, पृ० २७०।

## शिष्य परंपरा

अखा द्वारा दीक्षित शिष्यों मे विद्याधर एवं लालदास की गणना की जाती है। दोनो का जीवन काल सं० १७०० वि० के आसपास होना संभव है। दोनो ही की पृथक्-पृथक् प्रणालिकाएँ पाई जाती है, आर उनकी भी शाखा एवं उपशाखाओ के उल्लेख उपलब्ध होते है। इनका विस्तृत वर्णन अन्य ग्रंथो[1] मे प्रकाशित हो चुका है अत. उसे यहाँ अनावश्यक समझकर छोड दिया गया है।

## वैराग्य-प्रेरक जन-श्रुतियों की समीक्षा

श्री नर्मदाशकर ने अखा को संसार से विरक्त करने मे सहायक होनेवाली दो जन-श्रुतियों का उल्लेख किया है। एक के अनुसार अखा वहुत पैसे वाला था, और उसके यहाँ एक औरत ने लगभग तीन सौ ( त्रणसेक ) रुपये घरोहर रक्खे थे। एक वार उस औरत ने कहा मुझे उनकी एक कंठी गढकर दे दो। तब अखा ने स्वयं की ओर से सौ रुपये मिलाकर चार सौ की कठी बनाकर दे दी और तदनुसार उस औरत से, कि जिस पर वह बहिन का जैसा स्नेह रखता था, उसने कह दिया। परन्तु उस औरत को ऐसा लगा कि अखाभाई जाति का सुनार है, इसलिए उसने कोई गडवड़ी की होगी। इसलिए उस औरत ने दूसरे सुनार को कंठी, मूल्याकन कराने के लिए दी। उसने टुकडा काटकर गलाकर देखा, 'चार सौ का माल है', ऐसा कहा। औरत खिसानी पड़ गई, और अखा से कहा, भाई ! इसे ठीक कर दो। अखा कठी के टूटने का कारण पूछ लेने के वाद, वहुत उदास हुआ और वोला कि संसार मच्चो का नही है।[2]

'दूसरी बात ऐसी प्रचलित है कि वह ( अखा ) टकसाल का उच्चाधिकारी था और एक समय किसी ने राज्य में चुगली की कि अखा सिक्को मे हेठी (या निम्न कोटि की) धातु मिलाता है। इस पर जाँच हुई, परन्तु वह चुगली सत्य सावित न हुई। इस पर उसका दिल ससार पर से उठ गया।'[3]

उपर्युक्त दोनों जनश्रुतियों को अधिकाधिक वोधगम्य वनाने या उन्हें ऐतिहासिक सिद्ध करने या उन्हे एक सुव्यवस्थित घटनाक्रम का रूप देने में प्रयत्न के फलस्वरूप परवर्ती विद्वानों ने उनमे अनेक परिवर्धन किये है, जिनमें से विशेष रूप मे उल्लेखनीय निम्नांकित है—

---

१. दे०, भगवान जी महाराज सपादित : संतोनी वाणी (१९२० ई०)।
दे०, डा० योगीन्द्र त्रिपाठी : 'अखो अने मध्यकालीन संत परंपरा'।
दे०, कुवर चन्द्रप्रकाश सिह : अक्षयरस की भूमिका।
दे०, डा०रमणलाल डी०पाठक:स०क०अ०जी०और हि०क्रु०आ०अ०,पृ० ६१-६४।

२. जूनुं नर्मगद्य : (१८६५ ई०), पृ० ४५७-५८।

३. वही, पृ० ४५८।

१. श्री जयशंकर मनुशंकर देव[1] एवं डा० रमणलाल पाठक[2] के अनुसार अखा के पास अपनी धरोहर रखनेवाली धर्म-भगिनी का नाम 'जमुना' था।

२. उपर्युक्त 'लगभग तीन सौ' की रकम को श्री के०का० शास्त्री[3] ने 'पूरे तीन सौ' मे बदल दिया है तो श्री चन्द्रवदन चिमनलाल मेहता[4] के अनुसार उस कठी में मजूरी-गढ़ाई को छोड़कर 'साढ़े चार सौ' का सोना था। इस प्रकार अखा ने उसमे डेढ़ सौ का सोना मिलाया होगा, तो डा० रमणलाल पाठक[5] के अनुसार अखा ने उसमे सौ-दो सौ का सोना अपनी ओर मे मिलाया था। इस प्रकार वह पाँच सौ के सोने की कंठी हो गई।

३ जहाँगीर बादशाह ने वर्तमान स्वामी नारायण के मंदिर से ३०० गज दूर, अहमदाबाद मे, टकसाल की स्थापना की थी।[6]

४. जहाँगीर ने संवत् १६७४ वि० (सन् १६१८ ई०) में टकसाल की स्थापना अहमदाबाद मे की।........(उसके) एकाध वर्ष में अखा ने वहाँ नौकरी को स्वीकार किया और १६७४ वि० मे अखा ने वहाँ से नौकरी छोड़ दी ऐसी संभावना है।[7]

इस विषय में उल्लेखनीय यह है कि श्री चन्द्रवदन चीमनलाल मेहता ने अखा का जीवन विषयक एक नाटक लिखा है। उसमे उन्होने अखा की उपर्युक्त धर्मभगिनी का नाम 'जमुना' कल्पित किया है। कोई नाटककार अपने ऐसे किसी पात्र, कि जिसका नाम अज्ञात है, को कल्पित नाम प्रदान करे तो वह स्वाभाविक है, लेकिन कोई साहित्यिक आलोचक उसे प्रामाणिक रूप से स्वीकार करे यह ठीक नही है। रुपयो की संख्या के विषय में हमारा निवेदन है कि 'आईने अकबरी'[8] के अनुसार उस समय सोने का भाव १०६० प्रति तोला से अधिक न था। यदि इन रुपयों की सख्या ३०० + १००=४०० या ४५० या ५०० मानें तो इतने रुपयों का उस समय ४० से ५० तोला सोना होना चाहिए। कहना न होगा कि ४० या ५० तोले की कोई भी 'कंठी'—जो एक छोटी सी

---

१. दे०, हि०वि०गु० फालो, पृ० ५६।
२. दे०, सं०अ०जी०उ०हि०कृ०आ०अ० (अप्र०), पृ० १८-१९।
३. दे०, कविचरित भाग १-२, पृ० ५६५।
४. दे०, अखो वरवहु अने बीजा नाटको, पृ० १७।
५. दे०, सं० अ०जी०उ०हि०कृ०आ०अ० (अप्र०), पृ० १९।
६. दे०, श्री न० दे० मेहता, अखो, पृ० २ और दे०, श्री उमाशंकर जोशी : अखो एक अध्ययन, पृ० २१-२२, श्री के०का० शास्त्री, कविचरित, भाग १-२, पृ० ५६४।
७. दे०, डा० रमणलाल पाठक, सं० अ०जी०उ०हि०कृ०आ०अ० (अप्र०), पृ० २४।
८. दे०, आईने अकबरी, ब्लैक मैन द्वारा अनूदित, पृ० ३०।

माला या लर की पर्याय है—नही हो सकती। अतः संभव है कि रुपयों की यह संख्या ३० + १० = ४० की रही हो, ताकि ३ या ४ तोले की 'कंठी' गले मे पहनी जा सके और यह जनश्रुति गले उतर सके। यदि इस संख्या के ३०० + १०० = ४०० होने का ही आग्रह रखा जाय तो सभव है कि यह संख्या रुपयो मे नहो 'दामो'[1] मे रही होगी। रुपयों के युग के लेखको ने इन्हे भ्रमवश रुपया लिख दिया है। और सोने के दाम बढ़ने के साथ-साथ उनकी संख्या मे वृद्धि करते रहे हैं। यदि यह संख्या दामों मे रही हो तो ४० दाम का एक रुपया होता था अत. ४०० दाम के १० रु० हुए, जो उन दिनो एक तोले की कंठी के मूल्य के बराबर है। लेखक को यही बात अधिक संभव, युगानुकूल, एवं न्यायोचित प्रतीत होती है।

अहमदावाद मे जहाँगीर द्वारा टकसाल की स्थापना-संबंधी मान्यता का आधार श्री रत्नमुनिराव भीमराव जोटे का यह कथन है कि—'अहमदावाद में कालूपुर के रास्ते मे जो टकसाल है वह जहाँगीर के समय में बनी थी, ऐसा कहा जाता है।'[2] कहना न होगा कि इस कथन मे 'कहा जाता है' का उल्लेख है ऐतिहासिक तथ्य का नही। तथ्य यह है गुजरात-विजय के तुरन्त पश्चात् अकबर ने अहमदावाद में एक टकसाल की स्थापना की थी जो देश की चार बड़ी टकसालो मे से एक थी।[3] अत. जहाँगीर द्वारा किसी नई टकसाल की स्थापना, उसका स्थापना वर्ष, और अखा द्वारा उसमे नौकरी करने की कालावधि निश्चित करने के डा० रमणलाल पाठक के प्रयत्न अनुमान-आश्रित एवं भ्रामक है।

निष्कर्ष रूप मे यह कि उपर्युक्त दोनों घटनाओ को जनश्रुतियों के रूप मे स्वीकार करने मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती, और अखा के जीवन में उनके घटित होने की सभावना को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। क्योकि उनमे असंभाव्य कुछ भी नही है, क्योकि पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे, मात्र अनुमानो के आधार पर, उन्हे प्रामाणिक सिद्ध करना भी उचित नही है।

## अखा का व्यक्तित्व

व्यक्तिगत जीवन से सबन्धित उपर्युक्त परिस्थिति के प्रभाव से सर्जित या निर्मित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, व्यक्ति के आचार-विचार के माध्यम से होती है। अत उसके व्यक्तित्व का निर्णय जीवन मे घटित घटनाओ के प्रति उसकी प्रतिक्रिया एवं उसकी विचार-धारा के आधार पर ही किया जा सकता है। 'अखा के जीवन से सबंधित जनश्रुतियो से

१. उन दिनो सामान्य जनता मे 'दामो' का प्रचलन ही सर्वाधिक था। आईने अकवरी देखें।

२. गुजरातनुं पाटनगर अहमदावाद, पृ० ८४।

३ दे०, आईने अकवरी, एच० ब्लैक मैन द्वारा अनूदित (१९६५ ई०), पृ० ३२।

व्यक्त है कि स्वजनों मे से एक के बाद एक की मृत्यु, असफल दाम्पत्य-जीवन, टकसाल में लगाया गया मिथ्यारोप, एवं भगिनी द्वारा व्यक्त अविश्वास आदि की प्रतिक्रिया मे उन्होंने घर-बार छोड दिया था।

इस प्रतिक्रिया से उनके व्यक्तित्व-विषयक जो गुण प्रकाश मे आते है, उन्हे स्पष्ट करने से पूर्व इतना उल्लेख्य है कि जैसे पवन चिनगारी को सुलगा हो सकता है, उत्पन्न नही कर सकता वैसे ही लौकिक जीवन की असफलताएँ एवं स्वजनों की मृत्यु आदि के आघात अध्यात्म की ओर प्रेरित करने वाले संस्कारगत भावों को पल्लवित एव पुष्पित करने मे ही सहायक हो सकते है, उनका बीजारोपण नही कर सकते। जिस वैराग्य का बीजारोपण इन परिबलों द्वारा होता है वह 'श्मशान-वैराग्य' के नाम से प्रसिद्ध है, क्योकि परिस्थिति के बदलते ही वह विस्मृति के गर्त मे लीन हो जाता है। अत. लेखक डा० मदनगोपाल गुप्त के इस मत से सहमत है कि लौकिक जीवन की असफलता तथा आघातों को उन्हे (अखा) वीतरागी जीवन की ओर ले जाने के लिए उत्तरदायी मानने की अपेक्षा, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि वे मूलत. आध्यात्मिक संस्कारों से युक्त रहे होगे, अथवा उनकी मनोभूमिका ससार मे प्रवेश से पूर्व या प्रवेश-काल मे आध्यात्मिक जीवन के अनुरूप निर्मित हो चुकी थी।[1]

जो हो, टकसाल की घटना मे उनकी सत्य-निष्ठा पर सीधा आक्षेप था जो उनके स्वाभिमानी स्वभाव के लिए असह्य था, अत निर्दोष सिद्ध होने पर भी नौकरी को त्याग दिया। धर्मभगिनी की घटना मे उनकी भावना का निरादार ओर व्यवसाय पर अविश्वास निहित था, जिसे उनका निष्कपट भावुक-हृदय सहन न कर सका अत व्यवसाय को भी छोड दिया।

इस सबसे उनके प्रारंभ से ही आध्यात्मिक संस्कारों से युक्त, स्वार्थप्रेरित छल-कपट व्यवहार से निर्लिप्त, नौकरी मे निष्ठावान, व्यवसाय मे प्रामाणिक, लोक-व्यवहार मे आत्मीयता की भावना से युक्त, स्वभाव से भावुक एवं स्वाभिमानी आदि होने का अनुमान किया जा सकता है।

गृहस्थी के घरौंदे से बाहर निकल कर भी, अध्यात्म की अज्ञात डगर पर, पथ-प्रदर्शक गुरु के बिना आगे बढना सभव नही। प्रसिद्ध है कि अखा ने गोकुल जाकर गोस्वामी गोकुलनाथजी से दीक्षा ग्रहण की थी, जिससे असंतुष्ट रहने के कारण काशी पहुँच कर स्वामी ब्रह्मानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया। लक्ष्य करने की बात यह है कि गुरु-शोध के उनके इस सुदीर्घ मार्ग में, धन लेकर भी मुमुक्षु का अज्ञान दूर न कर सकने वाले भेष-धारी वंचकों की भी कोई कमी न रही होगी।[2] एक या दूसरे कारण से अखा का उनके

१. दे०, गुजराती संतों की हिन्दी वाणी : 'अखा' निबंध, पृ० ५।

२. हरइ शिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई ॥मानस : तुलसीदास।

सम्पर्क मे आना भी असभावित नही कहा जा सकता । अतः संभव है कि उनके सम्पर्क के अनुभवो ने ही अखा को एक ओर गुरु ब्रह्मानन्द स्वामी जैसे निस्पृह की भी परीक्षा करने को बुद्धि प्रदान की हो और दूसरी ओर उन वंचकों के कारनामों का भडा फोडने का साहस भी दिया हो ।

इस घटना से एक ओर उनके व्यक्तित्व को धारदार बनाने मे उनके व्यक्तिगत अनुभवों के योगदान पर, दूसरी ओर खरे व खोटे को परख सकने की उनकी क्षमता पर प्रकाश पडता है । दूसरे यह भी व्यक्त होता है कि धर्म व दर्शन के प्रति उनका अभिगम अंध-विश्वास व अधश्रद्धालु न होकर बौद्धिक रहा होगा । इसलिए बाबा वाक्य का प्रमाण नही, वरन् तर्क, अनुभव एवं प्रत्यक्ष प्रमाण आदि से खरे सिद्ध होनेवाले तथ्य ही उन्हें स्वीकार्य रहे होगे । साथ ही यहाँ यह अनुमान करना भी असंगत न होगा कि सत्सग या स्वाध्याय के माध्यम से प्राप्त हुए यत्किंचित् ज्ञान के कारण, न्यूनाधिक रूप से, उनकी अभिरुचि निर्गुणाद्वैत की ओर झुक चुकी थी । शायद इसलिए गोकुलनाथजी की श्रद्धा-श्रित सगुणोपासना उनकी 'ब्रह्मजिज्ञासा' को शात न कर सकी । सत्य की शोध के लिए विवेक एव निष्ठायुक्त उनके प्रयत्न पर भी इस घटना से प्रकाश पडता है ।

उनके जीवन-चरित्र से स्पष्ट है कि विद्याध्ययन की दृष्टि मे वे शास्त्रज्ञ या आचार्य न थे, जाति या वश से वे उच्च व पुज्य न थे । धन का जो वैभव सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण बनता है वह भी उन्हे प्राप्त न था अत समाज मे उनकी स्थिति सामान्य से अच्छी न रही होगी । किन्तु अपनी रचनाओ मे तत्कालीन विविध दार्शनिक मतो, धार्मिक अधविश्वासों एव सामाजिक विकृतियो की निष्पक्ष व निर्भय होकर उन्होने जो आलोचना की है उससे स्पष्ट है कि समाज मे सम्मानित स्थान न होने पर भी उनके अप-राजेय नैतिक साहस का लोहा भले-भलो को भी मानना रहा होगा । उनका यह कार्य न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन की अन्तर्बाह्य शुचिता तथा कथनो व करनी की एकता को प्रकाश मे लाता है वरन् उनके अन्तस्थल मे निहित लोक-मगल की भावना को भी व्यक्त करता है ।

अत. सक्षेप मे कहा जा सकता है कि सदाचारियों के प्रति विनम्र व सहिष्णु किन्तु दुराचारियो के प्रति इसके विपरीत स्वभाव तथा निर्लोभ, निर्भय, निष्कपट, परोपकार, सत्य, निष्ठा, विनय एव विवेक आदि गुणो से युक्त उनका तेजस्वी व्यक्तित्व रहा होगा ।

### तुलनात्मक विश्लेषण

कबीर और अखा के जीवन-चरित्रों तथा उनके व्यक्तित्वों की तुलना मे विशेष कुछ कहने की सभावना नही है, क्योकि 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' और 'पिण्डे-पिण्डे गतिर्भिन्ना' के सिद्धान्त पर रची गई सृष्टि मे किन्ही दो व्यक्तियों के जीवन का एक जैसा होना उसके मूल सिद्धान्त के विरुद्ध है । फिर कबीर और अखा के जीवन में, देश-काल, धर्म, जाति, व्यवसाय, अध्ययन, आर्थिक स्थिति आदि मे भी भिन्नता पाई जाती है ।

दोनो के जीवन-काल में १५० वर्षो का एक लम्बा अन्तराल था। राजनैतिक स्थितियाँ भिन्न थी—एक के जीवनकाल मे देश मे से कुफ्र को मिटाने के लिए सुलतानों द्वारा कहर ढाया जा रहा था तो दूसरे के जीवन-काल मे मुगलों के सैनिक शासन के अंतर्गत अपेक्षाकृत कुछ शान्ति व व्यवस्था विद्यमान थी। एक का निवास-स्थान १५ वी सदी की काशी थी, दूसरे का १७ वी सदी का अहमदाबाद, एक पूर्व मे तो दूसरा पश्चिम मे, एक हिन्दू स्वर्णकार तो दूसरा मुसलमान जुलाहा, एक की मातृ-भाषा हिन्दी ता दूसरे को गुजराती, एक का अध्ययन अति सामान्य तो दूसरे का सामान्य से कुछ अधिक एक की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति अति निम्न तो दूसरे की कुछ अच्छी, एक ससंतान तो दूसरा नि:संतान इत्यादि। इस प्रकार उनके जीवन-वृत्तों मे साम्य की अपेक्षा वैषम्य की रेखाएँ अधिक स्पष्ट हैं।

फिर भी उनके भौतिक पिण्ड जिन उपादानों से निर्मित थे वे एक ही थे, उनमे विद्यमान जो आत्मा थी वह भी एक ही थी, उनकी दु:ख-सुखमयी अनुभूतियाँ भी एक ही थी। अतः उनके लौकिक जीवन, स्वभाव एव व्यक्तित्व मे समानता को प्राप्ति की संभावनाओ को एकदम नकारा नही जा सकता। उनके लौकिक जीवन के साम्य-सूचक कुछ प्रसंग इस प्रकार है—दोनों हो कवि व्यवसायी-वर्ग से संबधित व्यक्ति थे। कबीर मगहर से आकर काशी मे बसे थे, अखा जेतलपुर से आकर अहमदाबाद मे। अपने अंतिम समय मे कबीर मगहर वापिस गये थे, अखा के जेतलपुर जाने की संभावना है। दोनों ही के विषय मे माना जाता है कि उनके दो-दो विवाह हुए थे। लेखक का इन कल्पनाओं मे विश्वास नही कि दोनों ही अपनी पहली पत्नियों से असंतुष्ट थे। अत: यहाँ इतना ही ग्राह्य है कि वे अपने प्रारंभिक जीवन मे गृहस्थ थे। कारण पृथक्-पृथक् होने पर भी इतना सत्य है कि दोनों मे से किसी का भी पारिवारिक जीवन सुखी न था। यदि इसमे कोई तथ्य है कि कबीर को किसी शाह ने यातनाएँ दी थीं, और इस प्रकार वे राज-कोप के भाजन बने थे, तो अखा भी सिक्कों मे निम्न कोटि की धातु मिश्रण करने के झूठे आरोप में राजकोप के भाजन बने थे।

तत्कालीन समाज-व्यवस्था मे दोनों ही की गणना निम्न-वर्ण या शूद्रो मे होती थी। यद्यपि कबीर पर हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था लागू नही होती फिर भी उनकी 'हम तो जाति कमीना' अथवा 'कबीर मेरो जाति को सब कोई हँसने हार' उक्तियाँ हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ मे उनकी स्थिति की द्योतक है। दोनों ही वर्णाश्रम धर्म-विरोधी थे। अत. तत्कालीन ब्राह्मण-समाज के विरोध का सामना दोनों को ही करना पड़ा होगा।

दोनों के स्वभाव मे अद्भुत साम्य था। दोनों ही विवेकी एवं भावुक व्यक्ति थे। आदर्शों या सिद्धान्तो को, आख्यानों व व्याख्यानो तक ही सीमित न रखकर, आचरण में उतारने वाले थे। जैसे भूख लगने पर हंस मोतियों के अभाव में मछलियों को और सिंह शिकार के अभाव मे घास को नही खाता, वैसे ही दु:खी होने पर भी नीति तथा

अनीति मे अद्वैत स्थापित करनेवाले विवेक-शून्य व्यावहारिक वे नही बन सकते थे। भावुक होने के कारण वे स्वयं को दु खी बना सकते थे परन्तु अन्य को दुःखी होत नही देख सकते थे। अतः 'जीवो जीवस्य जीवनम्'[1] के व्यवहार पर सचालित ससार से उनका स्वभावगत विरोध था। इसलिए एक सासारिकता से वीतराग हुआ, तो दूसरा संसार से विरक्त। संभव है प्रथम आत्म-प्रेरणा से सासारिकता से विमुख हुआ हो और दूसरे के संसार-त्याग मे उसका निष्फल गृहस्थ-जीवन भी एक कारण बना हो। दोनो के व्यक्तित्व मे भी अद्भुत साम्य था। भक्ति की विनय, ज्ञान का तेज, योग का बल, सतोष की शान्ति, वैराग्य की निस्पृहा, निष्कामता का सुख, सिद्धि का उल्लास, अद्वैत का अभय आदि दोनों ही के व्यक्तित्व की विशेषताएँ है। दोनो ही विधि-निषेध के बधनो से मुक्त—पानी मे मछली, आकाश मे खग, वन मे सिह एवं स्वराज्य मे राजा, की जैसी यथेच्छगति वाले—महात्मा थे। रामनाम के ये धनी तन पर एक लगोटी होने पर भी कुबेर और इन्द्र को भी स्वयं के वैभव के समक्ष रंक समझनेवाले मस्त प्राणी थे। पंडित हो या मुल्ला, राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या शूद्र उनकी दृष्टि मे सब माटी के पुतले थे। भली हो या बुरी बात वही कहनी जो मुँह पर आ जाय। 'सत्यं वद' के सिद्धान्त मे 'प्रियं वद' का विकार उन्हे स्वीकार्य न था। न किसी की स्तुति से वे प्रसन्न होना जानते थे, न निन्दा से अप्रसन्न। न राग उन्हे मोहित कर सकता था, न लोभ उन्हें खरीद सकता था, न भय उन्हे डरा सकता था, न बल उन्हें झुका सकता था। अन्धराटो की इस दुनिया में वे स्वराट् थे। विचारों के क्षेत्र मे दोनों ही ने बौद्धिकता का आधार ग्रहण किया है, किन्तु कबीर की बौद्धिकता कुछ अशो मे परपरानुसारी है तो कुछ अशो मे अपने लौकिक अनुभवो पर आश्रित है; जबकि अखा की बौद्धिकता मे परंपरा तथा लौकिक अनुभवो के अतिरिक्त शास्त्रीय-ज्ञान का पुट विद्यमान है। इसलिए प्रथम के विचारो मे जो विशृंखलता मिलती है दूसरे के विचारो मे वह अपेक्षाकृत कम है। किन्तु सर्वात्मवादी दृष्टि और 'कथनी तथा करनी' की एकता दोनो ही के विचार एवं आचार मे उपलब्ध है। अतः देश-काल, जाति-धर्म, शिक्षा, संस्कार आदि मे वैषम्य होने पर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे दोनों एक ही माला के दो अनमोल रत्न थे। स्थिति पृथक्-पृथक् होने पर भी, उस माला के मूल्य एवं मोहकता की अभिवृद्धि के कारणभूत थे।

•

---

१. भागवत—१।१३।४६, एवं 'प्राणस्यान्नमिदं सर्वम्' मनु ५।२८, म० भा०, शा० प० १५।२१।

# द्वितीय अध्याय

# ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मन्तव्यानुसार—'व्यक्ति अपनी परिस्थितियों की उपज होता है, जिस देश मे कालिदास हुआ उसमे शेक्सपीयर नही हो सकता, जिस युग में कालिदास हुआ उसमे 'प्रसाद' नही हो सकता, या इसका विपरीत भी नही हो सकता।'[1] इससे स्पष्ट है कि देश-कालगत परिस्थितियाँ एवं भौगोलिक पर्यावरण ही व्यक्ति का निर्माण करते है। ये परिस्थितियाँ किसी कवि की भाषा-शैली, छन्द-अलंकार एवं भाव तथा विचार आदि को किस तरह प्रभावित करती है इसका रोचक निरूपण आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने विस्तार से किया है।[2] यहाँ उल्लेख्य यह है कि इन परिस्थितियों के अंतर्गत व्यक्ति की वंश-परंपरा के अतिरिक्त उसकी समसामयिक परिस्थितियों एवं युगीन-विचार-धारा का भी समावेश किया जाता है। इनमे से आलोच्य कवियों की वंश-परंपरा (या व्यक्तिगत जीवन-चरित्र) का निर्माण पूर्ववर्ती अध्याय मे किया जा चुका है। युगीन विचारधारा का निरूपण परवर्ती अध्याय मे किया जायगा। अतः यहाँ उनकी सम-सामयिक-राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक-परिस्थितियों या ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निरूपण अभिप्रेत है। कबीर और अखा के अवस्थिति-कालों मे लगभग दो शताब्दियों का अन्तर है, अतः विवेचनगत सुविधा के विचार से दोनो युगों पर अलग से विचार किया जायेगा।

## (१) कबीर के समय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

**(क) राजनीतिक परिस्थिति**—पूर्ववर्ती पृष्ठों मे कबीर का जीवन-काल सं० १४५५वि० से १५७५ वि० अथवा सन् १३९८ से १५१८ ई० के मध्य का समय निश्चित किया गया है। यह समय तुगलक वंश (१३२० ई० से १३९९ ई०) के अन्त से प्रारभ होकर सैयद वंश (१४१४ ई० से १४५०-५१ ई०) एवं लोदीवंश (१४५१ ई० से १५२६ ई०) विशेषकर सिकदर लोदी (सन् १४८८-८९ से १५१७ ई०) के शासन के मध्य पड़ता है।

राजनीतिक दृष्टि से इस संपूर्ण काल को अस्थिरता एवं अव्यवस्था का युग कहा जा सकता है।[3] मुहम्मद तुगलक (१३२५ ई० से १३५३ ई०) द्वारा राजधानी परिवर्तन, ताम्र-सिक्को के प्रचलन एवं फारस-विजय की निष्फल योजनाओं से जनता इतनी पीड़ित

---

१ दे०, साहित्य सहचर : (१९६५ ई०), पृ० १५-१६।

२. दे०, साहित्यपथ : (१९६१ ई०) 'काव्य मे वातावरण और व्यक्तित्व'।

३. डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : दी सल्तनत आफ दिल्ली, पृ० १७४-८०।

हुई थी कि उसके शासन के प्रथम दस सालो के बाद ही समग्र देश मे उपद्रव भडक उठे थे।[1] दक्षिण मे विजयनगर (१३३६ ई०) एवं बहमनी (१३४७ ई०) स्वतंत्र राज्यो की स्थापना हुई।[2] मेवाड़ के राजपूतो ने चित्तौड तथा रणथंभोर को ले लिया। बंगाल भी ( सन् १३३६ ई० ) स्वतंत्र हो गया।[3] संक्षेप मे हिन्दू राज्यों को फिर से संगठित तथा शक्ति-सम्पन्न होने का अवसर देने का श्रेय मुहम्मद तुगलक के निर्बल शासन को ही दिया जाता है।

फिरोज तुगलक (१३५१-८८ ई०) एक धर्मान्ध एव पक्षपाती शासक था। इस्लाम के प्रचार के लिए असंख्य हिन्दुओ को तलवार के घाट उतार देना,[4] मन्दिरो को नष्ट-भ्रष्ट करके उनके स्थानो पर मस्जिदें बनवा देना,[5] मूर्तियो को नष्ट-भ्रष्ट करना,[6] जीवित हिन्दुओ की खाल उतरवा कर उसमे भुस भरवा देना[7] तथा नृशंस-हत्याएँ कराना उसका नित्य-प्रति का कार्य हो गया था।[8] कहा जाता है कि एक ब्राह्मण को उसने इसलिए जीवित जलवा दिया था कि उसने इस्लाम के प्रति कुछ उपेक्षा का भाव व्यक्त किया था।[9] अस्थिरता इतनी थी कि फिरोज की मृत्यु (१३८८ ई०) से १३९४ ई० तक के ६ सालो के मध्य ५ पाँच सुलतान गद्दी पर बैठे थे। तैमूर के आक्रमण के समय (१३९८ ई०) मे दिल्ली मे दो प्रतिद्वन्द्वी शासक राज्य कर रहे थे और उनमे से एक भी इस आक्रमण का सामना करने मे समर्थ न था।[10]

'काफिरो को दण्डित करके और बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा का अत करके गाजी और मुजाहिद बनने[11] के उद्देश्य से तैमूर द्वारा भारत पर किया गया आक्रमण क्षणिक होते हुए भी प्रलय के समान विनाशकारी था। समरकंद से मुलतान तथा दीपालपुर होकर दिल्ली आने और दिल्ली से फिरोजाबाद, मेरठ, हरद्वार एवं शिवालक पर्वतो मे होता हुआ कांग्रा एवं जम्मू के रास्ते से वापस जाने के उसके मार्ग मे जितने भी शहर तथा

१. डा०, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : दि सल्तनत आफ दिल्ली, पृ० १९७-२००।
२ डा० के०सी० व्यास एव सर देसाई, इंडिया थ्रू दी एजेज, पृ० १०१।
३ दे०, के०एम० पनिकर, ए सर्वे आफ इडियन हिस्ट्री, पृ० १२५।
४. दे०, पी०डी० गुप्ता, मध्यकालीन भारत, पृ० ७८।
५. वही, पृ० ७८।
६. दे०, एस०आर० शर्मा, भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० १५३-५४।
७. वही, पृ० ९३।
८. वही, पृ० ९३।
९. दे०, पी०डी० गुप्ता, मध्यकालीन भारत, पृ० ७८।
१०. दे०, के०सी० व्यास एवं सरदेसाई : इंडिया थ्रू दी एजेज, पृ० १०३-१०४।
११. इलियट एण्ड डाउसन, ग्रथ ३, पृ० ३९७।

राज्य आये उनको लूटा तथा वहाँ के निवासियों की नृशंस हत्याएँ की।[1] दिल्ली एवं आसपास के क्षेत्र मे से उसने अपार धनराशि लूटी, असंख्य हिन्दुओं को मौत के घाट उतारा और दिल्ली के कारीगरों सहित असंख्य नर-नारियों को बंदी या गुलाम के रूप मे पकड़ कर समरकन्द ले गया।[2] कहा जाता है कि वह अपने पीछे 'भयानक वातावरण, सड़कों पर लाशों के ढेर, लूटे एवं उजड़े हुए घर, अराजकता, अकाल एवं महामारी छोड़ता गया था।'[3] यह अराजकता की स्थिति लगभग १५ सालों तक रही जिसके परिणाम स्वरूप छोटे-मोटे सभी राज्य स्वयं को स्वतंत्र घोषित करने को प्रेरित हुए।[4] और सत्ता के सूत्र पंजाब के गवर्नर खिज्र खाँ के हाथ मे गये जिसने सैयद वंश की स्थापना की। सैयद वंश (सन् १४१४ से १४५१ ई०) के सैंतीस साल के शासन काल मे चार सुलतान हुए। ये सभी निर्बल शासक थे। इनका क्षेत्र दिल्ली, आगरा के समीपवर्ती क्षेत्र तक ही सीमित था। उल्लेख्य यह है कि इस समय तक एक ओर जौनपुर (१३९८ई०), गुजरात (१४०१ई०) एवं मालवा (१४०१ई०) स्वतंत्र मुस्लिम राज्य के रूप मे स्थापित हो चुके थे, दूसरी ओर मेवाड़ के राजपूत शक्तिशाली होते जा रहे थे।

सैयद वंश के अंतिम शासक की निर्बलता का लाभ उठाकर लाहौर के शासक बहलोल लोदी (१४५१ई० से १४८९ ई०) ने लोदी वंश की नींव डाली। बहलोल लोदी वीर एवं चतुर था, उसने जौनपुर एवं कुछ अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों को भी जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया।[6] उसके उत्तराधिकारी सिकन्दर लोदी (१४८९-१५१७ ई०) ने धौलपुर चंदेरी, नागौर एव मालवा को जीतकर अपने साम्राज्य तथा प्रतिष्ठा का संवर्द्धन किया। एक वीर एवं कुशल शासक होने के साथ-साथ वह एक धर्मान्ध व्यक्ति था।[7] इस्लाम धर्म के प्रचार के प्रति उसका उत्साह इतना अधिक था कि एक-एक दिन मे १५०० हिन्दुओं की हत्या उसने करवाई था।[8] सैनिक यात्राओ के दौरान, जब कभी

१. दे०, आर० सी० मजूमदार एवं राय चौधरी : एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, (१९६५ ई०), पृ० ३३६-३७।

२. दे०, वही, पृ० ३३६-३७ एवं सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, (१९७१ ई०), पृ० २९१-९२।

३. के०सी० व्यास एवं सरदेसाई : इंडिया थ्रू दी एजेज, पृ० १०५।

४. वही, पृ० १०५ एवं डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव : दि सल्तनत आफ दिल्ली, पृ० १८१-८२।

५. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० २९३।

६. आर० सी० मजूमदार एवं राय चौधरी : एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३४०-४१।

७. दे०, डा० ईश्वरीप्रसाद हिस्ट्री आफ मिडिवल इंडिया, (१९४८ई०), पृ० ४९७-५०२

८. टिटस : इंडियन इस्लाम, पृ० ११-१२।

संभव हुआ, हिन्दुओं के मन्दिरों को अपवित्र करना और तोडना उसका नित्य का सा कर्म बन गया था।[1] कबीर को दंडित करने की घटना का सम्बन्ध इसी सिकन्दर शाह (लोदी) या उसके काजी से जोडा जाता है।

इसके बाद इब्राहीम लोदी को पानीपत मे (१५२६ ई०) और राणा सांगा को 'खानुवा' के मैदान मे हराकर ११ फरवरी १५२७ ई० को बाबर ने हिन्दुओं के विरुद्ध 'जिहाद' की घोषणा की थी। जिसके फलस्वरूप ऐसा कोई राजपूत कुल नही था जिसके श्रेष्ठ नायक का खून न बहा हो।[2] कोहनूर हीरा के साथ उसने यहाँ से अपार धनराशि लूटी थी।[3]

अन्त मे उल्लेख्य यह है कि कबीर की मृत्यु के समय (१५१८ ई०) मे मगहर हिन्दू शासन के अन्तर्गत था।[4]

साराश यह है कि कुछ अपवादों को छोडकर दिल्ली के सभी सुल्तानों (१२०६ ई० से १५२६ई०) का मूल उद्देश्य 'दार-उल-हर्ब' (काफिरों की भूमि) को 'दार-उल-इस्लाम' (इस्लाम की भूमि) मे बदलना था।[5] अत. एक ओर तो वे मुल्लाओं, काजियों, अमीरों एव सेनापतियों के दबाव मे रहते थे, दूसरी ओर हिन्दुओ से उनके सम्बन्ध राजा तथा प्रजा के कम किन्तु गाजी या मुजाहिद और काफिर के अधिक थे। परिणामस्वरूप उनका अधिकाश समय आत्मरक्षा, विद्रोह के दमन, एवं राज्य तथा धर्म के विस्तार आदि से सम्बन्धित युद्धों मे ही व्यतीत होता था। सैनिक शासन था और सामन्तशाही व्यवस्था थी। अत' केन्द्र के तनिक भी शिथिल पडने पर प्रान्तीय सत्ताधारी सदैव स्वतंत्र होने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इस्लाम की राजनीतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र उत्तरी भारत ही रहा था। यद्यपि दिल्ली सलतनत अधिक समय तक केन्द्रीय या शक्तिशाली सत्ता न रही थी फिर भी देश के अधिकांश भाग पर मुसलमानों का शासन रहा। समग्र देश मे किसी एक ही प्रकार की शासन-व्यवस्था का अभाव था। हर संभव प्रयत्न करने पर भी कोई भी मुसलमान हिन्दू सत्ता को देश की राजनीति से समूल नष्ट नही कर सका था।[6] दक्षिण मे विजयनगर एव उत्तर मे मेवाड के हिन्दू-राज्य हिन्दुओ को आशा

---

१. दे०, एस०आर० शर्मा . भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० १६२-६३। तथा पी०डी० गुप्ता : मध्यकालीन भारत, पृ० ९०।

२. एस०आर० शर्मा : भा०मु०शा०इति०, पृ० २३।

३ वही, पृ० २३४-३६।

४. आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय विचार विमर्श, पृ० १७।

५. डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव . दी सल्तनत आफ दिल्ली, पृ० ३०४।

६. दे०, डा० मदनगोपाल गुप्त : मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० १०७-१०८।

एवं प्रेरणा के मुख्य केन्द्र रहे। यद्यपि राजनीति एवं राष्ट्रीय भावना धार्मिक भावना से जुड़ चुकी थी किन्तु हिन्दू-राजशक्तियों का कोई राष्ट्रीय संगठन न था। युद्धों की पराजय, पतन एवं लूट का सम्बन्ध मुख्यतः सेना, किले एवं राजधानियों तक सीमित था, ग्रामीण जनता मुख्य रूप से तो सैनिक गतिविधियों एवं भारी करों से ही प्रभावित होती थी। फिर भी इस अन्यायी एवं अत्याचारी शासन का देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा था, जो क्रमशः आगे के विवरण से स्पष्ट होता रहेगा।

कबीर की रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं का सीधा उल्लेख प्रायः नहीं है, जो आवश्यक भी नहीं था। फिर भी तत्कालीन परिस्थिति से वे मुख्यतः दो रूपों में प्रभावित हुए दिखाई देते हैं—एक तो सेनाओं के एकत्रीकरण, किलों को तोड़ने की विधि, शूर-वीरों की आत्म-त्याग की भावना, एवं उनके हथियारों तथा सवारियों आदि का उपयोग अपनी साधना को स्पष्ट करने के लिए अपनाये गये रूपकों में किया है।[1] दूसरे धर्मगत अथवा व्यक्तिगत मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर तत्कालीन राजा, राव, राणा एवं बादशाहों द्वारा किये जानेवाले युद्धों की भर्त्सना कर उन्हें संतोष, अनासक्ति एवं निरभिमान को स्वीकार कर शान्ति से जीवन यापन करने की प्रेरणा भी दी है।[2] तदुपरान्त तत्कालीन कठोर दण्ड-व्यवस्था (क०ग्रं०पद ३४१-६५ एवं चितावनी को अंग सा० २८, पृ० १८) एवं राज्य-सत्ता की अस्थिरता (क० ग्रं० पद ४००, पृ० १६७) आदि के संकेत भी पाये जाते हैं।

**आर्थिक परिस्थिति**

पूर्ववर्ती विवरण से स्पष्ट है कि समग्र देश में कोई एक तथा स्थायी शासन व्यवस्था न थी। एक ओर मेवाड़, गोंडवाना, उड़ीसा एवं विजयनगर के हिन्दू राज्य थे तो दूसरी ओर दिल्ली सलतनत एवं अन्य प्रान्त मुसलमानों के शासन में थे। ऐसी स्थिति में देश में कोई एक आर्थिक व्यवस्था भी न रही होगी।

'तारीखे फीरोज शाही' के लेखक बर्नी के अनुसार, 'प्रजा के घर अन्न, संपत्ति, घोड़े तथा फर्नीचर से भरे थे, प्रत्येक के पास खूब सोना तथा चाँदी थी, ऐसी कोई स्त्री न थी जिसके पास आभूषण न हों और ऐसा कोई घर न था जिसमें उत्तम पलंग तथा बिस्तर न हों। धन की भरमार थी और सभी को सुख सुविधाएँ प्राप्त थीं।[3] महुअन के अनुसार बंगाल में विदेशी व्यापार तथा जहाज उद्योग उन्नत दशा में था। प्रान्त में गेहूँ, पटसन, अदरख, दालें, चावल तथा शाक-भाजी भारी मात्रा में उत्पन्न होते थे।[4] पर्यटक अब्दुल

१. दे०, क०ग्रं०, पद ३५८ एवं ३१९ एवं सूरातन को अंग।
२. दे०, क०ग्रं०, चितावणी को अंग, सा० ३ से ७ एवं ११।
३. एस०आर० शर्मा . भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० १५१।
४. वही, पृ० २१२।

रज्जाक ने विजयनगर के विषय मे लिखा है कि यहाँ, 'प्रत्येक व्यापारी की दुकानें एक दूसरे के निकट हैं। जौहरी लोग बाजार मे लाल, मोती, हीरे तथा नीलम खुले रूप मे बेचते हैं।[1] मालाबार के विषय मे उसने लिखा है कि वहाँ की जनता के आवासगृह राजमहलो जैसे दिखाई देते है।[2] बारबोसा के अनुसार गुजरात के अगणित व्यापारी एवं कुशल शिल्पी सुख एवं ऐश्वर्य का जीवन बिताते थे। किन्तु वहाँ के नगरों मे मुसलमान व्यापारी तो और भी अधिक समृद्ध थे।[3] बंगाल के व्यापारियो की समृद्धि के भी उल्लेख मिलते है।[4] तदुपरात यदि अमीर खुसरो की बात का विश्वास किया जाय तो मलिक काफूर ने पाड्य राजवश की राजधानी मदुरई से एव रामेश्वरम् आदि अन्य राज्यों से सैकडों हाथी तथा हजारो घोडो के साथ ५०० मन विभिन्न प्रकार के जवाहरात और ९६००० मन सोना दिल्ली (१३११ ई०) भेजा था।[5] तैमूर के द्वारा (१३९८ ई०) देश के एक कोने से अपार धन की लूट का उल्लेख हो चुका है। बाबर ने (१५२६-३० ई०) भारत से इतना धन लूटा कि ७० लाख के कोहिनूर के साथ अपार धन अपने पुत्र हुमायूँ को दिया। सैनिको को भी लूट का धन मिला। फरगान, खुरासान, काशगर और ईरान के रहनेवाले उसके मित्र सोना-चाँदी, वस्त्र, रत्न तथा लाल आदि की अमूल्य भेट तथा गुलामो की अपार सख्या को भेंट मे पाकर विस्मय से चकित हुए। हिरात, समरकन्द, मक्का एव मदीना के फकीरो और सतों को भेट भेजी गयी। काबुल के प्रत्येक स्त्री-पुरुष, युवा-वृद्ध, स्वतत्र-गुलाम सभी को एक-एक चाँदी का सिक्का विजय के उपलक्ष मे दिया गया।[6]

उपर्युक्त सभी उल्लेखों से तो यही सिद्ध होता है कि उस समय देश मे धन-धान्य की कमी न थी। किन्तु इन उल्लेखों में से अधिकाश का सम्बन्ध राजधानियों, व्यापारिक केन्द्रो, राजघरानो, व्यापारियो एवं उत्पादन तथा उसके साधनों से है। अत. देश की सामान्य जनता की आर्थिक समृद्धि का अनुमान इनके आधार पर करना भ्रमपूर्ण होगा।[7] वास्तविकता तो यही प्रतीत होती है कि अन्यून 'आर्थिक-स्रोतो के बावजूद भी (मुस्लिम-शासन का संपूर्ण इतिहास) देशगत निर्धन जनता के वृतान्तों की ही करुण कहानी है।'[8]

१. वही, पृ० १८३ एवं आर० सी० मजूमदार : दी दिल्ली सल्तनत, पृ० ६४१-४२।
२. आर०सी० मजूमदार : दी दिल्ली सल्तनत, पृ० ६५६-५७।
३. वही, पृ० ६५६।
४. दे०, प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय व्यापार का इतिहास, पृ० २५०।
५. दे०, आर०सी० मजूमदार एवं रायचौधरी एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३०६।
६. दे०, एस०आर०शर्मा भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० २३४-३५।
७. दे०, डा० मदनगोपाल गुप्त, म०हि०का०भा०सं०, पृ० १२५-२६।
८. स्टेनले लेनपून. मिडिवल इंडिया अंडर मोहमडन रूल, (१९५०ई०), प्रीफेस, पृ० ५।

देश धन-धान्य से समृद्ध था। 'धन का विभाजन इस समय बहुत असमान था। जागीरदार और अमीरों के पास सोना-चाँदी एकत्रित हो गया था और साधारण जनता के पास बहुत कम धन रह गया था।'[1]

धन के इस असमान वितरण के आधार पर समाज मुख्यतः तीन वर्गों मे विभक्त था। अमीर, दरबारी, उलमा, सेना के उच्च अधिकारी, जागीरदार, सर्राफ, प्रान्तों के शासक एवं बड़े-बड़े व्यापारी अति धनी वर्ग के थे। मध्यम वर्ग के अन्तर्गत छोटे व्यापारी, न्याय, लगान एवं सेना के अधिकारी थे। शेष सारी जनता—किसान, शिल्पी, कर्मी एवं श्रमिक प्रायः निम्नवर्ग के अन्तर्गत थी। प्रथम वर्ग मे राज्य की ओर से प्राप्त लंबी-लंबी जागीरे, इनाम एवं भेंट आदि अमीरों के, देश-विदेश का थोक व्यापार व्यापारियो के एवं वेतन के रूप मे प्राप्त लंबी-लंबी रकमे सेनापतियो के, आय के मुख्य साधन थे। मध्यम परिमाण का व्यापार एवं सरकारी वेतन द्वितीय वर्ग की आय के साधन थे। तृतीय वर्ग की ग्रामीण जनता की आय का मुख्य साधन खेती एवं तत्सम्बन्धी उद्योग थे, तो शहरी क्षेत्रों मे छोटे-मोटे उद्योग थे। वैश्यो ने व्यापार को ही मुख्य रूप से अपना लिया था। उनके स्थान पर ब्राह्मणो एवं क्षत्रियो ने खेती को स्वीकार कर लिया था। शेष धन्धों का वितरण मुख्य रूप से परम्परागत जाति-व्यवस्था के अनुसार था। धर्म-परिवर्तन के कारण कुछ धन्धों मे मुसलमानो का प्रवेश हो गया था। फिर भी विदेशी मुसलमानों के शहरी सभ्यता के जीव होने के कारण देश के उत्पादन के अधिकाश साधन हिन्दुओं के हाथों मे ज्यों के त्यो बने रहे।

एकाद अपवाद को छोड़कर, दिल्ली के सभी सुल्तानो ने हिन्दुओं को आर्थिक दृष्टि से विपन्न बनाकर वश मे रखने की नीति अपनाई थी। अतः वैध एवं अवैध करों द्वारा अमानुषी शोषण करके उनके पास इतना धन नही छोड़ा जाता था कि वे घोडे पर चढ़ सकते, हथियार बाँध सकते, बढ़िया वस्त्र पहन सकते अथवा जीवन की किसी अन्य विलासमय वस्तु का उपयोग कर सकते।[2] जजिया आदि विभिन्न कर देने के बाद 'किसान के पास उसकी उपज का $\frac{1}{3}$ (एक तिहाई) भाग से अधिक नही रहता था।'[3] जिसमे से उसे अपने आश्रित परिवार एवं कर्मी लोगो का निर्वाह करना होता था। शिल्पियो एवं व्यवसायियो को धन्धे के अनुसार कर भरने पड़ते थे। श्रमिको एवं कारीगरों से बेगार ली जाती थी। मजदूरी की दरे बहुत नीची हुआ करती थीं। किन्तु इस वर्ग की आवश्यकताएँ बड़ी सीमित थो और वस्तुओ के भाव प्राय सस्ते रहते थे। अतः सामान्य स्थिति में ये लोग प्रायः भूखे नहीं मरते थे। किन्तु अकाल, विदेशी लुटेरों या

१. पी०डी० गुप्ता : मध्यकालीन भारत, पृ० १४०।
२. एस०आर० शर्मा : भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० २०९।
३. दे०, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० २८६।

देशी सेनाओं की गतिविधियों से फसल नष्ट हो जाने पर, वस्तुओं के अनुपलब्ध होने या भाव बढ जाने पर मरने वालों मे सर्वाधिक संख्या इन्ही की होती थी ।[1]

ध्यातव्य यह है कि शासन द्वारा विविध करो, एवं राज्यों की लूट आदि से एकत्रित धन का उपयोग प्रजा के लिए नही, वरन् स्वयं के सुख-साधनो के जुटाने आदि पर किया जाता था । खुसरो के कथनानुसार 'शासको के मुकुट का हर मोती किसानों के रक्त बिन्दुओं से बना था ।'[2] इन जन-विरोधी अर्थनीति के कारण मुसलमानो के युग मे ग्राम-जीवन का निम्न-स्तर दयनीय और दृष्टिकोण संकुचित ही बना रहा । इस युग मे उसकी किसी प्रकार की आर्थिक उन्नति न हो सकी ।[3] फलत 'अपने ही देश में जहाँ दूध और दही की नदियाँ बहती थी वही उनकी स्थिति लकड़हारों और भिश्तियों की सी हो गई ।'[4]

हिन्दू राजाओ तथा मुसलमानो द्वारा शासित प्रदेशो की पृथक्-पृथक् समीक्षा के बाद डा० मदनगोपाल गुप्त द्वारा निकाले गये निष्कर्ष के अनुसार खेती तथा व्यापार को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देने की प्रजाभिमुख नीति अपनाने के कारण प्रथम द्वारा शासित प्रदेशो की सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति द्वितीय द्वारा शासित प्रदेशों की अपेक्षा अधिक समृद्ध तथा संतोषकारक थी ।[5] कहना न होगा कि कबीर का संबंध मुख्य रूप से मुसलमानों द्वारा शासित प्रदेश से रहा था, क्योंकि शैशव के बाद उनका जीवन काशी मे बीता था ।

कबीर की रचनाओं मे धोबी, तेली, कुभार, कोली आदि के जातिगत व्यवसायों[6], खेती[7], लगान विभाग के कर्मचारियों की भेडिया-वृत्ति[8], साहूकारो की सूदखोरी[9], गुलामो के क्रय-विक्रय[10] एव बेगार[11] आदि के उल्लेख हुए है । तदुपरात गरीबों के अभावग्रस्त जीवन[12] एव अमीरों के विलासी जीवन[13] के भी उल्लेख है । इन उल्लेखो

---

१. द्रष्टव्य, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव · हिस्ट्री आफ इडिया, पृ० २८६-८७ ।

२. द्रष्टव्य—पी०डी० गुप्ता : मध्यकालीन भारत, पृ० १४१ ।

३. वही, पृ० १०९ ।

४. एस०आर० शर्मा : भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० २१३ ।

५. द्रष्टव्य—मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय सस्कृति, पृ० १२१-३५ ।

६ दे०, क०ग्र०, पद ३८९ एव अन्यत्र ।

७. द्रष्टव्य—वही, पद ३९६ ।

८. द्रष्टव्य—वही, पद ३८३ ।

९. द्रष्टव्य—वही, पद ३८३ व १०८ ।

१० द्रष्टव्य—वही, पद ११३ ।

११. वही, पद ११० ।

१२. वही, वेसास कौ अंग व पद २२, १०५ ।

१३ वही, पद २४८ ।

से जो तथ्य प्रकाश मे आते है वे प्रायः इतिहास द्वारा समर्थित है। साथ ही धन की अनित्यता पर जोर देकर लोगों की धनासक्ति एवं संग्रह-वृत्ति को कम करने तथा गरीबों को संतोष से रहने का उपदेश देकर उन्होने इस क्षेत्र की विषमता को कम करने के प्रयत्न भी किये है। अतः कहा जा सकता है कि देश की सम-सामयिक आर्थिक-स्थिति से वे प्रभावित हुए थे और उस स्थिति मे कुछ सुधार लाने के प्रयत्न भी उन्होने किये थे।

**सामाजिक परिस्थिति**

कबीर के समय की सामाजिक परिस्थिति के सम्यक् ज्ञान के लिए इस पृष्ठभूमि को लक्ष्य मे रखना आवश्यक है कि अपने पुनरुत्थान के समय से भागवत धर्म मे आचार-विचार संबंधी व्यक्तिगत पवित्रता पर इतना जोर दिया गया था कि अन्तर्जातीय विवाह एवं खान-पान विषयक जिन उदार नीतियो के आधार पर यवन, शक, हूण, पर्शियन एवं कुषा आदि विदेशी जातियाँ यहाँ के समाज मे एकरूप हो गई थी, उन सब को निषिद्ध ठहरा दिया गया। 'पेशे-या धन्धे के आधार पर विभिन्न जातियाँ पहले से ही बनती चली आ रही थी।[1] राजपूत-युग मे जाति-भेद ने ऐसा रूप धारण कर लिया कि विभिन्न जातियो के लोगो मे खान-पान और विवाह का सम्बन्ध होने मे अनेक प्रकार की रुकावटें आने लगी।[2] तुर्क एवं अफगानो के आगमन के पूर्व से ही 'खान-पान एवं हुक्का-पानी विषयक नियम ईश्वरीय-आदेश के समान माने गये और इतनी दृढता के साथ पाले जाने लगे कि जिसे देखकर मनु तथा याज्ञवल्क्य भी चलित हो उठे।[3] इनके भंग होने पर धर्म भ्रष्ट हो जाने के भय से लोगो के लिए विदेश, एवं विदेशियों का संपर्क एक प्रकार से त्याज्य बना।[4] (इस विषय मे यद्यपि कुछ राजनीतिक कारण भी थे।)[5] परिणाम-स्वरूप देश लगभग ३०० वर्ष तक शेष दुनियाँ से विच्छिन्न रहा। इससे समाज का विकास स्थगित हुआ, सभ्यता का पतन हुआ और संकुचितता का विकास हुआ।[6] अल-बरुनी के कथनानुसार 'हिन्दुओ का विश्वास था कि उनका जैसा कोई देश नहीं, उनका जैसा कोई राष्ट्र नही, उनका जैसा कोई राजा नहीं, उनका जैसा कोई धर्म नही, उनका जैसा कोई ज्ञान-विज्ञान नही।' वह आगे लिखता है—'उनके पूर्वज इतने संकुचित विचारों के न थे जितने कि वर्तमान पीढी के लोग हैं।'[7] उसका यह कथन भी ध्यानाकर्षक है

१. दे०, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० १७२।
२. वही, पृ० २४७।
३. के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० ११०।
४. राहुल साङ्कृत्यायन : 'अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा' निबंध : तथा सत्यकेतु विद्यालंकार, भारत का इतिहास, पृ० २३८।
५. के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० ११०।
६. वही, पृ० ११०।
७. वही, पृ० १०९।

कि—हिन्दू नही चाहते कि एक वार यदि उनकी कोई वस्तु ( या व्यक्ति ) अपवित्र हो जाय तो उसे पवित्र करके दुबारा ग्रहण किया जाय ।'[1]

कहने का आशय यह है कि तुर्क व अफगानो के आगमन से पूर्व ही देशवासियो मे खान-पान एव विवाह आदि सम्बन्धी नियम इतने चुस्त वना दिये गये थे कि हिन्दू-समाज मे किसी विधर्मी या विदेशी के प्रवेश की सभावना नही के वरावर ही रह गई थी । दूसरे स्वधर्म एवं स्ववंश आदि की पवित्रता तथा श्रेष्ठता की मान्यता लोगों में इतनी दृढ हो चुकी थी कि 'स्वधर्मे निधन श्रेय . परधर्मो भयावह : की उक्ति चरितार्थ होती थी ।

दूसरी ओर जैसा कि पूर्ववर्ती विवरण से भी स्पष्ट है तुर्क एवं अफगानों का लक्ष्य विजित प्रदेशो पर शासन करना मात्र नही वरन् वहाँ की जनता को इस्लाम को स्वीकार करने के लिए विवश करना था । इसलिए उन्होने यहाँ के निवासियो पर राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एव आर्थिक-अमानुषी अत्याचार भी किये । साथ ही वे अपने धर्म, जाति एवं वंश के प्रति आत्म-गौरव से शून्य न थे ।[2] इस सवका परिणाम यह हुआ कि दोनों समाज परस्पर एक दूसरे को घृणा तथा द्वेष की दृष्टि से देखते और स्वयं से हीन कोटि का समझते थे । यदि हिन्दुओ की दृष्टि मे मुसलमान-धर्म, सस्कृति, वंश, किन्तु मुख्यतः चारित्रिक-पवित्रता एवं नैतिक जीवन-स्तर की दृष्टि से हीन[3] और मांसाहारी तथा हिंसक होने के कारण अपवित्र थे[4], तो मुसलमानो की दृष्टि मे हिन्दू-जातिवादी, मूर्तिपूजक, वहुदेव-उपासक एवं अपवित्र थे । अर्थात् हिन्दुओं के लिए मुसलमान 'म्लेच्छ' तो मुसलमानो के लिए हिन्दू 'काफिर' थे ।[5] दोनो के धार्मिक एवं सामाजिक विचार भी भिन्न-भिन्न थे । अत समन्वय की कोई संभावना न होने के कारण देश मे दो समानान्तर समाज अस्तित्व मे आए ।

जैसा कि पूर्ववर्ती विवरण से स्पष्ट है कवीर के समय का हिन्दू समाज राजनीतिक अधिकारो से वंचित होकर आर्थिक विपन्नता एवं भय से युक्त जीवन विता रहा था । इस असुरक्षात्मक वातावरण मे भी 'हिन्दुओं का नैतिक एवं चारित्रिक स्तर वहुत ऊँचा था । व्यक्तिगत प्रामाणिकता एवं चारित्रिक पवित्रता का स्तर भी वहुत ऊँचा था ।[6]

---

१. वही, पृ० ११० ।

२. दे०, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : दी सल्तनत आफ दिल्ली, पृ० १३७ ।

३. दे०, वही, पृ० ३२२ ।

४. दे०, वही, पृ० ३५५ ।

५. दे०, वही, पृ० ३५५ ।

६. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव . दी सल्तनत आफ दिल्ली, पृ० ३२२-२३ ।

यद्यपि उनमे शराब एवं स्त्री सम्बन्धी कुछ बुराइयाँ भी पाई जाती थीं।[1] जिनकी पुष्टि कुछ अन्त साक्ष्यों से भी होती है।[2]

हिन्दुओं के कुछ प्रतिष्ठित शिक्षा-केन्द्रों को मुसलमानों ने अपने प्रथम अभियान मे ही नष्ट कर दिया था, फिर भी लडकों के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था प्रायः सर्वत्र थी। ग्रामीण क्षेत्रों मे युवकों के लिए एक प्रकार की सैनिक शिक्षा दी जाती थी। जीवन मे धर्म का विशेष स्थान था। विद्वद्वर्ग यद्यपि अद्वैतवादी था लेकिन बहुसंख्यक समाज मूर्तिपूजक और अन्धश्रद्धा से युक्त था।[3] इसी समाज को लक्ष्य करके मार्कोपोलो ने लिखा है कि—'वे अन्धविश्वासी भी थे। फलित ज्योतिष जादू-टोना और शकुनों आदि शैतानी कलाओ मे विश्वास करते थे। गुजरात के ब्राह्मण पक्के मूर्तिपूजक थे।[4] तदुपरान्त समाज मे पर्दा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, गुलाम-प्रथा तथा अनेक अन्य सामाजिक कुरीतियों का बोल-बाला था।[5] साधारण जनता मे शिक्षा का प्रसार कम ही था।

'जिहाद' अभियानों के अंतर्गत, मुसलमानों द्वारा बलात् कराया जानेवाला धर्म-परिवर्तन तत्कालीन हिन्दू समाज की एक मुख्य समस्या थी। जिसके समाधानस्वरूप भारतीय मनीषियों ने अनेक प्रयत्न भी किये। एक ओर भ्रष्ट हुए लोगों को पवित्र करके स्वधर्म मे वापस लेने की व्यवस्था देनेवाली 'देवल स्मृति' की रचना की गई। दूसरी ओर भक्ति के पुरस्कर्ताओं—रामानुज एवं उनकी शिष्यपरंपरा—ने उपासना के क्षेत्र मे जाति-पाँति के भेद-भाव को अमान्य ठहराया। तो तीसरी ओर नाथपंथियो एवं संतो ने वर्ण-व्यवस्था के मूल पर ही प्रहार किये। इन संतों मे रामानन्द के 'निर्गुण-पंथी' बारह शिष्य जिनमे कबीर अग्रगण्य थे—एवं ज्ञानेश्वर व नामदेव आदि उल्लेख्य है।[6] शायद इन प्रयत्नो के फलस्वरूप ही तत्कालीन कर्मी जातियों के सामाजिक महत्व मे सुधार हुआ था,[7] यद्यपि यह दूषण सदैव के लिए नष्ट न हो सका।

---

१. दे०, आर०सी० मजूमदार एवं राय चौधरी : एन एडवान्स हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ४०० ।

२. परनारी राता फिरै चोरी बिढ़ता खाहि। क०ग्रं० कामीनर कौ अंग सा० ३
परनारी पर सुदरी विरला बंचै कोई ॥ वही : वही, सा० ४
पापी पूजा बैसि करि भषै मांस मद दोई ॥ वही : साँच कौ अंग, सा० १३

३. दे०, आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव : दी सलतनत आफ दिल्ली, पृ० ३२२-२३ ।

४. एस०आर० शर्मा : भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० २१२ ।

५. पी०डी० गुप्ता : मध्यकालीन भारत, पृ० १४३ ।

६. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : डा० मदनगोपाल गुप्त : मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ० १३८-३९ ।

७. दे०, वही, पृ० १३७ एवं आर०सी० मजुमदार. दि दिल्ली सल्तनत, पृ० ५७५-७७ ।

तत्कालीन मुसलमानो के दो मुख्य वर्ग थे, जिन्हे स्वदेशी एवं विदेशी भी कहा जा सकता है। नव-निर्मित मुसलमानो का प्रथम वर्ग संख्या मे अधिक व मुख्यत. नागरिक-जीवन व्यतीत करनेवालो का था, विदेशियों का द्वितीय वर्ग संख्या मे कम व सैनिक एवं राजकीय अधिकारी-वर्ग का जीवन बिताने वालो का था। प्रथम तो मूलत हिन्दू थे ही द्वितीय के घरो मे हिन्दू नारियाँ थी। अत भारतीय रक्तसे मिश्रित होकर वह अपनी रक्त-शुद्धता को खोता जा रहा था।[1] हिन्दू समाज के साथ अपने शताब्दियो पुराने सबध एवं उपर्युक्त परिस्थिति के फलस्वरूप मुसलमानो मे भी जातिप्रथा का प्रचलन हुआ।[2] सैयद, शेख और पठान अन्यो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करना उचित न समझते थे।[3] सुलतानो एवं अमीर घरानो मे दास इतनी अधिक संख्या मे रखे जाते थे कि 'इनकी विशाल संख्या समकालीन मुस्लिम समाज का एक प्रधान अंग बन गई थी।'[4] जैसा कि निर्दिष्ट किया जा चुका है हिन्दुओ की अपेक्षा इनकी आर्थिक स्थिति अधिक अच्छी थी जिसके परिणामस्वरूप इनमे एक ओर निष्क्रियता पनपी तो दूसरी ओर 'मास-मद्य का सेवन, परस्त्री-गमन, द्यूत-क्रीडा, छल-कपट, जालसाजी, नृत्य-गायन आदि इनके जीवन के प्रधान अग बने, जिनमे धन पानी की तरह बहाया जाता।'[5] सैनिको मे व्याप्त वेश्यावृत्ति कभी-कभी तो शासकों को कठिनाई व चिन्ता का विषय बन जाती थी।[6]

दोनों ही समाजो मे नारियाँ अपने पतियों या सम्बन्धित अन्य पुरुषों पर आश्रित थी। गुजरात एवं कुछ तटवर्ती क्षेत्रों को छोडकर पर्दा की प्रथा दोनों समाजो मे प्रचलित थी।[7] उद्दण्ड तुर्क सैनिक तथा राजकीय कर्मचारियो के भय से हिन्दू लोग बचपन मे ही अपनी लडकियो का विवाह कर देते थे।[8] इतर हिन्दुओ के प्रभाव से कुछ कुलीन-परिवार के मुसलमानों ने सती एवं जौहर प्रथा भी अपनाई।[9] स्त्री से चारित्रिक शुचिता

१. दे०, डा० मदनगोपाल गुप्त : मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० १५१-५२।

२. के०सी० व्यास एण्ड सरदेसाई . इडिया थ्रू दी एजेज, पृ० १०८।

३. डा० के०एम० अशरफ लाइफ एण्ड कडीशन आफ दी प्यूपल आफ हिन्दुस्तान, पृ० ७८।

४. वही, पृ० ७३।

५ वही, पृ० १७५-७९।

६ वही, पृ० २२७-२८।

७. दे०, आर०सी० मजूमदार एण राय चौधरी : एन एडवास हिस्ट्री आफ इडिया, पृ० ४००।

८ डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० ३१०।

९. आर०सी०मजूमदार एवं राय चौधरी एन एडवास हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ४०२।

की अपेक्षा दोनों समाजों में की जाती थी। धनिकों एवं राज-घरानों को छोड़कर नारी-शिक्षा की कोई विशेष व्यवस्था न थी। 'सामान्यतः उस युग की नारी को सामाजिक महत्व प्राप्त न था और विशेषकर मुस्लिम समाज की नारी अपेक्षाकृत हीनतर अवस्था में थी।'[१]

कबीर ने दोनों समाजों में परिव्याप्त रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का खण्डन किया है और 'कहै कबीर मैं हरिगुन गाऊँ हिन्दू तुरक दोऊ समझाऊँ' के अपने संकल्प या निश्चय के अनुसार उनमें बौद्धिक-जागृति लाने का प्रयत्न किया है।

**धार्मिक परिस्थिति**

कबीर के समय की धार्मिक परिस्थिति की पूर्वपीठिका के रूप में इतना ध्यातव्य है कि यद्यपि विभिन्न धार्मिक-संप्रदायों एवं दार्शनिक-मतों के अस्तित्व का परिचय इस देश में उसके प्रागैतिहासिक काल से ही मिलता है; किन्तु इन सबमें से लोकप्रिय धर्मों के रूप में केवल तीन—वैदिक, बौद्ध एवं जैन—ही सर्वाधिक महत्व रखते हैं; और तीनों परस्पर प्रतिस्पर्धी भी रहे हैं। राजाश्रय के अतिरिक्त वर्ण या जाति-व्यवस्था की अस्वीकृति, व्यक्तिगत-जीवन की पवित्रता, अहिंसा तथा करुणा, मुदिता, मैत्री एवं उपेक्षा आदि के रूप में परदुःखकातरता की स्वीकृति, बौद्ध एवं जैन धर्मों की लोकप्रियता के मुख्य कारण थे।

अपने पुनरुत्थान के समय गुप्त काल में वर्णाश्रमी वैदिक-धर्म जब भागवत या वैष्णव धर्म के अपने नवीन रूप में आगे बढ़ा था तो एक ओर तो उसने अपने प्रतिस्पर्धी जैन व बौद्ध-धर्मों की चारित्रिक-पवित्रता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि को अपना लिया;[२] उपासना के क्षेत्र में शूद्रों को प्रवेश-प्रदान कर दिया।[३] दूसरी ओर मध्य देश में 'पुष्यमित्र' एवं 'गुप्त-वंश' ने उसे राजाश्रय दिया। दक्षिण में शिव एवं विष्णु के उपासक 'पल्लव' राज-वंश के राजाओं तथा शिवोपासक 'वसव' ने, तो पूर्व में सेन 'राज-वंश' के राजाओं ने; जैनों के बढ़ते हुए प्रभाव को दबा दिया।[४] एक ओर शैव एवं शाक्त स्वयं को वैदिक-धर्म सिद्ध कर उसके अंग बने; तो दूसरी ओर आचार्य शंकरप्रदत्त अद्वैत-दर्शन की सुदृढ़ एवं विद्वज्जन-स्वीकार्य दार्शनिक भूमिका उसे प्राप्त हुई। तदुपरांत नवी शताब्दी के आस-पास पतनोन्मुखी बौद्ध-धर्म को आत्मसात् करके वह नवीन शक्ति से सम्पन्न हुआ।[५] इस प्रकार दसवी शताब्दी के अंत तक वैष्णव धर्म न केवल देश-व्यापी प्रमुख

१ डा० मदनगोपाल गुप्त : मध्यकालीन हिन्दीकाव्य में भारतीय संस्कृति, पृ० १४४।

२. दे०, के०सी० व्यास एवं सरदेसाई : इंडिया थ्रू दी एजेज, पृ० ३९।

३ स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा। × × × ×
इति भारतमाख्यान कृपया मुनिना कृतम्॥ भागवत १।४।२५

४. दे०, आर० सी० मजूमदार एवं राय चौधरी : एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० २०१-२०३।

५. दे०, के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० ११५ एवं १०२-१०८।

धर्म बना वरन्[1] इतनी शक्ति से सम्पन्न भी बना कि आगे आने वाले इस्लाम व ईसाइयों के गभीर आघातो को सहन कर सका। भक्ति इसमें प्रारंभ से ही थी; किन्तु आलवार भक्तो, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य एवं निम्बार्काचार्य आदि के प्रयत्नों के फलस्वरूप इसका जो प्रबल-प्रवाह बहा, उससे इसने आबाल-वृद्ध सभी के हृदय मे अपना स्थायी स्थान बना लिया। परिणामस्वरूप कबीर के प्रादुर्भाव से पूर्व वैष्णव-धर्म का विशाल भवन इतना सुदृढ था कि आगे आने वाले भूकम्प से उसकी कुछ ईटें ही गिर सकी। कुछ विद्वानो ने कबीर के समय देश मे धार्मिक व नैतिक-पतन की पराकाष्ठा दर्शायी है जो इतिहास-विरुद्ध है।

दूसरी ओर इस्लाम ने जिस समय (सन् ७१२ई० बिन कासिम द्वारा सिन्धविजय) भारत मे प्रवेश किया था वह इतना असहिष्णु न था जितना कि बाद मे देखा गया। इसलिए उस समय देश मे उसका सर्वत्र आदर किया गया था।[3] किन्तु महमूद गजनवी व दिल्ली के सुलतानों ने जिस धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया उससे हिन्दू अधिक समय तक अप्रभावित न रह सके। परिणामस्वरूप उत्तर मे मेवाड के राणा ने तो दक्षिण मे विजयनगर के राजवंशो ने हिन्दू धर्म के रक्षक का रूप ग्रहण किया।[4]

इस प्रकार हिन्दू व मुसलमानो की पारस्परिक धार्मिक असहिष्णुता कबीर के समय की धार्मिक परिस्थिति की प्रमुख विशेषता बन गई। तुर्क व अफगानो व सुलतानो की हिन्दू-धर्म विरोधी नीति का उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठो मे किया जा चुका है। ध्यातव्य है कि हिन्दुओ की यह असहिष्णुता 'खान पान' एव वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित न करने तक ही सीमित, रक्षात्मक व सामाजिक-स्तर की ही रही प्रतीत होती है। क्योकि किसी हिन्दू राजा के मुसलमानो पर कोई विशेष कर लगाने, उनके धार्मिक स्थानो को नष्ट-भ्रष्ट करने या बलात् धर्म-परिवर्तन कराने के प्रयत्नो का उल्लेख इतिहास मे प्रायः नहीं देखा जाता।

मुसलमानो द्वारा कराया जानेवाला हिन्दुओं का धर्मपरिवर्तन इस युग की दूसरी प्रमुख विशेषता थी। उच्च वर्णो के लिए धन व पदप्राप्ति का लोभ तो निम्न वर्ण के लिए आर्थिक विपन्नता, शारीरिक त्रास एव अकाल आदि से जीवन-रक्षा, धर्मपरिवर्तन के प्रेरक बल थे। डा० दिनकर एव कुछ अन्य विद्वानों का भी ऐसा मत पाया जाता है कि ब्राह्मणों को व्यवस्था से पीडित होने के कारण निम्न वर्णों के बहुसंख्यक लोगों ने धर्म-परिवर्तन स्वीकार किया।[5] डा० मदनगोपाल गुप्त ने इस मत के आशिक सत्य से सहमत

१. दे०, के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इडियन हिस्ट्री, पृ० १०७।

२. वही, पृ० १०४।

३. दे०, यूसुफ हुसैन · मिडीवल इंडियन कल्चर (१९६२ ई०), पृ० १२-१३ एवं के०सी० व्यास एवं सर देसाई : इडिया थ्रू दी एजेज, पृ० ८५-८७।

४. दे०, के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इडियन हिस्ट्री, पृ० १३३-३४।

५. दे०, संस्कृति के चार अध्याय : (द्वितीय संस्करण), पृ० २७५।

होते हुए सुलतानों के वल-प्रयोग को धर्म-परिवर्तन का मुख्य कारण सिद्ध किया है।[1] डा० गुप्त के इस मत को इतिहासकारों का भी समर्थन प्राप्त है।[2] अतः वास्तविक स्थिति यही थी कि—'एक शूद्र भी हिन्दू होने के नाते स्वयं को एक म्लेच्छ से अधिक उच्च व पवित्र समझता था।'[3] धन का लालच व प्राणों का भय हिन्दुओं के किसी भी वर्ग के वहुसंख्यकों के धर्मपरिवर्तन का एक मात्र कारण रहा हो यह इतिहास से सिद्ध नहीं होता।

फिर भी इतना अवश्य स्वीकार्य है कि कवीर के समय में हिन्दू धर्म पर कर्मकाण्ड को महत्व देने वाले ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित हो चुका था। जिसके परिणामस्वरूप वाह्याचार धर्म-सर्वस्व वन गये थे। जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है, हिन्दुओं का वहुसंख्यक वर्ग अशिक्षित एवं अंध-विश्वासी था। उनकी इस स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर, चमत्कार-प्रदर्शन से प्रभावित या भयभीत करके, कुछ लोग उन्हें गुमराह भी कर रहे थे। मूर्ति-पूजा सर्वत्र प्रचलित थी। अनेक धार्मिक मत प्रचलित थे। जिनमें से जैन, वौद्ध, शाक्त आदि के उल्लेख कवीर ग्रंथावली मे मिलते हैं। संन्यासियों का भी एक वहुसंख्यक वर्ग था।

इस्लाम की स्थिति भी वहुत संतोषकारक न थी। काजी और मुल्ला धर्म के नाम पर राजा व प्रजा से कुछ भी करा सकते थे। धार्मिक संकीर्णता अपनी चरमसीमा पर थी। हज्ज, हलाल, रोजा एवं नमाज के वाह्य कृत्य ही धर्मसर्वस्व वन चुके थे। व्यक्तिगत आचार-विचार की शुद्धता प्राय. अदृश्य हो चुकी थी।

लक्ष्य करने की वात यह है कि हिन्दू संख्या मे अधिक तो थे ही, साथ ही प्रायः सभी आर्थिक-साधन उनके हाथ मे थे। वे इस्लाम को स्वीकार करने की अपेक्षा प्राणोत्सर्ग तक को तत्पर थे। लड़ाकू जातियों की उनमे कमी न थी, एवं नौकरशाही शासन के निम्न स्तर में भी वे ही मुख्य थे।[4] अतः न तो उन्हे सर्वांशतः साफ किया जा सकता था, न इस्लाम मे दीक्षित ही किया जा सकता था। इसलिए पारस्परिक सद्भाव से नहीं, किन्तु राजनीतिक आवश्यकताओ के कारण दोनों एक-दूसरे का महत्व स्वीकार कर चुके

---

१. दे०, मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे धार्मिक संस्कृति, पृ० १३८।
२. दे०, डा० आर० सी० मजूमदार : दी दिल्ली सल्तनत, पृ० ६२५-३०।
डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० ३१६।
के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १३३।
३. डा० आर०सी० मजूमदार : कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० ४८।
४. दे०, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० ३१६।
के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १३१ एवं
डा० के०एम० अशरफ : लाइफ एण्ड कण्डीशन आफ दी प्यूपल आफ हिन्दुस्तान, पृ० १५८-६०।
श्रीराम शर्मा : भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास, पृ० १६२-६३।

थे। मुसलमानों द्वारा शासित अनेक प्रान्तो मे कुछ हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया था। मेवाड के राणाओ ने अनेक राजद्रोही मुसलमानो को राजनीतिक शरण देकर उनके प्राण बचाये थे। 'खानुवा' के मैदान मे बाबर के विरुद्ध दिल्ली के सुलतान की सेना राणा-सागा की ओर से लडी थी इत्यादि।[1]

हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों की बर्बरता में हुई कुछ कमी का एक कारण उनके घरों मे हिन्दू-औरतों का होना भी माना जाता है। जो हो, इतना सत्य है कि शताब्दियों से संपर्क मे रहने के कारण दोनो सस्कृतियों का पारस्परिक प्रभाव उनके समाज, कला, वेश-भूषा, खान-पान, भाषा-साहित्य, उद्योग-शिल्प एव ज्ञान-विज्ञान आदि पर तो पडा ही[2] धार्मिक-क्षेत्र भी इससे अछूता न रहा। एक ओर योग व अद्वैत से प्रभावित सूफीमत था जिसमे अल्लाह एक 'निरकुश-शासक' मात्र न होकर सौन्दर्य से युक्त था और जिसकी साधना भावनामय थी। दूसरी ओर गोरख द्वारा प्रशस्त जहाँ 'देहुरा न मसीत' की वह मध्यममार्गीय भूमिका थी जिसके शुष्क योग व अद्वैत मे वैष्णव भक्ति की तरलता एवं विरह-भावना का पुट देकर नामदेव स्वीकार कर चुके थे—जहाँ राम और रहीम का मेल संभव था, क्योंकि यहाँ राम व रहीम के अतिरिक्त सत्-पीर व सत्-गुरु, तथा उनकी मजार व समाधि की पूजा मे भी साम्य विद्यमान था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि केवल पारस्परिक मेल के लिए ही नही, वरन् सह-अस्तित्व के लिए भी दोनो धर्मों के आचार-विचार मे सुधार की आवश्यकता थी। सुलतानो की सत्ता दुर्बल होती जा रही थी, समाज एक दूसरे के निकट आते जा रहे थे। अतः 'हिन्दू तुरक दोउन समझाऊँ' का लक्ष्य सम्मुख रखकर कबीर ने उचित समय पर उचित दिशा मे अपना कदम बढाया। अपने इस प्रयास मे दोनों पक्षों से संक्षेप मे उन्हें पूछना यह था कि—

जहाँ मसीति देहुरा नाही तहाँ काकी ठकुराई।[4]

और कहना यह था कि—

राम रहीम जपति सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई।
कहै कबीर चेतहु रे भोदू, बोलन हारा तुरक न हिन्दू ॥[5]

---

१. दे०, आर० सी० मजूमदार एण्ड रायचौधरी . एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ४०२-३।

२. दे०, श्रीनेत्र पाण्डे : भारत का बृहद् इतिहास, पृ० ३३२।
आर०सी० मजूमदार एवं रायचौधरी: एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ४०२।

३. विस्तृत विवरण के लिए—दे०, डा०: मदनगोपाल गुप्त : मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० १५१-६६।

४. क०ग्र०, पद ५८।

५. वही, पद ५६।

कहने का भाव यह है कि इस्लाम के संकुचित वातावरण में पोषित होते हुए भी कबीर एक जागृत एवं सहृदय व्यक्ति थे। धर्मक्षेत्र की संकटपूर्ण समकालीन स्थिति से वे सर्वाधिक रूप मे प्रभावित हुए थे। अतः दोनों पक्षों के मध्य तटस्थ भाव से खड़े होकर जहाँ एक ओर उन्होने दोनो धर्मों मे परिव्याप्त विकृतियों की भर्त्सना की है वहाँ कुछ ऐसे सर्जनात्मक सुझाव भी प्रस्तुत किये है कि जिनसे उनके, तथा अन्य धर्मो के भी, बाह्य विरोध को कम करने में सहायता ली जा सकती है।

## साहित्यिक परिस्थिति

तुर्क व अफगान सुल्तानों के शासन-काल (१२०६ ई० से १५२६ ई०) मे इस देश मे एक ओर संस्कृत भाषा मे भाष्य, निबंध व स्मृतियों संबंधी साहित्य के साथ-साथ कुछ नाटक भी लिखे गये, तो दूसरी ओर अपभ्रंश मे जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत आख्यान एवं चरित्र काव्य अस्तित्व मे आये। संस्कृत के आचार्य सायण, माधव, देवल, कल्लूक, चन्देश्वर, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर व विश्वेश्वर आदि, तो जैन आचार्य स्वयंभू, पुष्पदंत, यश कीर्ति, एवं जयसिंह सूरी आदि भी इसी युग की देन थे। अरबी व फारसी मे अमीर खुसरो, शेख निजामुद्दीन औलिया, एवं अमीर हसन देहलवी आदि के अतिरिक्त वे विद्वान् भी थे जिन्होने ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की, तथा रामायण, उपनिषद्, महाभारत व ज्योतिष तथा आयुर्वेद के ग्रंथों के फारसी मे अनुवाद किये। हिन्दी मे अमीर-खुसरो व मुल्ला दाऊद आदि की रचनाओ के अतिरिक्त वीरगाथा काल का रासो साहित्य तथा जगनिक कवि का 'आल्ह-खण्ड' भी अस्तित्व मे आ चुका था। परन्तु इस समग्र साहित्य मे से प्राकृत या अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त कुछ छन्द आदि को छोडकर, कबीर का इससे कोई सीधा सम्बन्ध सिद्ध नही होता।

इसके अतिरिक्त 'प्राकृताभास हिन्दी' अथवा 'पुरानी हिन्दी' मे एक और प्रकार का साहित्य भी था, जिसमें श्वासनिरोध द्वारा षट्चक्रों के भेदन की अन्तर्मुखी साधना के महत्व तथा बाह्य-पूजा, जाति-पाँति तीर्थ-व्रतादिक के बाह्याचारों एवं शास्त्रज्ञों के प्रति तिरस्कार का प्रतिपादन किया गया था। 'जीवन की स्वाभाविक सरणियो, अनुभूतियों और दशाओ' के निरूपण से रहित, सिद्धों व नाथपंथियो के, इस साहित्य को आचार्य शुक्ल[1] ने शुद्ध साहित्य न मानकर साम्प्रदायिक-शिक्षा मात्र माना है, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे साहित्य-क्षेत्र से बहिष्कृत करने के पक्ष में नहीं है।[2] डा० शहीदुल्ला के सूचनानुसार 'दोहाकोश गीति' में दोहा, सोरठा, अडिल्ल, पादाकुल, गाथा (आर्या), रोला, उल्लाला, महानुभाव एवं मरहट्ठ छन्द प्रयुक्त हुए है।[3] सरहपाद ने

१. द्र०, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १९-२०।

२. द्र०, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ११।

३. द्र०, राहुल सांकृत्यायन : दोहाकोश, भूमिका, पृ० ६५-६६।

'वावनाक्षरी' लिखी है,[1] और अपने पदों मे उन्होंने गुजरी, देशाख, भैरवी एवं मालशी रागो का प्रयोग किया है।[2]

संक्षेप मे यह कि कबीर के पूर्ववर्ती, प्राकृत एव पुरानी हिन्दी के साहित्य में बारह-मासा, षट् ऋतु, बावनाक्षरी, सोलह तिथि, सात वार, एवं संवादात्मक काव्यरूपो तथा दोहा, चौपाई, रोला, सवैया, सोरठा आदि अनेक छन्दो का प्रचलन हो चुका था। सस्कृत के वर्ण-वृत्तो का स्थान, हिन्दी मे मात्रिक छन्द ले चुके थे, जो टेक आदि से युक्त होने के कारण अधिक संगीतमय व लोकप्रिय थे। पदो मे लोकगीतों का प्रभाव प्रविष्ट हो चुका था। साहित्य ब्राह्मणों के एकाधिकार और राजदरबारों की सीमाओ से मुक्त होकर जन-सामान्य मे प्रचलित होता जा रहा था। यद्यपि इस समय भी ट्रावनकोर से काश्मीर तक के विद्वानों एवं विचारको को एकता के सूत्र में बांधने वाली भाषा संस्कृत ही थी,[3] परन्तु 'देसल वयना सब जन मिट्ठा' का युग भी प्रारंभ हो चुका था। मैथिली, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, व्रज एवं अवधी आदि क्षेत्रीय भाषाओं मे काव्यरचना होने लगी थी।

कबीर की रचनाओ मे उनके सम-सामयिक साहित्य की अनेक विशेषताएँ एक या दूसरे रूप मे पाई जाती है। फिर भी उनके द्वारा स्वीकृत भाषाशैली, छन्द-विधान एवं काव्य-रूपों पर सिद्धो एवं नाथो के साहित्य का प्रभाव सर्वाधिक प्रतीत होता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार 'कबीरादि सतो को नाथपथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिए बहुत कुछ सामग्री और सधुक्कड़ी भाषा भी मिली,[4] तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर के पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढिविरोधिता, उनकी खण्डनात्मक-वृत्ति और अक्खड़ता आदि उनके पूर्व-वर्ती साधको—(सिद्धो एव नाथों) की देन है।[5] कबीर की उलट-बासियो का सम्बन्ध सिद्धों की संध्याभाषा से ही जोडा जाता है। संस्कृत को 'कूप-जल' बताकर लोकभाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाने मे उनके द्वारा सिद्धों के भाषा विषयक दृष्टिकोण का अनुसरण किया गया प्रतीत होता है। अत यह कहना उचित नही कि, 'कबीर का साहित्य से कोई सम्बन्ध नही था,'.......उनका जीवन साहित्य के जगत से एक प्रकार से विच्छिन्न ही था।'[6]

---

१. द्र०, दोहाकोश ४(ख) क-ख दोहा ॥ पृ० १३०-३९।

२ द्र०, वही, सरह के छंद, पृ० ३५८-६१।

३ द्र०, के०एम० पनिकर · ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १३९।

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०।

५. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ५३।

६. डा० गोविन्द त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० ९२।
डा० रामजीलाल सहायक : कबीर दर्शन, पृ० ५९-६०।

पूर्ववर्ती विवेचन में अखा का जीवन काल संवत् १६४५ वि० से सं० १७३० वि० निर्दिष्ट किया गया है। यह समय गुजरात मे मुगलशासन (सन्१५७३ई० से १७५८ई०) के मध्य पड़ता है। यहाँ इस अवधि को अकबर द्वारा गुजरात की अंतिम विजय सन् १५७३ ई० से औरंगजेब की मृत्यु सन् १७०७ ई० तक ही सीमित रखा गया है; क्योकि अखा का जीवन-काल इससे बाहर नही पड़ता। इस प्रकार अखा ने अपने जीवन-काल मे क्रमश अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब के शासनकाल देखे थे।

## (क) राजनीतिक परिस्थिति

अखा के जीवन-काल को एक ओर श्री के० एम० मुंशी ने जीवन मे निराशा, दु:ख एव परलोकाभिमुखता का समय,[1] श्री गोवर्धन राम त्रिपाठी ने राजनीतिक क्षुब्धता का युग[2] व कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने शासक वर्ग के अन्याय, दुराचार एवं अविवेकी दमन और शोषण से उत्पन्न असुरता का युग कहा है।[3] दूसरी ओर श्री उमाशंकर जोशी[4] एवं श्री नरसिंह राव दिवेटिया[5] ने श्री मुशी एव श्री त्रिपाठी के मन्तव्यो का खंडन किया है। उनके प्रयत्नों से भी जो कार्य शेप रहा उसे पूर्ण करते हुए डा० रमणलाल पाठक[6] ने तत्कालीन गुजरात राज्य मे शान्ति, सुव्यवस्था और समृद्धि का होना सिद्ध किया है।[7] कहना न होगा कि इस प्रकार के पूर्वग्रह से युक्त खंडन-मंडन में ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव ही हो सकता है।

वास्तविकता तो यही है कि महमूद शाह—तीसरा की मृत्यु ( १५६१ ई० ) के बाद गुजरात में भयकर अशान्ति उत्पन्न हो गई थी, और अकबर ने जब १५७३ ई० मे इसे, अपने दूसरे अभियान मे जीतकर, 'सलतनते मुगलिया' का एक प्रान्त बनाया, तब भी यहाँ शान्ति की स्थापना न हो सकी थी। सौराष्ट्र अभी भी अमीनखान घोरी आदि अमीरो के अधिकार मे था, जो उपद्रव करते रहते थे। मुजफ्फर शाह—तीसरा ने अकबर की जेल से छूटकर उपद्रवो की जो शृंखला रची थी उससे समस्त गुजरात व काठियावाड प्रभावित हुआ था। तदुपरान्त गुलरुम बेगम के आक्रमण, मुजफ्फर हुसैन मिर्जा द्वारा खंभात का घेरा, साबरकाठा के गरासियों, लूणी काठी, खेंगर भतीजों एवं मुजफ्फर शाह

१. दे०, गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर (१९५३ ई०), पृ० २२९-३०।
२. दे०, क्लासिकल पोएट्स आफ गुजरात (१९५८ ई०), पृ० २४।
३ दे०, अक्षयरस · प्रस्तावना, प० १-११।
४ दे०, अखो अेक अध्ययन (१९७३ ई०), पृ० ११९-४८।
५ गुजराती भाषा अने साहित्य : पुस्तक २ (१९५१ ई०), पृ० १६३।
६ दे०, सं० क०अ०जी०उ०हि०कृ०आ०अ० (अप्र०), पृ० ७८-७९।
७. दे०, वही, पृ० ८०-८६।

इत्यादि के उपद्रव, राजा टोडरमल की लगान-व्यवस्था मे उत्पन्न असंतोष, सुलतान वहादुर द्वारा सन् १५९४-९५ एव १६०५ ई० मे किये गये आक्रमण व लूट एवं सन् १६०९ में मलिक अवर द्वारा गुजरात की लूट आदि घटनाओ को देखते हुए लगता है कि सन् १६१४ ई० मे सुलतान वहादुर द्वारा की गई लूट के वाद ही गुजरात मे शान्ति की स्थापना सभव हो सकी थी।[1] यह शान्ति भी भय एवं त्रास पर आधारित सतही-शाति थी। किसी धार्मिक नेता के बरगलाने या किसी धर्मान्ध अधिकारी की नीति के कारण साम्प्रदायिक दगे भड़क उठते थे।

इसके अतिरिक्त १६२१ ई० मे जहाँगीर के विरुद्ध शाहजहाँ का विद्रोह, औरंगजेब की सूवेदारी के दो वर्षो ( १६४४-४६ ई० ) मे हुए साम्प्रदायिक दंगे, १६३५ ई० से १६४२ ई० तक कानजी कोली और काठी लोगों द्वारा चलाई गई लूट, १६४० ई० में नवानगर के जाम का उपद्रव, १६५७ई० मे अहमदाबाद के अमीरो से ली गई लम्वी रकमों के आधार पर एक विशाल सेना एकत्रित करके मुराद द्वारा की गई बगावत, १६६०, १६६६ एवं १६७० ई० मे शिवाजी द्वारा सूरत की लूट, उदयपुर के राणा नाना कुवर भीमसिंह द्वारा वडनगर व विसनगर आदि की लूट, एवं १६७९ ई० मे हुआ ईडर का विद्रोह आदि छोटी-मोटी ऐसी अनेक घटनाएँ है, जिनके कारण मुगल-काल मे भी गुजरात की शान्ति भग होती रही।[2] अत यह कहना ठीक नहीं कि अखा के समय में गुजरात मे शाति, सुव्यवस्था और समृद्धि थी,[3] और न यह कहना ही ठीक होगा कि इन घटनाओ का गुजरात पर नही के वरावर प्रभाव पड़ा था।[4]

चित्तौड-विजय के समय वहाँ के ३० हजार हिन्दुओं की निर्मम हत्या करके अकबर ने अपनी सहिष्णुता की नीति को हास्यास्पद ही सिद्ध (देखे : मुगल एम्पायर : एस०आर० शर्मा, पृ० २६०-६१) किया था। फिर उसने हिन्दुओं के प्रति जिस उदारता का परिचय दिया था, जहाँगोर ने उसे आशिक रूप मे ही अपनाया। अकवर द्वारा स्थापित 'इबादत खाना' को उसने वन्द करा दिया था। 'इन्तखावे जहाँगीरी' के अनुसार उसने गुजरात के जैनो का दमन करने का आदेश जारी किया था।[5] गुरु अर्जुन सिंह की हत्या, कागडा के मदिरो मे वैल कटवा कर उन्हे अपवित्र करना, और वहाँ के किले मे गाय कटवाकर वहाँ मस्जिद वनवाना, पुष्कर (अजमेर) को तुडवा देना आदि उसकी धर्मान्धता के प्रमाण है। यह धर्मान्धता शाहजहाँ मे भी विद्यमान थी। अन्य धर्मो का दमन कर इस्लाम की

---

१ विशेष के लिए दे०, गुजरातनुं सांस्कृतिक इतिहास : इस्लाम युग, खंड ४।

२. विशेष के लिए दे०, वही, एवं गुजरातनो अर्वाचीन इतिहास, पृ० ७५-११८।

३. दे०, उमाशंकर जोशी . अखो अेक अध्ययन (१९७३ ई०), पृ० ११९।
दे०, डा० रामकुमार गुप्त · गुजरात के संतों की हिन्दी साहित्य को देन, पृ० ३८।

४. दे०, डा० रमणलाल पाठक : अखो अेक स्वाध्याय, पृ० ६७।

५. दे०, इलियट एण्ड डाउसन : दि हिस्ट्री आफ इडिया, वाल्यूम ६, पृ० ४५१।

वृद्धि करनेवाला वह (शाहजहाँ) प्रतिक्रियावादी पैगम्बरी उत्साह से युक्त था। वह दारा और औरंगजेब दोनों ही था।[1] इससे सिद्ध है कि धार्मिक असहिष्णुता का अस्तित्व इस युग में भी, न्यूनाधिक मात्रा में, आदि से अंत तक रहा था।

औरंगजेब ने अपनी सूबेदारी के समय गुजरात में हिन्दुओं के मंदिरों को मस्जिदों मे बदल देने के प्रयत्न किये थे।[2] बादशाह होने पर उसने जिस धर्मान्धता को अपनाया था, इतिहास उसका साक्षी है। अत. यह मान्यता अनैतिहासिक है कि गुजरात के प्रति औरंगजेब का विशेष आकर्षण था।....मुसलमान बादशाहों की गुजरात के प्रति विशेष सहानुभूति थी।[3] न यह कहना ही ठीक है कि मुगल शासक यहाँ की जनता से इतना नही टकराते थे जितना वे आपस में झगडते थे।...वे यहाँ की जनता के साथ अनुकूलता, सुसवादिता और घरेलू सम्बन्ध स्थापित करने की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त थे।[4]

मुगल-काल में धार्मिक पक्षपात व्यापार एव न्याय के क्षेत्र मे भी व्याप्त था। शहर-कर के रूप मे अहमदाबाद के मुसलमान व्यापारी ढाई प्रतिशत और हिन्दू व्यापारी पाँच प्रतिशत कर भरते थे।[5] मुगल बादशाह यद्यपि न्याय-प्रिय थे, किन्तु काजियों का न्याय साम्प्रदायिक-पक्षपात से मुक्त न होता था। हिन्दुओं के आपसी झगड़ों के लिए यद्यपि पृथक् न्याय-व्यवस्था थी; किन्तु हिन्दू और मुसलमान के झगड़ों मे न्याय दूसरे के पक्ष मे निर्णय देने का अभ्यस्त हो चुका था। अत. राजनीतिक दृष्टि से जनता मे 'कोउ नृप होय हमै का हानी' की उदासीनता घर कर चुकी थी। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि औरंगजेब के शासन के प्रारंभिक वर्षों तक मुगलों की यह नीति अवश्य थी कि यदि कोई खटपट न करें; और कर भरते रहें; तो हिन्दुओं को जीवित रहने दिया जाय। मुगल-कालीन गुजरात मे व्याप्त शांति को इसी रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि मुगलों के शासन मे अफगानों व तुर्कों के क्रूर व अस्थिर शासन की अपेक्षा यद्यपि कुछ सहिष्णुता, स्थिरता एवं व्यवस्था थी; किन्तु इस समय भी हिन्दू-शासकों के राज्यो मे, फिर चाहे वे मुगलों के अधीनस्थ ही क्यों न हों, प्रजा जितनी सुखी व सुरक्षित थी उतनी मुगलों व उनके प्रान्तीय सूबेदारों के शासन मे न थी। अतः इस युग की राजनीतिक स्थिति के विषय मे श्री मुंशी आदि उपर्युक्त विद्वानो के कथन सत्य के निकट है।

'संतन को कहा सीकरी सौ काम' के युग में प्रवर्तमान अखा की रचनाओ में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के उल्लेख अधिक नही मिलते। फिर भी 'अनुभविंदु' के एक

---

१. के०आर० कानूनगो : हिस्टॉरिकल एसेज, पृ० ६५-६६।

२. दे०, यदुनाथ सरकार : औरंगजेब (हिन्दी संस्करण, १९५१ ई०), पृ० १९३।

३. डा० रामकुमार गुप्त : गुजरात के संतों की हिन्दी साहित्य को देन, पृ० ३८।

४. दे०, रमणलाल पाठक : अखो अेक स्वाध्याय, पृ० ६७।

५. दे०,एम०आर० मजूमदार : कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात,(१९६५ई०) पृ० ७०।

छप्पय[1] मे अपने ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ भ्राता और तात की मृत्यु चाहने की, किसी राजकुमार की, जिस नीति का उल्लेख उन्होने किया है उसका संकेत औरंगजेब द्वारा स्वीकृत नीति की ओर होने की संभावना है । अपने एक भजन[2] मे उन्होने कायानगरी के अप्रबुद्ध या कुढंगे राजा(मन,का जो वर्णन किया है, उससे तत्कालीन अव्यवस्था, असुरक्षा, एवं अंधाधुंधी-जनक किसी स्थिति का संकेत ग्रहण किया जा सकता है । तदुपरान्त उन्होंने कुछ छप्पाओ मे आदर्श राज-व्यवस्था की ओर भी संकेत किये है, जिनमें कहा गया है कि जैसे छोटे-मोटे अधिकारियो की सत्ता का स्रोत एक अधिपति या सम्राट् होता है वैसे ही विभिन्न मत,पथो मे स्वीकृत देवों की सत्ता का स्रोत ब्रह्म है । जैसे एक राजा के राज्य में विविध मत, वर्ण एवं पथो की प्रजा सुख से रहती है वैसे ही ब्रह्म के साम्राज्य मे विविध धर्म एवं संप्रदाय है । दंभी व दुराचारी शासक की सभी लोग निन्दा करते है और प्रजा से मिलकर चलनेवाले की सारा शहर प्रशंसा करता है ।[3] इससे मुगल काल मे स्थापित कुछ शान्ति एवं व्यवस्था के संकेत ग्रहण किये जा सकते है ।

### आर्थिक परिस्थिति

समुद्री किनारो के कारण विदेशी व्यापार के लिए सानुकूल भौगोलिक स्थिति, उपजाऊ-भूमि एवं गृह-उद्योगो के कारण गुजरात, देश के अन्य प्रान्तो से कुछ अधिक समृद्ध तो सदैव से ही रहता आया है और आज भी है । किन्तु श्री के०एम० मुशी, श्री उमाशंकर जोशी एव डा० रामकुमार गुप्त आदि ने अखा के समय की गुजरात की समृद्धि के जो आकर्षक वर्णन प्रस्तुत किये है वे कुछ वैसे ही भ्रामक है जैसे कि डा० रमणलाल पाठक द्वारा किये गये प्रयत्न है । विद्वान लेखक ने इतिहास-ग्रथो के प्रमाण से अहमदाबाद शहर, वहाँ को मस्जिदो, ब ग-बगीचो एवं वहाँ की टकसाल मे ढले सिक्को को गुजरात की जनता की सुख-शान्ति एवं समृद्धि का प्रतीक माना है, और तत्कालीन काव्य-ग्रथो के प्रमाण से 'नगर वर्णन' सम्बन्धी कतिपय उद्धरण देकर प्रजा की सुख-समृद्धि सिद्ध कर दी है ।[4] कहना न होगा कि न तो अहमदाबाद समस्त गुजरात हो सकता है, न कुछ धनी व्यक्ति गुजरात की जनता हो सकते है. न सिक्के आदि प्रजा की समृद्धि के प्रतीक हो सकते है और न यही भुलाया जा सकता है कि मध्यकालीन कवियों के द्वारा 'नगर-वर्णन' कुछ काव्यरूढियो—जैसे कि चारों वर्णो का मिल-जुलकर रहना, वहाँ के नागरिको

---

१ दे०, जेम राजपुत्रनो न्याय उपाय त्या तेमज करवो ।
ज्येष्ठ कनिष्ठ भ्रात तात लगि वाछे मरवो ।। अनुभव बिंदु छप्पा, २१ ।

२. दे०, अक्षयरस . हिन्दी भजन संख्या ६ ।

३. दे०, छप्पा सख्या ६८७-८९ ।

४. दे०, स० अ० जी० उ० हि० कृ० आ० अ० (अप्र०), पृ० ८४-८८
एवं अखो अेक स्वाध्याय, पृ० ६७-६८ ।

का समृद्ध व राग-रंग प्रिय होना आदि—के आधार पर किया जाता था न कि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर। अतः डा० पाठक के एतद्विषयक निष्कर्ष विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। वस्तुतः उस समय खेती, व्यापार, लघु-उद्योग एवं सरकारी नौकरियाँ आदि जो यहाँ की जनता की आय के मुख्य साधन थे, उनके अनुशीलन द्वारा ही सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है।

(१) **खेती**—गुजरात की ७० प्रतिशत जनता गाँवों मे बसती आयी है, और अपनी जीविका के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से खेती पर निर्भर रहती आयी है। उस समय भी यही स्थिति थी। कुएँ के अतिरिक्त सिंचाई के अन्य साधनों के अभाव मे खेती वर्षा पर निर्भर थी। अतिवृष्टि और अनावृष्टि के वर्षों में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। 'संवत् १६३०, १६६१, १६८७, १७२९ एवं १७७५ विक्रमी मे यहाँ भीषण अकाल पडे थे। ऐसी स्थिति मे यहाँ की जनता स्थलान्तर करती रहती थी।[1] जो एक समृद्ध प्रजा का लक्षण नहीं हो सकता। उस समय यदि यहाँ की सामान्य जनता समृद्ध होती तो १६३२ ई० के एक ही साल के अकाल मे माताएँ अपने बच्चों को बेचने या उनके मांस से अपनी उदरपूर्ति करने को विवश न होती, आटे मे हड्डियों का चूरा और नर-मास के बाजार मे बिकने की करुण-स्थिति इतिहास के पृष्ठों पर अंकित न होती।[2] इन अकालों के पीछे महामारियाँ भी लगी रहती थीं। तदुपरान्त १५९० ई० मे गुजरात में महामारी व १६१८ ई० में भयंकर प्लेग फैला था। दोनों ही का यहाँ की जनता पर विनाशक प्रभाव पडा था।

टोडरमल की लगान-व्यवस्था के अनुसार उपज का एक-तिहाई भाग लगान मे देकर शेष दो-तिहाई मे से साहूकार की लागत और धोबी, कुम्हार, बढई, नाई, चमार एवं पंडित आदि को देकर किसान के पास केवल २७ प्रतिशत अनाज बचता था।[3] शाहजहाँ की फिजूलखर्ची के परिणामस्वरूप लगान बढाया गया।[4] औरंगजेब ने उसे उपज का आधा कर दिया था।[5] ध्यान देने की बात यह है कि आईने अकबरी के अनुसार उपज का एक-तिहाई लगान भी इतना अधिक समझा गया कि किसानो का बोझ कम करने

१ १७२९ विक्रमी के अकाल से प्रभावित होकर प्रेमानन्द को उदरपूर्ति के लिए नंदरबार से सूरत जाना पड़ा था। विशेष के लिए द्रष्टव्य : कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० ५८-६०।

२. दे०, इलियट एण्ड डाउसन . दि हिस्ट्री आफ इंडिया : वाल्यूम २, पृ० ३२।
कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥ तुलसी : मानस, उ० काण्ड, १००-१०।

३. डा० ताराचन्द सोसाइटी एण्ड दी स्टेट इन दी मुगल पीरियड, (१९६१ ई०), पृ० ५३।

४. एडवर्ड एण्ड गैरेट : मुगल रूल इन इंडिया, (१९६२ ई०), पृ० १७९।

५. डा० ताराचन्द : सोसाइटी एण्ड दी स्टेट इन दी मुगल पीरियड, पृ० ५२।

के लिए छोटे-मोटे ४० कर मुआफ किये गये थे। औरंगजेब ने ये सभी फिर से लगा दिए थे। तदुपरान्त अधिकारियो के स्वयं के कुछ कर, नजराने, रिश्वत आदि भी प्रचलित थे। फलत: किसानो पर कर सदैव बाकी रहने लगा—वे खेती छोडकर निकटवर्ती हिन्दू राज्यों मे भागने लगे तो १६६८ ई० मे अधिकारियो को किसानो को कोडे मारकर उन्हे खेती करने के लिए विवश करने के अधिकार दिये गये थे।[1] गुजरात के किसानों की स्थिति इसके विपरीत रही होगी ऐसा मानने का कोई कारण नही है।

**व्यापार**—अपेक्षाकृत शान्ति एवं व्यवस्था के कारण गुजरात के बन्दरों से होनेवाले विदेशी व्यापार मे कुछ वृद्धि हुई थी; किन्तु अकबर द्वारा कुछ छोटे-मोटे करों को मुआफ करने के अतिरिक्त, इसके प्रोत्साहन के लिए पूरे मुगल काल मे कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया गया। अकबर के गद्दी पर बैठने के पूर्व से ही समस्त समुद्री मार्गों पर पुर्तगालियो का एकाधिकार हो चुका था जिसे कोई मुगल बादशाह दूर न कर सका। सन् १६०८ से १६१३ ई० के समय मे सूरत, खंभात, गोधरा एवं अहमदाबाद मे अंग्रेजों ने कारखाने स्थापित कर लिये थे। मुगलो ने उन्हे करो मे भारी छूट दे रखी थी। परिणामस्वरूप स्वदेशी व्यापार को हानि पहुँचना स्वाभाविक था। इतने पर भी व्यापार और व्यापारी की सुरक्षा प्रान्तीय सूबेदारो पर निर्भर थी। किसी भी वस्तु को सस्ते दामो मे खरीद कर, उसके व्यापार पर एकाधिकार प्राप्त कर, उसे महँगे दामों में बेचने के लिए वे स्वतत्र थे।[2] फिर भी इतना सत्य है कि गुजरात की कथित समृद्धि का मूलाधार यह व्यापार ही था। किन्तु यह भी अविस्मरणीय है कि यह समृद्धि अहमदाबाद, सूरत, भडोच, खभात एवं बडोदा जैसे १० या १२ शहरों के व्यापारियो तक ही सीमित थी।

**उद्योग एवं नौकरियाँ**—लघु-उद्योग के रूप मे यहाँ कपडे बुनना, रँगना, छापना, कसीदा, बारूद, बन्दूक एव नावें बनाना और नील का उत्पादन आदि प्रचलित थे। किन्तु इन कामों को करनेवाले कारीगरों की स्थिति अच्छी न थी। एक तो उन्हे धन्धे के अनुसार भारी कर भरने पडते थे, दूसरा, उन्हें ऋण देने वाले पूंजीपति और इनसे बेगार लेने वाले अधिकारी इनका शोषण करते रहते थे। सरकारी नौकरियों मे लगान-विभाग के निम्न पदो के अतिरिक्त हिन्दुओ के लिए कोई व्यापक क्षेत्र न था। यह कथन भी अनैतिहासिक है कि—'अपने युद्ध-कौशल के कारण सैन्य मे 'गुजराती-दल' विशेष रूप से रखा जाता था।'[3] सत्य यह है कि स्वयं अकबर महान की सेना मे ७० प्रतिशत विदेशी मुसलमान थे। शेष तीस प्रतिशत मे देशी मुसलमान व राजस्थान के राजपूत थे।[4]

---

१. एडवर्ड एण्ड गैरेट : मुगल रूल इन इंडिया, पृ० १९०।

२. दे०, वही, पृ० १९०।

३. डा० रमणलाल पाठक : सं० क०अ०नी०उ०हि०कु०आ०अ०, (अप्र०), पृ० ८५।

४. दे०, एडवर्ड एण्ड गैरेट : मुगल रूल इन इडिया (१९६८ ई०), पृ० ११३।

गुजरात से उन दिनों राजपूत अन्य राज्यों मे चले गये थे। शेष गुजराती लोग, कुछ अपवादों को छोडकर, सैन्य के न योग्य होते थे, न इच्छुक।[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर गुजरात को तत्कालीन जनता को उसकी आर्थिक स्थिति के अनुसार तीन वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग मे धनाढ्य व्यापारियों और सरकारी उच्च अधिकारियो को सम्मिलित किया जा सकता है। ये लोग शिक्षित किन्तु विलासी होते थे। दूसरे वर्ग मे साक्षर या निरक्षर ऐसा व्यापारी वर्ग था जो पैसों की दृष्टि से तो सुखी था किन्तु सादे व छोटे घरों मे रहता था। हमेशा समयानुसार चलने वाला, जिसके हाथ में डंडा हो उसे नमस्कार करने वाला सत्ताधारियों को चाहे जैसे संतुष्ट कर अपने जान-माल की रक्षा चाहने वाला, बलहीन एवं ढीला। तीसरा बहुसंख्यक वर्ग किसानों, जुलाहो, मजदूरों, आदिवासियों एवं गुलामो आदि का था। यह वर्ग निरक्षर व निर्धन था। अखा का संबंध दूसरे वर्ग से था। यद्यपि जेतलपुर मे रहने तक उनकी आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नही रही होगी। उनका व्यावसायिक सम्बन्ध मुख्यतः तीसरे वर्ग से ही रहा होगा, अहमदाबाद मे रहने व टकसाल की नौकरी करने के कारण प्रथम दो वर्गों के कतिपय व्यक्तियो से सम्बन्ध होने की भी सभावना की जा सकती है।

उनकी रचनाओ मे तत्कालीन आर्थिक स्थिति के विशेष उल्लेख उपलब्ध नही होते किन्तु कुछ ऐसे उल्लेख अवश्य है कि उन दिनों लोग धन को सर्वाधिक महत्व देने लगे थे।[2] धन के सहारे धनी लोग और अधिक धनी होते जा रहे थे।[3] निर्धन व्यक्तियों की नारियाँ काँच व कथीर के अलंकार पहनती थी।[4] धनी-वर्ग सोने के आभूषण पहनता था किन्तु देव-मूर्तियाँ पीतल की बनवाता था।[5] कबीर की तरह इनकी रचनाओ मे भी संतोष-वृत्ति पर भार दिया गया है, संभवतः वह निम्नवर्गीय लोगों की स्थिति के निराकरणस्वरूप हो।

**सामाजिक परिस्थिति**

आर्थिक असमानता के कारण व्युत्पन्न वर्ग-भेद एवं हिन्दू व मुसलमानो के दो समानान्तर समाजों की स्थापना का उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों मे हो चुका था। अन्तर्जातीय सम्बन्धों, व्यवसायों तथा युद्ध, अकाल व व्यापार आदि के कारण किये गये स्थलान्तरों, आदि कारणों से हिन्दू समाज मे अनेक जातियाँ एवं उप-जातियाँ व्युत्पन्न होती जा रही

---

१. दे०, एम०आर० मजूमदार : कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० १३३।

२. नाथ अधिक नही नार तें धन आगे धर्म नीच।अक्षयरस.लंपट अग सा० ७,पृ० २३४

३. अखा धनवंत पुरुष ने धन वडे वाधे धन ॥ श्री अखाजीनी साखियो : अथ कुमुद अग, सा० ५, पृ० १०।

४. अक्षयरस : आत्मज्ञान को अंग, सा० १, पृ० १७४।

५. दे०, छप्पा।

थी। 'विमल प्रबंध' (रचना-काल १५०९ ई०) मे वर्णो की संख्या अठारह बताई गई है। अखा की एक उक्ति ( छ० ५५२ ) से भी यही ध्वनि निकलती है।[1] 'मिराते अहमदी' (रचना १७५६-६०ई०) मे अहमदाबाद मे १०४ प्रकार के ब्राह्मण, ८४ प्रकार के वैश्य, तथा अन्य सैकडो जातियों एव उप-जातियो का उल्लेख किया गया है।[2] छूआछूत की भावना भी यहाँ अपने उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। गुजरात के प्रसिद्ध 'भवईकार' (स्वाग या रूपक लेखक) असायत (सं० १४२७वि०) को सिद्धपुर के ब्राह्मणो ने इसलिए जाति से वहिष्कृत कर दिया था कि उसने किसी मुसलमान सरदार के चंगुल से अपने किसी पटेल मित्र की कन्या को छुडाने के लिए उसे अपनी कन्या बताकर उसके साथ भोजन कर लिया था।[3] नरसी मेहता ( सं० १४७१-१५३६ वि० ) को 'ढेड़वाडे' में कीर्तन करने जाने के लिए ब्राह्मणो ने परेशान किया था।[4]

उच्च वर्ग विलासिता मे डूबा हुआ था। 'बडे लोग सुन्दर पोशाक, उत्कृष्ट मदिरा, षट्रस भोजन,नृत्य, गायन और जुए मे रुपये को पानी की तरह बहाने मे गौरव अनुभव करते थे।'[5] मुगल बादशाहों एव अमीरों के घरों मे स्त्रियो को संख्या हजारों मे होती थी। 'आईने अकबरी' के लेखक के अनुसार अकबर महान के हरम मे ५००० स्त्रियाँ थी।[6] हाप्किन्स के अनुसार उन पर ३०,००० रु० रोजाना खर्च होते थे। सुन्दरी मिहरुन्निसा की प्राप्ति के लिए जहाँगीर द्वारा अपने विश्वस्त सरदार शेर अफगन की हत्या भी इतिहासप्रसिद्ध है। सब मिलाकर यह कि भूपति हो या भूदेव, अधिकारी हो या व्यापारी, जहाँ कही भी प्रजा का धन एकत्रित हो रहा था स्वर्ग को जमीन पर उतारा जा रहा था।[7] महलो व मंदिरो की विलासिता मे, अन्तर केवल इतना ही था जितना कि 'नर्तकी' और 'कीर्तन' शब्दों की रचना मे है। निम्न वर्ग की नैतिकता बड़ी सस्ती थी। एक ही अभावग्रस्त साल मे उनके धर्म व ईमान के बिकने मे देर न लगती थी।[8] मध्यम वर्ग अवश्य नैतिकता का पालन कर रहा था किन्तु वेश्याओ के दरवाजे उनके लिए

१. 'अष्टादश वर्णे आवर्या', छ० ५५२।
२. दे०, मिराते अहमदी सैयद नवाब अली द्वारा अनूदित(१९२४ई०), पृ० १२६-३३।
३. दे०, के०का० शास्त्री : कवि चरित्र।
४. दे०, वही।
५. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० ४२५।
६. आर०सी० मजूमदार एण्ड राय चौधरी : एडवास हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ५६६।
७. 'शाहजहाँ' ने दिल्ली किले के दीवाने खास मे स्वर्णाक्षरों मे लिखवाया था कि पृथ्वी पर अगर कही स्वर्ग है तो वह यही है : 'अगर फिरदौस बर रूए जमीं अस्त। हमीं अस्त ओ हमी अस्त ओ हमी अस्त।'
८. दे०, एम०आर० मजूमदार : कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० ५७।

भी खुले थे। फिर भी मुसलमानों की तुलना मे सामान्य हिन्दू जनता के नैतिक जीवन का स्तर बहुत ऊँचा था।

राजा व प्रजा के नैतिक अधःपतन के इस युग मे स्त्रियों की शोचनीय स्थिति का पता सहज ही लगाया जा सकता है। 'मीना' बाजारों मे उनके क्रय-विक्रय के उल्लेख इतिहासप्रसिद्ध हैं। मुगल काल में स्त्री-शिक्षा का यत्किंचित् अस्तित्व अवश्य था। अमीरो व बादशाहों एवं धनी वर्ग के लोगो के घरों में उनकी शिक्षा की व्यवस्था व्यक्तिगत शिक्षकों द्वारा की जाती थी। ऐसा भी अनुमान कर सकते है कि मध्यम वर्ग की लड़कियाँ लड़कों के साथ ही प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करती थी जिनमे से कुछ धार्मिक साहित्य से भी परिचित होती थी।[1] फिर भी सामान्य स्थिति तो इस दृष्टि से शोचनीय ही थी। गुजरात मे बाल-विवाह, लडकियों की बाल-हत्या, एव दहेज आदि सभी दूषण प्रचलित थे।[2] सती एवं जौहर प्रथा, पूर्ववत् प्रचलित थी। ब्राह्मणेत्तर जातियो, विशेषकर पंजाब एवं यमुना के तटवर्ती जाटो मे विधवा-विवाह मान्य था।[3] अकबर ने स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए बाल-विवाह, दहेज, एवं बहुपत्नीत्व[4] तथा सती-प्रथा[5] पर प्रतिबंध लगाने के असफल प्रयत्न किये थे। इस असफलता के सभावित कारण स्त्रियो का पुरुषो पर अवलम्बित होना और समाज का रूढिग्रस्त होना आदि रहे होगे।

यद्यपि अकबर ने आगरा व फतहपुर सीकरी मे महाविद्यालयो एवं अन्य स्थानों पर कुछ 'मदरसो' ( प्राथमिक शिक्षा-केन्द्रो ) की स्थापना की थी,[6] फिर भी सामान्य जनता की शिक्षा का प्रबंध धनी वर्ग के दान आदि से मंदिरों व मस्जिदों मे संचालित प्राथमिक शिक्षा-केन्द्रो से होता था।[7] जिन्हें क्रमशः 'चटसाल' व 'मदरसा' कहा जाता था। इनमे संबंधित धर्म की कुछ शिक्षा के साथ प्रान्तीय भाषा, हिन्दवी एवं फारसी तथा प्रायमिक अंकगणित आदि की शिक्षा दी जाती थी।[8] अखा की प्राथमिक शिक्षा किसी ऐसी ही चटसाल मे हुई होगी। उच्च शिक्षा का प्रचार ब्राह्मणों एवं कायस्थों में ही था। व्यापारी वर्ग 'हिसाब-किताब' कर सकने की योग्यता प्राप्ति तक ही पढ़ता था। उल्लेखनीय यह है कि यद्यपि बनारस हिन्दू-धर्म की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र तो सदैव से ही रहा था किन्तु सोलहवी शताब्दी मे वह भारतीय संस्कृति का ज्योतिर्मय केन्द्र फिर

---

१. आर०सी०मजूमदार एण्ड राय चौधरी एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ५७९।
२ दे०, एम०आर० मजूमदार : कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० १५०-५१।
३. वही, पृ० ५६८।
४. वही, पृ० ५६८।
५. सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० ४२५।
६. एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ५७८।
७. दे०, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० ४१५।
८. दे०, बनारसीदास कृत 'अर्ध कथानक'।

से वन गया था। देश के समस्त भागो से आए अनेक विद्वान् अध्यापकों व विद्यार्थियो से युक्त विश्वविद्यालय के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा के यहाँ अन्य भी अनेक केन्द्र थे। वर्नियर के अनुसार 'गगा के किनारे स्थित यह सुन्दर नगर भारत का एथेन्स था। शिक्षा-पद्धति पुराने ढंग की थी। जिसके अनुसार धार्मिक गुरु शहर के आस-पास के बगीचो मे चार, छः या सात अधिक से अधिक बारह शिष्यों को शिक्षा देते थे।[1] काशी की यही स्थिति अखा के वहाँ जाने मे प्रेरक रही होगी।

'रहन-सहन' की दृष्टि से धनो-वर्ग के वैभव या 'ठाट-बाट'-पूर्ण विलासी एवं मध्यम-वर्ग के समयानुसारी, जीवन-यापन के सकेत पूर्ववर्ती पृष्ठो में किये जा चुके है। निम्न वर्ग का खान-पान एवं रहन-सहन निम्न कोटि का होता था। 'पर्याप्त कपड़े उनके पास नही होते थे, ऊनी वस्त्र व जूते खरीदना उनकी सामर्थ्य से बाहर था।' फ्रान्सीसी पेल्सर्ट (जहाँगीर के समय) के अनुसार श्रमिक, निम्नस्तर के कर्मचारी एवं दुकानदार कहने के लिए तो स्वतंत्र थे किन्तु वास्तव मे स्वस्वीकृत गुलामी का जीवन बिता रहे थे।[2] प्रांतीय गवर्नरो द्वारा परेशान किये जाने के कारण, शाहजहाँ के शासन के अतिम वर्षों मे, किसानों की स्थिति भी दरिद्रता में बदलने लगी थी।[3] जैसा कि पूर्ववर्ती पृष्ठों में सकेत किया जा चुका है भारतीय रक्त से मिश्रित होकर, मुस्लिम-समाज, अपनी रक्तगत शुद्धता को भी खो बैठा था।[4] यह स्थिति नवनिर्मित मुस्लिम समाज की ही नही, प्रत्युत समस्त वर्गों की मुस्लिम जनता की हो गई थी।[5] तदुपरान्त उसमें अरब, तुर्क, पर्शियन, मुगल, पठान, सैयद, शेख, वोरा, मोमिन, मतिया, शिया, सुन्नी आदि के भेद, जाति-भेद का स्वरूप ग्रहण कर चुके थे और ये सब परस्पर भेद-भाव रखने लगे थे।[6] इनके नैतिक पतन का उल्लेख हो चुका है, स्त्रियों की दशा इस समाज में हिन्दुओं से भी अधिक गिरी हुई व निराशाजनक थी। बहुपत्नीत्व एवं गुलाम रखना इस समाज की सामान्य विशेषता थी।[7] फिर भी गुलामों की संख्या मे कुछ कमी अवश्य हुई थी।

हिन्दू साधुओ मे और मुसलमान पीर व फकीरों मे श्रद्धा का भाव रखते थे। तेवर्निये नामक फ्रेन्च यात्री ने लिखा है कि 'इस देश मे आठ लाख मुस्लिम फकीर और

---

१. दे०, के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १७४-७५।

२. आर० सी० मजूमदार एण्ड राय चौधरी : एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ५६६-६७।

३. वही, पृ० ५६७।

४. दे०, डा० मदनगोपाल गुप्त, म०हि०का०भा०सं०, पृ० १४०।

५. दे०, डा० यदुनाथ सरकार : मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ० २४६।

६. दे०, डा० ताराचन्द : सोसाइटी एण्ड दी स्टेट इन दी मुगल पीरियड, पृ० ३१।

७. दे०, एडवर्ड एण्ड गेरेट : मुगल रूल इन इंडिया, पृ० १७४-७६ एवं १३४।

बारह लाख हिन्दू-साधु हैं, जो भिक्षा द्वारा निर्वाह करते हैं।[1] मुगल बादशाहों में प्रचलित तुलादान की प्रथा औरंगजेब ने बन्द की थी। जहाँगीर के दरबार मे अनेक ज्योतिषी रहते थे। सन् १६७२ ई० मे नारनौल के सतनामियों से औरंगजेब को सेना की हुई पहली हार और बाद की विजय मे एक-दूसरे के मंत्र-तंत्र ही मुख्य माने गये थे।[2] अतः स्पष्ट है कि उस समय सभी धर्म व जाति के लोग ज्योतिष एवं मंत्र-तंत्र तथा भूत-प्रेत आदि मे अंधश्रद्धा रखते थे। अन्य अनेक सामाजिक विकृतियाँ भी दोनों ही समाजो मे प्रवर्तमान थी।

उल्लेख्य यह है कि मुगलकाल मे साहित्य, संगीत, चित्र-कला, स्थापत्य, खान-पान, वस्त्रालंकार आदि के क्षेत्रों मे दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरी से विशेष रूप से प्रभावित हुईं। अकबर की उदार-नीति का व्यापक प्रभाव सामाजिक क्षेत्र मे भी देखा गया। हिन्दू-मुसलमान दोनो मे कुछ निकट के सम्बन्धों की स्थापना हुई।[3] किन्तु कट्टरपंथी मुल्लाओ व पडितो के आवश्यक सत्कार के अभाव एवं औरंगजेब की भेदभाव की नीति के कारण इस स्थिति के स्थायी परिणाम न निकल सके।

अखा ने एक तो समकालीन समाज में व्याप्त अंधविश्वासो[4], धन-लोलुपता[5], छल-कपटपूर्ण व्यवहार[6], विलासिता[7] एव अन्य विकृतियों की एक समाज-सुधारक की दृष्टि से आलोचना की है, दूसरे तत्कालीन आमोद-प्रमोद के साधनो[8], लोक-विश्वासो[9], सामाजिक प्रसंगों एवं व्यवसायों आदि का उपयोग अपने कथ्य की स्पष्टता के लिए किया है। अत: कहा जा सकता है कि वे समकालीन समाज से यथेष्ट रूप मे प्रभावित हुए थे।

**धार्मिक परिस्थिति**

इस युग की धार्मिक स्थिति के विवरण मे अकबर द्वारा स्थापित ( १५७५ ई० ) 'इबादतखाना' एवं उसकी प्रवृत्ति अविस्मरणीय है। 'इबादतखाने' मे होनेवाले धार्मिक

---

१. दे०, सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० ४१५।
२. दे०, यदुनाथ सरकार : औरंगजेब (१९५१ ई०), पृ० २०२-२०३।
३. दे०, डा० मदनगोपाल गुप्त : मध्यकालीन हिंदीकाव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० १५१-७९।
आर०सी० मजूमदार एण्ड राय चौधरी: एन एडवास हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ५६६।
४. अ०र० कुमति अंग, सो० ३० एवं ३३ चित्त विकार अंग, सा० १२।
५. वही, लंपट अंग, सा० ७।
६. वही, क्रमजड़ अंग सा० ६, आस को अग सा० ६, वीटंड अंग सा० ११।
७. वही, सती को अंग सा० १, आसा को अंग सा० १ एवं २०।
८. वही, जकड़ी २५, शब्द परीक्षा अंग सा० १०, भजन ११।
९. छप्पा ४४७, ४४९, अखोगीता क० १६, अ०र० रामपरीक्षा अंग सा० ११।

विवेचन मे देश के सभी भागों से विभिन्न धर्मों के विद्वान् भाग लेते थे। गुजरात से 'हीर विजय सूरी' (सं० १६३५ वि०) जैन धर्म के और दस्तूरजो महेर जी राणा 'जरथुस्त' धर्म के प्रतिनिधि के रूप मे फतहपुर-सीकरी गये थे।[1] इन धार्मिक वाद-विवादों में विद्वानो द्वारा एक-दूसरे के प्रति व्यक्त किये जानेवाले अविवेकपूर्ण एवं हिंस्र उद्गारो के विपय मे बदायूंनी ने लिखा है— विद्वान् लोग परस्पर विरोध और मतभेद के रण-क्षेत्र मे अपनी जिह्वा रूपी तलवारें खीचकर युद्ध करते थे। मत-मतान्तरो का विरोधी भावना इतनी प्रबल थी कि वे एक-दूसरे को अज्ञानी और नास्तिक कहकर पुकारते थे।[2] खण्डन-मण्डन की यह प्रवृत्ति हिन्दू, मुसलमान, जैन, ईसाई एवं पारसी आदि धर्मों के मध्य ही नही वरन् हिन्दू-धर्म के ही अनेक मतवादों मे भी विद्यमान थी। भक्ति के विभिन्न आचार्यों के मत तो पहले ही अस्तित्व मे आ चुके थे; 'पुष्टिमार्ग' का विकास इस युग में हुआ। हिन्दी मे कबीर, सूर, नन्ददास एवं तुलसीदास तथा गुजराती मे अखा परमानन्द एवं दयाराम आदि के काव्य 'निर्गुण-सगुण', द्वैत-अद्वैत', 'भक्ति-ज्ञान' एवं 'शिव तथा विष्णु' आदि से संबधित विवादो की स्पष्ट छाप विद्यमान है। अत कहा जा सकता है कि 'खण्डन-मण्डन' की प्रवृत्ति इस युग क धार्मिक-क्षेत्र की एक प्रमुख विशेपता थी।

वैष्णव-भक्ति का देश-व्यापी प्रचार हो चुका था। जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, वैष्णवाचार्यो के भक्ति-संप्रदायों की स्थापना बहुत पहले ही हो चुकी थी, अखा के जीवन-काल से कुछ समय पूर्व ही नानक पंथ, कबीर पथ, दादू पथ आदि अनेक पंथो की स्थापना हो चुकी थो। 'नया पथ चलाने के लिए, इस युग मे, कुछ चमत्कार कर बताने के अतिरिक्त किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता न थी। औरगजेब ने गुजरात मे स्थापित हुए 'मतिया पथ' के तत्कालीन धर्म-गुरु को चमत्कार प्रदर्शन करके, अपने मत का औचित्य सिद्ध करने के लिए दिल्ली बुलाया था। जिसने अपनी असामर्थ्य का विचार करके रास्ते मे ही आत्म-हत्या कर ली थी।[3] नवीन पंथ चलाने के लिए इस युग की इतनी अनुकूलता के कारण ही 'वर्सात मे कुकुरमुत्तों की तरह गुजरात मे धर्मो की उत्पत्ति (या स्थापना) हुई।'[4] अतः नवीन मत-पथों की स्थापना इस युग की द्वितीय प्रमुख विशेपता थी।

इस युग के, पूर्वोल्लिखित, विलासी वातावरण के व्यापक प्रभाव से धर्मक्षेत्र भी अछूता न रहा। भक्ति—विशेपत सगुण भक्ति मे रसिक-भावना घर कर चुकी थी। सूफियो के 'इश्के हकीकी' का माध्यम 'इश्के मजाजी' ही था। कृष्णभक्ति—विशेपतः

१. दे०, गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास, 'इस्लाम युग' खण्ड ४, पृ० १००५-१२।
२. दे०, आर०आर० सेठी : मुगलकालीन भारत का इतिहास, पृ० ७३-७४।
३. एम०आर० मजूमदार : कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० २५४ एवं गोविन्दभाई देसाई : गुजरातनो अर्वाचीन इतिहास, पृ० १०८-९।
४ गोवर्धनराम त्रिपाठी : दी क्लासिकल पोएट्स आफ गुजरात, पृ० ३।

पुष्टिमार्ग मे स्वकीया के साथ परकीया-भाव भी स्वीकृत हो चुका था । नन्ददास 'उपरति' को विधेय ठहरा चुके थे । कृष्णभक्ति के राधावल्लभी, एवं सखी संप्रदायों तथा राम-भक्ति के रसिक-सप्रदाय तथा 'स्वसुखी' एवं तत्सुखी-संप्रदायों मे क्रमशः 'राधा-कृष्ण' एवं 'सीता-राम' की अहर्निश केलि-क्रीड़ारत युगलमूर्ति के ध्यान को स्वीकार किया जा चुका था । गौडीय संप्रदाय मे रूप गोस्वामी एवं सनातन गोस्वामी पूरे नायिका-भेद को भक्ति के रग में रँग कर स्वीकार कर चुके थे । तात्पर्य यह है कि—'अव के सुकवि रीझिहैं तौ कविताई न तौ राधिका कन्हाई सुमिरन कौ बहानो हैं' के इस युग में शृंगारी और भक्त, दोनो प्रकार के, कवि 'रति-मुक्ति' को अपने-अपने ढंग से अपना चुके थे ।[1] इस प्रकार इस युग में भगवान् और भार्या की भक्ति का अन्तर भावना के स्तर पर ही किया जा सकता था ।

लक्ष्य करने की वात यह है कि एक ओर सगुण-भक्ति-धारा, गन्दे पानी के प्रबल वेग से मर्यादाओं का भंग करने वाले बरसाती नाले का रूप ग्रहण कर चुकी थी, दूसरी ओर वहुसंख्यक जनता इसी प्रवाह में स्नान कर स्वयं को पवित्र रखना चाहती थी । इस द्विविधाग्रस्त स्थिति मे जनता की अपेक्षा को पूर्ण करने वाला मर्यादाओं मे आबद्ध पावन-कारी स्रोत तुलसी के 'मानस' से प्रस्फुटित हुआ । 'जो हिमालय से विंध्य और लाहौर से बंगाल तक तथा भूपति से हलपति तक की समस्त हिन्दीभाषी प्रजा के लिए धार्मिक आधार तथा कंठस्थ की गई आचार-संहिता बना ।'[2] इतना ही नही तमिल, केरल एवं बंगाल के प्रसिद्ध कवियों ने स्वभाषाओं मे इसे अनूदित किया ।[3] गुजरात भी इसके प्रभाव से अछूता न रहा था ।[4] ध्यान रहे कि सगुणोपासकों के मंदिरो मे जिनका प्रवेश निषिद्ध था उनके लिए कबीर को निर्गुण भक्ति की पवित्र धारा अनेक स्रोतों मे वह रही थी । 'पुष्टिमार्ग' का भी यहाँ वहुत प्रभाव ( विशेषतः वणिक् वर्ग पर ) पड़ा था । निष्कर्ष यह है कि 'गुरु' और 'पीर' के उपासक जितने भी मत-पंथ यहाँ स्थापित हुए उन्होने यहाँ की निम्न-वर्णो की जनता को ही अधिक आकर्षित किया, बहुसंख्यक वर्ग तो रामानन्द व वल्लभ के संप्रदायों का ही अनुयायी रहा ।

हिन्दू-मुसलमानों के मध्य राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों मे स्थापित हुए सम्बन्धों का प्रभाव धार्मिक क्षेत्र पर भी पड़ा । कहा जाता है कि भक्ति के सभी संप्रदायों में स्वीकृत सर्वशक्तिमान् (कोई भी) एक सत्ता, जाँति-पाँति की अनावश्यकता एवं भावात्मक

१. चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि ।
   ए जिहिं रति सो रति मुकति और मुकति अति हानि ॥
२. दे०, के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १७७ ।
३. दे०, वही, पृ० १७७ ।
४ दे० गुजराती साहित्य (भूमिका), खण्ड ५ (१९२९ई०), पृ० ३२२-२४ ।

उपासना आदि इस्लाम के प्रभाव के सूचक है ।[1] जो हो, इतना सत्य है कि ये सभी बातें हिन्दू धर्म मे बहुत पहले से ही थी, किन्तु इनके प्रचार का यह अनुकूल अवसर था। हिन्दू व मुसलमान धर्मो को निकट लाने मे 'निगुण-संतों' व सूफी पीरों की भूमिका का विस्तार तो यहाँ आवश्यक ही होगा[2], किन्तु इस दिशा मे इसी युग के सतनामी व नारायणी संप्रदायो की प्रवृत्तियाँ अविस्मरणीय है । नारायणी मत के अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनो थे और वे पूर्व की ओर मुख करके प्रार्थना किया करते थे । ईश्वर के नामो मे वे अल्लाह को भी शामिल करते थे । मुर्दो को गाडते थे । गुजरात के प्राणनाथ ने भी एक ऐसा ही आन्दोलन चलाया था ।[3] गुजरात के 'मतिया पंथ' का उल्लेख ऊपर आ चुका है, इसमे भी दोनों धर्मो के लोग थे । इसमे प्रवर्तित हिन्दू प्रथाओं को देखकर ही औरंगजेब ने 'सैयद शाह जी' को दिल्ली बुलाया था । हिन्दुओं ने भी पीरों को पूजना और उन पर लगने वाले उर्स के मेलों मे सम्मिलित होना प्रारंभ कर दिया था । किन्तु इस प्रकार की प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ दोनों ही धर्मो के निम्नस्तर के लोगों मे ही अधिक प्रिय बनी थी । रूढि-मुक्तों की इनमे विशेष रुचि न रही होगी । विभिन्न धर्मो से अच्छी-अच्छी बातों का संकलन करके अकबर द्वारा 'दीने इलाही' के प्रवर्तन का असफल प्रयत्न इस युग की धार्मिक स्थिति का द्योतक कहा जा सकता है ।

मुगल बादशाहो मे, न्यूनाधिक मात्रा मे, प्रवर्तित धार्मिक असहिष्णुता का संकेत पूर्ववर्ती पृष्ठों मे किया जा चुका है । धर्म-परिवर्तन भी इस युग मे सर्वथा विलुप्त न हुआ था ।[4]

अखा की रचनाओं मे षड्दर्शनों, शून्यवादियो एवं सगुणोपासकों के दार्शनिक मतवादों का खण्डन व निर्गुण-अद्वैत का मण्डन किया गया है ।[5] भक्ति के संयोग-पक्ष के निरूपण मे उन्होने मिथुन-सम्बन्धो की सूचक कुछ उक्तियों का प्रयोग करके स्वयं को 'रीतिकाल' का कवि सिद्ध कर दिया है ।[6] तदुपरान्त उन्होने तत्कालीन भेषधारियों की विभिन्न उपासना पद्धतियों व अन्य धार्मिक विकृतियों की आलोचना की हैं । साथ ही बाह्याचारों के विकल्प-स्वरूप आचार-विचार की पवित्रता पर जोर देकर कुछ रचनात्मक सुझाव भी

---

१. दे०, के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १३५-३६ ।
   दे०, के०सी० व्यास : इंडिया थ्रू दी एजेज, पृ० १६७ ।
२. विशेष के लिए दे०, डा० मदनगोपाल गुप्त मध्यकालीन हिन्दीकाव्य में भारतीय संस्कृति, पृ० १५१-५४ ।
३. दे०, सत्यकेतु विद्यालंकार . भारत का इतिहास, पृ० ४१७ ।
४ दे०, यदुनाथ सरकार : औरंगजेब, पृ० ५६६-६७ ।
   एम०आर० मजूमदार कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० २५४ ।
५. दे०, छप्पा : ४९०-५०३, अखेगीता क० २९-३२, अनुभव-बिंदु, १९-२३ (छप्पय) ।
६. दे०, अक्षयरस : भजन २, अ० अ० वाणी, गुज० भजन, ३८-४० ।

प्रस्तुत किये हैं। विभिन्न मत-पंथों की स्थापना का विरोध किया है।[1] इससे सिद्ध है कि वे समकालीन धार्मिक परिस्थितियों से सर्वाधिक रूप से प्रभावित हुए थे।

## साहित्यिक परिस्थिति

अखा के समय तक गुजराती भाषा मे पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका था। एक ओर जैन कवियों द्वारा प्राचीन गुजराती अथवा गुर्जर अपभ्रंश मे रचे गये रासो-काव्य की दीर्घ परम्परा थी तो दूसरी ओर श्रीधर व्यास ( सं० १४५४ वि० ), पद्मनाथ (सं० १५१२ वि०) आदि के प्रबंध काव्य, भालण (सं० १४९०-१५७० वि०) के आख्यान, नरसिंह मेहता (सं० १४७१-१५३६ वि०) एवं मीरा ( सं० १५२४-१६०३ वि० ) के सगुणलीला-गान के पद व भजन,विष्णुदास (सं० १६०० वि०), बच्छराज (सं० १६३५ वि०) आदि का पुष्टिमार्गीय काव्य, रामभक्त (सं० १६६० वि०) एवं प्रेमानन्द (१६३५-१७३४ ई०) आदि के मौलिक पद एवं महाभारत, गीता, भागवत व अन्य पुराणों के काव्यानुवाद, एवं हिन्दी तथा गुजराती मे लिखा गया ज्ञान-मार्गीय संतों तथा सूफियों का पर्याप्त साहित्य उपलब्ध था। इस साहित्य मे रास, आख्यान, गरबा, गरबी, आरती, बारहमासा, फागु, चरित, पवाड़ा गजल, रेख्ता, सात-वार, पन्द्रह तिथियाँ, बावनाक्षरी आदि काव्य-रूप, ध्रुपद, गूजरी, सरस्वती, छप्पय, चहल, चौपाई, सवैया, दोहा, कवित्त, कुंडलियाँ, झूलना, चोखरा एवं प्लवंगम इत्यादि छन्द भी प्रयुक्त हो चुके थे। इस काव्य मे प्रयुक्त काव्य-रूपों एवं छन्दों को अखा ने अपनाया है किन्तु विचार-क्षेत्र मे वे इससे अधिक प्रभावित हुए प्रतीत नही होते। जिस साहित्य से उनकी विचारधारा का सीधा सम्बन्ध है, लेखक के मतानुसार वह निम्नांकित है—

### (१) संस्कृत साहित्य

अखा की विचारधारा का मूल स्वर अद्वैतवादी है और ज्ञान, भक्ति तथा वैराग्य उनके काव्य के मुख्य वर्ण्य-विषय है। इन विचारों के पोषक जिन संस्कृत ग्रंथों का, गुरु ब्रह्मानन्द के माध्यम से, अखा ने श्रवण व मनन किया होगा उनमे उपनिषदों का शांकर-भाष्य, अध्यात्म रामायण, पुरुष-सूक्त, योगवासिष्ठ, दत्तगीता, श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत-शांतिपर्व, पंचदशी एवं श्रीमद्भागवत पुराण आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं; क्योंकि इन सभी के उल्लेख उनके काव्य मे उपलब्ध होते है।

### हिंदी काव्य-साहित्य

अखा ने स्वयं को रैदास, सेन, कबीर एवं दादू की परंपरा का 'हरिजन' कहा है, यह अन्यत्र देखा जा चुका है। जिस प्रकार उन्होंने कबीर को 'निर्गुणिया'[2] कहा है उसी

१. दे०, छ० ३०९, १५७, ६८९, ३११।

२. निर्गुण कथतो कबीर बहु परभव्यो सगुण गातो नृसिंह मेतो ॥ अखानी वाणी अने म० प० पद ८७।

प्रकार स्वयं के ज्ञान को भी निर्गुण-ज्ञान[1] व स्वयं की सिद्धि को निर्गुण-पद-प्राप्ति कहा है।[2] तदुपरान्त उन्होने इस साहित्य के माध्यम—टकसाल या सधुक्कडी हिन्दी भाषा, साखी, सबदी, रमैणी, आदि छन्द, एव सात वार, पन्द्रह तिथि, बारह-मासा, बावनाक्षरी एवं संवाद इत्यादि काव्य-रूपों को भी अपनाया है। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी के संत-काव्य से उनका सीधा सम्बन्ध था।

दूसरी ओर तुलसीदास (मृत्यु सं० १६८० वि०) का उल्लेख उन्होने किया है, सूर के पदों व रहीम तथा बिहारी के दोहों की उक्तियों की प्रतिच्छाया उनके काव्य में स्पष्ट लक्षित होती है। केशवदास ( स० १६१२-१६७८ वि० )-कृत कविप्रिया एवं रसिक-प्रिया की प्रतिक्रिया मे उन्होंने 'संतप्रिया' की रचना की है, उसे यथा-स्थान आगे स्पष्ट किया जायगा। केशव की काव्योक्तियों व छन्दों का प्रभाव भी उनकी रचनाओं पर लक्षित है। गिरधर कृत 'कुडलियाँ' छन्द को उन्होंने भी अपनाया है। अत. कहा जा सकता है कि वैचारिक दृष्टि से अधिक नही, किन्तु काव्यरूप व छन्द प्रयोग की दृष्टि से वे इस साहित्य से भी प्रभावित थे।

### गुजराती संत-साहित्य

जैसा कि निर्दिष्ट किया जा चुका है कि अखा के पूर्व से ही गुजरात में ज्ञानमार्गीय संतो का साहित्य भी उपलब्ध था। डा० रमणलाल पाठक ने नरसिह मेहता को गुजरात का प्रथम संत-कवि माना है।[3] कहना न होगा कि एक तो नरसिह मेहता के नाम पर प्रचलित जिन पदों का उन्होने संदर्भ दिया है उनकी प्रामाणिकता शंकास्पद है, दूसरे ऐसे कतिपय संदर्भो के आधार पर किसी कवि को संत नही ठहराया जा सकता अन्यथा सूर व तुलसी भी इसी परपरा के सिद्ध होगे। स्वयं अखा ने नरसिह मेहता को 'सगुण-गायक'[4] कहा है जो सामान्य मान्यता के सर्वथा अनुरूप है। संतो में सर्वप्रथम चक्रधर स्वामी का नामोल्लेख किया जा सकता है, किन्तु उनका जीवन महाराष्ट्र में बीता था। अतः कबीरपंथी सत लोचनदास (१६ वी शती विक्रम) गुजरात के आदि सत के रूप मे प्राय स्वीकृत है। इनकी गद्दी सूरत मे थी, इनकी शिष्य परपरा मे समर्थदास (सं० १५५०-१६२० वि०) एवं माधवदास ( सं० १६०१-१६५२ वि० ) आदि संत हुए थे। माडण बधारा ( स० १५३६ वि० मे विद्यमान ), केशवानन्द के शिष्य मुकुन्द गागुली ( सं० १७०८ वि० मे विद्यमान ) आदि संतो की रचनाएँ भी उपलब्ध थी। नरहरि,

---

१. कहे अखो निर्गुण ग्रही आ ज्ञान छे साचु ॥ वही, पद ९२।

२. निरगुन पद ने पामी थई निश्चित रे गत गगा मा हु जईने मली रे।।वही,पद१४५।

३. दे०, वीणेला मोती : (मई १९७१, वर्ष ७ अंक ७) 'गुजरातनी संत परम्परा अने अखो', लेख पृ० ३२।

४. निर्गुण कथतो कबीर बहु परभव्यो सगुण गातो नृसिह मेतो।।अ०वा०भ०प०,पद८७।

गोपाल, बूटा—अखा के समकालीन संत थे, जो एक मान्यतानुसार अखा के गुरु-भाई भी थे।[1] कुछ काव्योक्तियों और उनमे निहित विचार-साम्य के 'कतिपय उदाहरण देकर डा० उमाशंकर जोशी[2] ने मांडण बंधारा को अखा का साहित्यिक-गुरु सिद्ध किया है, ठीक उसी आधार पर डा० रमणलाल पाठक[3] ने उन्हें संत सुन्दरदास का गुरुभाई सिद्ध किया है। कहना न होगा कि दो सन्तों मे इस प्रकार के सम्बन्ध निश्चित करने का यह एक बड़ा दुर्बल व अविश्वसनीय उपाय है; क्योंकि ऐसा उक्ति-साम्य तो किसी भी सन्त की उक्तियों में बड़ी सरलता से पाया जा सकता है।[4] एक तो अखा मे जो रचना-वैविध्य और विचारो की प्रौढ़ता पाई जाती है उनके पूर्ववर्ती गुजराती सन्तों मे उसका अभाव है, दूसरे गुजरात के किसी सन्त से उनका इस प्रकार का सम्बन्ध भी सिद्ध नही होता। अतः कहना होगा कि इस साहित्य से उनका वैचारिक अविरोध है जिसे प्रभाव नही कहा जा सकता। इस साहित्य मे प्रयुक्त छन्द एवं काव्यरूपो को उन्होने अवश्य ग्रहण किया है। तदुपरान्त काव्य की भाषा हिन्दी व गुजराती हो जाने के कारण संस्कृत का विरोध और राजभाषा हो जाने के कारण झूलनाओ मे फारसी शब्दो का प्रयोग भी अखा पर पड़े युगीन प्रभाव के द्योतक है।

**कबीर एवं अखा की समकालीन परिस्थितियों का तुलनात्मक विश्लेषण**

इस अनुशीलन मे कबीर एवं अखा के जो जीवन-काल निर्दिष्ट किये गये है उनके मध्य लगभग पौने दो सौ सालो का व्यवधान है। अतः उनकी समकालीन परिस्थितियों मे जहाँ एक ओर वैषम्य का होना अनिवार्य था वही दूसरी ओर कुछ साम्य भी था। आगे इसी साम्य और वैषम्य का उल्लेख करके उनकी रचनाओं पर पडे एतज्जन्य प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा।

**(१) राजनीतिक परिस्थितियाँ**

भिन्न काल-खण्डो मे अवस्थित होने पर भी कबीर एवं अखा-दोनों का सम्बन्ध मुसलमानो द्वारा शासित प्रदेशों से रहा था। अतः राजा की निरंकुश सत्ता, सैनिक शासन, भ्रष्ट प्रशासन, काजियो का पक्षपातपूर्ण न्याय, कठोर दण्ड-व्यवस्था, राज-द्वार मे प्रचलित खुशामद, अवसरवादिता, छल-छद्म एवं कपटपूर्ण आचरण आदि की दृष्टि से दोनों ही के काल-खण्डों मे न्यूनाधिक साम्य था। इसलिए दोनों कवियों की रचनाओं मे समान भावभूमि की सम्भावना की जा सकती है।

जीवनी-विषयक तथ्यो और घटनाओं से स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक विद्वेष से प्रेरित अथवा अन्यायपूर्ण शासकीय व्यवहार का न्यूनाधिक अनुभव कबीर और अखा दोनों,

१. दे०, न०दे० मेहता : अखाकृत काव्यो, भाग १ भूमिका, पृ० १६-१७।
२. दे०, अखो अेक अध्ययन : (१९७३ ई०), पृ० ७८-११८।
३. दे०, अखो अेक स्वाध्याय : (१९७६ ई०), पृ० २६-३२।
४. दे०, वियोगीहरि : 'संतवाणी'।

तथा तत्कालीन जन-साधारण ने किया था। चूंकि दोनों कवि जन-साधारण के बीच के थे, अत- प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से दैनदिन के ऐसे अनुभव उनकी काव्य-चेतना को स्वभावत' प्रभावित कर सकते हैं।

युद्ध व उपद्रवों से उत्पन्न अशाति की दृष्टि से देखा जाय तो कबीर की अपेक्षा अखा के समय मे कुछ शाति थी। शायद इसीलिए सेनाओ के एकत्रीकरण, गढों के तोडने, और युद्धो के विनाशक परिणामों के सूचक जितने चित्र कबीर की रचनाओं मे मिलते हैं, अखा की रचनाओं में नही, यद्यपि वहाँ भी इनका ऐकातिक अभाव नही है। कबीर के समय केन्द्रीय सत्ता निर्बल थी। यही कारण है कि कबीर ने जिम निर्भयता से इस्लाम-धर्मियों को फटकारा है, अखा वैसा नहीं कर पाये हैं। संभव है कि यह उनकी प्रकृतियों का अन्तर भी हो। तदुपरान्त अनधिकृत कर वसूल करके राज-कर्मचारी यद्यपि दोनों ही के समय प्रजा का शोषण करते रहते थे, किन्तु राजा टोडरमल की लगान-व्यवस्था के लागू होने से अखा के समय मे कबीर के समय की अन्दाजी-लगान वसूल करने की व्यवस्था का अत हो गया था। संभव है, इस व्यवस्था से राज-कर्मचारियो की भेडिया-वृत्ति भी कुछ नियत्रित हुई हो। शायद इसीलिए राज-कर्मचारियो द्वारा किसानो व व्यापारियो की, की जानेवाली लूट-खसोट एवं हिसाब-किताव की अनियमितता आदि के निर्देशक जो रूपक कबीर की रचनाओ मे मिलते हैं, वे अखा की रचनाओं मे नहीं है। इसका अन्य कारण शासन का भय भी हो सकता है,क्योंकि अकबर के समकालीन तुलसी ने भी समाज की दुर्दशा एवं दण्डाश्रित अन्यायी शासन-व्यवस्था का निरूपण 'कलि-काल' की आड लेकर ही किया है।[1] अखा के समय शासन की ओर से धार्मिक अत्या-चार अपेक्षाकृत कम हुए थे। अत कबीर के समय प्रजा की जो संघर्ष-शील मन स्थिति थी वह अखा के समय न थी। यही कारण है कि धर्मान्धता से सम्बन्धित कबीर की उक्तियो मे जो तीखापन है वह अखा की उक्तियों मे नही है।

**आर्थिक परिस्थितियाँ**

अकवर के शासन-काल मे कुछ करो मे दी गई छूट, सिचाई के साधनों मे हुई वृद्धि एव यात्राओ के सुरक्षित होने से कृषि-उत्पादन व व्यापार दोनों मे जो सुधार हुए उनसे देश का अर्थतन्त्र विकासोन्मुख वना था। जहाँगीर एव शाहजहाँ के समय विदेशी व्यापार भी बढा था किन्तु इस क्षेत्र मे प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे अग्रेजो ने अपना स्थान बना लिया था। फिर भी कबीर के समय की अपेक्षा देश की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। वाद मे शाहजहाँ की फिजूल-खर्ची किन्तु विशेष रूप से औरंगजेब की दमन-नीति तथा सैनिक अपव्यय के कारण देश दिवालियेपन की स्थिति को प्राप्त हुआ।[2] दूसरे धन के

---

१. दे०, कवितावली, उत्तर काण्ड : छ० ९६-९७ तथा मानस : उत्तर काण्ड।

२ एडवर्ड एण्ड गैरेट . मुगल रूल इन इडिया, पृ० १७९।

आर०सी०मजूमदार एण्ड राय चौधरी एन एडवास हिस्ट्री आफ इंडिया,पृ० ५७६-७७।

असमान वितरण एवं पूंजीवादी व्यवस्था के कारण, अकबर, जहाँगीर एवं आंशिक रूप से शाहजहाँ के शासन काल की, समृद्धि से निम्न व मध्यम वर्ग की जनता की स्थिति मे कोई स्थायी या प्रभावशाली सुधार नही हुआ। परिणामस्वरूप आर्थिक दृष्टि से समाज के जो तीन वर्ग कबीर के समय थे वे यथावत् बने रहे। यही कारण है कि धनी वर्ग की वैभवशाली और गरीबों की अभावग्रस्त रहन-सहन, दोनों के बीच उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों के सम्बन्ध, आदि के उल्लेख दोनों कवियों की रचनाओ मे उपलब्ध होते है।

उल्लेख्य यह है कि निम्नवर्गीय समाज के व्यवसायों की डावाँडोल स्थिति और व्यवसायियों की अभावग्रस्त करुण-स्थिति का जैसा सटीक निरूपण कबीर की रचनाओं मे देखा जाता है वैसा अखा की रचनाओं मे नही। इसका एक कारण तो दोनो के समय की आर्थिक परिस्थितियो का अन्तर हो सकता है, दूसरा यह हो सकता है कि कर्मी-जातियों से कबीर (जुलाहे) का जितना निकट का सम्बन्ध रहा होगा उतना अखा (सुनार) का न भी रहा होगा।

**सामाजिक परिस्थितियाँ**

दोनों कवियों के समय मे समाज मुख्य रूप से हिन्दू और मुसलमान के दो वर्गो में विभक्त था। यों तो ये दोनों समाज कबीर के समय से ही एक-दूसरे से प्रभावित होने लगे थे, किन्तु अकबर की सहिष्णु-नीति, अन्तर्जातीय-विवाह, राजनीतिक-आवश्यकता, सूफी एवं संतों के प्रयत्न एव हिन्दू धर्म से परिवर्तित हुए मुसलमानों की बहुमति आदि कारणो से अखा के समय वे एक-दूसरे के अपेक्षाकृत रूप से अधिक निकट थे। परन्तु रूढिग्रस्तों की हठधर्मिता के कारण इस स्थिति का कोई स्थायी परिणाम न निकला और पारस्परिक द्वेष-भावना में न्यूनता आने पर भी उनके मध्य की दूरी यथावत् बनी रही। यही कारण है कि आलोच्य कवियों की रचनाओं मे एतद्विषयक वैशिष्ट्य प्रायः नहीं पाया जाता। हिन्दू समाज मे प्रचलित जाति-प्रथा, ऊँच-नीच का भेद-भाव, छुआ-छूत, सती-प्रथा, बाल-विवाह, लड़कियो की बाल-हत्या एवं पर्दा आदि के उल्लेख दोनो की रचनाओं मे पाये जाते है। मुसलमानो मे सुन्नत, मांसाहार, जीव-हिंसा, गुलाम-प्रथा एवं बहुपत्नीत्व आदि के उल्लेख व आलोचना जितनी कबीर ने की है उतनी अखा ने नही। इसका कारण कबीर के समय मे अनुभव की गई मुसलमानों की धार्मिक विद्वेष की उग्र-भावना का तीव्र प्रतिकार ही हो सकता है। एक अन्य कारण इस समाज से उनके निकट के सम्बन्धो से व्युत्पन्न विशिष्ट जानकारी भी हो सकती है।

मुगल-कालीन विलासिता का तत्कालीन समाज एवं साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। शायद इसीलिए अखा की रचनाओं मे जहाँ-तहाँ नर-नारी के ही नही वरन् पशु-पक्षियो के मिथुन-सम्बन्धो का भी उल्लेख हुआ है, जबकि कबीर की रचनाएँ ऐसे उल्लेखों से प्रायः अछूती रही है। यह भी हो सकता है कि कबीर के समय मे जनता एक तो अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष-शील रहती थी, दूसरे उस अनिश्चितता की स्थिति मे

जन-जीवन की सारी शक्ति जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे व्यय होती थी, अतः हास-विलास मे व्यस्त रहना उस समय संभव न रहा हो। जबकि अखा के समय मे जन-जीवन की निश्चितता कुछ अधिक थी। अत ऐसी स्थिति मे विलास व मनोरजन की ओर जनता का स्वाभाविक झुकाव था।

**धार्मिक परिस्थितियाँ**

आलोच्य दोनों कवियो के समय मे बहुसख्यक हिन्दू-समाज वैष्णव धर्म का अनुयायी था, जिसमे मंदिर, मठ, मूर्ति, माला, छापा-तिलक, तीर्थ-व्रत एव कथा-कीर्तन आदि पर आश्रित सगुणोपासना स्वीकृत थी। अत उनकी रचनाओं मे उपलब्ध एतद्विषयक उल्लेखो एवं आलोचनाओ मे पर्याप्त साम्य है।

कबीर के समय दिल्ली के सुलतानो ने धर्मान्धता की नीति अपनाई थी। अकबर ने उसकी उपेक्षा की, जहाँगीर व शाहजहाँ के समय भी वह इतनी उग्र न थी जितनी कि औरंगजेब के समय मे हुई। अत अखा के समय की धार्मिक स्थिति को इस दृष्टि से मिली-जुली स्थिति कहा जा सकता है। तदुपरान्त एक तो अखा के समय तक निर्गुणी-संतो के नाम पर भी पथो का प्रचलन हो चुका था, जिसके परिणामस्वरूप अब वे निर्द्वन्द्व व निर्भय व्यक्ति न रहकर गद्दीपति-गृहस्थ होने लगे थे। दूसरे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से गुजरात की समस्त धार्मिक चेतना के मूलस्रोत काशी, व्रज एव अयोध्या आदि क्षेत्र रहे हैं। अत. किसी भी धार्मिक आन्दोलन के वहाँ से यहाँ तक आने मे लगने वाले समय व यहाँ के जीवन के अनुरूप सुधार के साथ उसकी स्वीकृति आदि के कारण उसके उत्साह या वेग मे न्यूनता व स्वरूप मे विकृति का आ जाना स्वाभाविक था। तीसरे गुजरात के एक स्वतंत्र राज्य बनने के समय से ही यहाँ हिन्दू व मुसलमान के मध्य एक-दूसरे के निकट आने के वातावरण का सर्जन होने लगा था। और चौथे सूफियो की पीर तथा मजारपूजा का प्रचार बढ रहा था, जो सतो का गुरु व समाधि पूजा से बहुत साम्य रखती थी। अत. अखा क समय गुजरात के धार्मिक क्षेत्र मे ऐसा कोई क्रान्तिकारी या उग्र भावना लक्षित नही होती जैसी कि कबीर के समय उत्तरा-खण्ड मे हुई थी। शायद इसीलिए शास्त्रानुमोदन की चिन्ता से मुक्त कबीर की धार्मिक चेतना जन-सामान्य को सीधे प्रभावित करने वाली और व्यावहारिकता की ओर झुकी हुई है तो अखा की धार्मिक चेतना अपेक्षाकृत रूप मे शास्त्रानुमोदन की चिन्ता से युक्त व सैद्धान्तिक पक्ष या वैचारिकता की ओर अधिक झुकी हुई है। इसका अन्य कारण अखा के समय मे प्रवर्तित रीति अनुसरण एवं स्वय के मत को शास्त्र व परपरानुमोदित सिद्ध करने का आग्रह भी हो सकता है।

दाम्पत्य-प्रेम व विरह कबीर की प्रेमाभक्ति मे भी स्वीकृत है किन्तु वहाँ लौकिक प्रेम की गध नही है। अखा के समय तक भक्ति, विशेषतः सगुण भक्ति, शृगार के रग मे

रँगी जा चुकी थी। इसलिए अखा की एतद्विषयक उक्तियों, विशेषकर जकडियों एवं भजनों में लौकिक प्रेम की झलक दिखाई दे जाती है। सूफियों की प्रेम-साधना का प्रचार कबीर के समय मे हो रहा था किन्तु प्रेमाख्यानों की रचना व उनका व्यापक प्रचार उनके बाद की घटना है। अतः उनकी रचनाओ मे सूफियों का प्रभाव तो है किन्तु उनके सिद्धान्तों की चर्चा नही है, जबकि अखाकृत झूलनाओं मे सूफी-शब्दावली को वेदान्त-परक अर्थघटन के साथ स्वमत मे रँगकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। कबीर ने षड्दर्शन एवं बौद्धो का उल्लेख मात्र किया है उनके सिद्धान्तो का खण्डन-मण्डन नहीं किया, जबकि अखा ने ऐसा किया है। इसका कारण अखा के समय मे प्रवर्तित वाद-विवाद की प्रवृत्ति और एतद्विषयक उनका व्यक्तिगत ज्ञान हो सकता है।

**साहित्यिक परिस्थितियाँ**

कबीर के समय तक हिन्दी साहित्य का इतना विकास नही हुआ था जितना कि संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के साहित्यों का हुआ था। अधिक पढे-लिखे न होने के कारण संस्कृत व प्राकृत के साहित्य से वे अप्रत्यक्ष रूप से ही प्रभावित हो सकते थे। हिन्दी मे उनके समक्ष कुछ साधनात्मक साहित्य एवं वीरगाथा काल का साहित्य ही था, जिनमे से भी दूसरा उनके काम का न था। इसलिए उन्हें प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले साहित्य मे गोरखबानी,रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ एवं नामदेव के पद आदि ही अग्रगण्य कहे जा सकते है। शायद इन्ही कारणों से उनकी रचनाओ में छन्द व काव्य-रूपों का वैविध्य अधिक नही पाया जाता।

अखा ने संस्कृत के दार्शनिक साहित्य का श्रवण गुरु के द्वारा किया था। हिन्दी व गुजराती पर उनका अच्छा अधिकार था, फारसी एवं पंजाबी से भी वे परिचित थे। हिन्दी मे उस समय रीतिकाल प्रवर्तमान था। हिन्दी व गुजराती दोनों भाषाओं मे निर्गुण व सगुण भक्ति का पर्याप्त साहित्य उनके सम्मुख था, जिससे उनका सीधा सम्बन्ध संभव था। इन्ही कारणो से वे अपनी रचनाओं मे छन्द एवं काव्य-रूपों मे पर्याप्त वैविध्य लाने एव अपने दार्शनिक विचारों मे अनेक संस्कृत ग्रंथों के प्रमाण देने मे सफल हुए।

अत. कहा जा सकता है कि साहित्यिक परिस्थितियों की उपर्युक्त भिन्नता व व्यक्तिगत शिक्षा-दीक्षा के अन्तर के कारण ही अखा अपने काव्य मे छन्द एव काव्य-रूपों सम्बन्धी वैविध्य लाने तथा अपने दार्शनिक विचारों को शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त बनाने मे कबीर की अपेक्षा अधिक सफल हुए है।

पूर्ववर्ती समग्र विवेचन से मूल्याकन के रूप मे कहा जा सकता है कि कबीर और अखा, अपनी-अपनी समकालीन परिस्थितियो से प्रभावित हुए थे। किन्तु जीवन मे अर्थ व काम की अपेक्षा धर्म और मोक्ष को विशेष महत्व देने के कारण वे अपनी राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की अपेक्षा सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से अधिक प्रभावित हुए थे। यह प्रभाव उनकी रचनाओ मे निम्नांकित रूपो मे पाया जाता है—

(१) शासकों के मिथ्याभिमान एवं स्वार्थ-प्रेरित संकुचित या समाज-विरोधी नीतियो की आलोचना करना, एव समकालीन न्याय, कर एव राजकीय-प्रशासन आदि की व्यवस्था से अपने कथ्य की स्पष्टता के लिए रूपकादि का चयन करना ।

(२) समकालीन समाज एवं धर्म के क्षेत्र मे प्रवर्तित अनुपयोगी परम्पराओ, रूढियों एवं विकृतियों की, एक सुधारक की दृष्टि से भर्त्सना या खण्डन करना और उनका संभावित विकल्प प्रस्तुत करना ।

(३) समकालीन सामाजिक व्यवस्था,व्यवसाय, वाहन एवं आमोद-प्रमोद के साधनों तथा खेल-कूद, विधि-विधान, संस्कार, वस्त्राभूषण, अन्धविश्वास, आदि से उदाहरण या रूपकादि स्वीकार कर अपने कथन को अधिक प्रभावशाली एवं बोधगम्य बनाना । और

(४) सामान्य-जनो द्वारा प्रयुक्त भाषा व लोकप्रिय छद तथा काव्य-रूपों को अपनाना ।

अपने वातावरण से उपर्युक्त रूपों मे प्रभावित होकर उन्होंने समकालीन समाज का जिस रूप मे वर्णन किया है, वह अगले अध्यायों का विषय है ।

●

## तृतीय अध्याय

# दार्शनिक पृष्ठभूमि

यह कहा जा चुका है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसकी विचारधारा को प्रभावित करनेवाले वातावरण के अंतर्गत उसके जीवन-काल की दार्शनिक पृष्ठभूमि का भी समावेश किया जाता है। सामान्यतः व्यक्ति अपनी रुचि एवं संस्कार आदि के अनुरूप, परंपरागत किसी एक दार्शनिक मत से स्वय को सम्बद्ध कर लेता है। किन्तु कबीर एवं अखा द्वारा स्वीकृत 'संत-मत' का स्वरूप कुछ इस प्रकार का है कि न तो उसे परंपरागत किसी एक दार्शनिक मत या विचार शृंखला के अंतर्गत रखा जा सकता है, और न परंपराओं से विच्छिन्न करके ही उसे परखा जा सकता है। उसमे न तो किसी एक दार्शनिकमत का तार्किक प्रतिपादन या निरूपण ही हुआ है, न किसी स्वीकृत ग्रंथ या शास्त्र का भाष्य या व्याख्या ही है। 'संतो के साहित्य मे जो हमे दार्शनिक सिद्धान्त उपलब्ध है वे, इसी कारण जितना 'मान्य' और 'स्वीकृत' कहे जा सकते है, उतना उन्हे हम 'सिद्ध' 'निरूपित' अथवा 'प्रतिपादित' नहीं कह सकते, न उनके लिए उसमे हम किसी तर्क-पद्धति का ही पता लगा सकते है।'[1] कहना न होगा कि आचार्य चतुर्वेदी का यह कथन हमारे आलोच्य कवियों की विचारधारा पर भी लागू होता है; और जो बात उनके दार्शनिकमत के विषय मे कही गई है वही उनकी साधना के विषय मे भी कही जा सकती है। क्योंकि परंपरागत ज्ञान, कर्म, योग, उपासना एव भक्ति मे से कर्म से तो उनका विरोध स्पष्ट ही है, शेष मे से भी किसी एक के अंतर्गत उसे नही रखा जा सकता।

उक्त स्थिति का मुख्य कारण यह है कि दोनो ही संत सारग्राही थे।[2] इसलिए विविध विचार व साधना पद्धतियों मे से उन्हे जहाँ जो बात वजनदार लगी उसे ग्रहण किया, जो थोथी (या निस्सार) लगी उसे त्याग दिया। इस त्याग व ग्रहण द्वारा भी उन्होंने जिन दानों को ग्रहण किया, उन्हे स्वयं के चिन्तन, मनन, अनुभव एवं व्यावहारिकता आदि साधनो से कूट-फटक कर, उनके छिलकों को उडा दिया और शेष रहे कणों का संग्रह अपनी निधि मे कर लिया।[3] इस वृत्ति के परिणाम स्वरूप उन्होंने बाह्याडंबरों को न

---

१. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : संत साहित्य के प्रेरणा स्रोत (१९७५ई०), पृ० २७।

२. कबीर औगुण ना गहै गुण ही कौ लै बीनि ॥ क०ग्रं०, सारग्राही कौ अंग, सा० ३, पृ० ४३।
समजी सिद्धान्त ने सार-ग्रही था सुखी बेस पूरो थई निज लाभे ॥अ०वा०,पद८७।

३. परिहर बकुला ग्रहि गुन डार, निरखि देखि निधि बार न पार ॥क०ग्रं०,पद३२६।
ज्ञानी ते जे करे विचार परपंच तजे न संघरे सार ॥ छ० ६८६, दे०, सोरठा ८६।

लेकर तत्व को ग्रहण किया और उसी को महत्व दिया, तथा विविध धर्मों के भेद को न लेकर उनके सार को लिया जिसके कारण उनकी रचनाओं मे स्वानुभूत सत्य का भी उद्‌घाटन हुआ है।[1] अतः उनकी विचारधारा एवं साधना मे परपरागत अनेक दार्शनिक मतो व साधनाओ के विविध तत्वो के सम्मिलित हो जाने की संभावना है। इसलिए श्रुतिग्रथों से लेकर उनके पूर्ववर्ती भक्ति के आचार्यो तक विभिन्न दार्शनिक मतों एवं साधनाओं के उन पर पडे प्रभाव का निरूपण उनकी विचारधारा व साधना के सम्यक् ज्ञान के लिए आवश्यक है।

इस विषय मे कुछ कहने से पूर्व इतना स्पष्ट कर देना भी अयुक्त न होगा कि एक तो वेदों के संहिता भाग मे स्वीकृत बहुदेववाद और ब्राह्मण भाग मे स्वीकृत कर्मकाण्ड से आलोच्य कवियों का सिद्धान्तत विरोध है, दूसरे एकाध अपवाद को छोडकर वैदिक-याज्ञिक-धर्म उनके समय मे प्रायः लुप्त हो चुका था और तीसरे यह कि तत्कालीन परिस्थितियों एव आलोच्य कवियों के सस्कार आदि को देखते हुए यह अनुमान भी असंगत न होगा कि श्रुति—ऋक्,साम,यजु एवं अथर्व-ग्रंथो से उनका कोई सीधा सम्बन्ध न रहा होगा। अत. वैदिक साहित्य के उपर्युक्त भागों से उनके प्रभावित होने की सम्भावना प्राय. नही है। ऋग्वेद की 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति.....'[2] एवं सुपर्णा-विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्त बहुधा कल्पयन्ति।'[3] आदि की साम्य-सूचक जो उक्तियाँ[4] एवं 'पुरुषसूक्त'[5] मे निरूपित ब्रह्म के विराट् स्वरूप के जो वर्णन उनकी रचनाओ[6] मे उपलब्ध है उन्हे वेदो का सीधा प्रभाव न मानकर वैदिक परम्परा का प्रभाव मानना ही अधिक संगत होगा। उनकी रचनाओ मे उपलब्ध, वेद-विषयक, समस्त उक्तियों को देखने के बाद कहा जा सकता है कि ऋग्वेद आदि चार वेद है।[7] और उनमे कर्मकाण्ड का निरूपण हुआ है[8] जैसी सामान्य सूचनाओ के अतिरिक्त उन्हे एतद्विषयक कोई विशेष ज्ञान न था। लक्ष्य

---

१. डा० मदनगोपाल गुप्त मध्यकालीन हिन्दीकाव्य मे भारतीय संस्कृति,पृ० १९१-९२।

२. दे०, ऋग्वेद १।१६४।४६।    ३. वही, १०।११४।५।

४. अपरंपार को नाउं अनंत, कहै कबीर सोई भगवंत ॥ क०ग्रं०, पद ३२७।
बहुनामी पण है तु अकेला यूँ सोनारा समज्या सहेला ॥ अ०र० जकड़ी २२।

५ दे०, ऋग्वेद १०।९०।१

६ दे०, क०ग्र० पद ३४०, अ० वा० पद ६१, सोरठा २२१ एवं छप्पा ३५२।

७ रुग न जुग न स्याम अथरवन वेद नही व्याकरना ॥ क०ग्रं० पद २१९।
वेद चार ब्रह्माना क्या, स्मृति पुराण ऋषि उच्चर्या ॥ छ० ५३४।

८. वेद पुरान सुमृत गुन पढि-पढि गुनि मरम न पावा ॥
संध्या गाइत्री अरु षट करमां तिन थै दूरि बतावा ॥ क०ग्रं० पद २६४।
पढे पढ़ावे वेद व्याकरना धर्म कर्म अधिकारी ॥ अ०वा० पद ५०।

करने की बात यह है कि अखा ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर 'वेद व श्रुति' शब्दों का प्रयोग किया है और स्वयं के मत को श्रुति-सम्मत कहा है, किन्तु इनमे से अधिकांश स्थलों पर 'श्रुति या वेद' से उनका अभिप्राय 'उपनिपद्' या शंकराद्वैत से है। उदाहरणार्थ उनकी एक उक्ति ( छ० २०० ) मे कहा गया है कि 'वेद यह कहता है कि सकल लोक हरि-रूप है।' एक अन्य उक्ति मे कहा है कि 'हरि और मैं के मध्य जो आरोपित द्वैत है वेद उसे माया ( छ० १४६ ) कहता है।' कहना न होगा कि उनकी प्रथम उक्ति मे छान्दोग्योपनिषद (३।१४।१) के 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' की ओर सकेत है तो द्वितीय मे शंकराद्वैत की माया का।

इस प्रकार वैदिक साहित्य का उन पर कोई सीधा प्रभाव सिद्ध न हो सकने की स्थिति मे उन्हें प्रभावित करने वाले दार्शनिक मतों का निरूपण षड्दर्शनो से प्रारम्भ किया जायगा।

**षड्दर्शन**

'षड्-दर्शन' का उल्लेख कबीर एवं अखा दोनों ने किया है।[1] षड्दर्शनों मे से कर्म-मीमांसा या पूर्वमीमांसा का तो मार्ग ही पथक् था; ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति के समर्थक; न्याय व वैशेपिक दर्शनों का भी परवर्ती विचार एवं साधना पर वैसा व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा जैसा कि वेदान्त, सांख्य एवं योग का। सांख्य एवं योग के मध्य भी सिद्धान्त-पक्ष व क्रिया-पक्ष का सम्बन्ध होने के कारण वे अपथक् ही सिद्ध होते हैं, किन्तु क्रियात्मक योग का एक स्वतंत्र मार्ग के रूप मे पर्याप्त विकास व प्रचार हुआ है। कबीर एवं अखा पर इन्हीं तीन—वेदान्त, सांख्य एवं योग—का प्रभाव विशेषतः लक्षित होता है, जिसे पृथक्-पृथक् रूप मे यहाँ क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है।

**वेदान्त दर्शन**

मूलत तो औपनिपदिक ज्ञान का ही अपर नाम वेदान्त था।[2] कालान्तर मे इसमें उपनिपद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र की 'प्रस्थान-त्रयी' स्वीकृत हुई। जिनमे से ब्रह्मसूत्रो मे उपनिपदो की परस्पर विरोधी उक्तियो के मध्य सामंजस्य या अविरोध की स्थापना की गई है, तथा अन्य विरोधी मतो का तार्किक खण्डन करके औपनिषदिक ज्ञान को क्रमबद्ध रूप से, ऐसी सूत्रात्मक भाषा मे प्रस्तुत किया गया है कि वह आचार्यो के भाष्यों के माध्यम से ही बोधगम्य है। इसलिए उनके मूल स्वरूप के प्रभाव का प्रश्न विचारणीय नही रहता। अत यहाँ कबीर एवं अखा पर उपनिपदों व गीता के प्रभाव को देखना अभीष्ट है।

---

१. पट दरसन संसै पड़्या,अरु चौरासी सिद्ध ।क०ग्रं०मधिकौ अंग सा० ११,पृ० ४२।
जीव का संसा ना मिटे जो होय खट दरशन का ज्ञान ॥ संसे अंग सा० १, अ०र०, पृ० १८६।

२. वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था.(मुण्डक:३।२।५)वेदान्ते परमं गुह्यम्(श्वे० ६।२२)।

उपनिषद्

उपनिषदो का अपना विशाल साहित्य है। 'मुक्तिकोपनिषद्' मे १०८ उपनिषदों की नामावली दी गई है।[१] सस्कृत सस्थान, बरेली से '१०८ उपनिषदें' नामक ग्रथ का प्रकाशन भी हुआ है, किन्तु इनकी सख्या ३०० तक होने का अनुमान है।[२] वेदों की तरह ये भी विभिन्न व्यक्तियों की अलग-अलग समय की रचनाएँ है अतः इनमे भी किसी एक मत का प्रतिपादन नही है। इतना निश्चित है कि ब्राह्मण-ग्रथों के यात्रिक 'कर्म-काण्ड' एवं बहुदेववाद के विरोध मे इनमें अद्वैतवादी 'ज्ञान-काण्ड' का प्रतिपादन हुआ है। यहाँ ईश, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, केन, कठ, श्वेताश्वतर एव ऐतरेय आदि उन प्रमुख उपनिषदों को ही सम्मिलित किया गया है जो काल-क्रम से सर्वाधिक प्राचीन हैं, और आचार्य शंकर ने जिनके भाष्य लिखे हैं। वेदो का अंतिम भाग होने[3] अथवा वैदिक ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त होने के कारण उन्हें वेदान्त भी कहा जाता है।[४]

उपनिषदो मे प्रतिपादित 'ब्रह्म-सिद्धान्त' के मूल स्रोत के रूप में ऋग्वेद के 'ऋत्-सिद्धान्त', 'नासदीय-सूक्त', व 'पुरुष सूक्त' एवं अथर्ववेद के 'उच्छिष्ट-सिद्धान्त' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इनमे प्रतिपादित अद्वैतपरक अध्यात्म-ज्ञान के व्यापक प्रभाव के विषय मे यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि नास्तिक कहे जानेवाले बौद्ध एवं जैन तथा भारतीय सूफी-दर्शन भी इनसे अप्रभावित नही रह सके हैं। आस्तिक-दर्शनो मे तो इनका सर्वोच्च स्थान आज भी यथावत् बना हुआ है। अन्य शास्त्रो की तुलना मे इसकी शक्तिमत्ता के विषय मे प्रसिद्ध है कि—

> तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
> न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त-केसरी ॥"[५]

इनमे प्रतिपादित ज्ञान की प्रमुख विशेषताएँ निम्नाकित है—

(१) जीवन का अतिम लक्ष्य याज्ञिक-कर्मों से प्राप्त सुखद लोक या स्वर्ग नही वरन् एक मात्र ज्ञान से प्राप्त 'मोक्ष' है।

---

१. दे०, बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ३७।

२. दे०, डा० रानाडे एवं बेलवेलकर भारतीय तत्त्वज्ञान का इतिहास, भाग २, पृ० ८७। कबीर की विचारधारा, पृ० १०८ से उद्धृत।

३. वेदो के चार भागों—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्—मे उपनिषदें अन्त मे आती हैं।

४. डा० राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग १।

५. दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ८१७ पर उद्धृत।

(२) कर्मो के अंतर्गत मात्र बाह्य-कर्म ही नही आते, मानसिक क्रिया-कलाप भी आते हैं। द्रव्य-यज्ञों की अपेक्षा मानसिक-यज्ञ श्रेष्ठ फलदायक होते है। अच्छे और बुरे सभी कर्म बन्धन या जन्म-मरण के कारण होते है, किन्तु निष्काम-कर्म अबंधक हैं।

(३) सच्चा सुख भोगों के भोगने मे नहीं वरन् उनके त्याग में है, अत व्यक्ति को इंद्रियों का दास नही, स्वामी बनना चाहिए।

(४) यह नाम-रूपात्मक सृष्टि अनित्य है, इसमें सर्वत्र सत्य, नित्य, पूर्ण एवं आनंदमय एक तात्विक सत्ता व्याप्त हैं जिसे व्यापक होने के कारण 'ब्रह्म' कहते है, जो मन-वाणी के लिए अगम-अगोचर है, देव, दानव, नर, गंधर्व, किन्नर आदि सभी उसी के अधीन हैं, उसी के भय से पवन चलता है, अग्नि जलती है, सूर्य तपता हैं। चन्द्र,सूर्य, अग्नि एवं उडगन उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, उससे परे कुछ भी नही है।

(५) 'स्व-स्वरूप' की विस्मृति या अज्ञान ही बंधन का कारण है, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर जीवात्मा वंधन से मुक्त होकर अपने सत्य, नित्य एवं आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर ब्रह्म ही हो जाता है।

(६) आत्म-ज्ञान की प्राप्ति मे कुल, जाति, वर्ण एवं लिंग-भेद बाधक नही हैं किन्तु मुमुक्षु का अधिकारी होना अत्यन्त आवश्यक है।

(७) मुमुक्षु में विवेक व वैराग्य के अतिरिक्त सत्य, संयम, अहिंसा, तपस्या, ज्ञान एवं माता-पिता एवं गुरु आदि के प्रति सेवा-भाव का होना आवश्यक है।

(८) पुनर्जन्म एवं कर्म-फल मान्य है।

कबीर की रचनाओ मे 'उपनिषद्' अथवा 'वेदान्त' शब्द का उल्लेख हमारे देखने मे नही आया, जबकि अखा की स्पष्ट उक्तियाँ है कि उपनिषदों मे ब्रह्म को आनन्दमय कहा गया है।[1] शास्त्रों का सिद्धान्त व उपनिषदों का अर्थ यह है कि यदि ढंग से साधा जाय तो वह हाथ-कंगन की तरह प्रत्यक्ष व सुलभ है।[2] वेदान्त उसे सच्चिदानन्द कहता है।[3] इत्यादि। तदुपरान्त उनकी रचनाओं मे तैत्तिरीयोपनिषद् का नामोल्लेख हुआ है,[4] वेद का 'चौदहवाँ काण्ड'[5] या 'अन्तिम काण्ड' कहकर उन्होंने बृहदारण्यकोपनिषद् का संकेत

१. उपनिषद कहत आनन्दमय, प्रकृति पार पंडित वतावे ॥ अ०वा०, पद ९६।

२. शास्त्रनो सिद्धान्त ओ छे उपनिषदनो अर्थ।
अखो सीध्यो साधतां जेम हाथे कांकण तरत ॥ वही पद ११

३. ........तेने सत् चित् आनन्द वदे वेदान्त ॥ छप्पा ६७६

४. तैत्तरि पर आद्य विचारे वेद केवल ईश्वर जीवनोभेद। चि०वि०सं० चौ० ४०

५. दे०, गु०शि०सं० २ : २४, छप्पा ५०६-७।

किया है—(क्योंकि शतपथ ब्राह्मण का वह चौदहवाँ या अन्तिम काण्ड है)। छान्दोग्योपनिषद् के इंद्र-विरोचन एवं ब्रह्मा-प्रजापति-आख्यान का उल्लेख भी उन्होने किया है।[1] साथ ही उन्होने 'सोऽहं', 'तत्वमसि', एकमेवाद्वितीयम्', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'नेति-नेति' आदि श्रुति महावाक्यों का खुलकर प्रयोग किया है, और कहा है कि तू उसी को भज कि जिसका बखान वेदान्त में हुआ है।[2] मेरे भाग्य मे वही लिखा है जिसको वेदान्त ने बखाना है।[3]अतः औपनिषदिक ज्ञान से उनका सुपरिचित होना निश्चित है। यहाँ इतना और लक्ष्य किया जा सकता है कि वेदान्त शब्द का प्रयोग जहाँ तहाँ उन्होंने शांकरभाष्य के लिए भी किया है। उदाहरणार्थ उनका कथन है कि 'माया के कृत्यों का कोई अन्त नही है, न माने तो वेदान्त को देख।'[4]स्पष्ट है कि यह माया शकराद्वैत की माया है।

उपर्युक्त विवेचन से हमारा यह मंतव्य नही है कि कबीर उपनिषदो से अप्रभावित रहे और अखा ने औपनिषदिक ज्ञान को ही ग्रहण किया था। पुस्तक-प्रामाण्यवादी उनमे से कोई न था, अद्वैतवादी-ज्ञानमार्गिक दोनो ही थे। अतः उपनिषदों से उन दोनो का प्रभावित होना स्वाभाविक है। यहाँ उक्ति-साम्य एवं विचार-साम्य सूचक कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) तदेजति तन्नैजति तद्दूरेतद्वदन्तिके। (ईश०उप०, मंत्र ५)

कबीर नेडै थै दूरि दूरि थै नियरा जिनि जैसा करि जाना॥(क०ग्रं०, पद ८, पृ० ७१)

अखा दूर जाने तिसे दूर है रे। अखा झाबाझोब आहि॥ झू० २६

(२) अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण.॥ (श्वेता० ३।१९

कबीर बिन मुख खाइ चरन बिन चालै बिन जिभ्या गुण गावै(क०ग्र०पद१५९,पृ० १०५

अखा बीन नेतुं का देखना बीन श्रवनु की धुन्य।
बीन रसना का बोलना एकु नही अखा चेहेन॥
(वि०वे० अग, सा० ८ अ० र० पृ०, १९३)

(३) स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयते॥ (बृ० उ० २।४।१२)

कबीर लूंण बिलगा पाणियाँ पाँणी लूंण बिलग॥ क०ग्र०, परचा कौ अंग, सा० १६)

अखा लूंण तो जलमा जई जल थयु त्यारे लूणपणानु नखोद गयु।
\+ \+ \+
जलनुं लूण ते जलमा खपे अखा हरिनादास ते हजूरमां जपे॥ (छप्पा ७३७)

(४) यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति॥ (कठ० उप०, २।४।१४)

---

१. दे०, चि०वि०सं० १३४।
२. अखो कहे तु कर तेनु भजन रे जेने वेदान्ते बखाणीयो रे॥ पद १४५
३. सोरठा, २३८।
४. दे०, छप्पा, २५३।

कबीर  डूंगर वूठा मेह ज्यूं गया निर्वाणां चालि । (क०ग्रं०, मन कौ अंग, सा० २२)
अखा  वासना लीन थया पछी देह जेम पर्वत पर वरसे मेह ।
भराणुं नीर झरी नीसरे, पाछल उमेरो कोण करे ।। (पंचीकरण चौ० ५७-५८)

इनके अतिरिक्त सर्वव्यापी ब्रह्म के स्वरूप-निरूपण, सर्वात्मभाव, आत्मा व ब्रह्म के अद्वैत या मुक्त-जीव का ब्रह्म ही हो जाना, सृष्टि की अनित्यता, जीव के अज्ञान, ज्ञान द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति, मोक्ष-साधना मे वाह्य-कर्मो की अनुपयोगिता, वहुत पढ़ने का विरोध, मानसिक अर्चन-पूजन की श्रेष्ठता, साधना क्षेत्र मे उच्च जाति या वर्ण की आवश्यकता की अस्वीकृति, किन्तु साधक के अधिकारी होने की आवश्यकता, गुरु की देव जैसी ही भक्ति, साधक द्वारा सत्य, अहिंसा, संयम, विवेक एवं वैराग्य का पालन, आदि विषयों पर उपनिपदों व कबीर एवं अखा की रचनाओं मे पर्याप्त उक्ति-साम्य या विचार-साम्य पाया जाता है, जिसका उल्लेख यथा-स्थान किया जायगा । यहाँ इतना उल्लेखनीय है कि मन पर विजय प्राप्त करने के लिए उपनिषदों ने जिस अध्यात्म योग या 'स्थिर इंद्रिय-धारणा'[1] को स्वीकार किया है उसके स्थान पर संतों ने हठयोग का सहारा लिया है, यद्यपि दोनों का लक्ष्य एक ही है । उपनिषदों की प्राणोपासना या आत्मरति का स्थान संतों की निर्गुण-भक्ति ने ग्रहण किया है । अतः औपनिषदिक 'ब्रह्म' व संतों के 'राम' के स्वरूप मे यत्किंचित् अन्तर भी आ गया है । औपनिषदिक एवं संतों की माया मे भी कुछ अन्तर है । साथ ही यह कि सृष्टि रचना मे उपनिपदों के 'पंच-कोप' का उल्लेख कबीर मे नही है जबकि अखा ने उन्हें स्वीकार किया है । विद्या-अविद्या का उल्लेख भी उन्होंने किया है, किन्तु वह उसी अर्थ मे नही है । दोनों ही कवियों की शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कारादि को देखते हुए कहा जा सकता है कि कबीर पर उपनिषदों का प्रभाव गुरु उपदेश या सत्संगचर्चा आदि के किसी अप्रत्यक्ष माध्यम से सम्भव हुआ होगा जबकि अखा ने गुरु ब्रह्मानन्द से इनका श्रवण किया होगा ।

**भगवद्गीता**

उपनिपद्-रूपी गायों का दोहन कहे या भागवत-धर्म का ग्रंथ स्वीकार करें, गीता भारतीय चिंतन का सर्वोच्च शिखर है । क्योंकि यहाँ से आगे प्रायः भाष्यकार ही उपलब्ध होते है स्वतंत्र चिंतन नही । 'गीता-ज्ञान' की विशेपता उसका समन्वयवाद है—चिंतन के क्षेत्र मे ज्ञानियों व योगियों के ब्रह्मवाद, सांख्य के प्रकृति व पुरुपवाद और भागवतों के ईश्वरवाद तथा साधना के क्षेत्र मे ज्ञान, योग, कर्म एवं भक्ति का उसमें सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया गया है । वैदिक और अवैदिक सभी प्रकार के पलायनवादी नैष्कर्म्य को निकृष्ट व असम्भव ठहराया गया एवं सकाम कर्मो को बंधन का कारण वताकर लोक-संग्रहकारी 'निष्काम-कर्मयोग' की ऐसी भूमिका प्रस्तुत की गई है कि जिसका कोई अन्य विकल्प हो नही सकता ।

---

१. दे०, कठ० २।६।७-११, १६, १८ ।

'गीता-ज्ञान' का संक्षिप्त सार निम्नांकित है—

जो ब्रह्म निर्गुण निराकार है वही सगुण-साकार भी है (१२।१-३), जो अजन्मा है (४।६) वही धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में (४।७-८) जन्म लेता है, जो अकर्ता, द्रष्टा एवं साक्षी है, जिसे कोई भी कामना नही (३।२२) वही लोक-सग्रहार्थ कर्म करता (३।२२) है। जीव ईश्वर का अंश है (१५।७), जो अहंकारवश कर्तापन का भार (३।२७) ढोता है। आत्मा अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वगत एवं सनातन (२।४४) है। जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है (२।२७), किन्तु वह शरीर की होती है आत्मा की नही। श्वान, श्वपच, गौ एवं ब्राह्मण सभी मे एक ही आत्मा (५।१८)है। अतः सब भूतों मे समत्व बुद्धि (१२।१३) रखनी चाहिए। गुण एवं कर्मों के आधार पर चार वर्णो की रचना (४।१३) ईश्वर द्वारा की गई है, विहित कर्मों के लिए गीता-शास्त्र को प्रमाण (१५।२४) मानकर प्रत्येक को अपने धर्म का पालन (३।३५) करना चाहिए। कर्म जड है; जो न किसी को बाँधते है, न छोड़ते है. बंधन का कारण कर्म मे फलासक्ति का होना है, जिसे त्याग कर लोकसंग्रह की भावना से युक्त निष्काम-कर्म करना चाहिए (३।२५-२६)। यह ठीक है कि कर्मो से सुखद किन्तु क्षीण लोकों की प्राप्ति (९।२१) होती है, यह भी ठीक है कि ज्ञानाग्नि से कर्म भस्मीभूत हो जाते है (४।३७);किन्तु भगवदर्पण कर्म करनेवाला भी ईश्वर को (५।६)ही प्राप्त होता है। फिर कर्मों का सर्वथा त्याग संभव भी नही है क्योकि हठपूर्वक किया गया कर्म-त्याग स्वयं एक तामस कर्म (१८।७) है।

निर्गुण की उपासना श्रेष्ठ है किन्तु कष्टसाध्य (१२।५८) है, जबकि सगुण की उपासना सुलभ व श्रेष्ठ है। ज्ञान (४।३८), योग (६।४६), कर्म (१८।६) एवं भक्ति (८।२२) सभी साधनाएँ उत्तम है, किन्तु प्रपत्ति (१८।६६)सर्वसुलभ व श्रेष्ठ है। भगवत्-शरण स्वीकारने पर—स्त्री, शूद्र एवं वैश्य-सभी की सद्गति सम्भव (९।२२) है। साधना में देह-दमन अनावश्यक (६।१६-१७) है। जो जिस रूप मे भजता है ईश्वर उसे उसी रूप में प्राप्त होता है। सभी साधनाओं का अंतिम लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है।

कबीर की रचनाओं में गीता का उल्लेख तक नही है, जबकि अखा ने अनेक स्थानों पर उसका उल्लेख ही नही किया वरन् साक्ष्य भी स्वीकार किया है। एतद्विषयक उनकी उक्तियों मे कहा गया है कि गीतोक्त ज्ञान अमृत-पान एव गंगाजल-मंजन सदृश है।[1] उसमे श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को 'कर्म-योग' का उपदेश दिया गया है।[2] इसके सातवे अध्याय मे श्रीकृष्ण ने जो चार प्रकार के भक्त बताए है उनमे से प्रथम तीन के वे नियन्ता है, चतुर्थ-अर्थात् ज्ञानी-भक्त को उन्होने अपना ही स्वरूप कहा है।[3] तदुपरान्त

१. दे०, अनुभवबिन्दु : ३३।

२. दे०, अखेगीता क० ३, पंक्ति ४।

३ दे०, छप्पा ५२३ अ०वा० पद १४७ तुलनीय : गीता ७।१६-१८।

गीतोक्त-दैवी एवं आसुरी संपत्ति,[1] विराट्-स्वरूप[2] या विश्वरूप, शरणागत की रक्षा का भगवान् का दायित्व,[3] अकर्ता होकर रहना[4] आदि का भी उल्लेख उन्होंने किया है।

उल्लेख्य यह है कि गीतोक्त निर्गुण ब्रह्म, ब्रह्म का विराट्-स्वरूप, आत्मा की सर्व-व्यापकता, समत्वबुद्धि, प्रभु की भक्त-वत्सलता, प्रपत्ति, काया-दमन का विरोध, उपासना मे वर्ण व लिंग-भेद की अमान्यता, एवं निष्काम कर्म आदि मे दोनों कवियों की आस्था है। इससे कबीर के काव्य में गीता का उल्लेख न होते हुए भी उन पर उसकी परम्परा-गत विचारधारा का प्रभाव एक सीमा तक अवश्य परिलक्षित होता है। गीतोक्त प्रभु के सगुण अवतार, शास्त्र-प्रामाण्य एवं चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था आदि मे दोनों मे से किसी का भी विश्वास नही है। कबीर ने ब्रह्म को 'गुन निरगुन के निज दाता' कहा है, अखा ने जहाँ तहाँ उसके सगुण व निर्गुण दोनो रूप स्वीकार किये है। किन्तु उनकी ऐसी उक्तियों मे अवतारी ब्रह्म की स्वीकृति नही, वरन् निर्गुण या कारण ब्रह्म के कार्य व्यक्त सृष्टि को उसका सगुण रूप कहकर उनके मध्य अभेद का प्रतिपादन किया गया है। इस त्याग व ग्रहण से उनकी सारग्राही प्रवृत्ति पर भी प्रकाश पड़ता है।

### सांख्य-दर्शन

महर्षि कपिल-प्रणीत सांख्य-दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। अपने मूल रूप मे यह द्वैत-वादी एवं अनीश्वरवादी मत था, किन्तु बाद मे वेदान्त एवं योग के प्रभाव से जब इसमें ईश्वरीय सत्ता ग्राह्य बनी तो इसे 'सेश्वर-सांख्य' अभिधान से जाना गया। इसके अंतर्गत प्रकृति व पुरुष दोनों को नित्य स्वीकार किया गया है। प्रकृति अनात्म, अचेतन, अव्यक्त एव त्रिगुणात्मिका मानी गई है, पुरुष निर्गुण, अकर्ता, चेतन, नित्यमुक्त एवं अनन्त माना गया है। सृष्टि का मूल-कारण प्रकृति है जो चेतन पुरुष के बिम्ब या सम्पर्क से चेतनवत् होकर कार्यरत होती है। प्रकृति के सम्पर्क मे आने पर पुरुष स्वरूप-विस्मृति को प्राप्त होता है, और जीव रूप में स्वयं को कर्ता व भोक्ता मानकर सुख-दुख का अनुभव करता है। पुरुष का प्रकृति से यह बंधन या सम्बन्ध औपाधिक है, जो 'विवेकख्याति' या स्वरूप-ज्ञान से दूर हो सकता है अन्य उपायों से नहीं। त्रिविध-तापों से आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है,[5] जिसे ज्ञान के द्वारा जीवितावस्था मे भी पाया जा सकता है।[6]

१. दे०, छप्पा ६७६-७९ तुलनीय गीता १६।१-३ एवं १७।२१।
२. दे०, अ०वा० पद १३० तुलनीय गीता ११।१०-१३।
३. दे०, छप्पा २४५ तुलनीय गीता ३।३१ एवं १८।६६।
४. छप्पा ५२२ तुलनीय गीता १८।१७।
५. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥ सां० सू० १।१।
६. ज्ञानान्मुक्तिः। सा०का० ३।२३, बन्धो विपर्ययात्। ३।२४ 'जीवन्मुक्तश्च'। ३।७८।

सृष्टि रचना मे सांख्य-स्वीकृत २४ तत्वों को, उनकी संख्या मे न्यूनाधिक परिवर्तन करके प्राय. सभी मतों ने स्वीकार किया है। अपने सृष्टि-रचना विपयक विचारो में कबीर एवं अखा दोनों ही साख्य के ऋणी है। कबीर ने अविगत ( अव्यक्त ) से उत्पन्न .तीन गुण तथा पाँच तत्वो का उल्लेख किया है।[1] अखाकृत 'पंचीकरण' का मूल आधार सांख्य व उपनिषदों की 'पंचकोष'-विपयक मान्यता है। इनके अतिरिक्त भी उन्होंने जहाँ-जहाँ सृष्टि-रचना का उल्लेख किया हैं वहाँ साख्य की साक्षी, उसके २४ तत्व, प्रकृति-पुरुष संयोग,अचेतन व जड-प्रकृति से चेतन पुरुप को पृथक् करके देखने की विवेकख्याति की आवश्यकता को स्वीकार किया है।[2] कबीर की तरह उन्होंने भी सृष्टि-रचना अव्यक्त से हुई मानी हैं।[3]

यहाँ लक्ष्य करने की वात यह है कि साख्य को तरह कबीर एवं अखा न तो अनीश्वर-वादी हैं न द्वैतवादी। उनका मुख्य स्वर वेदान्त के अद्वैत का है, जिसके अनुसार दृश्य व अदृश्य जगत् मे केवल एक ही सत्ता है, वही सृष्टि की उत्पत्ति व लय का स्थान है। अतः उन्होने पच तत्वों की उत्पत्ति जिस अव्यक्त से वताई है वह साख्य की प्रकृति न होकर वेदान्त का ब्रह्म है, जिसे कबीर की भापा में निरंजन तो अखा की भापा मे 'परब्रह्म' या 'चैतन्य' नाम दिये गये है।[4] तत्वतः पंचभूत और पांचभौतिक-सृष्टि अनित्य व असत्य दोनों ने मानी है।[5] अतः कहा जा सकता है कि वे साख्य की पदार्थ-मीमासा से प्रभावित थे, दार्शनिक मतवाद से नही। कबीर की अपेक्षा अखा को साख्य का आधारभूत ज्ञान प्राप्त था जो उन्हें गुरु ब्रह्मानन्द स्वामी से प्राप्त हुआ था।

**योग दर्शन**

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणीत योग-दर्शन को तात्विक ज्ञान का मूल आधार कपिल का साख्य दर्शन है। निरीश्वरवादी सांख्य दर्शन के चौवोस तत्वों के अतिरिक्त 'ईश्वर' को स्वीकार करने के कारण इसे 'सेश्वर-सांख्य' के अभिधान से भी जाना जाता है।

---

१. दे०, क०ग्र० पद ४४, पृ० ८० एवं पद १६४, पृ० ११५।
२. दे०, चि०वि०सं० ७१-७३, गु०शि०सं० खण्ड १, ब्रह्मलीला : चोखरा, ३, ४।
३. दे०, पंचीकरण : चौपाई २ एवं आगे।
४. अंजन अलप निरजन सार + + अंजन उतपति वरतनि लोई + + + निरंजन सब घटि रह्यो समाई। क०ग्रं० पद ३३७।
उर्वि चेतन चेतन आप, चेतन अन अनल नो व्याप।
चेतन व्योम अव्यक्त ब्रह्म सदा ते जाणे टले द्वैत आपदा॥
गु०शि०सं० ३।२९ दे०, पंजीकरण चौ० २।
५. दे०, क०ग्रं० पद ३२, पृ० ७७ एव पद ३८, पृ० ७८; अखाकृत ग्र०शि०म०३।२६-२८ एवं पूरव जनम अग सा० ६, ७, अ०र० १८०।

योग दर्शन का 'ईश्वर' जीव से भिन्न और क्लेश, कर्म, कर्मफल एवं संस्कार आदि से (यो०सू० १।२४) असंपृक्त है। वह सर्वज्ञ (यो०सू० १।२५) एवं कालातीत ( यो०सू० १।२६) है। यद्यपि वह मोक्ष प्रदान नहीं करता किन्तु साधकों के साधना मार्ग की कठिनाइयो को दूर कर गुरु सदृश ( १।२६ ) सहायक है। 'प्रणव' ( यो०सू० १।२७ ) ईश्वर का वाचक शब्द है, जिसके जप व अर्थ का विचार ( यो०सू० १।२८ ) करने से समाधि की प्राप्ति होती है। ध्यान रहे योग का यह ईश्वर संसार का कर्ता एवं भर्ता आदि नही है।

पुरुष (आत्मा) स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध, चेतन व अनन्त है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका व अनादि है। प्रधान या प्रकृति और पुरुष का संयोग ही संसार है। जो परिणाम मे दुःखमय होने के कारण हेय व त्याज्य है। पुरुष मूल रूप मे मुक्त है किन्तु जड़ चित्त मे प्रतिबिम्बित होने व उसके साथ तादात्म्य स्थापित होने से बन्धन को प्राप्त होता है। उसका यह बन्धन उसकी स्वरूप-विस्मृति या अज्ञान के कारण औपाधिक या अवास्तविक है। वह जड़-प्रकृति से भिन्न शुद्ध-चैतन्य रूप सत्ता है इस प्रकार का स्वरूप-ज्ञान होने पर वह बन्धन से मुक्त हो जाता है—इसे ही सांख्य मे 'विवेक-ख्याति' कहा गया है। किन्तु योग-दर्शन के अनुसार यह स्वरूप-ज्ञान, चित्त की बहिर्मुखी वृत्तियों के निरुद्ध (यो०सू० १।२) होने पर ही प्राप्य है। सांख्य मे जहाँ ज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष को प्रमुख स्थान दिया गया है वहाँ योग-दर्शन में उक्त ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक क्रिया-योग को दिया गया है। इस प्रकार दोनों दर्शन एक-दूसरे के पूरक सिद्ध होते है किन्तु योग-दर्शन में ईश्वर की सहायता उपलब्ध होने के कारण पुरुष प्रकृति पर इतना निर्भर नही है जितना कि सांख्य मे है। दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।

कबीर एवं अखा ने न तो पुरुष (आत्मा) को अनेक माना है, न ब्रह्म (ईश्वर) को जीव से भिन्न माना है। न उनकी प्रकृति अनादि व स्वतंत्र है, न उनका मोक्ष दुःखों का अभाव मात्र ही है—उसमें आनन्द का भी समावेश है। 'प्रणव' को उन्होंने यद्यपि ब्रह्म (या ईश्वर) का वाचक शब्द स्वीकार किया है किन्तु उनका ब्रह्म योग-दर्शन के ईश्वर से भिन्न गुण-धर्मो वाला है। अतः योग के वैचारिक पक्ष का उन पर कोई प्रभाव है यह कहना कठिन है। फिर भी एक तो आत्म-ज्ञान या स्वरूप-ज्ञान को उन्होंने अपने मोक्ष मार्ग मे सहायक माना है, दूसरे योग के क्रियात्मक पक्ष को उन्होंने अपनी साधना में स्वीकार किया है। अखा ने षड्दर्शनों की आलोचना में 'पतंजलि-योग' का भी समावेश किया है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कबीर एवं अखा पर योग दर्शन के तत्व-ज्ञान की अपेक्षा
स्थान आगे किया

**अजातवाद**

गौडपादाचार्य द्वारा माण्डूक्य कारिकाओं मे प्रतिपादित 'केवलाद्वैत' का ही अपर नाम अजातवाद है। आचार्य ने ब्रह्म को सत् होने के कारण—अज, तो जीव, जगत् तथा माया को असत् होने के कारण-अज, माना है,[1] इस कारण उनका मत अजातवाद कहलाया। आचार्य शंकर के मायावाद और गौडपादाचार्य के अजातवाद में तात्विक अन्तर इतना ही है कि शंकर जगत् को मायाकृत एवं असत् तो मानते हैं किन्तु उसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं। गौडपादाचार्य का कथन है कि यह संसार आदि में न था, अन्त मे न रहेगा, जो आदि व अन्त मे नही है, वह वर्तमान मे भी वैसा ही है।[2] सृष्टिगत समस्त पदार्थ स्वप्न व कल्पनागत पदार्थों के सदृश ही अस्तित्वहीन हैं।[3] कोई भी वस्तु न तो ब्रह्म से पृथक् है न अपृथक्। आत्मा आकाश सदृश है,[4] वह घटाकाशों सदृश जीव रूप मे उत्पन्न हुआ है; वह महा-आकाश (ब्रह्म) का विकार या अवनय नही है।[5] वह आकाश सदृश निर्विकार विभु, असंग एवं साक्षी है, अतः जीवोत्पत्ति असगत है।[6] चराचर मे जो द्वैत है वह मन के कारण है, क्योकि मन का अमनी-भाव (संकल्प-शून्य) हो जाने पर द्वैत नही रहता।[7] तत्व-बोध से अमनी-भाव प्राप्त होता है।[8] अक्षय-शान्ति मन के निग्रह के अधीन है।[9] सुपुप्ति व विज्ञप्ति से रहित मन ही ब्रह्म हो जाता है।[10]

कबीर एवं अखा दोनों ने संसार को स्वप्नवत् असत्-माना है, जीव की तुलना 'बंध्या-सुत' से की है, जिसकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय सभी मिथ्या है। द्वैत का कारण मन उन्होंने भी माना है और अमनी-भाव की प्राप्ति पर मन का ब्रह्म हो जाना या जीव का ब्रह्म ही हो जाना भी उन्हे स्वीकृत है। अत. दोनों सतों पर अजातवाद का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य है, किन्तु साधना मे (द्वैत-मूला) भक्ति को स्वीकार करने के कारण वे इन सिद्धान्तों का सर्वांशत निर्वाह नही कर सके है। फिर भी अखा की रचनाओं-विशेषरूप से 'एक लक्ष रमैणी', 'ब्रह्मलीला', आदि मे इन सिद्धान्तों की पोषक जितनी उक्तियाँ उपलब्ध होती है उतनी कबीर की रचनाओं मे नही।

**शंकराद्वैत**

उपनिषत् प्रामाण्यवादी आचार्य शंकर (७८८-८२०ई०) अप्रतिम प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इनके द्वारा प्रतिपादित 'मायावाद' का परवर्ती आचार्यों पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

---

१. स्वतो वा परतो वापि न किंचिद्वस्तु जायते।
   सदसत्सदसद्वापि न किंचिद्वस्तु जायते ॥ (मा०का० ४।२२)

२. माण्डूक्य कारिका, २।६। ३. वही : २।१२-१९। ४. वही ३।३।

५. वही : ३।७। ६. वही : ३।४८। ७. वही : ७।३१।

८. वही : ३।३२ ९. वही : ३।४० १०. वही : ३।४६।

यहाँ तक कि इन्हे प्रच्छन्न बौद्ध कहनेवाले व इनके मत का खण्डन करने वाले भी इनके प्रभाव से अछूते न रह सके थे। इनके विचारों का संक्षिप्त सार निम्नांकित है—

प्रत्येक व्यक्ति अपना अस्तित्व स्वीकार करता है, यह कोई नही कहता कि मैं नहीं हूँ, अतः आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है।[1] निर्विकार, निर्विकल्प एवं निरुपाधिक अभेद सत्ता का नाम ही 'ब्रह्म' या आत्मा है। सत्य, अनन्त एवं ज्ञान रूप होना उसका स्वरूप लक्षण है, जो सच्चिदानन्दमय है। माया से अविच्छिन्न होने पर वही सगुण ब्रह्म कहलाता है, यह उसका तटस्थ लक्षण है। वह जगत् का निमित्तोपादान कारण है जैसे मकडी स्वरचित जाल का होती है। अतः यह सृष्टि ब्रह्म का विकार नही वरन् विवर्त है जैसे कम प्रकाश में रस्सी से भासित सर्प रस्सी का विवर्त है। अज्ञान-रूपा माया-कृत यह जगत् असत् है। वस्तु मे अवस्तु का आरोप ही मिथ्याज्ञान या अज्ञान है जैसे रज्जु मे सर्प का आरोप करके भयभीत होना। माया न सत् है न असत्, वरन् अनिर्वचनीया है, क्योंकि जब तक अज्ञान, या रज्जु मे सर्प होने की भ्रांति विद्यमान है तब तक वह सत् है, किन्तु रज्जु-ज्ञान होने पर वह असत् है। माया की दो शक्तियाँ है—आवरण और विक्षेप। प्रथम से वह ब्रह्म को ढँक देती है जैसे बादल सूर्य को ढँक देते है, द्वितीय से वह सृष्टि की रचना करती है। देह मे आत्म-भाव ही जीव के बन्धन का कारण है। शरीर व इन्द्रियों से युक्त कर्ता व भोक्ता के अहंकार वाला आत्मा ही जीव है। आत्मा नित्य, चैतन्य एवं विभु है, अणु नही। आत्म-ज्ञान या स्वरूप-ज्ञान की उपलब्धि होने पर जीव माया से मुक्त होकर अपने सच्चिदानन्दमय रूप को प्राप्त कर ब्रह्म ही हो जाता है। सब मिलाकर यह कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मोजीवैव नापरम्।'

निर्गुण ब्रह्म के सच्चिदानन्दमय स्वरूप, जीव व ब्रह्म की एकता, जीव का अज्ञान, मायाकृत अनित्य-सृष्टि, मोक्ष-प्राप्ति, बाह्य कर्म-विरोध आदि विषयक विचारों मे कबीर एव अखा दोनों ही शंकर से निश्चित रूप से प्रभावित है। कनक-कुंडल न्याय का अविकृत परिणामवाद, रज्जु मे सर्प का भ्रम, सृष्टि रचना मे ब्रह्म का निमित्तोपादान कारणत्व आदि भी दोनों को स्वीकृत है। विशेष मे यह कि सीप मे रजत का, व रेती मे जल का अध्यास, सागर-लहर, फेन-बुदबुदा आदि के भिन्नाभिन्न सम्बन्ध, मरकट-मुष्टि व 'कीर' के अज्ञानजनित बन्धन आदि विषयक, शंकराद्वैत-पोषक जितने उल्लेख अखा मे है उतने कबीर मे नही। अखा ने गुरु-शिष्य संवाद में शांकर-भाष्य का सार लिखने का प्रयत्न भी किया है।[2] उपादान व अधिष्ठान कारण, अध्यास, निमित्तोपादान कारण, जाग्रत-सुपुप्ति-स्वप्न एवं तुरीयावस्था, स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण देह एवं 'पंचकोश' आदि का निरूपण अखा ने अनेक बार किया है।[3] यह भी उल्लेखनीय है कि रज्जु मे सर्प के भ्रम

---

१. सर्वो ह्यात्मास्तित्व प्रत्येति न नाहम् अस्मीति। ब्र०सू०शां० भाष्य १।१।१।
२. दे०, साभल संमत कहुँ तुज अंग शाकरभाष्य तणो जे रंग।। गु०शि०स० ३।३ आदि।
३. दे०, गु०शि०सं० ३।४२-४४ एवं पंचीकरण।

का (वि०चू० ११२) आचार्य ने जो दृष्टान्त दिया है उसमे प्रकाश होने पर सर्प के भ्रम के दूर होने की बात कही गई है, परन्तु अखा ने जहाँ-तहाँ प्रकाश होने पर रज्जु के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया है।[1] किन्तु उनकी ऐसी उक्तियों में ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञान के भेद से शून्य ऐसी स्थिति का निरूपण हुआ ही समझना चाहिए कि जहाँ वाणी का स्फुरण नही है, जैसा कि इस उक्ति से सिद्ध है—

भ्रम नही भ्रम नही ज्यों का त्यों चिद् आप।
जल तरंग केहेवे अखा नही जेवडी नही साप ॥[2]

अन्यथा 'नही जेवडी नही साप' से साँप की तरह ही जेवडी का अस्तित्व भी असिद्ध मानने या उसमे परे किसी अन्य का अस्तित्व मानने की स्थिति मे या तो नास्तिकवाद को स्थान मिलेगा या फिर ब्रह्म की सर्वोपरिता बाधित होगी।

**वैष्णवमत**

विष्णु अथवा उसके अवतारो को परमसत्ता के रूप मे पूजने वाले वैष्णव कहे जाते है। वैष्णव-मत इस देश के प्राचीन मतों मे से एक है। पाणिनि (४०० ई० पू०) ने राम-पूजन का उल्लेख किया है। वेसनगर-ग्वालियर के (२०० ई० पू०) एक शिलालेख मे यवन-दूत हेलियोडोरा ने स्वयं को 'परम-भागवत' कहा है और देवाधिदेव वासुदेव की प्रतिष्ठा मे गरुड-स्तम्भ का निर्माण भी उसने कराया था।[3] पतजलि (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) ने 'कंस-वध' एव 'वालि-वध' नामक नाटकों के अभिनय का उल्लेख किया है। ये सभी उल्लेख इस मत की प्राचीनता के परिचायक है। तदुपरान्त यद्यपि नारायणीय-धर्म, भागवत-धर्म, ऐकातिक-धर्म, पाचरात्र-धर्म एवं सात्वत्-धर्म आदि नामों के अन्तर्गत इसके विकास एव इसके संगठन के घटकों की एक सुदीर्घ ऐतिहासिक परम्परा मिलती है; किन्तु जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है इसका सर्वाधिक प्रचार एवं प्रसार गुप्तवंश के राजाओं द्वारा किया गया।[4] दक्षिण मे इसका विशेष प्रचार 'पल्लव' राजवंश के राजाओं एवं 'आडवार' भक्तो द्वारा किया गया।[5] शंकराद्वैत की दृढ दार्शनिक पृष्ठभूमि एवं रामानुज को प्रपत्ति-भावना से युक्त होने पर यह विद्वानों एवं सामान्यजनों में समान रूप से लोकप्रिय बना।

महाभारत का नारायणीयोपाख्यान, गीता, भागवत, नारद एवं शाडिल्य के भक्ति-सूत्र, सहिताएँ या तंत्रो एवं पुराणों आदि के रूप मे इसका विपुल साहित्य है। देश-विदेश

१. रज्जु लगी सो भुजग भ्रम है, विन रज्जु केसो अही। ब्रह्मलीला ८।३।
२. अथ ज्ञान को अंग सा० ११ अक्षयरस, पृ० ३१६।
३ दे०, आचार्य बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय, पृ० ९५।
४. दे०, के०एम० पनिकर : ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० ५५-६०।
५. वही, पृ० ९४ एवं १०५।

मे पडे इसके व्यापक प्रभाव का तो यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।[1] देश के अंतर्गत जब जैन एवं बौद्ध जैसे नास्तिक धर्म राम व कृष्ण को अपनाने के व्यामोह को न त्याग सके तो अन्य की तो बात ही क्या ?

कबीर की रचनाओं मे वैष्णवों की सर्वाधिक प्रशंसा की गई।[2] राम के बाद दूसरा स्थान उन्हे ही दिया गया है,[3] एवं वैष्णव पुत्र की जन्मदात्री माता को ही उन्होंने धन्य कहा है,। स्वामी रामानन्द उनके गुरु थे, स्वयं की भक्ति को उन्होंने नारदी भक्ति कहा है।[4] तदुपरान्त 'पीछे लागा जाय था लोक वेद के साथ', 'हम भी पाहन पूजते' एवं 'हम तौ जाति कमीना' जैसी उक्तियों से भी उनके वैष्णवी-सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। अखा जन्म से वैष्णव थे। उनके द्वारा गोकुलनाथ जी से दीक्षा ग्रहण करने का रहस्य भी संभवत. यही था। अतः उन पर वैष्णवी संस्कार प्रमाण की अपेक्षा नही रखते।

दोनों कवियों के वैष्णवों से प्रभावित होने मे संदेह को स्थान नही किन्तु उल्लेख्य यह है कि निर्गुण-निराकार के उपासक होने के कारण इस मत के अवतारवाद एवं बाह्याचारो से अप्रभावित रहकर वे इसकी भक्ति-साधना के, स्वमत अनुकूल, तत्वों को ही अपना सकते थे। अतः यहाँ इस मत के भक्ति के प्रतिपादक मुख्य ग्रथो एवं आचार्यो—विशेषतः रामानन्द एवं वल्लभाचार्य—का परिचय एवं उनके प्रभाव का निरूपण ही पर्याप्त होगा।

भक्ति-विषयक प्रमुख ग्रंथों में से गीता का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है, शेष का आगे किया जायगा।

**श्रीमद्भागवत**

सगुण-भक्ति, विशेषकर कृष्ण-भक्ति, के आधारभूत ग्रंथ के रूप मे श्रीमद्भागवत इतना प्रसिद्ध और स्वीकृत है कि इसके लिए किसी अन्तर्बाह्य प्रमाण की आवश्यकता नही। शाडिल्य एवं नारद के भक्ति-सूत्रों की रचना भी इसी के आधार पर हुई मानी जाती है। डा० दास गुप्ता के अनुसार रामानुज का प्रपत्ति सिद्धान्त भी इससे बहुत कुछ संबंधित है, तथा चैतन्य के जीवन मे तो इसकी भक्ति-पद्धति पूर्णतया घटित हुई है।[5]

---

१ दे०, आ० बलदेव उपाध्याय : भागवत संप्रदाय।

२. साषत बाभण मति मिलै बैसनों मिलै चांडाल।
अंक माल दे भेटिये मानों मिलै श्री गोपाल ॥

क०ग्रं०, साध महिमा को अंग, सा० ९, पृ० ४१।

३. मेरे संगी दोइ जणा एक वैष्णो एक राम ॥ वही, साध साषी भूत कौ अंग, सा० ४, पृ० ३९।

४. भगति नारदी मगन सरीरा इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा ॥ क०ग्रं०,पद २७८, पृ० १३६।

५. दे०, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० १२७।

गीता की तरह इस ग्रंथ मे भी यद्यपि विष्णु के सगुण व निर्गुण-दोनों रूप स्वीकार किये गये है,[१] कहीं-कहीं निर्गुण की उपासना को ही श्रेष्ठ[२] और सगुण की उपासना को अज्ञानजन्य भी कहा गया है ।[३] कही उसे निर्गुण-सगुण दोनों से परे भी कहा गया है ।[४] उसका स्वरूप निरूपण करते हुए कहा गया है कि 'वह माया रहित केवल ज्ञान रूप, सत्य, पूर्ण, आदि-अन्त-रहित, नित्य, निर्गुण अद्वय है ।'[५] अज्ञान-जन्य अहंता या कर्तृत्व एवं भोगत्व के भाव से मुक्त होकर स्वरूप मे स्थिति को मुक्ति कहा गया है ।[६] अव्यवस्थित रूप मे योग के यम-नियमादि आठों अंगों का निरूपण किया गया है ।[७] 'कपिल-देवहूति' अख्यान मे सांख्य की पदार्थ मीमांसा का भी समावेश है ।[८] किन्तु एक तो इन सबको वैष्णव-संप्रदाय के अनुकूल रूप दे दिया गया है, दूसरे ये उसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय नही है । उसका प्रतिपाद्य विषय, एवं प्रसिद्धि का कारण, जैसा कि नारद-व्यास आख्यान से प्रसिद्ध है, सगुण का लीला गायन ही है ।

इस ग्रंथ मे निरूपित देवतावाद, द्वैत, एवं क्रिया-काण्ड आदि का आलोच्य कवियो पर प्रायः कोई प्रभाव सिद्ध नही होता । किन्तु पूर्वोक्त निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप सेश्वर सांख्य की पदार्थ-मीमासा, भक्ति भाव, प्रपत्ति, सदाचार, विष्णु सहस्र नाम, पुनर्जन्म, कर्मफल एवं परोपकार आदि से उनका कोई सैद्धान्तिक विरोध नही है । प्रभु के लीलावतारों को यद्यपि उन्होने आराध्य नही माना, किन्तु भक्तों की रक्षा के लिए उनके द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा दोनों कवियों ने की है ।[९] प्रभु की भक्त-वत्सलता एवं अहैतुकी कृपा के लिए भील (शवरी),गणिका, एवं अजामिल आदि और आदर्श भक्ति भाव के लिए नारद, ध्रुव, प्रह्लाद आदि के प्रमाण या उदाहरण दोनो कवियों ने दिये है । अखा ने चतुः-श्लोकी भागवत (दे०, भागवत २।९।३२-३६) मे निरूपित निर्गुण ब्रह्म, और भागवत (३।२६) मे उल्लिखित २४ तत्वो को स्वीकार करने की स्पष्ट घोषणा की है ।[१०]

---

१ दे०, भागवत २।७।४७-४८, २।१०।३३-३४ ।

२. मां भजन्ति गुणा. सर्वे निर्गुण निरपेक्षकम् । वही, ११।१३।४० ।

३ न यं विदन्ति तत्त्वेन·······। वही, २।६।३६ ।

४. उभे अपि न गृह्णन्ति माया स्पृष्टे विपश्चित. ॥ वही, २।१०।३५ ।

५. दे०, वही, २।६।३९ ।    ६. दे०, वही, २।१०।६ ।

७. दे०, वही, २।२५-२९, १२।१९।३३-३४, ३।२८।८, २।१।१७-१९, ३।२८।२१ एव ३।२८।३४-३६ ।    ८. दे०, वही, २।२५-२९ ।

९ महापुरुष देवाधिदेव नरस्यंघ प्रगट कियौ भगति भेव ।
कहै कबीर कोई लहै न पार प्रहिलाद, उबारयौ अनेक बार ॥ क०ग्रं०, पद ३७९ ।
आवै ह्वै सुत धाम मे भक्त हेत अवतार ॥ अ०र०सा० १२, पृ० ३५० ।

१० अखे ते उरमां ग्रह्यु जे कह्युं चतु.श्लोके । अ०वा०पद ४० ।
+ + ओ तत्व चौवीस भागवत लखे ॥ पंचीकरण ६ ।

तदुपरान्त पदों (देखें, अ०वा० पद ६३-६५) मे 'नारद-विष्णु-संवाद' का आयोजन किया है। चतुर्व्यूह (अ०बा० पद ९) चतुर्धामुक्ति (पंचीकरण ८७-८८), नवधा (चि० वि० सं० ३८८-८९) आदि का भी उल्लेख किया है।

अतः कहा जा सकता है कि भागवत का प्रभाव दोनों कवियों पर है किन्तु कबीर पर प्रायः परंपरागत होने के कारण इतना प्रत्यक्ष नहीं है जितना अखा पर। इसका कारण अखा की शिक्षा, जन्म से वैष्णव होना एवं गोकुलनाथजी से दीक्षा लेना आदि का होना सम्भव है।

**भक्ति के आचार्य**

यों तो सभी आगमों में भक्ति स्वीकृत हुई है परन्तु भागवतो की भक्ति का प्रचार सर्वाधिक हुआ है। भागवतों मे भी सनत्कुमार, व्यास, शुक, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेप, उद्धव, आरुणि, हनुमान्, विभीषण[1] और जैमिनि[2] आदि भक्ति के आचार्य माने गये है। किन्तु इनमे से नारद व शाण्डिल्य के भक्तिसूत्रों की ही अधिक ख्याति है, शेष के विचारों को जानने के लिए कोई आधारभूत सामग्री उपलब्ध भी नही है। अतः यहाँ नारद व शाण्डिल्य के भक्ति-विपयक विचारों का संक्षिप्त परिचय ही दिया जा रहा है।

**नारद एवं शाण्डिल्य**

दोनों ही आचार्यो की कृतियों का मूलाधार भागवत है, अतः उनके भक्तिविषयक विचारों मे कोई तात्विक अन्तर नही है। दोनों ने भक्ति के दो भेद-प्रेमरूपा एवं गौड़ी माने है। नारद जिसे प्रेमरूपा (२) या अमृतरूपा (३) कहते है शांडिल्य उसे पराभक्ति (२) कहते है। गौड़ी के (तामस, राजस एवं सात्विक) भेद दोनों ने स्वीकार किये है।[3] नारद ने उन्हे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ कहकर प्रेमरूपा को साध्य माना है तो शांडिल्य ने गौडी को पराभक्ति का साधन स्पष्टतः (५६) स्वीकार किया है। अतः दोनो ने पराभक्ति को ही साध्य माना है। पराभक्ति या प्रेम-रूपा के लिए दोनों ही ने गोपियों को आदर्श माना है।[4] दोनो ने भक्ति को कर्म, ज्ञान एवं योग से श्रेष्ठ[5] व सुलभ कहा है। दोनो ही मानते हैं कि मोक्ष की कामना वाले को भक्ति ही स्वीकार करनी चाहिए। भक्ति की उत्पत्ति मे ज्ञान सहायक होता है, आवश्यक नही।[6] भक्ति प्राप्ति मे सत्संग या महापुरुषो के संग के

---

१. दे०; ना० भ० सू० ८३।

२. शां० भ० सू० ६१।

३. दे०, ना० भ० सू० ५६-५७ एवं शां० भ० सू० ७२।

४. यथा व्रजगोपिकानाम् ॥ ना० भ० सू० २१ ॥ अत एव तद्भावाद्बल्लवीनाम् ॥ शां० भ० सू० १४६।

५. ना० भ० सू० २५, शां० भ० सू० १९ एवं २२।

६. दे०, ना० भ० सू० ३०—३२, शां० भ०सू० ३१—३२।

अतिरिक्त भगवत्कृपा[1] भी अनिवार्य मानी गई है जो प्रपत्ति से ही सुलभ है। भक्तों में जाति, विद्या, रूप, धन एव क्रियादि का भेद दोनों को अस्वीकृत है।[2] नारद ने ग्यारह आसक्तियाँ मानी हैं, शाडिल्य ने प्रेम के बारह भेद माने हैं।[3] आतरिक शुचिता के लिए अहिंसा, शौच, दया, सत्य आदि का पालन और काम, क्रोध, मोहादि के त्याग को दोनो ने स्वीकार किया है। वंदन, पूजन, कीर्तन आदि को प्रारम्भिक अवस्था में दोनों ही ने आवश्यक माना है।

जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, कबीर ने अपनी भक्ति को नारदी भक्ति कहा है। अखा की कोई ऐसी स्वीकारोक्ति तो नही किन्तु उनका कथन है कि एक मात्र ज्ञान से ताप-शाति नही हो सकती, जैसे कि व्यास अनेक ग्रन्थों के रचने पर भी शाति को प्राप्त नही हुए किन्तु नारदोक्त भक्ति का वर्णन कर ही अभीष्टप्राप्ति मे सफल हुए।[4] दूसरे उन्होंने पराभक्ति की ही प्रशंसा की है, तीसरे आदर्श-भक्त की स्थिति की तुलना गोपियों की दशा से की है।[5] अतः दोनों ने नारद की 'प्रेमरूपा' या शाडिल्य की पराभक्ति को ही स्वीकार किया है, किन्तु नारद व शाडिल्य का झुकाव जहाँ सगुण की ओर भी है वहाँ इन कवियों का झुकाव निर्गुण की ओर ही है। उनके कुछ विनय-परक पदों मे गौडी की प्रतीति होने लगती है, सम्भव है ऐसी उक्तियाँ उनकी साधना की प्रारंभिक अवस्था की सूचक भी हो।

**भक्ति दर्शन**

ऐतिहासिक दृष्टि से भक्ति-दर्शन का मूल नाथमुनि ( १०वी शताब्दी विक्रम ) द्वारा सम्पादित आडवार भक्तों का 'तमिल प्रवन्धम्' है। उनकी ही शिष्य परम्परा मे चौथे यामुनाजाचार्य ( सं० ९७३-१०९७ ) ने 'आगम प्रामाण्य' द्वारा श्रीसम्प्रदाय की नीव डाली[6] और उनके शिष्य रामानुजाचार्य १०३७-११३७ ई०) 'तमिल प्रवंधम्' की व्याख्या करके, आडवार भक्तों की लोक-प्रेरित भक्ति की वैदिक-ज्ञान एवं कर्म से संगति सिद्ध करके विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया। उनका यह कार्य धार्मिक क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। तत्पश्चात् द्वैतवाद के प्रवर्तक मध्वाचार्य ( ११९९-१३०३ ई० ), द्वैताद्वैत के प्रवर्तक निम्बार्क स्वामी ( मृत्यु लगभग १२७६ ई० )[7] शुद्धाद्वैत के प्रवर्तक विष्णु-स्वामी

१. दे०, ना० भ० सू० ४०; शा० भ० सू० ४९।

२. दे०, ना० भ० सू० ७२; शां० भ० सू० ७८।

३. दे०, ना० भ० सू० ८२; शा० भ० सू० ४४।

४. दे०, सोरठा १६७, अखेगीता, क० ३।

५. दे०, छप्पा-६९५।

६ दे०, परशुराम चतुर्वेदी : उ० भा० स० प०, भूमिका, ७६-७८।

७. दे०, कलेक्टेड वर्क्स आफ भण्डारकर : ग्रन्थ ४, पृ० ८८ का फुटनोट।

और उनकी परम्परा में प्रसिद्ध आचार्य वल्लभ (१६७६-१५३१ ई०) तथा अचिन्त्य भेदाभेद के प्रवर्तक चैतन्य (१५४२-१५९० वि०) आदि का आविर्भाव हुआ।

भक्ति के उक्त आचार्यों के दार्शनिक मतवादों एवं भक्ति-भावना मे यद्यपि पर्याप्त अन्तर है किन्तु उनमे साम्य की मात्रा भी कम नही है। प्रत्येक आचार्य ने ब्रह्म के स्वगत अथवा सजातीय एवं विजातीय भेद एक या दूसरे रूप मे स्वीकार किये है। लक्ष्मीनारायण, विष्णु, राधा-कृष्ण, गोपाल, श्रीनाथ जी एवं सीताराम आदि के रूप मे एक अथवा एकाधिक देवों का व्यक्तिगत रूप 'आराध्य-देव' के रूप में सभी को स्वीकृत है। सभी का आराध्य-देव, भक्त-वत्सल, धर्म-रक्षक अवतारी ब्रह्म है। ब्रह्म को नियन्ता, विभु, सर्वज्ञ, अंशी, सामर्थ्यवान, आश्रय एवं एक और जीव को परिणाम मे नियम्य, अणु, अज्ञ, अंग, असमर्थ, आश्रित एवं अनेक सभी ने माना है। सृष्टि को ईश्वर की लीला का परिणाम, सत्य व नित्य तथा प्रकृति को ईश्वराश्रित एक भिन्न सत्ता मानकर एक या दूसरे रूप में द्वैत को सभी ने स्वीकार किया है। सभी ने विदेह-मुक्ति को माना है। वैकुण्ठ, देवलोक या धामों का अस्तित्व सभी को स्वीकृत है। अपनी मुक्त अवस्था में जीव को ब्रह्म-प्रकार या ब्रह्म-भाव को प्राप्त कर या ब्रह्म मे प्रविष्ट होकर, ब्रह्म सान्निध्य-सुख का अनुभव करने वाला सभी ने माना है। इस स्थिति में उसका ब्रह्म ही हो जाना या उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का लुप्त होना किसी को भी स्वीकृत नही है।[1] चैतन्य को छोड जप, माला, छापा, तिलक, मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ, व्रतादि भी सभी को स्वीकृत है।

कहना न होगा कि अद्वैत और जीवन्मुक्ति में माननेवाले वाह्याचारों के विरोधी कबीर एवं अखा से इनका कोई उल्लेखनीय विचार साम्य नही है। किन्तु उल्लेखनीय यह है कि मध्व को छोड़ सभी दार्शनिकों ने अपने मतों मे अद्वैत को स्थान दिया है। आचार्य शंकर के अद्वैत एवं माया का भक्ति व कर्म दोनों से विरोध था, अपने इस रूप मे वे नाथपंथ मे स्वीकृत हुए। भक्ति व कर्म के अविरोधी रूप में शंकराद्वैत उक्त आचार्यों को भी स्वीकृत बना। इस प्रकार अद्वैत और भक्ति के लिए जिस अविरोधी भूमिका का निर्माण हुआ उसका प्रभाव इन कवियों पर भी पाया जाता है। गीतोक्त जिस प्रपत्ति-भाव का प्रचार रामानुज ने किया वह भी इन कवियों को स्वीकृत रहा।

विशिष्टाद्वैतवादी परम्परा के स्वामी रामानन्द कबीर के गुरु थे, और शुद्धाद्वैतवादी परम्परा के गोस्वामी गोकुलनाथ जी से अखा ने दीक्षा ली थी अतः आगे इन्ही दो का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जायगा।

**स्वामी रामानन्द**

स्वामी रामानन्द व कबीर के गुरु-शिष्य सम्बन्धों व प्रभाव आदि पर पीछे कुछ विचार कर चुके है। यहाँ उत्तर भारत में प्रवर्तित भक्ति-आन्दोलन के संदर्भ मे उनके विषय मे विचार करना उपयुक्त होगा। राम-भक्ति की पावन धारा के मूल स्रोत, और

---

१. दे०, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि।

भक्तिक्षेत्र मे अपने देश-व्यापी प्रभाव एवं समाज-सुधारक आदि की दृष्टि से अक्षय-कीर्ति अर्जित करनेवाले इस 'युग पुरुष' के व्यक्तिगत जीवन, जन्म-स्थान, एवं रचनाओं आदि के विषय मे प्रमाण-पुष्ट सामग्री का अभाव है। मैकलिक[1] आदि विद्वान् उन्हे मालकोट-दक्षिण भारत—का मानते हैं तो अगस्त्य संहिता के अनुसार इनका जन्म प्रयाग मे हुआ था—जिसे आचार्य बलदेव उपाध्याय[2] आदि ने प्रामाणिक माना है। इनके नाम पर संस्कृत एवं हिन्दी मे अनेक रचनाएँ प्रचलित है, आचार्य बलदेव उपाध्याय[3] एवं डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव[4] ने 'वैष्णवमताब्जभास्कर' एवं 'रामार्चन पद्धति' को इनकी प्रामाणिक कृतियाँ स्वीकार किया है, तो दूसरी ओर आचार्य परशुराम चतुर्वेदी[5] आदि उनकी हिन्दी रचनाओं को भी प्रामाणिक मानते हैं। दोनों ही भाषाओं की उनकी रचनाएँ उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की परिचायक हैं; प्रथम के आधार पर वे रामानुजीय परम्परा मे विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक है तो दूसरी के अनुसार निर्गुण-भक्ति के प्रेरणा स्रोत।

डा० मदनगोपाल गुप्त ने भक्ति आन्दोलन पर जो प्रकाश डाला है उसके आधार पर, इस प्रसग के अनुकूल, निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

(१) धर्मान्ध मुस्लिम शासन के अत्याचारों के कारण (विधि-विधान व स्पर्श्यास्पर्श्य की मान्यता वाले) धर्म का पालन कठिन था अत: रामानुजाचार्य से ही धर्म को सरल रूप प्रदान करने की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी जिसे परवर्ती आचार्यों ने भी अपनाया किन्तु रामानन्द ने उसमे विशेष योगदान दिया।

(२) भक्ति आन्दोलन केवल आध्यात्मिक जीवन तक ही सीमित न होकर धार्मिक जागृति व समाज-सुधार की भावना से भी युक्त था, और रामानन्द इसके प्रणेता थे।

(३) राम-भक्ति की निर्गुण व सगुण दोनो धाराओ के मूल स्रोत रामानन्द थे, उन्हीं के महान् व्यक्तित्व ने क्रांतिकारी कबीर और सुधारवादी तुलसी को जन्म दिया।

(४) भगवान् के सदृश ही भक्तों के यश-गान व माहात्म्य प्रतिपादन तथा उनके सत्संग आदि को महत्व देना भक्ति साहित्य की एक सामान्य प्रवृत्ति है। हिन्दी भाषा मे इसका मूल भक्तमाल मे उपलब्ध होता है; जो रामानन्द की शिष्य परम्परा के नाभादास की कृति है। उसका प्रभाव कबीरादि निर्गुण भक्तों की रचनाओं व परिच्यी साहित्य पर स्पष्टतः लक्षित है।[6]

---

१. दे०, सिक्ख रिलीजन : ग्रंथ ६, पृ० १०० ।
२. दे०, भागवत संप्रदाय, पृ० २४३-४५ ।
३. दे०, वही, पृ० २४३-४५ ।
४. दे०, रा०सं०हि०सा०उ० प्रभाव, पृ० १५३-५४ ।
५. दे०, सं०सा०प्रे०स्रो०, पृ० १०० ।
६. विशेष के लिए द्रष्टव्य, डा० मदनगोपाल गुप्त : भारतीय साहित्य और संस्कृति, पृ० ६४-६८ एवं मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० १८१-८३ ।

(५) डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव के अनुसार रामानन्द ने 'उस युग के लिए आवश्यक तत्ववाद को विशेष महत्व न देकर अपनी भक्ति को बहुत ही सरल करके उस का द्वार—हिन्दू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, पुरुष-स्त्री—सभी के लिए समान रूप से उन्मुक्त कर दिया, जो उस युग की सबसे बडी आवश्यकता थी।'[1]

उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर यह कहना असंगत न होगा कि रामानन्द ने जिस 'रामभक्ति' का प्रवर्तन किया था उसी की निर्गुण-शाखा का प्रचार व प्रसार कबीरादि उनके शिष्यो के द्वारा किया गया। दूसरे यह कि भक्ति-आन्दोलन मे 'तत्ववाद' को विशेष महत्व न देकर सरल भक्ति के प्रचार द्वारा उनका लक्ष्य धार्मिक एवं सांस्कृतिक जागृति उत्पन्न करना था। परिणामस्वरूप कबीर भी किसी एक निश्चित दार्शनिक मतवाद की नही, वरन् भक्ति-साधना की देन थे।

अखा राम-भक्ति की निर्गुण शाखा की सन्त-परम्परा से जिस प्रकार जुडे हुए हैं इस पर आगे विचार किया जायगा, यहाँ इतना उल्लेखनीय है कि निर्गुण-राम को सर्वाधिक महत्व देना, राम-नाम को तारक मंत्र मानना, भक्तो के माहात्म्य को स्वीकारना, जातिभेद में अनास्था, लोकभाषा का समर्थन आदि सभी लक्षण उनके काव्य मे भी उपलब्ध हैं। उनके समय तक गुजरात मे रामानन्द-संप्रदाय का पर्याप्त प्रचार हो चुका था, संतों की परम्परा मे भी अनेक व्यक्तियों से वे परिचित थे, काशी उनका विद्याध्ययन का धाम था अत किसी अप्रत्यक्ष माध्यम से वे भी रामानन्द से प्रभावित अवश्य थे।

**वल्लभाचार्य**

विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत का पुनरुद्धार वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१ई०) ने किया। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता एवं भागवत के प्रस्थान-चतुष्टय के आधार पर उन्होने अपने मत का प्रतिपादन किया। इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का सार निम्नांकित है—

ब्रह्म, विरुद्ध-धर्मों का आश्रय होने के कारण, सगुण व निर्गुण दोनों है, जो अणोरणीयान् है वही महतोमहीयान् भी है, एक होकर भी अनेक है, स्वतंत्र होकर भी भक्तों के अधीन है। ब्रह्म के तीन रूप हैं—(१) सत्-चित्-आनन्दमय पूर्णतम पुरुषोत्तम—ये ही श्रीकृष्ण है जो भक्ति से प्राप्य है। (२) अक्षर ब्रह्म—यह ज्ञान से प्राप्य है। इन्हें प्राप्त करने वाले को लयात्मक-सायुज्य मुक्ति मिलती है जिसमे ब्रह्मानन्द तो मिलता है किन्तु परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती। (३) आधिभौतिक ब्रह्म—यही जगत् रूप है। ब्रह्म का ही एक रूप होने के कारण जगत् सत्य व नित्य है किन्तु जीव के अज्ञान से सर्जित संसार असत्य व अनित्य है। भगवान् के सत् से जड़ एवं सत् व चित् से जीव की सृष्टि हुई है, आनन्द तिरोहित है। जीव मे से ऐश्वर्य, यश, श्री एवं ज्ञान तिरोहित हैं अतः वह दीन, हीन, दुःखी एवं आत्मबुद्धि वाला है। शुद्ध, मुक्त एवं संसारी—जीव के तीन प्रमुख भेद हैं, अनेक उपभेद भी हैं। साधन-निरपेक्ष-मुक्ति-दान के लिए भगवान् अवतार लेते है। पुष्टि-

---

१. दे०, रा०सं०हि०सा०उ० प्रभाव : भूमिका, पृ० ३०।

मार्गीय भक्ति, कि जिसमे न शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन आवश्यक है, न ज्ञान से जीव का अज्ञान दूर होता है। जीव ब्रह्म का अनुग्रह प्राप्त कर ब्रह्म-रूप हो जाता है। जिसे 'स्वरूप-प्राप्ति' कहते है यही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ है। मुक्ति के चार प्रकार हैं—सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य एव सायुज्य। भक्तिसाधना में जाति, कुल, लिंग आदि के भेद अमान्य है।[1]

वल्लभाचार्य कबीर के परवर्ती हैं अतः उन पर इनके सिद्धान्तों के प्रभाव का प्रश्न नही उठता, किन्तु अखा ने गोकुलदासजी (सं० १६०८-१६९७ वि०) से दीक्षा ली थी। यद्यपि वे इस दीक्षा से संतुष्ट नही हुए थे इसलिए उनकी रचनाओं मे वैष्णवों के नाम से पुष्टिमार्गीय-सगुण भक्ति की आलोचना भी पर्याप्त रूप मे मिलती है, किन्तु एक तो उनकी रचनाओं मे भागवत का साक्ष्य अनेक बार दिया गया है, दूसरे नवधा भक्ति, चतुर्धा-मुक्ति, चतुर्व्यूह आदि का उन्होंने उल्लेख किया है। तीसरे आदर्श ज्ञानी भक्त की स्थिति को उन्होने गोपी की स्थिति सदृश कहा है। जहाँ तहाँ परकीया प्रीति को भी आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है और सबसे महत्वपूर्ण यह कि उनके कुछ गुजराती भजनो मे गोपियो-रूपी ताराओ मे कृष्ण-रूपी चन्द्र के रास-रमण का स्पष्ट उल्लेख है। वृषभानुजा के रति-समर-सुख, रमण-रस आदि के साथ-साथ राधा को योगिया के ध्यान का विषय व मानिनी राधा से कृष्ण की अनुनय-विनय आदि के स्पष्ट चित्रण है।[2] इतना ध्यातव्य है कि इन (३५ से ४०) गुजराती भजनों मे पुष्टिमार्ग की भक्ति का जो स्पष्ट प्रभाव है वह अन्यत्र प्रायः नहो है। सम्भव है, ये भजन उनकी प्रारंभिक रचनाओ मे से रहे हों। दूसरे इनमे भी निर्गुण ब्रह्म की सूचक कुछ उक्तियाँ है।

### नास्तिक दर्शन

नास्तिक-दर्शनों मे जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन एवं चार्वाक दर्शन की गणना होने का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहाँ अंतिम को अनावश्यक होने के कारण छोड दिया गया है, शेष का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

### जैन दर्शन

जैन धर्म मे २४ वें अथवा अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी (४९९-५२७ ई० पू०) को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। ईसा की प्रथम शताब्दी मे इस धर्म मे श्वेताम्बर एवं दिगम्बर नामक दो मुख्य विभाग अस्तित्व मे आए, जिनमे आचार-पार्थक्य है, तत्वज्ञान-विषयक मतभेद नही है। इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का सार निम्नांकित है—

पदार्थ दो है (१) जीव और (२) अजीव। जीव का सामान्य लक्षण उसका चैतन्य है। अपने नैसर्गिक रूप मे वह अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं सामर्थ्य से युक्त व मुक्त है।

१. विशेष के लिए दे०, आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ४१४-२०।
२ दे०, अप्रसिद्ध अक्षयवाणी : गुजराती भजन सं० ३५-४०, पृ० ५९-६६।

किन्तु वासना-जन्य कर्म–जिनकी संख्या १४४ है—उसके स्वरूप को ढक देते हैं। शुभाशुभ कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता, वह मध्यम परिणामी है। अर्थात् बड़े शरीर में बड़े व छोटे शरीर मे छोटे आकार वाला है। इंद्रियों के आधार पर एकेन्द्रिय द्वयेन्द्रिय + + – । एवं षडिन्द्रिय तथा संसारी और मुक्त आदि उसके भेदोपभेद है। अजीव के पाँच भेद है– आकाश, धर्म, अधर्म, काल एवं पुद्गल। जीव व अजीव सहित सात तत्व है, शेष पांच मे से आस्रव (कर्म के प्रवेश द्वार) और वन्ध (वन्धन) त्याज्य है, संवर (पाँच प्रकार के संयम आदि), निर्जर (विहित तप–केशलुचन आदि) और मोक्ष (केवलावस्था) ग्राह्य है। सभी कर्मों से मुक्त होकर जीव लोकाकाश से भी ऊपर जाकर अचल वास करते हैं। मोक्षमार्ग के चौदह सोपान है, जिन्हें गुण-स्थान कहते है।

सम्यक् दर्शन (तीर्थकरों के सिद्धान्तो मे श्रद्धा), सम्यक् ज्ञान (धर्मग्रंथों के सिद्धातों का ज्ञान) और सम्यक् चरित्र (सत्य, अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह) के 'रत्न-त्रय' का मार्ग ही मोक्ष का मार्ग है। करुणा, मुदिता एवं मैत्री का समावेश भी इसी में हो जाता है।

इस प्रकार अपने मूल रूप मे जैन धर्म–ज्ञान,तप एवं त्याग के पुरुषार्थ से युक्त मोक्ष-मार्गी निरीश्वरवादी ऐकांतिक साधना का रूप था। किन्तु कालान्तर मे इसमे पौराणिकता, देव-स्थान, मूर्तिपूजा, तीर्थकरो की भक्ति, तीर्थ, व्रत आदि का समावेश हुआ।

जो हो, कबीर एवं अखा न तो जैनों की तरह निरीश्वरवादी है, न कायाक्लेश के ही समर्थक हैं, न संसार को अनादि मानते है, न जीव व अजीव की स्थायी सत्ता स्वीकार करते है, और न किसी ऐसे लोक के अस्तित्व मे विश्वास करते है कि जहाँ मुक्त जीव स्वतत्र रूप से अचल-वास करते हो। दोनों मे से किसी ने भी जैनों को आदर की दृष्टि से नही देखा है।[1] किन्तु इस आधार पर यह कहना भी कठिन है कि जैन धर्म का उन पर कोई प्रभाव नही है, क्योकि जैन धर्म इस देश के प्राचीनतम धर्मों मे से एक रहा है, उसके कुछ आचार-विचार अन्य धर्मों मे भी स्वीकृत हुए थे। अतः प्रत्यक्ष तो नही, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से जैनो की आचार-शुचिता एवं अहिसा आदि का उन पर प्रभाव पडा हो यह संभव है। सभी कर्मों के क्षय होने पर जीव की मुक्ति होना, ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति और उसकी प्राप्ति के लिए साधक के पुरुषार्थ की आवश्यकता आदि मे जैनों की तरह वे भी विश्वास करते है। यद्यपि उनमे सैद्धांतिक साम्य नही है।

यहाँ इतना सकेत और किया जा सकता है कि जैनों का अपना स्वतंत्र संत-साहित्य है। 'वैराग्य, भक्ति और अध्यात्म की पदावली जैसी अन्य संतों को है वैसी ही सैकड़ों जैन संत कवियो की मिलती है।'[2] निर्गुण की प्रेमाभक्ति, विरह भावना और बाह्याचारों

---

१. दे०, क०ग्र०, रमैणी ५, पृ० १८२,चाणक कौ अग, सा० १२, पृ० २८ एवं भोरी भक्ति अंग, सा० २० अक्षयरस, पृ० २२०।

२. अगरचन्द नाहटा:'जैन संत-साहित्य' लेख–'साहित्य संदेश'जुलाई-अगस्त१९५८ई०।

के खण्डन आदि विषयो से सम्बन्धित जैन संतों व कबीर एवं अखा की उक्तियो मे पर्याप्त साम्य लक्षित होता है। जैन संत मुनि रामसिंह, संत जोइन्दु ( दोनो ११वी शताब्दी ), सोमप्रभ सूरि ( १३वी शताब्दी ) आदि का कबीर से उक्ति-साम्य आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने दर्शाया है।[१] अखा की रचनाओ मे भी वैसी उक्तियाँ प्राप्त होती है, किन्तु जैन सतो के दार्शनिक सिद्धान्त निर्गुणियो की तरह संप्रदाय-निरपेक्ष नही है। उनमे जैन-दर्शन को स्वीकार किया गया है। फिर भी जैन सतों ने तीर्थाटन, जातिभेद, मूर्तिपूजा, अधिक पढना आदि की आलोचना मे जिन उक्तियो को ग्रहण किया हैं कबीर एवं अखा की उक्तियों से उनका साम्य पाया जाता है। यह साम्य या तो दोनों के एतद्विषयक विचार-साम्य के कारण सम्भव हुआ हो या फिर ऐसी उक्तियो के लोक-प्रचलित होने के कारण। क्योंकि जैनो से, दोनो मे से किसी भी कवि का, कोई सीधा सम्बन्ध लक्षित नही होता।

### बौद्ध दर्शन

भगवान् बुद्ध ( ५०९ वि० पू० से ४२९ वि० पू० ) द्वारा उपदिष्ट धर्म संसार के धार्मिक इतिहास मे ऐसा प्रथम धर्म है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय धर्म होने का गौरव प्राप्त है। अपनी घोर तपस्या के पश्चात् भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्यो का निश्चय किया था। वे है (१) दु ख--अर्थात् जीवन दु खमय है। (२) दुःख हेतु—दुःख कार्य है अत उसका कारण भी होना चाहिए। और यह कारण अविद्या-जन्य तृष्णा है, क्योकि सुख चाहने पर ही दु ख होना सम्भव है। (३) दु ख निरोध—दु ख के कारण का निरोध होने पर दु.ख दूर हो सकता है और (४) दु खनिरोधगामिनी प्रतिपदा--अथवा निर्वाण का मार्ग। यह निर्वाण का मार्ग अष्टागिक मार्ग है जिसके आठ अंग है—(१) सम्यक् ज्ञान, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति एवं (८) सम्यक् समाधि। अष्टागिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय व निर्वाण की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा की उत्पत्ति के लिए आतरिक शुचिता भी अनिवार्य है जो शील, समाधि एवं प्रज्ञा के 'साधन-त्रय' से प्राप्य है।[२]

आत्मा नामरूपात्मक है। रूप अर्थात् जल, तेज, वायु एवं पृथ्वी चतुर्भूत एवं तज्जन्य शरीर और नाम अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान-पंचस्कंध या मानसिक प्रवृत्तियाँ। ससार के कर्ता के रूप मे कोई ईश्वरीय सत्ता नही है। सारा 'घटना चक्र' कार्य-कारणवाद या 'प्रतीत्य समुत्पादवाद' के रूप मे स्वयमेव 'अस्मिन् सति इदं भवति' के रूप में चल रहा है।[3] तत्वों का विभाजन पंचस्कंध, बारह आयतन एवं अठारह

१. द्र०, कबीर साहित्य की परख, पृ० ३३-३४।

२. विशेष के लिए दे०, आचार्य बलदेव उपाध्याय . भारतीय दर्शन, १२१-२५।

३. दे०,म०नि० १।४।८,अनुवाद,पृ० १५५,यहाँ 'दर्शन-दिग्दर्शन',पृ० ५१४ से उद्धृत।

धातुओ मे किया गया है किन्तु सभी को क्षणिक[1] व पल-पल परिवर्तित कहा गया है।

इस प्रकार अपने मूल रूप मे निरीश्वरवादी बौद्ध-धर्म शुष्क ज्ञान से युक्त, किन्तु दार्शनिक जटिलताओ से मुक्त, निवृत्ति-मूलक, काया-क्लेश रहित, प्रजातंत्रीय संघीय-व्यवस्था मे आचारप्रधान, ऐकांतिक साधना वाला व्यावहारिक धर्म था, जिसमे श्रद्धा के स्थान पर बुद्धि और ईश्वरीय कृपा के स्थान पर पुरुषार्थ को महत्व दिया गया था। किन्तु यह स्थिति अधिक न टिक सकी और बौद्ध-धर्म महायान एवं हीनयान के दो प्रमुख भागों मे विभक्त हुआ। कालान्तर मे इनमे भी प्रथम के बारह तो द्वितीय के छह, इस प्रकार अट्ठारह निकाय अस्तित्व मे आए। हीनयान व महायान के सिद्धान्त व साधना मे पर्याप्त अन्तर है, जिसका संक्षिप्त रूप निम्नांकित है :

(१) हीनयानी बुद्धोपदिष्ट मार्ग के समर्थक रहे, महायानी सुधारवादी थे। हीनयानियों का लक्ष्य 'अर्हत-पद' है, तो महायानियो का 'बोधि-सत्व'। प्रथम स्वयं का निर्माण चाहता है; द्वितीय 'महाकरुणा' व 'महामैत्री' की भावना से अभिभूत होकर त्रैलोक्य के समस्त जीवो को निर्वाण दिलाने के पश्चात् स्वयं के निर्वाण की कामना करता है।[3] बोधि-चित्त की प्राप्ति के लिए वन्दन, पूजन आदि की सप्तविध अनुत्तर (मानसिक) पूजा व दान, शील आदि दस पारमिताओ का सेवन आवश्यक माना गया है।

(२) हीनयानियों के त्रिपिटक पालि भाषा मे रहे, महायानियों ने अपने 'वैपुल्य-सूत्रों' की रचना वैष्णवों की संस्कृत भाषा मे की।

(३) हीनयान मे अर्हत पद प्राप्ति तक साधना की चार भूमिकाएँ मानी गई हैं—(१) स्रोतापन्न, (२) सकृदागामी, (३) अनागामी एवं (४) अर्हत। महायानियों ने बुद्धत्व प्राप्ति तक की दस भूमियाँ—मुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधमती एवं धर्ममेघ मानी है।[4]

(४) हीनयानियो मे निर्वाण का अर्थ है 'बुझना'। जैसे दीपक को लौ व अग्नि की शिखा बुझ कर अनन्त मे लीन हो जाती है, आस्रवों के क्षीण होने पर वैसे ही साधक आवागमन से मुक्त दुःखाभाव की स्थिति को प्राप्त करता है। उसे यह स्थिति क्लेशावरणो के क्षीण हो जाने पर प्राप्त होती है। महायानियो के अनुसार क्लेशावरण के उपरान्त ज्ञेयावरणों के नष्ट हो जाने पर निर्वाण की प्राप्ति होती

---

१. दे०, अगुत्तर निकाय : ३।१।३४, संयुत्त निकाय : १६ एवं १२।७ अथवा दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५१३ १४।

२. दे०, बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ० ८८ एवं भारतीय दर्शन, पृ० १२७।

३. दे०, विशेष के लिए द्रष्टव्य : शिक्षा समुच्चय : एवं बोधिचर्यावतार।

४. दे०, आ० बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ० १४०-४२।

है—जो आनन्दमय अवस्था है। संक्षेप मे हीनयानी का निर्वाण सांख्य की मुक्ति के समान है और महायानी निर्वाण वेदान्त की मुक्ति का प्रतीक है।[1]

(५) हीनयान मे भगवान् बुद्ध को एक धर्मोपदेशक शरीरधारी मानव ही माना गया था। यद्यपि उनके निर्वाण काय (जिसमे उन्होने जन्म लिया था) और धर्मकाय (धार्मिक नियम या उपदेश) की मान्यता हीनयानियों मे भी स्वीकार की गई है, किन्तु महायानियो ने त्रिकाय-कल्पना की है। उनके अनुसार भगवान् बुद्ध के तीन काय—शरीर या अस्तित्व है—(१) निर्माण काय, (२) संभोग काय और (३) धर्मकाय। वैष्णवो की भाषा मे इन्हें क्रमशः अंशावतार, ईश्वरत्व और ब्रह्म कहा जा सकता है।[2]

(६) हीनयानियो के लिए भगवान् बुद्ध, व्यक्ति होने के नाते, भक्ति के पात्र न हो सके। किन्तु महायानियों की त्रिकाय कल्पना ने पारलौकिक रूप प्रदान करके उन्हे भक्ति का भाजन बना लिया। बुद्ध भगवान् की भक्ति विधेय हो जाने पर उनकी मूर्तियाँ गढी गई और उनकी सुरक्षादि हेतु स्तूपों का निर्माण हुआ।

जटिल दार्शनिक प्रश्नों मे उलझ कर समय नष्ट करने की अपेक्षा भगवान् बुद्ध भव-रोग-निवारण को प्राथमिकता देते थे। किन्तु उनके मरणोपरान्त वही हुआ जो उन्हें पसन्द न था। इस धर्म मे धुरंधर विद्वानो का आविर्भाव हुआ, जिसके परिणामस्वरूप—(१) सर्वास्तिवादी-वैभाषिक, (२) बाह्यार्थानुमेयवादी-स्रोता, (३) विज्ञानवादी-योगाचार एवं (४) शून्यवादी-माध्यमिक—ये चार दार्शनिक संप्रदाय अस्तित्व मे आए। इनमे से प्रथम तीन का कबीर एव अखा पर कोई प्रभाव नही है किन्तु 'शून्य' की चर्चा दोनों की रचनाओ मे है। अतः माध्यमिको के शून्यवाद का संक्षिप्त परिचय देना यहाँ आवश्यक है।

### शून्यवाद

हीनयानियो का 'शून्य' एकदम निषेधात्मक है, किन्तु माध्यमिकों का 'शून्य' सत्ता के अभाव का सूचक है या भाव का? यह विवादास्पद है। आचार्य शङ्कर[3] एवं कुमारिल भट्ट[4] ने उसे अभावात्मक ही माना है, किन्तु उसके वर्णन की नकारात्मक शैली से प्रभावित कुछ विद्वान् उसे भावात्मक मानने के पक्ष मे है।[5] राहुल साकृत्यायन इसे 'प्रतीत्य समुत्पाद' से अधिक मानने के पक्ष मे नही है।[6] लेखक को राहुलजी के विचार

१. दे०, आचार्य बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शनमीमासा, पृ० १४३-५७।
२. दे०, वही, पृ० १३९-४०।
३. 'शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते ॥'
४. दे०, 'श्लोकवार्तिक', पृ० २६८-३४५, अथवा बौद्धदर्शनमीमासा, पृ० ३१०-११।
५. दे०, आचार्य बलदेव उपाध्याय : बौद्धदर्शनमीमासा, पृ० ३११-१२।
६. विशेष के लिए दे०, दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ५७१-७४।

अधिक तर्कसंगत प्रतीत होते है। क्योकि नागार्जुन, जिन्हें इसे 'प्रमाणसिद्ध सिद्धान्त' का रूप देने का श्रेय प्राप्त है, ने इसे प्रतीत्यसमुत्पाद ही माना है।[1] उन्होने इसे एक ऐसे तत्व की संज्ञा माना है कि जो न सत् है न असत् है, न सदसत् है, न सदसत् से भिन्न ही है। वह एक अनिर्वचनीय तत्व है जिसका केवल ज्ञान ही हो सकता है।[2]

माध्यमिकों ने शून्य सत्ता का निरूपण एक अन्य ढंग से भी किया है जिसके अनुसार सत्य के दो प्रकार माने गये है (१) सांवृत्तिक सत्य और (२) पारमार्थिक सत्य। संक्षेप में पदार्थो की अविद्या-जन्य लौकिक अथवा व्यावहारिक सत्ता सांवृतिक सत्य है। जैसे कामला (पाण्डु) के रोगी को समस्त वस्तुओं का पीला दिखाई देना। हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होने के कारण जगत् के समस्त पदार्थो का अपना कोई विशिष्ट रूप नही होता, उनकी यही निःस्वभावता या शून्यता पारमार्थिक (सत्य) रूप है। यह धर्म नैरात्म्य ही शून्यता, तथता, भूत कोटि और धर्म धातु आदि का पर्याय है। माध्यमिको के ग्रंथो मे शून्य के बीस भेद स्वीकार किये गये है।[3]

कबीर के समय के पूर्व ही बौद्ध-धर्म भारत से प्रायः विदा हो चुका था, किन्तु उसके ध्वंसावशेषों या परिवर्तित स्वरूपों का अस्तित्व अवश्य था।[4] यद्यपि दोनों ही सन्तों ने बौद्धो को नास्तिकवादी चार्वाको की पंगति मे बिठाया है[5], किन्तु भारतीय चिन्तन मे स्वाभाविक रूप से अनुस्यूत हुए बौद्ध-विचारों का अप्रत्यक्ष प्रभाव उन पर भी पडे तो यह आश्चर्य की बात नहीं। उदाहरण के लिए संसार को दुःखपूर्ण मानना, दुःख का कारण अविद्याजन्य तृष्णा को मानना, सांसारिक सुखों से विरक्त होने पर भार देना, संसार की सत्ता को क्षणिक मानना, सुख-प्राप्ति के लिए तृष्णा के त्याग पर बल देना, 'राग व द्वेष' के कारण 'स्व' एवं 'पर' के भेद के त्याग पर जोर देना, काया-क्लेश को अनावश्यक मानना, निन्दा व स्तुति से अप्रभावित रहना, व्यक्ति व शास्त्र से अप्रभावित रहकर युक्ति-युक्त बात को स्वीकारना, साधना की ममता न रखकर लक्ष्य-प्राप्ति को

१. यः शून्यतां प्रतीत्य समुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्थां।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसंबुद्धम्॥ (विग्रह व्यावर्तनी-७२)।
एवं—इह हि यः प्रतीत्य भावनां भावः सा शून्यता॥ (वही-२२) दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ५७१-७४।

२. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभवात्मकं।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिकां विदुः॥ मा० का० १७।

३. विशेष के लिए द्रष्टव्य, बौद्धदर्शनमीमांसा, पृ० ३०५-८, ३९५-९६ एवं ३९१।

४. विशेष के लिए, नागेन्द्रनाथ वसु मोडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फॉलोअर्स इन ओरिसा।

५. जैन बौद्ध अरु साकत सैना चारवाक चतुरङ्ग विहूना।
क० ग्रं० अष्टपदी रमैणी, पृ० १८२।
शैव सांख्य मीमांसा चारुवाक बौद्ध ने जैन॥ अखेगीता, क० २९।

महत्व देना, माध्यम के रूप मे लोकभाषा को स्वीकारना, मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधक से पुरुषार्थ की अपेक्षा करना, सत्संग एवं परोपकार पर जोर देना आदि कुछ ऐसी बातें अवश्य है जिनका कबीर व अखा की मान्यताओ से अविरोध है।[1] किन्तु यहाँ लक्ष्य करने की बात यह है कि उक्त सभी बातो का सम्बन्ध जितना आचार पक्ष से है उतना दार्शनिक पक्ष से नही।

अन्त मे उल्लेखनीय यह है कि 'मिलिन्द-प्रश्न' में भगवान् बुद्ध ने अवयवो से पृथक् अवयवी की सत्ता असिद्ध करने के लिए रथ और उसके अवयवों के पृथक्करण से जो दृष्टांत दिया था, अखा ने उस युक्ति को अपनाया है।[2] हीनयानी-'निर्वाण' का अर्थ है बुझना। जैसे दीप-शिखा बुझने पर दिशा-विदिशा मे न जाकर शून्य मे विलीन हो जाती है। अखा ने इस उदाहरण को भी स्वीकार किया है।[3] बुद्ध ने कहा था, 'भिक्षुओ! मैं बेड़े की भाँति पार जाने के लिए धर्म का उपदेश करता हूँ, पकड रखने के लिए नही।'[4] इसे पकड कर रखने वाला दु:खी हो सकता है। अखा ने भी नदी पार हो जाने पर नाव को पकडे रहने की ममता के त्याग की बात कही है।[5] तदुपरान्त उन्होने शून्यवादियों की आचार व विचारगत विसंगति की कटु आलोचना की है।[6] दोनो ही कवियो ने माध्यमिको के शून्य का नवीन अर्थघटन करके, उसे 'ब्रह्म' व 'ब्रह्मरन्ध्र' के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त किया है। अतः कहा जा सकता है कि बौद्धों की नास्तिकता से नही; किन्तु संसार को अनित्य व दुःखमय मानने सम्बन्धी बौद्ध-विचारो से, किसी परोक्ष माध्यम द्वारा इन कवियो के प्रभावित होने की सम्भावना है। उल्लेख्य यह है कि बौद्धों की कुछ प्रसिद्ध उक्तियों तथा शून्यवाद-सम्बन्धी उल्लेख अखा की रचनाओ में अपेक्षाकृत रूप से अधिक है।

**तान्त्रिक-मत एवं साधनाएँ**

भारतीय विचार एवं साधना 'निगमागम मूलक' रहे है। निगम (वेद) का जो महत्व विचार-क्षेत्र मे है, साधना-क्षेत्र मे वही स्थान आगमो का है। दोनो को पृथक् करके देखना भी दुष्कर कार्य है। आगमों का ही अपर नाम तन्त्र है। वाराही तन्त्र के अनुसार आगमो के सात विषय है—(१) सृष्टि, (२) प्रलय, (३) देवार्चन, (४) सर्वसाधन

१ विशेष के लिए दे०, डा० विद्यावती मालविका : हिन्दी संत साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव।

२ दे०, छप्पा ९५।

३ दे०, भजन ९ अक्षयरस, पृ० १११।

४ दे०, म०नि० १।३।२ (अनुवाद, पृ० ८६-८७) यहाँ दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ५३३ मे।

५ दे०, गु० शि० स० २।८७।

६ दे०, अखेगीता : क० २५-२७ एवं छप्पा ३३१।

(सिद्धियो की प्राप्ति के उपाय), (५) पुरश्चरण ( मारण, मोहन, उच्चाटन आदि ), (६) षट्कर्म (शांति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एव मारण) एवं (७) ध्यानयोग ( अभीष्ट देवता का ध्यान या चिन्तन करना ) ।'[1] इसके अतिरिक्त सिद्धान्त की अपेक्षा साधन-क्रिया को अधिक महत्व देना, तांत्रिक ज्ञान को अतिगोप्य रखकर अधिकारी शिष्य के अतिरिक्त अन्य किसी से न कहना, गुरु को सर्वाधिक महत्व देना, शूद्रों व स्त्रियो को भी दीक्षा के योग्य मानना, किन्तु अधिकारी सिद्ध होने पर ही दीक्षा देना, तान्त्रिक साहित्य की दैवी उत्पत्ति मे विश्वास, वाह्याचारो का विरोध, क्रिया के अभाव मे ज्ञान को भार-स्वरूप मानना आदि तान्त्रिको की सामान्य विशेषताएँ है ।

विचारों की दृष्टि से 'सभी आगम अपने उपास्य देव को परमतत्व के रूप मे स्वीकार करते है । देवता की शक्ति या शक्तियो मे और ईश्वर की इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति मे विश्वास करते है, जगत् को परमतत्व का परिणाम मानते है, भगवान् की क्रमिक-उद्भूति (व्यूह आभास) आदि का समर्थन करते है, शुद्ध और शुद्धेतर पर आस्था रखते है, माया को कोशकंचुक (पाचरात्रो के संकोच से तुलनीय) की कल्पना करते है, प्रकृति से परे परमतत्व को समझते है, आगे चलकर सृष्टिक्रम मे प्रकृति को स्वीकार करते हैं, साख्य के सत्व, रज और तम-गुणो को मानते है, भक्ति पर जोर देते हैं, उपासना मे सभी वर्णो और पुरुष तथा स्त्री दोनों का अधिकार मानते है, मंत्र, बीज, यंत्र, मुद्रा, न्यास, भूतसिद्धि और कुंडलिनी-योग की साधना करते है, चर्या ( धर्म-चर्या ), क्रिया (मंदिर निर्माण आदि) का विधान करते है ।'[2] वुडरफ ने ठीक ही कहा है कि इनका 'मूल स्वर इतना ऐक्यमय है कि पारिभाषिक शब्दो के भेद से कुछ बनता-बिगड़ता नही । पाचरात्रो की भाषा मे लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकोच कहे या शाक्तों की भाषा में त्रिपुरसुन्दरी, महाकाली तत्व और कंचुक कहे इनमे कुछ विशेष भेद नही रह जाता ।[3] तान्त्रिक उपासना के पांच अंग है—पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम तथा स्तोत्र ।

ईसा की छठी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक का समय भारतीय धर्मक्षेत्र मे 'तन्त्र-युग' भी कहा जाता है । इस युग मे तन्त्रो का इतना व्यापक प्रभाव था कि वैदिक एवं अवैदिक सभी धार्मिक संप्रदाय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से तन्त्र एवं तान्त्रिक साधना से प्रभावित थे । तन्त्रो को मुख्यत. तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—(१) वैदिक या ब्राह्मण तन्त्र, (२) बौद्ध तन्त्र एवं (३) जैन तन्त्र । इनमे से जैन तन्त्रो का विशेष साहित्य उपलब्ध नही होता । वैदिक तन्त्रो के मुख्य तीन भाग है—(१) वैष्णव तन्त्र, (२) शैव तन्त्र एवं (३) शाक्त तन्त्र ।

---

१. दे०, आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ४३३-३४ ।

२. सर जान वुडरफ : शक्ति एण्ड शाक्त, पृ० २३ ।

३ वही, पृ० २४, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० ३७से उद्धृत ।

वैष्णवतन्त्रों का साहित्य सहिताओं मे उपलब्ध होता है। वैखानसतन्त्र एवं पाचरात्र तन्त्र इनके मुख्य दो भाग है, किन्तु कालान्तर मे प्रथम का समावेश भी द्वितीय मे ही हो गया। रामानुजाचार्य ने पाचरात्र सहिताओं पर ही विशिष्टाद्वैतवादी भाष्य लिखा था। कबीर एवं अखा पर जो वैष्णवमत का प्रभाव लक्षित किया गया है उसके अतिरिक्त कोई विशिष्ट प्रभाव इन तन्त्रो का लक्षित नही होता। अत. यहाँ इनका विस्तार अपेक्षित नही है।

शैव तन्त्रो के मुख्य तीन भेद है—(१) शिव तन्त्र, (२) रुद्रतन्त्र एवं (३) भैरव तन्त्र। दार्शनिक दृष्टि से इनके मुख्य चार संप्रदाय हैं—(१) पाशुपत, (२) शैव-सिद्धान्त, (३) वीर-शैव एव (४) प्रत्यभिज्ञा व्याकरण दर्शन एवं रसेश्वर दर्शन का समावेश भी शैवों मे ही होता है। तदुपरान्त क्रम दर्शन, कालामुख एवं कापालिक आदि छोटे-मोटे अन्य सप्रदाय भी है।

शैवों के दार्शनिक मतो पर उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव है। वेदान्त के अद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत आदि सम्बन्धी विचार शैवदर्शनों मे यत्किंचित् परिवर्तनो के साथ उपलब्ध होते है। उदाहरणार्थ–शिवतन्त्र द्वैतपरक है, रुद्र तन्त्र द्वैताद्वैतपरक है तो भैरव तन्त्र अद्वैतपरक है। पाशुप्त मत द्वैतवादी है, वीर-शैव विशिष्टाद्वैतवादी, तो व्याकरण, क्रम एवं प्रत्यभिज्ञा आदि अद्वैतवादो है।

प्रायः समस्त शैवदर्शनो मे दास्य भक्ति स्वीकृत है, जिसमे ईश्वर—प्रभु, पिता अथवा गुरु है, तो भक्त दास, पुत्र अथवा शिष्य है। भक्ति की प्राप्ति के लिए ईश्वरीय अनुग्रह (शक्तिपात) आवश्यक माना गया है। इस भक्ति की उपलब्धि पर दास पूर्णकाम हो जाता है, उसका दारिद्रय मिट जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे ईश्वर के सगुण व निर्गुण दोनों रूप मान्य हुए है, किन्तु ज्ञान व भक्ति के सामंजस्य या अविरोध की स्वीकृति और आरोपित द्वैत–जैसे सागर व लहर का है, को स्वीकार कर अहैतुकी भक्ति से उपलब्ध जिस आनन्द को महत्व दिया गया है वह विशेषरूप से महत्वपूर्ण है। तदुपरान्त शैव दर्शनों को प्रतिबिम्बवाद, जीव और ब्रह्म के भेदाभेद सम्बन्धो को अग्नि व अग्नि कण, अथवा जल व जलकण एवं सागर व तरंग आदि के उदाहरणो से स्पष्ट करना, कर्मफल पुनर्जन्म, दु खान्त, मल अथवा आवरण, पाश अथवा बधन, वर्णाश्रम धर्म के विधि-विधानो का विरोध, यौगिक-साधना द्वारा काया-शोध, गुरु को ईश्वरतुल्य मानना, माया के परा व अपरा दो भेद, या विद्या व अविद्या की स्वीकृति, व्याकरण दर्शन का शब्द-ब्रह्म, आनन्दवाद एवं सृष्टि-रचना मे अविकृत परिणामवाद आदि ऐसे अनेक विषय हैं जिनसे सम्बन्धित शैवो की उक्तियो एवं कबीर तथा अखा की उक्तियो मे साम्य है। डा० कमला भडारी ने इस उक्तिसाम्य को सन्तों पर शैवो का प्रभाव सिद्ध किया है,[1]

---

१ दे०, मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैव प्रभाव (१९७१ ई०)।

किन्तु उसे असंदिग्ध नही कहा जा सकता। क्योकि एक तो शैव दर्शन औपनिषदिक विचारों के ऋणी है अत. वे उनकी निजी विशेषता नही, दूसरे कबीर एवं अखा आदि सन्तो का शैवो से कोई सीधा सम्बन्ध भी सिद्ध नही होता, तीसरे उन्होंने शैवों की पर्याप्त आलोचना भी की है, उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से नही देखा, और अन्त मे यह कि शैवो की साधनाएँ अधिकारी सिद्ध हुए व्यक्तियो को ही सिखाई जाती थी, सर्व-सुलभ न थी। किन्तु यह भी नही कहा जा सकता कि कबीरादि सन्तो पर शैवों का कोई प्रभाव है ही नही, क्योकि 'शब्द-ब्रह्म', जो व्याकरणदर्शन की निजी विशेषता है, को कबीर एवं अखा दोनो ने स्वीकार किया है।

वाक् के तीन रूपों—पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी—का प्रतिपादन भी व्याकरण दर्शन की निजी विशेषता है जिसमे शायद शाक्तों ने 'परा वाक्'को और जोडकर उसे विकसित किया। अखा मे उक्त चारो रूपों का निरूपण किया है। व्यक्ति के दुःख व दारिद्र्य को दूर कर, उसकी काया को अजर व अमर बनाकर, जीवन्मुक्ति प्रदान करने वाला अभ्रक व पारा से निर्मित रसायन रसेश्वर-वादियो की निजी विशेषता है. जो कबीर एवं अखा के राम-रसायन से गुण-साम्य रखता है। कबीर एवं अखा द्वारा स्वीकृत जीवन्मुक्ति का तार्किक प्रतिपादन भी सर्वप्रथम रसेश्वर दर्शन मे ही उपलब्ध होता है। पाशुपत मत का निरंजन (अशरीरी या मुक्त जीव) ब्रह्मवाचक 'संज्ञा' या मायारहित अर्थ मे 'विशेषण' के रूप मे दोनों के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। शैवो के 'नाद' व 'विन्दु' को भी उन्होने अपने ढंग से अपनाया है। अत. शैवों के विचारो की छाया कबीर एवं अखा के विचारों मे उपलब्ध अवश्य होती है, जो सम्भवतः नाथपंथियो के माध्यम से सम्भव हुई है या फिर शैवो के लोक-प्रचलित विचारो से सम्भव हुई है।

'शाक्त-तन्त्र' सिद्धान्तों मे पूर्णतः अद्वैतवादी है। शाक्त एवं वेदान्त के अद्वैत मे अन्तर केवल इतना है कि यदि वेदान्त का ब्रह्म कोई सर्वव्यापक तत्व है तो शाक्तों की 'शक्ति' उसके स्वरूप, सत्ता एवं गुण-धर्मो को व्यक्त व सिद्ध करने की क्षमता। शाक्त-तन्त्रों मे सृष्टि को शक्ति का चिद्विलास मानकर सत्य स्वीकार किया गया है। इस तरह भौतिकवाद और अध्यात्म मे विरोध मानकर भोग के माध्यम से योग की साधना स्वीकृत हुई। इनमे तीन भाव, सात आचार की मान्यता प्रचलित है जिसके अनुसार जिस साधक मे अविद्या का आवरण है, अद्वैत का ज्ञान प्राप्त नही हुआ है, उसकी मानसिक दशा (या भाव) पशु-भाव कहलाती है, उसे वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार एवं दक्षिणाचार को अपनाना चाहिए। जिसे अद्वैत ज्ञान अंशत. भी प्राप्त हो चुका है वह 'वीर' है, उसे वामाचार एवं सिद्धान्ताचार को ग्रहण करना चाहिए। जिसने अद्वैत का आस्वादन प्राप्त कर लिया है वह 'दिव्य' है उसे कौलाचार को ग्रहण करना चाहिए।[१]

---

१. दे०, आचार्य बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ४३९।

इनके नौ आम्नाय एवं चार संप्रदाय[1] प्रसिद्ध है। लक्ष्मीधर ने शाक्त तान्त्रिकों के सामयिक, कौल एवं मिश्र तीन भेद माने है, इनमे भी प्रथम दो ही मुख्य है और उनमें भी सिद्धान्तों की अपेक्षा पूजा की विधि व सामग्री-सम्बन्धी मतभेद प्रमुख है। कौल-मार्गीय मूलाचार चक्र या योनि एवं पंच मकार व पंच द्रव्यो को स्थूल रूप मे ग्रहण करते है तो समयाचारी इनके अनुकल्पो को महत्व देते है। कौलाचारियो मे भी पूर्व कौल 'श्रीचक्र' मे स्थित योनि को पूजते है तो उत्तर कौल सुन्दर तरुणी की प्रत्यक्ष योनि की पूजा करते है। ये ही लोग सर्वाधिक दुराचारी माने गये है।

साधना मे षट्-चक्र भेदन, नाडी साधना एव 'अ' से 'ह' तक के वर्णो का रहस्यार्थ इन्हे स्वीकृत है। शैवों के ३६ तत्व व बिन्दु, परबिन्दु एवं नाद आदि सम्बन्धी मान्यताएँ भी इन्हे स्वीकृत है। नारी के प्रति पूज्य भाव का प्रचार इनकी निजी विशेषता रही है। शक्तिपूजा का तत्कालीन सभी धर्मो पर व्यापक प्रभाव पडा था इसमे सदेह नही।

ब्राह्मण धर्मो के बाह्याचारो के खण्डन के अतिरिक्त कबीर एवं अखा की रचनाओ मे शाक्तों के आचार व विचार विषय मे कोई साम्य नही है। उन्होने शाक्तो की निन्दा ही सर्वत्र की है।

कबीर एवं अखा की रचनाओ मे जो न्यूनाधिक तान्त्रिक प्रभाव लक्षित होता है वह मुख्यत बौद्ध तान्त्रिको का प्रतीत होता है, जो उन्हें नाथपंथियो के माध्यम से उपलब्ध हुआ होगा। अत बौद्ध-तन्त्रो का यहाँ कुछ विस्तृत निरूपण अपेक्षित है।

**बौद्ध तान्त्रिक मत**

बौद्ध धर्म का महायान सप्रदाय आगे चलकर दो भागो मे विभक्त हुआ—(१) पारमिता नय, (२) मन्त्रनय। यह मन्त्रनय ही कालान्तर मे मन्त्रयान के नाम से अभिहित हुआ जो बौद्ध धर्म का प्रथम तान्त्रिक सप्रदाय था। आगे चलकर इसी से वज्रयान, सहजयान एव कालचक्रयान विकसित हुए।

**(१) मन्त्रयान**

महायान संप्रदाय मे भगवान् बुद्ध को लोकोत्तर स्वरूप दे दिया गया था। परिणाम-स्वरूप उनके उपदेशो को भी तदनुकूल महत्व दिया गया। अत उनका पाठ साधक के लिए आवश्यक बना। चूंकि पाठ लम्बे होते थे इसलिए साधको की सुविधा के लिए उन्हे सूत्रो मे, सूत्रो से धरणियों मे, धरणियो से मन्त्र और मन्त्र से बीजाक्षरों मे प्रस्तुत किया गया। इन अक्षरों मे देवताओ की कल्पना भी की गई।

मन्त्रयान के तीन विशेष तत्व है–(१) मन्त्र,(२)मुद्रा एवं (३)मण्डल। मन्त्र निरर्थक अक्षरो से निर्मित होते थे। बसुबन्धु के अनुसार इन मन्त्रो का निरर्थक होना ही उनका सार्थक होना है, क्योकि इनकी निरर्थकता सभी धर्मो (पदार्थो) की शून्यता का बोध

१. चार संप्रदाय–केरल, काश्मीर, गौड एवं विलास है।

साधक को कराती थी।[1] प्रत्येक मन्त्र के साथ एक देवता की कल्पना जोडी गई, धर्मो की शून्यता की तरह ये देवता भी शून्य के प्रतिबिम्ब होते थे। पाँच ध्यानी बुद्ध–वैरोचन, रत्नसम्भव, अभिताभ, अमोघ सिद्धि और अक्षोभ्य; उनकी पाँच भार्याएँ और उनसे उत्पन्न कुलों की भी कल्पना की गई।[2] मुद्रा हाथ व उँगलियों की विशिष्ट स्थिति को कहते है। 'मन्त्रो से सम्बद्ध मुद्राएँ अवलोकितेश्वर द्वारा गृहीत पद्म, शंख, वज्र, आदि को धारण करने वाली उँगलियों की मुद्राएँ (स्थितियाँ Positions) थीं।[3] मण्डल का अर्थ रहस्यपूर्ण गोलाकार रूप लिया जाता है जो जादू-टोने जैसी रहस्यात्मक शक्ति से युक्त माने जाने के कारण सिद्धि-प्राप्ति के साधन माने जाते थे। इस प्रकार मन्त्रतत्व शब्दशक्ति के रहस्यो से अनुप्राणित हो मुद्रा का सम्बन्ध स्पर्श के रहस्यो से परिपूर्ण माना गया।[4] कालान्तर मे मुद्रा का अर्थ स्त्री हो गया जो योग-साधना मे आवश्यक मानी गई। परिणामस्वरूप मैथुनपरक भोग, योग का आवश्यक अंग बन गया जिसकी दार्शनिक व्याख्या वज्रयान मे प्रस्तुत की गई।

**वज्रयान**

मन्त्रयान मे जब वज्र की कल्पना ने प्रवेश किया और उसके देव, साधना, मन्त्र, पूजा-विधि एवं पूजा-सामग्री आदि सभी के आगे वज्र शब्द प्रयुक्त होने लगा तब मन्त्रयान ही वज्रयान मे बदल गया। जिसमे कुछ ऐसे नवीन तत्व भी सम्मिलित किये गये जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध वज्र से था। महायान की 'शून्यता' ही वज्रयान का 'वज्र' है, और महायान का बोधिसत्व ही वज्रयान का 'वज्रसत्व' है। अवधूतीपा के अनुसार वज्र का अर्थ शून्यता है, और 'सत्व' विज्ञप्ति-मात्रता (विज्ञानवादी बौद्धो की शुद्ध चेतना) का प्रतीक है, दोनों का तादात्म्य सिद्ध होने से वज्रसत्व कहा जाता है।[5] महायान के बोधिचित्त मे 'शून्यता' एवं 'करुणा' नामक दो तत्वों का समावेश था, वज्रयान मे और विशेषत: सहजयान मे इन्हे प्रज्ञा एवं उपाय ( स्त्री एवं पुरुष ) के रूप मे प्रस्तुत किया गया, परिणामस्वरूप बोधिचित्त को भोगपरक योग की क्रिया से उत्पन्न मस्तिष्क की सर्वोत्तम आनन्द-पूर्ण स्थिति माना गया।[6] प्रज्ञा व उपाय का मिलन शिव व शक्ति के मिलन सदृश माना गया है।[7]

---

१. डा० दासगुप्ता : ओब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २१-२२।
२. विशेष के लिए दे०, डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० १४०।
३. डा० दासगुप्ता : तान्त्रिक बुद्धिज्म, पृ० ७०; सिद्ध साहित्य, पृ० १३९ से उद्धृत।
४. डा० दासगुप्ता : ओब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २२।
५. अद्वयवज्र संग्रह, पृ० २४; सिद्ध साहित्य, पृ० १४४ से उद्धृत।
६ दे०, डा० दासगुप्ता : ओब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० २७।
७. दे०, वही : पृ० २८-२९।

पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की शोध वाली नाडी साधना मे इन्ही—प्रज्ञा व उपाय—को इड़ा व पिंगला, चन्द्र व सूर्य, वाम व दक्षिण, स्वर व व्यन्जन आदि का सूचक माना। हिन्दू तन्त्रों की सुषुम्ना को 'अवधूतिका' नाम दिया गया। बोधिचित्त इसी के मध्य से ऊर्ध्वगामी होकर निर्माण चक्र, धर्मचक्र एवं सम्भोग चक्र को पार कर उष्णीष कमल में पहुँचकर महासुख उत्पन्न करता है। प्रज्ञा व उपाय के मिलन की स्थिति को 'युगनद्ध' कहा गया है जो सर्व प्रकार के द्वैत से रहित—ग्राह्य से ग्राहक के, सात से अनत के व प्रज्ञा से करुणा के मिलन को सूचक है। 'समरस', 'युगनद्ध' की अपर संज्ञा है। इसी को लक्ष्य करके बौद्ध तान्त्रिको के देवी व देवताओं की मैथुनपरक मूर्तियाँ गढ़ी गई। महायानी निर्वाण ही 'वज्रयान' मे महासुख कहा गया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया वह सिद्धान्त था, व्यवहार मे योगी उपाय था प्रज्ञा अथवा मुद्रा नोच जाति की सुन्दर स्त्री थी। गुरु के आदेशानुसार ये, उपाय व प्रज्ञा के साकार रूप, अपनी चित्तवृत्तियो मे समरस ( साम्य ) लाने के यत्न करते रहते थे, उनकी मान्यता थी कि कठोर नियमो के पालन की अपेक्षा सभी प्रकार के कामोपभोग से सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। स्त्रीन्द्रिय ही पद्मस्वरूप है, पुरुषेन्द्रिय ही वज्र का प्रतीक है। स्त्री डोमी, चाण्डाली आदि जितने घृणित कुल की होगी- सिद्धि उतने ही शीघ्र प्राप्त होगी।[1] शैव एवं शाक्त तान्त्रिक विचार व हठयोगी साधना से प्रभावित वज्रयान की यही सक्षिप्त रूपरेखा है। आगे चलकर यह अनेक शाखाओं व उपशाखाओं मे विभक्त हो गया।

**सहजयान**

सहजयान एक प्रकार से वज्रयान का हो विकसित रूप है। वज्रयान में जो महत्व वज्र का है सहजयान मे वही महत्व 'सहज' का है। किन्तु इसकी मुख्य विशेषता यह है कि जहाँ अन्य धार्मिक सम्प्रदायों मे मनुष्य की सहजात वासना वृत्ति को दबाने या उसके मूलोच्छेद पर जोर दिया जाता है वहाँ इसमें उसके शुद्धीकरण ( Sublimation ) पर जोर दिया गया है। साधना ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारा चित्त क्षुब्ध न हो; क्योंकि चित्त रत्न के क्षुब्ध होने पर सिद्धि-लाभ सम्भव नही है।[2] अत: प्रथम अर्थ में जो नैसर्गिक है वह सहज है, द्वितीय अर्थ मे जो सरल, सीधा या समतल है, वह सहज है। शान्तिपाद ने इसे 'उज्जुवाट'-सीधा मार्ग या राजपथ कहा है जिसे छोड़ अन्य मार्ग को मूर्ख ही ग्रहण करते है।

दार्शनिक दृष्टि से 'सहज' वह है जो सभी धर्मों या पदार्थों के साथ जन्म लेता है— 'सह जायते इति सहजः।' जो सभी पदार्थो की सत्ता का कारण है। चूँकि सब धर्मों का सत्व महासुख है अत. सहज भी महासुख रूप है। जगत् सहजस्वरूप है, सहज सबका

१. दे०, परशुराम चतुर्वेदी . उ० भा० सं० प० भूमिका, पृ० ३३।

२. तथातथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मनः। प्रज्ञोपाय निश्चय सिद्धि, श्लोक ४०, पृ० २४
सक्षुब्धे चित्तरत्ने तु नैव सिद्धि . कदाचन ॥ उ०भा०सं०प० भूमिका, पृ० ३६ से।

स्वरूप है, शुद्ध चित्त वालों के लिए सहज ही निर्वाण है।[1] महासुख के रूप में 'सहज' शारीरिक क्रियाओं के द्वारा शरीर मे ही प्राप्य हैं किन्तु शरीराधीन कोई वस्तु नही है, शरीर मे ही है किन्तु शारीरिक कोई वस्तु नही है।[2] डा० दासगुप्ता ने इसे वेदान्त के ब्रह्म, बौद्धों की निर्वाण-धातु, अश्वघोष की 'तथता' आदि कहा है।[3]

हठयोगपरक जो योगसाधना वज्रयान मे स्वीकृत है तत्वतः वही यहाँ भी स्वीकृत हैं। अंतर केवल इतना है कि 'उष्णीष' नामक चौथे चक्र में पहुँचने पर वज्रयानी को वज्रकाया प्राप्त होती है सहजयानी को सहजकाया। वज्रयान के बोधिचित्त की तरह ही 'सहज' भी शून्यता व करुणा का समरस, युगनद्ध या अद्वय रूप है,[4] जिसमे किसी प्रकार के द्वैत की कल्पना करना ठीक नही है। वह ख-सम है जहाँ मन अमन हो जाता है। कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा ये इस साधना के चार भाग है, जिनके अनुरूप विचित्र, विपाक, विमर्द एवं विलक्षण—मन की चार विकासात्मक अवस्थाएँ और तदनुरूप आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द एवं सहजानन्द–आनन्द के चार स्वरूप है। इसी क्रम में चार चक्रों को भी रखा जा सकता है। इन लोगो का यह निश्चित मत था कि राग से ही लोक बँधता है और राग से ही उसकी मुक्ति होती है।[5]

अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति खण्डनात्मक दृष्टिकोण सहजयान की प्रमुख विशेषता रही है। पुस्तकीय ज्ञान व वर्णाश्रम धर्म की इन्होने घोर निन्दा की है।

**कालचक्रयान**

कालचक्रयान बौद्ध तांत्रिकों का अंतिम सम्प्रदाय था जो शैवों एवं शाक्तों से प्रभावित सहजयान की ही एक शाखा थी। शायद इसीलिए इसका उल्लेख शैव एवं बौद्ध दोनों तंत्रो मे मिलता है। इसका विशेष साहित्य अनुपलब्ध है। प्रकाशित साहित्य मे 'नरोपा (१०वी शती) कृत' सैकोद्देश्यटीका[6] ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अभिनवगुप्त के 'तंत्रालोक' मे भी इस सम्प्रदाय का विशद विवरण प्राप्त होता है।

इस सम्प्रदाय मे परम सत्ता को कालचक्र नाम दिया गया है जिसे 'आदिब्रह्म' भी कहते है। कालचक्र मे काल का अर्थ प्रज्ञा व चक्र का अर्थ उपाय है। योग-साधना का

---

१. तस्मात् सहजं जगत् सर्वं सहजं स्वरूपमुच्यते।
स्वरूपमेव निर्वाणं विशुद्धाकारचेतसः॥ हेवज्रतंत्र (हस्तलिखित) ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ७८ पर उद्धृत।

२. देहस्थोपि न देहजः। वही, पृ० ७८ पर उद्धृत।

३. दे०, ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ८१-८२।

रूप परम्परागत ही है। किन्तु इसमे काया-शुद्धि, प्राण-शुद्धि तथा चित्त-शुद्धि की त्रिविध साधना को भी स्वीकार किया गया है, जिसकी छाया आगे चल कर नाथपंथ मे प्राप्त होती है।

'वज्रयान' व 'सहजयान' आदि मे से किसी का भी नामोल्लेख कबीर एवं अखा की रचनाओ मे नही हुआ। किन्तु ध्यातव्य यह है कि इन साधनामार्गो के प्रमुख साधक चौरासी सिद्धों मे परिगणित होते है, और इनका समय विक्रम सम्वत् ७९७ से १२५७ वि० तक माना जाता है।[1] कबीर ने अपनी एक उक्ति मे इन्हें संशयग्रस्त कहा है।[2] इसी आधार पर डा० सरनाम सिंह की मान्यता है कि संत लोग चौरासी सिद्धो के प्रति ही हेयता का भाव नहीं रखते थे, वरन् नौ नाथो की भी उपेक्षा करते थे।[3] उल्लेख्य यह है कि नौ-नाथों व चौरासी-सिद्धो में जिनकी गणना होती है उन गुरु गोरखनाथ की एक उक्ति मे भी कहा गया है कि :—

नौ नाथ नै चोरासी सिधा आसणधारी हूवा।
जोग का जिन पार न पायो, वन पडा भ्रमि भ्रमि मूवा॥ गो० बा० पद ३८

अतः सम्भव है कि इन्हें संशय-ग्रस्त कहने मे कबीर ने परम्परा का ही अनुसरण किया हो। दूसरे यह कि इनकी साधना मे भक्तिभाव के अभाव को लक्ष्य करके संत पल्टूदास ने इन्हे भ्रमित कहा है :—

सिद्ध चौरासी नाथ नौ बीचे सबै भुलान।
बीचे सबै भुलान भक्ति की मारग छूटी।
हीरा दिहिन है डार लिहिन है कौडी फूटी॥[4]

अत यह भी सम्भव है कि नौ नाथो व चौरासी सिद्धों को संशय-ग्रस्त कहने में कबीर का दृष्टिकोण भी यही रहा हो।

जो हो, उल्लेख्य यह है कि सिद्ध-साहित्य मे प्रयुक्त दसवाँ द्वार, चौसठखूँटा आदि यौगिक साधना के कुछ शब्दो का उपयोग कबीर की रचनाओ मे हुआ है। तदुपरान्त संसार की भ्रामकता, पुस्तकीय ज्ञान, तीर्थ-व्रतादिक के बाह्याचार, जन्म-जाति आदि के आधार पर स्वीकृत भेद-भाव, काया मे ही सब देव-स्थानों की मान्यता, आदि से संबधित सिद्धो व कबीर एवं अखा की अनेक उक्तियो मे विचारसाम्य व भावसाम्य ही नही, उक्ति-साम्य भी पाया जाता है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने सिद्ध सरहपा, सिद्धशवरपा, सिद्ध भुसुकुपा, सिद्ध कण्हपा एव सिद्ध ढेण्ढणपा से कबीर की कुछ उक्तियो का साम्य बताने का

१. दे०, डा० रामकुमार वर्मा : हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५७ एवं आगे।
२. द्रष्टव्य : क० ग्रं०, मधि कौ अंग सा० १, पृ० ४२।
३. कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० २९६।
४. परशुराम चतुर्वेदी : संत काव्य, पृ० ५२२।

प्रयत्न किया है।[1] इनके अतिरिक्त भी ऐसी साम्यसूचक अनेक उक्तियाँ उनके साहित्य में उपलब्ध होती है। फिर भी यह अविस्मरणीय है कि कबीर के समय से पूर्व ही सिद्धों का प्रभाव प्रायः लुप्त हो चुका था। अतः कबीरादि संतों पर उनका प्रभाव किसी परोक्ष माध्यम, योगियों के किसी अवशिष्ट संप्रदाय, के द्वारा संभव हुआ है।

**नाथ संप्रदाय**

कापालिक शैव, कौलमार्गीय शैव, वज्रयान, सहजयान एवं नाथ-सिद्ध-मत न केवल वैचारिक दृष्टि से वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से भी परस्पर इतने उलझे हुए है कि प्रो० प्रबोध बागची, डा० शशिभूषण दास गुप्त, डा० रागेय राघव, राहुल सांकृत्यायन, डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी एवं डा० रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वानो के स्तुत्य प्रयत्नों के बावजूद भी नाथ-सिद्धों के मूल की खोज सम्भव नही हुई है। किन्तु इस विषय मे प्रायः मतैक्य है कि इस संप्रदाय मे गुरु मत्स्येन्द्र नाथ एवं उनके शिष्य गोरखनाथ सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति थे। जिनमे से प्रथम कौल मार्ग के तो द्वितीय नाथपंथ के, यदि प्रवर्तक नहीं तो प्रमुख आचार्य या सिद्ध पुरुष अवश्य थे। यहाँ इन्ही दो के साधना मार्गो का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

**(१) कौलमार्ग : विचार व साधना**

कुल (शक्ति) से अकुल (शिव) का सम्बन्ध-स्थापन ही कौल मार्ग है। शिव की सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) का नाम ही शक्ति है, दोनो मे चन्द्र-चन्द्रिका सदृश अभेद सम्बन्ध है। 'इ' कार शक्तिवाचक है, शिव मे से 'इ' कार निकाल देने पर वह 'शव' हो जाता है।[2] भाव यह है कि शक्ति के अभाव में शिव कुछ भी करने मे असमर्थ है अतः शक्ति ही उपास्य है।

आणव, मायिक एवं कर्म—इन तीन मलो से आच्छादित शिव ही जीव है, अनाच्छादित होने पर जीव ही शिव है। जिसने यह जान लिया है कि काया भी आत्मा है, स्वयं से भिन्न पदार्थ भी आत्मा है वही योगिराट् है, वह साक्षात् शिव रूप है जो अन्य को मुक्ति देने मे समर्थ है।[3] अतः मत्स्येन्द्र पूर्णतः अद्वैतवादी है।

कौलोपनिषद् के अनुसार मोक्ष का कारण ज्ञान है। ब्रह्म व उसकी शक्ति अभिन्न है। अतः प्रपंच भी ईश्वर है, अनित्य भी नित्य है, क्योकि वह ब्रह्म-शक्ति का ही रूप है। धर्म विहित कार्य अकरणीय है, धर्म विरुद्ध कार्य करणीय है। वेद अमान्य एवं त्याज्य है। अपनी साधना का रहस्य शिष्य के अतिरिक्त अन्य किसी से न कहना चाहिए। 'भीतर से शाक्त, बाहर से शैव और लोक मे वैष्णव होकर रहना, यही आचार

१. दे०, कबीर साहित्य की परख, पृ० २४-२७।

२. दे०, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथसम्प्रदाय, पृ० ६७-६८।

३. दे०, कौल ज्ञान निर्णय, १७।३३-३७।

है।' व्रताचरण न करना, नियमपूर्वक न रहना ( क्योंकि वे मोक्ष के बाधक हैं ), कौल सम्प्रदाय की स्थापना न करना यही अध्यात्म है।[1] हठयोग साधना स्वीकृत है।

विन्दु, हंस एवं उन्मनी इस साधना मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है। बिन्दु भगवान् शिव की शक्ति है, जो सब शक्तियों से अक्षोभ्य रहता है।[2] यह स्फटिक सदृश श्वेत एवं स्वच्छ तत्व कुल व अकुल से भी परे है। बिन्दु से नाद और नाद से शक्ति विकसित हुई है। इस बिन्दु से जो शाश्वत ध्वनि उठती है, उस ध्वनि की शक्ति का नाम कला है, इस कला को ही काम-कला कहते हैं।[3] हंस विश्व मे अनुस्यूत कारण-रूप परमात्मा का वाचक है। हंस के इस स्वरूप-ज्ञान के प्राप्त होते ही अभौतिक अवस्था की अनुभूति होती हैं, इसी को उन्मनावस्था कहते हैं।[4] पशु, वीर व दिव्य तीन प्रकार के साधक हैं, जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

कौल ज्ञान निर्णय मे यद्यपि मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा व मैथुन—पंच मकारों और शास्त्रों की त्रिपुरा का उल्लेख नही है किन्तु एक या दूसरे रूप मे सभी का समावेश हो गया है। पच-पवित्र—विष्ठा, धारामृत, शुक्र रक्त एवं मज्जा का उल्लेख हुआ है किन्तु यहाँ उनके साधनामूलक पवित्र अर्थ ही अभिप्रेत है—

बाह्यभेद रता यस्तु मैथुने मासभक्षणे।
ते सर्वे नरक यान्ति इति सत्य वचो मम ॥[5]

परन्तु समय बीतने पर मानवीय दुर्बलताओ ने इन्ही 'कुलद्रव्यो' के स्थूल सेवन को भी विधेय ठहराया। इन्ही का परिशोधन गुरु गोरखनाथ द्वारा इनके आध्यात्मिक अर्थों के विधान एव साधको के लिए कठोर सयम के पालन को अनिवार्य बनाकर किया गया।

मत्स्येन्द्रनाथ के योगिनी-कौल मार्ग का कबीर एवं अखा से कोई सीधा सम्बन्ध दृष्टिगत नही होता किन्तु उनकी साधना मे कुण्डलिनी योग, मन की साधना, नाद, विन्दु आदि की स्वीकृति, मानसिक साधना को महत्व देना व बाह्याडम्बरों की खण्डनात्मक आलोचना आदि मे विचार-साम्य है। कबीर ने गौरी व शिव के मिलन का उल्लेख भी किया है—

यहु रस तौ सब फीका भया ब्रह्म अगनि परजारी रे।
ईश्वर गौरी पीवन लागे राम तनी मति वारी रे ॥[6]

---

१. दे०, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६८-६९।
२. डा० त्रिगुणायत : हि०नि०का०धा०उ०दा०, पृ० २७०।
३. दे०, कौल ज्ञान निर्णय : भूमिका, पृ० ४४-४५।
४. दे०, वही . भूमिका, पृ० ४७।
५. कौल ज्ञान निर्णय : भूमिका, पृ० ६३।
६. क० ग्रं० पद ७१, पृ० ८२।

अखा कृत जकडियों व गुजराती-भजनो में 'समरस भोग' का निरूपण हुआ है :

> न्हाव के श्वासु मेरा सासा, मुज मीतम विच नाही अकासा ।
>
> ऐमे समरस भोग विलासा, पियु बोलते मै ही रे बोलु ॥[1]

अतः कबीर व अखा पर कौल मार्ग का कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य है जिसे संभवतः नाथपंथी योगियो से उन्होंने ग्रहण किया है ।

## गोरखनाथ

नाथ संप्रदाय की हठयोगी शाखा के प्रमुख आचार्य, गुरु गोरखनाथ, के जीवनकाल, व्यक्तिगत जीवन, जन्म-स्थान एव कृतियो आदि के विषय मे कोई एक निश्चित मत नहीं है । इतना अवश्य है कि वे भारतीय विचार और विशेपतः साधना के क्षेत्र मे, आचार्य शकर के पश्चात्, व्यापक प्रभाव और असाधारण व्यक्तित्व वाले दूसरे व्यक्ति थे । उनका कार्य भी आचार्य शंकर से कम महत्वपूर्ण न था । उनके प्रयत्नों से न केवल हीनत्व अनुभव करने वाली जातियो में आत्म-विश्वास जन्मा, व समाज वहिष्कृत हठयोग, अपने परिशुद्ध रूप मे, राजयोग सदृश ही मान्य बना, वरन् कापालिक शैव, शाक्त, कौल चीनाचार, लोकायत एवं गाणपत्य आदि सम्प्रदायो के समावेश से एक ऐसी भूमिका भी तैयार हुई कि जो ब्राह्मण व अब्राह्मण सभी को समाविष्ट कर सके ।[2]

## सिद्धान्त एवं साधना

प्रत्यभिज्ञादर्शन के आनन्दवाद एवं जीवन्मुक्ति, रसेश्वर-दर्शन के रस-सिद्धान्त, सांख्य की सृष्टि, शङ्कराद्वैत, बौद्ध-सिद्धों के शून्य एवं सहज और शाक्तो के यौगिक प्रतीक आदि से प्रभावित नाथपथ सैद्धांतिक दृष्टि से पक्षापक्ष रहित विलक्षणवादी है, जहाँ किसी प्रकार के विवाद को स्थान नही । 'शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते है, काल संहार करते है और नाथ मुक्ति देते है । नाथ ही एकमात्र शुद्ध आत्मा है बाकी सभी बद्ध जीव है ।'[3] यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु व महेश भी जीव कोटि में है । मुक्ति वही दे सकता है जो स्वयं मुक्त है, वर्णाश्रमाभिमानी मुक्त नही हो सकता, अतः उससे मुक्ति की आशा वैसी ही है जैसे दो स्त्रियो के मिलन से पुत्र की आशा करना । यद्यपि मोक्ष साधक के प्रयत्न पर अवलम्बित है, किन्तु सिद्ध-गुरु का सहकार नितात आवश्यक है । सच्चा गुरु वह अवधूत है, 'जिसके वाक्य-वाक्य मे वेद निवास करते है, पद-पद मे तीर्थ वसते है, प्रत्येक दृष्टि मे कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथ मे त्याग है दूसरे मे भोग और फिर भी जो त्याग व भोग से अलिप्त है ।[4]' वेद दो प्रकार के है—स्थूल

---

१. जकडी : १९ अ० २०, पृ० ३० ।

२. विशेष के लिये दे०, डा० रांगेय राघव : गोरखनाथ और उनका युग, पृ० १५१-५५

३. दे०, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, पृ० ५४ ।

४. वही, नाथ सम्प्रदाय, पृ० १४९ ।

और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञ-याग का विधान करते हैं, योगियों को इनसे कोई वास्ता नहीं, सूक्ष्म वेद ओंकार है जो वेद का सार है। साधना के अभाव मे पुस्तकीय ज्ञान और करनी के अभाव में कथनी अर्थहीन है। मंदिर व मसीद का भेद निराधार है, तीर्थ, व्रत आदि व्यर्थ है। कनक-कामिनी एवं अहंकार-जन्य देह-दृष्टि को त्यागकर गुरुमुख होकर अध्यात्म लाभ प्राप्त करना चाहिए।[1] लंगोट का पक्का, मुख का सच्चा सत्पुरुष ही उत्तम कहा जाता है।[2]

ब्रह्म को मानव पिण्ड मे ही पाया जा सकता है। हठयोग श्रेष्ठ साधना है।[3] इसकी सिद्धि के लिए मानव देह मे—बिन्दु, प्राण एव मन—तीन चीजे सामर्थ्यवान हैं, जिनमे से यदि एक को भी वश मे कर लिया जाय तो शेष दो स्वयं नियंत्रित हो जाते हैं। 'बिन्दु' शुक्र के नियंत्रण हेतु इन्द्रिय निग्रह[4] और प्राण के नियत्रण हेतु प्राणायाम एव जप का अभ्यास करना आवश्यक है। मन की साधना मे मन की बहिर्मुखी वृत्ति को उलट कर अन्तर्मुखी करना होता है, यह मन का उल्टना ही 'उलटी चाल' है जिसमे सासारिक व्यापारो से विरोध भासित होता है। मानसिक वृत्तियों का यह 'विपर्यय' ही उलटबासियो का विषय होता है।[5] इन्द्रिय-निग्रह से आसन, प्राण-साधना से प्राणायाम और मन-साधना से प्रत्याहार को सिद्ध करके साधक कुण्डलिनी को जागृत करता है और उसकी सहायता से सुषुम्ना मार्ग के षट्चक्रों का भेदन करके सहस्रार में सुरति व शब्द का योग स्थापित करता है। षट्चक्रो के भेदन के समय 'सोहं', 'सोह' का अजपा-जाप प्रतिफलित होता है। सुरति व शब्द के योग का सम्बन्ध 'अनाहत नाद' से है जिसका सुख अनिर्वचनीय होता है। इसी मे शून्य की महत्ता व व्यापकता समझ मे आती है।[6] सहस्रार मे स्थित चन्द्रमा से झरने वाले अमृत का पान कर योगी कृतकृत्य हो जाता है। गोरखनाथ ने इसे औंधे कुएँ के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है।[7]

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, पृ० १५०।

२. काछ का जती मुख का सती। सो सत पुरुष उत्तमो कथी ॥ गो०बा० सबदी१५२, पृ० ५२।

३. उद्घाटयेत् कपाट तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या ततो योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ गो० श० १।५१ नाथ सम्प्रदाय, पृ० १३९ से उद्धृत।

४ धन जोवन की करै न आसा। चित्त न राषै कामिनी पासा।
नाद बिन्द जाके घटि जरै। ताकी सेवा पारवती करै। गो०बा० सबदी१९, पृ० ७।

५. विशेष के लिए द्रष्टव्य : डा० रामकुमार वर्मा हि०सा०आ० इति०, पृ० ११३-१४।

६. द्रष्टव्य : डा० रामकुमार वर्मा : हि०सा० का आलो० इति०, पृ० ११४।

७ गंगन मडल मे औंधा कुआँ तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होय सो भर-भर पीया निगुरा जाय पियासा ॥
डा० बड़थ्वाल : नाथपथ मे योग : 'कल्याण योगांक, पृ० ७०३।

नाथपंथियों की वेश-भूषा भी विशिष्ट प्रकार की होती है। जो लोग कानों को फड़वा कर उनमे सीग अथवा सोने व चाँदी के कुण्डल जिन्हें 'पारसी' भी कहते है, पहनते हैं, वे 'कनफटा योगी' कहे जाते हैं। जो नग्न रहते है और मास-मदिरा का सेवन करते हैं वे 'दर्शनी' और जो कान नही फडवाते वे 'अघोरी' कहे जाते है। किंगरी, मेखला, सीगी, जनेव, धंधारी, रुद्राक्ष, आधारी, गूदड़ी, खप्पर और झोला आदि धारण करते है।

कबीर एवं अखा दोनों कवियों ने गोरख का उल्लेख किया है, किन्तु अखा जहाँ उनका उल्लेख मात्र करते हैं, कबीर उनके त्याग, वैराग्य, संयम आदि की प्रशसा भी करते है :—

> कामणि अङ्ग विरक्त भया रत भया हरिनांइ।
> साखी गोरखनाथ ज्यू अमर भये कलि मांहि ॥ क०ग्रं०, अंग २९, साखी-१२
> अचिन्त्य जाण्ये थके जो देवदत्तने गोरखायुध ग्रही शक्ति वाधी ॥
> ( अ० अ० वा० भजन २८, पृ० ५१ )

कबीर ने गोरख, गोपीचंद एवं भर्तृहरि की मन-साधना व स्वयं की मन-साधना में साम्य होने का भी उल्लेख किया है—( क० ग्रं० पद ३३ )। अखा ने सृष्टि को जोगी (काल या शिव) और जोगिनी (शक्ति) का खेल माना है। तदुपरात दोनों कवियो की, भाव-अभाव, स्थूल-सूक्ष्म, द्वैत-अद्वैत से परे विलक्षण ब्रह्म, षट्चक्र-भेदन की यौगिक क्रिया. कथणी और रहणी की एकता, आत्मसंयम, हिन्दू व मुसलमानो के बाह्याचारों, धर्म-गुरुओं. धर्मस्थानो एवं धर्म-ग्रन्थों, जाँति-पाँति, ऊँच-नीच, छूआछूत आदि, सम्बन्धी उक्तियों मे गोरखनाथ से न केवल भाव व विचार का साम्य पाया जाता है वरन् उक्ति-साम्य भी पर्याप्त मात्रा मे देखा जाता है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि वे गोरख-पंथी थे। दार्शनिक विचार-भेद के साथ-साथ संतों की प्रेमाभक्ति ऐसी विशेषता है जिसके अभाव को लक्ष्य मे रखकर उन्होंने गोरखपंथी योगियो की योग-साधना, बाह्य-वेश एवं बाह्याचारों की भर्त्सना भी खूब की है। उल्लेख्य यह है कि कबीर पर गोरख का प्रभाव जितना स्पष्ट और व्यक्त है उतना अखा पर नही। सम्भव है इन साधको से कबीरका निकट का सम्पर्क रहा हो।

### निर्गुण भक्ति

अद्वैत ब्रह्म की निर्गुण भक्ति की भी अपनी दीर्घ परम्परा है। शैवों के प्रत्यभिज्ञा दर्शन, काश्मीर के वीर शैव एवं दक्षिण के पाशुपत शैवो के अतिरिक्त कतिपय वैष्णव अथवा स्मार्त मतो मे भी निर्गुण भक्ति स्वीकृत थी। जिनमे से महाराष्ट्र मे चक्रधर स्वामी (सं० १२५१-१३३१ वि०)[२] द्वारा प्रवर्तित महानुभाव पंथ, किन्तु पुण्डरीक द्वारा प्रवर्तित

---

१. अ० र० भजन ११, पृ० ११३-१४।

२. दे०, परशुराम चतुर्वेदी : उ० भा० सं० प०, भूमिका, पृ० ८१-८४।

वारकरी सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध ज्ञानदेव (१२७५-१२९६ ई०), नामदेव (१२७०-१३५० ई०) एवं एकनाथ (१५२८-१५९९ ई०) तथा बाद मे तुकाराम (१६०८-१६४९ ई०) इसी वारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी थे।[1] कबीर ने 'जैदेव' के साथ जिस नामदेव का उल्लेख किया है[2] वे शायद ये ही नामदेव थे। अतः यहाँ इन्ही दो का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

### जयदेव

'जैदेव' कृत हिंदी के दो पद 'आदिग्रथ' मे 'राग गूजरी' एवं 'राग मारू' के अतर्गत संकलित है। दूसरी ओर 'गीत गोविंद' के रचयिता जयदेव (सं० १२३९-१२७२ वि० मे विद्यमान) की ख्याति है—जिनका विस्तृत जीवन-परिचय भक्तमाल की प्रियादास की टीका मे दिया गया है।[3] परशुराम चतुर्वेदी ने भी इनका विस्तृत परिचय दिया है,[4] और आदि ग्रथ के उक्त दो पदो का कर्त्ता इन्ही को माना है। साथ ही इनकी एक उक्ति जिसमें कहा गया है कि 'मैंने अपने मन-जल को अपने आराध्य एव श्रद्धेय परमात्मा-जल मे मिला दिया है'[5] से कबीर का उक्ति-साम्य भी दिखाया गया है। किन्तु एक तो संस्कृत भाषा मे शृगारप्रधान 'गीत-गोविन्द' जैसी रचना और दूसरी ओर अनघड़ हिंदी मे रचे गये उक्त दो पदो के मध्य भाषीय एव वैचारिक वैषम्य को देखते हुए श्रीचतुर्वेदी की मान्यता असदिग्ध प्रतीत नही होती, दूसरे कथित उक्ति साम्य भी कोई वैशिष्ट्य नही रखता, इस प्रकार की उक्तियाँ परंपरागत है। फिर एकाध उक्ति से कोई प्रभाव भी सिद्ध नही किया जा सकता। हाँ, सन्त-परम्परा मे जैदेव की प्रसिद्धि अवश्य रही होगी और सम्भवत. इसी आधार पर कबीर ने उनका उल्लेख कर दिया है।

### नामदेव

जैसा कि सकेत किया जा चुका है नामदेव वारकारी सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे। वारकारी सम्प्रदाय नाथपंथ से बहुत प्रभावित था। —नाथपथी कोई 'विसोवा खेचर' इनके गुरु थे। आदि ग्रथ मे संकलित इनके पदों का सम्पादन 'सत नामदेव की हिन्दी पदावली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। जैसा कि पीछे सकेत किया गया है कबीर ने अपनी अन्य उक्ति मे इनके जीवन मे घटित एक चमत्कारिक घटना का भी उल्लेख किया है कि भक्तवत्सल प्रभु ने (मन्दिर सहित) ब्राह्मणो की ओर से अपना मुख फेर कर उधर

१. दे०, विश्वम्भर उपाध्याय : हि० सा० दा०, पृ० २०५-२०७।

२. संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामा जैदेव। क०ग्रं०, पद ३८७, पृ० १६३।

३ दे०, भक्तमाल, छप्पय ४४ एव उसकी टीका।

४ दे०, उ० भा० सं० प० भूमिका, पृ० ९१ एव आगे।

५ दे०, कबीर साहित्य की परख, पृ० ४०।

कर लिया था जिधर नामदेव बैठे थे ।'[1] अखा ने कबीर के साथ इन्हे भी 'भक्ति-स्तम्भ' एवं सब सन्तों का पीर कहा है :—

कब ध्रुव प्रह्लाद पीगल पढ़े कब व्याकरण नामा कबीर ।
भक्ति थंभ भये अखा सब संतन के पीर ॥[2]

अन्य सन्तों ने भी आदर के साथ इनका नामोल्लेख किया है ।[3] इनकी रचनाओं[4] मे उपलब्ध निर्गुण ब्रह्म की प्रेमाभक्ति, विरह, हठयोग, राम-रसायन' की मस्ती, नाम की महिमा, ज्ञान व भक्ति का समन्वय, सिद्धान्तो मे सर्वात्मवाद एवं मायावाद की स्वीकृति, ससार की असारता, मन-विजय आदि, लोक-वेद की मर्यादाओ की अस्वीकृति, वर्ण-व्यवस्था, बाह्यकर्म, अवतारवाद, पुस्तकीय पाडित्य आदि मे अनास्था, अपने वंशानुगत व्यवसाय के अपनी साधना-सूचक रूपक बांधना, लोक-प्रचलित भाषा व लोक-गीत-शैली की पद-रचना आदि मे कबीर एवं अखा से इनका साम्य है । जहाँ-तहाँ कबीर से इनका उक्ति-साम्य भी पाया जाता है ।

इनके अतिरिक्त परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर के पूर्ववर्ती सन्तों के रूप मे सधना, लाल दे, वेणो एवं त्रिलोचन आदि का परिचय दिया है ।'[5] निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि कबीर के लिए आवश्यक भूमिका तैयार करने मे उक्त सन्तों का योगदान उल्लेखनीय है ।

### सूफी दर्शन

सूफी-मत वास्तव मे रूढिचुस्त-इस्लाम-धर्म की औपचारिकता के प्रति मानवीय हृदय का स्वाभाविक विद्रोह है,[6] किन्तु इसका मूल स्रोत कुरान-शरीफ व मुहम्मद पैगम्बर का जीवन ही है । कुरान मे अल्लाह को एक, चैतन्य[7], अनन्त सौन्दर्य से युक्त[8] एव श्रद्धालुओ को प्रेम करने वाला[9] कहा गया है । उसके इसी रूप को सूफियों ने ग्रहण किया है ।

---

१ क० ग्र० पद १२२, पृ० ९७ ।

२. भोरी भक्ति अङ्ग सा० ५ अ० र०, पृ० २०६ ।

३ दे०, रज्जबजी, सुन्दरदास, दादू, वषनाजी एवं रैदास आदि की बानियाँ सन्त सुधासार, प० ५२०, ५९०, ४४१, ५४३ एवं १८३ आदि ।

४. दे०, डा० भगीरथ मिश्र व राजनारायण मौर्य संपादित . संत नामदेव की हिन्दी पदावली ।

५. दे०, उ० भा० सं० प०, भूमिका, पृ० ९१-१२२ ।

६ डा० म्यूरे टी० टाइटस : इण्डियन इस्लाम, पृ० १११ ।

७. दे०, कुरान शरीफ ३।२ ।

८. वही, ६२।४ ।

९. वही, ३।१४८ ।

अपने प्रारम्भिक रूप में सूफी मत इस्लाम की तरह ही दार्शनिक जटिलताओं से शून्य एक सरल धर्म था, और सूफी लोग सत्यान्वेषी वैरागी फकीर थे। दर्शन का विकास इसमें नवम शताब्दी मे हुआ। जिसे इस्लाम का विरोधी समझा गया और 'अनल हक' (मैं ही खुदा हूँ) कहने वाले हल्लाज (मंसूर) को सूली पर चढ़ा दिया गया। इस विरोध को गज्जाली ने शांत किया। बायजीद ने इसे सर्वप्रथम अद्वैत दर्शन दिया जिसकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या मुहीउद्दीन इब्नल अरबी ने की। इसके दार्शनिक विचारों पर भारतीय वेदांत, फना-विषयक मान्यता पर बौद्धों के निर्वाण, साधना मे भारतीय योग एवं प्राणायाम का, प्रभाव सर्व-स्वीकृत है।[1] भारत में इसका प्रचार यों तो बहुत पहले से होने लगा था किन्तु एक व्यवस्थित सम्प्रदाय के रूप मे शेख मुईनुद्दीन चिश्ती (मृत्यु १२३६ ई०) के भारत-प्रवेश (११९२ ई०) के पश्चात् हुआ। पीर-पूजा व मजार-पूजा स्वीकृत होने के कारण इसके अनेक सम्प्रदाय हुए किन्तु चिश्तिया, सुहरावर्दिया, कादरिया एवं नक्शबन्दिया विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए।

सूफियो का मुख्य स्वर अद्वैतवादी है। अरबी का कथन है कि सृष्टि के समस्त पदार्थ वास्तव मे कुछ नही किन्तु उस सृष्टा की सत्ता के सार है। 'मंसूर का कथन है,' मैं वही हूँ जिसे मैं प्यार करता हूँ, जिसे मैं प्यार करता हूँ वह मै ही हूँ, हम एक शरीर में दो प्राण है, मुझे देखना उसे देखना है और उसे देखना हम दोनों को देखना है। अलगज्जाली के अनुसार परमात्मा की सत्ता सार्वभौमिक एव सार्वकालिक है उसी के द्वारा सारा विश्व प्रदर्शित है, अत दृश्य से द्रष्टा को पृथक् नही किया जा सकता।'[2] दृश्य जगत् भी ईश्वर का ही प्रदर्शन माना गया है। अरबी का कथन है कि—'ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं है।'[3] किन्तु इस विषय में सभी सूफी एक मत नही हैं। इजादिया लोग असत् से सृष्टि-रचना मानते है, वहूदिया प्रतिबिम्बवादी है, हल्लाज परिणामवादी, तो हुज्वरी नूरवादी है।

ईश्वर को अभेद माना गया है अत. आत्मा-परमात्मा या प्रेमी व प्रेयसी मे कोई तात्त्विक अन्तर नही माना गया। किन्तु चाहे प्रेमी व प्रेयसी के सम्बन्धो को लें, चाहे अल्लाह व आदम या अल्लाह व पैगम्बर को लें, सभी के सम्बन्ध अद्वैत की अपेक्षा

१ दे०, डा० ताराचन्द : इन्फलुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० ६६-६७ एव एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स ग्रन्थ १२, पृ० १२ एव दी स्पिरिट् आफ इस्लाम, पृ० ४५९।

२ विशेष के लिए दे०, डा० विमलकुमार जैन : सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० २८-२६ एव डा० ताराचन्द : इन्फलुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० ७१ एवं आगे।

३. दे०, मिस्टिकल फिलोसोफी आफ मुहीउद्दीन इब्नुल अरबी, पृ० ५५, सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० ४७ पर उद्धृत।

विशिष्टाद्वैत के अधिक निकट पड़ते है। मोक्ष-सम्बन्धी मान्यताओं मे भी सूफियों में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं भेदाभेद आदि की समर्थक मान्यताएँ प्रचलित हैं। साधना मे 'इश्क मजाजी' को अन्ततः 'इश्के हकीकी' ही माना गया है।

**साधना पक्ष**

सूफी मान्यता के अनुसार प्रत्येक अणु अपने उद्‌गम-स्थल की ओर लौटता है। जीव की ईश्वर के प्रति इस यात्रा को 'सफरुल अब्द' कहा जाता है। जब मोमिन-या मुमुक्षु-इस पथ पर आरूढ होता है तो उसे 'सालिक' (या यात्री) कहा जाता है। इसके बाद वह आबिद (आराधक)होकर आगे बढता है। बाद मे जाहिद और अन्त मे आरिफ कहा जाता है। सालिक को इस यात्रा मे सात सोपान पार करने होते हैं जो इस प्रकार है---(१) तोवा (अनुताप या किये गये पापो का प्रायश्चित्त), (२) आत्मसंयम-गुरु के निकट रहकर वह इन्द्रियो को वश मे करता है, सफल होने पर उसे सूफियों की पोशाक ( मगकत्र ) दे दी जाती है। (३) दारिद्र्य या फक्र ( अपरिग्रह एवं मानापमान से अप्रभावित रहने की भावना का विकास), (४) नफस-(वामनाओ एवं अहता के दमन द्वारा रिदा (सन्तोप)एवं तबक्कुल (विश्वास की प्राप्ति करना , (५) तवक्कुल-(विश्वास)मे साधक अपने असन-वसन की चिन्ता ईश्वर पर छोड देता है, उसी को अपना सर्वश्रेष्ठ हितू मानकर लौकिक द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। (६) जिक्र-(ईश्वर का स्मरण) जिसके दो भेद है (१) जिक्र जली-विहित वाक्यों का उच्चारण जैसे 'सुभान अल्लाह'। (२) जिक्र खफी-मन मे जप करना, और (७) मुराकवत-(ध्यान) यह बौद्धो के ध्यान व समाधि के सदृश स्थिति होती है।

उक्त सात सोपानों को पार करने पर सालिक मे 'यकीन' की जागृति होती है, उसका हृदय-रूपी दर्पण इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसमे ईश्वर का प्रतिबिम्ब पड सके। साधक मे 'फरासत'-ईश्वर को पहचानने की शक्ति-आने लगती है। अतः यह एक प्रकार से 'चित्त शुद्धि' की प्रारम्भिक स्थिति ही है। इनके अतिरिक्त उसे चार मुकामात (सोपान Stages) और चार हाल (स्थिति State) और पार करने होते हैं। ये है (१) 'नासूत' (जागृत अवस्था, नरलोक), ( २ ) 'मलकूत' (स्वप्नावस्था, देवलोक), ( ३ ) 'जबरूत, (सुपुप्ति अवस्था-ऐश्वर्य लोक), 'लाहूत' (तुरीयावस्था-माधुर्य लोक)। कुछ लोग एक अन्य स्थिति 'हाहूत' (तुरीयावस्था, सत्यलोक) की मान्यता मे भी विश्वास करते देखे जाते है। 'मोमिन' शरीअत (कर्मकाण्ड) का पालन कर नासूत मे विहार करता है, 'मुरीद' तरीकत (उपासना काड) का सेवन कर मलकूत मे विचरता है। 'सालिक' मारिफत (ज्ञान कांड) का स्वागत कर जबरूत मे विराम और 'आरिफ' हकीकत का चिन्तन कर लाहूत मे तल्लीन होता है। यही सूफियो की पराकाष्ठा और तसव्वुफ ( ज्ञान ) की परागति है।[1] हकीकत मे उतरने पर उसे माशूका के जमाल (सौन्दर्य) का दीदार होता है; उस पर मुग्ध होकर यह वस्ल (मिलन) के क्षेत्र मे पहुँचता है, वस्ल मे फना (निर्वाण) को प्राप्त

१. आचार्य चंद्रवली पाडेय : तसव्वुफ और सूफी मत, पृ० ९४।

कर सभी द्वन्दों से मुक्त होकर 'अन-हल-हक' का अनुभव करता है। इस प्रकार वह अहं से शून्य होकर 'बका' के आनन्द का अनुभव करता है। ईश्वर मे अपने अस्तित्व के विलय (फना) के बायजीद के नकारात्मक सिद्धात को ईश्वर में स्थित होकर आनन्दमय जीवन (बका) के विधेयात्मक सिद्धात के रूप मे अबू अल खर्राज ने प्रतिपादित किया था।[1]

सूफियों की साधना के विषय मे दो बातें और उल्लेखनीय है—एक तो यह कि फना की स्थिति को प्राप्त करने में नृत्य, सङ्गीत व शराब आदि का आश्रय लिया जाता है, दूसरे यह कि गुरु को परमात्मा का साकार रूप माना जाता है। इतना ही नही किसी-किसी साधक ने तो गुरु को परमात्मा से भी अधिक महत्व दिया है।[2]

कबीरादि सन्तो की निर्गुण भक्ति मे स्वीकृत दाम्पत्य-भाव को कुछ विद्वानों ने सोलह आने सूफियो की देन माना है,[3] कुछ ने उसका प्रभाव ही स्वीकार किया है,[4] तो कुछ ने प्रभाव भी नही माना है।[5] आचार्य चन्द्रबली पाडेय ने कबीर को 'सूफीजिद' सिद्ध करना चाहा है।[6] सागर महाराज ने अखा को सूफी औलिया[7] कह दिया है यद्यपि उन्होने ऐसा सिद्ध करने का प्रयत्न प्राय. नही किया।

इस विषय मे पहली बात तो यह कि स्वय सूफियों की विचारधारा पर अद्वैत वेदात, विशिष्टाद्वैत व भेदाभेद तथा साधना पर योग, विशेषत. हठयोग का प्रभाव सर्व-स्वीकृत है अत उनकी और निर्गुण सन्तो की उक्तियो मे साम्य का होना स्वाभाविक है, नवीनता नही। दूसरे यह कि सूफियो की और संतों की साधना के स्वरूप सिद्धात एव लक्ष्य आदि मे पर्याप्त अतर है। सूफियो ने पुरुष-प्रेम को स्वीकार कर फारस की परपरा का, तो सतों ने नारी-प्रेम को स्वीकार कर भारतीय परम्परा का, अनुसरण किया है। प्रथम की प्रेम-साधना के प्रतीक 'आशिक' और 'माशूक' है, द्वितीय की निर्गुण भक्ति के प्रतीक पतिव्रता नारी और पति है। प्रथम मे रूपासक्ति मुख्य है, द्वितीय मे गुणासक्ति। अतः

---

१. दे०, दी आइडिया आफ पर्सनेलिटी इन सूफीइज्म, पृ० १४।
डा० विमलकुमार जैन सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ३३ पर उद्धृत।

२ दे०, डा० ताराचद इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० ८१।

३. दे०, आचार्य शुक्ल : जायसी ग्रथावली भूमिका, पृ० १६०-६४।
दे०, डा० विमलकुमार जैन : सूफीमत और हिन्दी साहित्य, पृ० ११७-१२०।

४ डा० श्यामसुन्दरदास क०ग्र० प्रस्तावना, पृ० ४१-४२ तथा डा० रामकुमार वर्मा : कबीर का रहस्यवाद, पृ० ४६-४७।

५ दे० डा० गणपतिचन्द्र गुप्त हिंदी काव्य मे श्रृगार परम्परा और बिहारी पृ० २२७-२८. दे०,डा० पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव कबीर साहित्य का अध्ययन,पृ० ६९-७२।

६ दे०, विचार-विमर्श।

७. दे०, अ० अ० वा० प्रस्तावना, पृ० ६।

प्रथम मे जो ऊहात्मकता और अश्लीलता है वह द्वितीय मे नही। प्रथम का लक्ष्य प्रिय के प्रेम का सम्पादन करना है, द्वितीय का मिलन-सुख भोगना है। अतः प्रथम जहाँ दुःखातक है वहाँ द्वितीय सुखांतक। सूफियो या उनकी साधना के प्रति उन्होने कोई सम्मान भी व्यक्त नही किया, इसके विपरीत कुँवारी कन्या के साज-शृंगार एवं प्रेम-भाव को उन्होंने अशोभनीय कहा है—(क० ग्रं० पद १२६, भेष कौ अङ्ग सा० २४ तथा छप्पा ९८९), तदुपरांत सूफियों के 'शुक्र' व सत्र' और संतों के रामरसायन मे भी कोई साम्य नही। क्योकि 'रामरसायन' हठयोगी-साधना मे ब्रह्मरन्ध्र से झरने वाला अमृत (क० ग्र० पद ७२-७४) है, न कि आशिको की महफिल मे साकी द्वारा प्रस्तुत शराब।

तीसरे इस दृष्टि से भारतीय परम्परा पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि बौद्धों, शैवो एवं शाक्तों आदि की तांत्रिक साधनाओं मे योग के साथ-साथ भोग या मिथुन का अद्वय-भाव स्वीकृत है। बृ० उप० (४।३।२१) मे पुरुष व प्राज्ञात्मा के मिलन की अनुभूति को नर-नारी के आलिंगन (या सहवास) की अन्तर्वाह्य-ज्ञान-शून्य अवस्था सदृश कहा गया है। भागवत मे गोपियों के प्रति उद्धव द्वारा उपदिष्ट निर्गुणोपासना-निर्गुण भक्ति ही है। नारद भक्तिसूत्रो मे न केवल गोपी-भाव स्वीकृत है वरन् कान्तासक्ति के उपरात परम-विरहासक्ति ( सूत्र-८२ ) भी स्वीकृत है। नाथपथियो मे प्रेम-भाव नही किन्तु आत्मा-परमात्मा के मध्य नर-नारी के सम्बन्ध स्वीकृत (गोरखबानी : २१, पृ० १७८) है। नामदेव भी अपने पति के लिए साज-शृंगार अपनाते हुए दिखाई देते है।[1] स्वामी-रामानन्द ने आत्मा-परमात्मा के मध्य जिन नौ सम्बन्धो को माना है उनमें से एक 'भार्या-भर्तृत्व' का सम्बन्ध भी है।[2] किन्तु एक तो उन्होने इसका कोई विस्तार नहीं किया, दूसरे उनके द्वारा सर्वाधिक महत्व दास्य-भाव को ही दिये जाने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इसे उन्होने अपनाया भी था। फिर भी इतना स्पष्ट है कि भारतीय उपासना में दाम्पत्य-भाव की स्वीकृति के लिए आवश्यक भूमिका का अभाव नही था।

प्रतीत यह होता है कि स्वमत के प्रचार के लिए जिस प्रकार सूफियो ने हिन्दू-राजाओं के कथानका को अपनाया उसी प्रकार संतो ने सूफियो की शब्दावली व शैली को अपना कर स्वमत का प्रतिपादन इस ढग से करने का प्रयत्न किया है जिसका सूफियो से अविरोध रहे। इस कथन का सर्वोत्तम उदाहरण अखाकृत झूलनाओ मे द्रष्टव्य है जहाँ सूफियों के मत एवं साधना विषयक शब्दावली का खुलकर प्रयोग करते हुए वस्तुत अद्वैत एवं निर्गुण-भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रयत्न मे सूफियो की शब्दावली एव

---

१. मैं बउरी मेरा रामु भरतार। रचि-रचि ताकउ करउ सिंगार॥

सत नामदेव की हिंदी पदावली पद २१४।

२. दे०, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव . रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिंदी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ० ३०५।

शैली का आलोच्य कवियों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, किन्तु इसी आधार पर उन्हें 'जिंद' या 'औलिया' नही कहा जा सकता।

### इस्लाम दर्शन

इस धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद पैगम्बर (५७० ई०–६२३ ई०) द्वारा समय-समय पर स्वानुभूति के आधार पर कही गई 'आयते' 'कुरान शरीफ' मे सकलित है। 'कुरान-शरीफ' धर्म, अर्थ, राज्य, न्याय एवं समाज आदि सभी व्यवस्थाओ का एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है।

'कुरान' के अनुसार अल्लाह सृष्टि का कर्ता है।[१] वह एक है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य परमात्मा नही है.[२] वह नित्य व सर्वशक्तिमान् है, स्वच्छन्द होने पर भी दयालु है,[३] सर्वज्ञ है,[४] आदि व अन्त से रहित है,[५] दण्ड देने मे कठोर[६] है किन्तु उसमे विश्वास करने वालो का पथ-प्रदर्शक है।[७] वह सबके मन की बात जानता है। पापी उसको निगाह से बच नही सकता क्योकि जिधर मुडो उधर ही अल्लाह का मुख है।[८]

अल्लाह का स्वरूप इतना तेजोमय है कि उसे समझने का प्रयत्न करने वाली मानव-बुद्धि चौंधिया जाती है, इसलिए मनुष्य को अपनी बुद्धि पर विश्वास न करके पैगम्बर जो कहे उसे मानना चाहिए। दैवी बातो मे तर्क करना मूर्खता है। एक के साथ जो अन्य देवो को जोडता है वह पापी है अत उसके स्वयं हित के लिए बलपूर्वक उससे उस सिद्धात को छुडवा दो जो उसके अनन्त अपमान व दु खों का कारण हो सकता है।[९]

अल्लाह ने 'कुन' (हो जा) शब्द मात्र से विश्व का निर्माण किया था।[१०] उसने सर्व-प्रथम आदम को बनाया, वह उसी का का प्रति-रूप था, जिसमे उसने अपनी 'रूह' [आत्मा] को डाला था।[११] इस प्रकार खुदा के नूर से आदम और आदम के नूर से शेष सृष्टि की रचना हुई। आत्मा (रूह) अनुपम, शाश्वत और विशुद्ध है, यह मृत्यु के बाद भी सुख व दु ख का अनुभव करती है।[१२] व्यक्तियो की मृत्यु के बाद भी उनकी रूहें कब्रो में रहती है, जो कयामत के दिन अल्लाह के समक्ष उपस्थित होती है, अल्लाह उन्हें उनके भले-बुरे कर्मानुसार जन्नत या जहन्नुम रसीद करता है।

---

१ 'कुरान शरीफ' १३।१६।
२. वही, ३।२।
३. वही, २।२६३।
४. वही, २।२६१।
५. वही, ५७।३।
६ वही, ३।११।
७ वही. १३।२९ (सभी सदर्भ डा० विमलकुमार जैन : सूफी मत और हिन्दी साहित्य, पृ० ४४-४६ से उद्धृत।)
८. वही, २।१०९।
९. डा० ताराचन्द : सोसायटी एण्ड स्टेट इन दी मुगल पीरियड, पृ० ८५।
१०. कुरान शरीफ, ३।४७।
११. वही, १५।९।
१२. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ३५६।

—रोजा, नमाज, जकात (दान), हज्ज तथा 'ईमान'—ये पांच इस्लाम धर्म के स्तम्भ माने जाते हैं।[1] इस्लाम के पालने वाले सब भाई-भाई हैं किन्तु काफिर (अल्लाह को न मानने वाले) पृथक् हैं।[2]

कहना न होगा इस्लाम के एकेश्वरवाद व कबीर एवं अखा के सर्वात्मवाद में कोई साम्य नहीं हैं। इस्लाम के नूरवाद, पैगम्बरवाद का भी कबीर व अखा के विवर्तवाद एवं निष्काम कर्म से कोई साम्य नहीं हैं। इस्लाम के कयामत के दिन, जन्नत व जहन्नुम, अल्लाह व रूहों के द्वैत, अतार्किक आस्था एवं धर्म के नाम पर मानव-मानव में भेद करने आदि में उनकी आस्था नहीं है। रोजा, नमाज, सुन्नत, हलाल आदि की उन्होंने पर्याप्त निन्दा की है। इतना ही नहीं, मुल्ला, काजी एवं पीर-शेख-औलिया आदि की उन्होंने निजी व्याख्याएँ प्रस्तुत कर उन्हें अपने रंग में रँगने का भी प्रयत्न किया है।

इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से कबीर व अखा पर इस्लाम का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव सिद्ध नहीं होता। किन्तु एक तो उन्होंने अपने राम या ब्रह्म के लिए अल्लाह, खुदा, करीम व रहीम आदि नामों का खुलकर प्रयोग किया है—

दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि इहां राम रहिमाना।

\+ + +

कबीर पनह खुदाइ की रह दिगर दावानेग।[3]
आपे तुं खुदी खुदा भी तु आपे नांही अखा इस ढाहा उस ढाही॥[4]

दूसरे वर्णाश्रम, मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद आदि का विरोध जैसी कुछ बातों को ध्यान में रखकर डा० फर्क्युहर,[5] डा० टाइटस,[6] डा० ताराचन्द,[7] के०एम० पनिकर[8] एवं डा० यूसुफ हुसेन[9] आदि विद्वानों ने संतों को विशेषकर कबीर को इस्लाम से प्रभावित माना है।

---

१. दे०, कुरान शरीफ : २।१८५, २३।८, १०, ११ एवं १५, ९।११, ११।१९६ एवं २२।७५।
२. के०सी० व्यास एवं सर देसाई : इंडिया थ्रू दी एजेज, पृ० १०६।
३. क०ग्र०, पद २५९, पृ० १३१। वही, पद २५८, पृ० १३१।
४. संतप्रिया : कवित्त ७७ और देखें झूलणा ९२।
५ दे०, एन आउट लाइन आफ रिलीजस लिटरेचर, पृ० ३३२।
६. दे०, इंडियन इस्लाम (१९३० ई०), पृ० १७।
७. दे०, इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० १५१।
८. दे०, ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १७४।
९. दे०, ग्लिम्प्सेज आफ मिडिवल इंडियन कल्चर (१९६२ ई०), पृ० १५।

इस्लाम का प्रभाव कहें या वातावरण की मांग, इतना अवश्य है कि मध्ययुगीन समस्त भक्ति आन्दोलन मे एक व्यक्तिगत ईश्वर की मान्यता—फिर चाहे उसका नाम कुछ भी हो, प्रपत्ति या आत्मसमर्पण का भाव, जाति-पाँति के बंधनों को (सामाजिक स्तर पर या भक्ति के क्षेत्र मे हो) ढीला कर देने की मनोवृत्ति, यदि सब के द्वारा नही तो कुछ के द्वारा-अवतारवाद व मूर्तिपूजा मे अनास्था व्यक्त करना, आदि कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ विद्यमान थी कि जो अपने मूल मे भारतीय परपरा मे उपलब्ध अवश्य थी, किन्तु देश मे छाये हुए इस्लामी वातावरण से भी उनका सामजस्य था ।

कबीर द्वारा इस धर्म के नमाज, रोजा, हज्ज, हलाल, सुन्नत आदि की जो विस्तृत आलोचना की है उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि इसके आचार व विचार पक्ष से अखा की अपेक्षा उन्हे कुछ अधिक ज्ञान रहा होगा ।

## तुलनात्मक विश्लेषण

विविध दार्शनिक मत एवं साधनाओ से कबीर एव अखा के विचार-साम्य व वैषम्य-विषयक; पूर्ववर्ती पष्ठो के विवेचन से निष्पन्न हुए, निष्कर्षो को—( क ) दोनो कवियो पर पडे सामान्य प्रभाव, (ख) वैशिष्ट्य एव (ग) निष्कर्ष—इन तीन शीर्षको मे प्रस्तुत किया जा सकता है । जो निम्नाङ्कित है :—

**(क सामान्य प्रभाव : (१) वेदान्त दर्शन**

(अ) उपनिषद् —विचार पक्ष मे ब्रह्म व आत्मा के स्वरूप, अद्वैत एवं मोक्ष विषयक अवधारणा मानसिक कर्म, ज्ञान एव ॐकार शब्द का महत्व आदि, आचार पक्ष मे—सत्य, अहिसा, अपरिग्रह एव गुरु-सेवा आदि और साधना पक्ष मे—आत्म-संयम, आत्म-अवस्था की प्राप्ति, आदि तथा कर्मकाण्डी-बाह्याचारों के विरोध व ज्ञान-प्राप्ति के लिए उच्च-वर्ण को नही किन्तु अधिकारी होने की आवश्यकता आदि सम्बन्धी दोनो ही कवियो की मान्यताओ पर उपनिषदो का स्पष्ट प्रभाव है ।

**(आ) गीता** —निर्गुण ब्रह्म एव आत्मा के जिस स्वरूप का प्रतिपादन उपनिषदों मे हुआ है वह गीता मे भी स्वीकृत है । विशेष में—गीतोक्त विराट्-ब्रह्म, व्यक्तिगत ईश्वर की मान्यता, प्रभु की भक्तवत्सलता, सभी प्राणियो मे समत्व-बुद्धि, देह-दमन की अनावश्यकता, लोक-सग्रह की भावना, ज्ञान-परक भक्ति, भक्ति मे प्रपत्ति-भावना एव ज्ञान, योग व भक्ति का समन्वय आदि का प्रभाव दोनो कवियो पर पडा है ।

**(२) सांख्य दर्शन** :—साख्य दर्शन की पदार्थ मीमासा से दोनो ही कवि न्यूनाधिक मात्रा मे प्रभावित हुए है ।

**(३) अजातवाद एवं शंकराद्वैत** :—जीव व जगत् को असत् तथा ब्रह्म को सत् होने के कारण अजन्मा मानने मे अजातवाद से और स्वय के माया-विषयक विचारो में

शङ्कराद्वैत से दोनों ही कवि न्यूनाधिक मात्रा मे प्रभावित हुए है । उक्त मतों के दोनों ही आचार्यो के शेष विचार औपनिषदिक है, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है ।

(४) **वैष्णवमत** :—भागवतों अथवा वैष्णवो की भक्ति, भक्ति मे स्वीकृत प्रपत्ति-भाव, सदाचार, व्यक्तिगत ईश्वर की मान्यता, विष्णु के सहस्र-नाम एवं आदर्श भक्तो व दलितो एवं पतितो के प्रभु के द्वारा किये गये उद्धार-विषयक आख्यानो की साक्षी आदि को दोनो ही कवियो ने अपनाया है ।

नारद एव शाडिल्य के भक्तिसूत्रों मे प्रतिपादित 'प्रेमरूपा' अथवा 'पराभक्ति' को दोनो ही कवियो ने स्वीकार किया है ।

सगुण भक्ति के दार्शनिकों के मतवादों का इन कवियों पर विशेष प्रभाव नही है, किन्तु भक्ति साधना मे उनके द्वारा स्वीकृत व्यावहारिक द्वैत पर विशिष्टाद्वैत का यत्किंचित् प्रभाव अवश्य लक्षित होता है । तदुपरान्त समग्र देश मे भक्तिमय वातावरण का सर्जन कर जिस सास्कृतिक चेतना को भक्ति के आचार्यो ने जन्म दिया था उससे दोनो ही कवि प्रभावित हुए है ।

रामानन्द ने जिस 'राम-भक्ति' का प्रतिपादन किया था उसी की निर्गुण शाखा का प्रचार कबीरादि सन्तो के द्वारा किया गया, अखा को भी वह स्वीकृत बनी । धर्म को दार्शनिक मताग्रहो से मुक्त व सर्व-जन-सुलभ बनाकर उन्होने जिस सुधारवादी सास्कृतिक क्रांति का सूत्रपात किया उससे भी दोनो कवि प्रभावित हुए है ।

### (५) नास्तिक दर्शन, तान्त्रिक मत एवं सिद्ध

चार्वाक, जैन एवं बौद्धो के मतवादो का इन कवियो पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नही है, किन्तु ये सभी मत ब्राह्मणो द्वारा स्वीकृत कर्मकाण्ड, वर्णाश्रमी व्यवस्था एवं पुस्तक-प्रामाण्य आदि के विरोधी थे, अतः उनकी एतद्विपयक खण्डनात्मक उक्तियों, अनुभूत अथवा तर्क-सिद्ध विचारों की स्वीकृति, अंध श्रद्धा-विरोध व कुल-जाति-वर्ण तथा लिंग-भेद के आधार पर व्याप्त ऊँच-नीच व छूआछूत आदि मे अश्रद्धा, धर्म-क्षेत्र मे सभी के समान अधिकार की स्वीकृति व निम्नवर्णो मे धार्मिक जागृति का संचार आदि से से इनका विचारसाम्य है । यही बात शैव एवं शाक्त, तान्त्रिको व सिद्धो के इन कवियों पर पडे प्रभाव के विपय मे भी कही जा सकती है ।

(६) **नाथपंथ** :—गुरु गोरखनाथ द्वारा स्वीकृत हठयोग की नाडी-साधना के माध्यम से इन्द्रिय, प्राण एवं मन की साधना, शील एवं सन्तोप से युक्त सयमित जीवन की आवश्यकता, ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड, वर्ण-व्यवस्था एवं अनधिकारियो द्वारा स्वीकृत वेदादि तथा मुसलमानों के वाह्याचार, हिंसा एवं मताग्रह आदि की खण्डनात्मक आलोचना तथा दोनों के मध्य समन्वय के प्रयत्न आदि का प्रभाव न्यूनाधिक मात्रा मे दोनो कवियो पर पड़ा है ।

(७) **निर्गुण-भक्ति** :—कबीर के पूर्ववर्ती निर्गुणिया भक्तो मे से नामदेव की निर्गुण-भक्ति, मूर्त्तिपूजा, वर्ण-व्यवस्था एवं हिन्दू व मुसलमानों के वाह्याचारो का खण्डन एवं उनके मध्य समन्वय आदि के प्रयत्नो से इन कवियों का विचारसाम्य है।

(८) **इस्लाम एवं सूफीमत** : इस्लाम एवं सूफीमत की विचारधारा एवं साधना-पद्धति का इन कवियों पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव सिद्ध नही होता किन्तु सूफियो की वियोग या विरह-निरूपण की शैली का प्रभाव दोनों पर है।

**वैशिष्ट्य**

(१) अखा ने न्याय, मोमासा, वैशेपिक, योग, साख्य एवं वेदान्त तथा बौद्धो के शून्यवाद के सिद्धात-पक्ष की कुछ चर्चा की है। यद्यपि उससे फलित तो यही होता है कि साख्य व वेदात को छोड शेष के विषय ने उन्हे कोई विशिष्ट या आधारभूत ज्ञान न था, किन्तु कबीर की रचनाओं मे इस प्रकार का प्रयत्न प्रायः नही किया गया।

(२) बृहदारण्यक, छान्दोग्य एवं तैत्तिरीय आदि उपनिपदों, गीता एवं भागवत आदि ग्रंथों व साख्य, अजातवाद एवं शङ्कराद्वैत आदि दार्शनिक मतों का अखा को कुछ आधारभूत ज्ञान था, जिसके आधार पर ही उक्त ग्रंथो एवं मतों से सन्दर्भ, साक्ष्य अथवा प्रमाण देने मे वे समर्थ थे, जब कि कबीर इस प्रकार के पुस्तक-प्रामाण्य की चिन्ता से सर्वथा मुक्त है।

(३) व्याकरण-दर्शन के वाक्-सिद्धांत को अखा ने स्वीकार किया है कबीर ने उसका उल्लेख नही किया।

(४) केवल ज्ञान व योग की दृष्टि से देखने पर कबीर की अपेक्षा अखा शंकराद्वैत से तो अखा की अपेक्षा कबीर हठयोग से अधिक प्रभावित हुए है।

(५) कबीर ने वैष्णवो को अपना साथी माना है, उनकी प्रशंसा भी की है, जब कि अखा ने उनकी आलोचना ही अधिक की है, जिसे देखते हुए प्रतीत होता है कि उन्होने 'वैष्णव' शब्द का प्रयोग पुष्टिमार्गीय भक्तों के लिए ही किया है।

(६) गोकुलनाथ जी से दीक्षित होने के कारण अथवा गुरु ब्रह्मानन्द के माध्यम से अखा शुद्धाद्वैत के सिद्धात पक्ष से कुछ परिचित अवश्य थे, यद्यपि कतिपय गुजराती भजनों को छोड, समग्रत उन पर इसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव सिद्ध नही होता।

(७) कबीर ने इस्लाम धर्म की मान्यताओ के जितने उल्लेख किये है उतने अखा ने नही, और अखा ने सूफी-शब्दावली का जो खुलकर प्रयोग किया है वैसा कबीर ने नही। इससे फलित होता है कि अखा की अपेक्षा कबीर को इस्लाम धर्म का, तो कबीर की अपेक्षा अखा को सूफीमत का कुछ अधिक ज्ञान था।

## निष्कर्ष

दोनों ही संत सारग्राही थे। सार-ग्रहण की उनकी वृत्ति के फलस्वरूप विविध दार्शनिक मतो एवं साधनाओं का उन पर जो प्रभाव पड़ा है उसके—क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक—दो पक्ष हैं।

क्रियात्मक पक्ष यह है कि इन विविध प्रभावों के कारण वे अपने दार्शनिक विचारों को पक्षपात-रहित, सर्वदेशीय, सर्वकालीन एवं सर्वग्राह्य स्वरूप देने मे तथा उन्हे परंपरा से अविच्छिन्न रख सकने मे और अपने धार्मिक विचारो को जन-सुलभ व असाम्प्रदायिक बना सकने में, सफल हुए हैं।

इन विविध प्रभावो की प्रतिक्रिया यह हुई है कि मानव-मानव के मध्य भेद-भाव की दीवार खड़ी करने वाली रूढियाँ, अन्ध-विश्वास, स्वार्थपरक संकुचित मनोवृत्ति, निरर्थक धारणाएँ, निरुपयोगी आचार एवं वेषादि, तथा समाज मे विषमता के पोषक अविवेकी विचार और धर्म-क्षेत्र में एक वर्गविशेष के आधिपत्य आदि का तार्किक खंडन वे इस आत्म-विश्वास के साथ कर सके हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह अतार्किक,अग्राह्य, अव्यावहारिक तथा परम्परा से विच्छिन्न कोई नवीनता नहीं, वरन् सनातन सत्य है।

इसी पृष्ठभूमि के आधार पर आगे के अध्यायों मे कबीर एवं अखा के दार्शनिक, साधनात्मक एवं सामाजिक विचारों का विवेचन किया जाएगा।

●

पंचम अध्याय

# दार्शनिक विचारधारा

पूर्ववर्ती अध्याय मे आलोच्य कवियों की सारग्रहण की जिस वृत्ति का उद्घाटन किया गया है, उसके कारण एक तो इनकी रचनाओं मे विविध धर्म, दर्शन एवं साधनाओं के रूढ या पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, दूसरे कुछ विरोधाभासी मान्यताओ का भी समावेश हुआ है। शायद इन्ही कारणों से एक तो कवीर की दार्शनिक विचारधारा के विषय मे यह मान्यता देखी जाती है कि—'कवीरदास कभी तो अद्वैतवाद की ओर झुकते दिखाई देते है और कभी एकेश्वरवाद की ओर, कभी वे पौराणिक सगुण-भाव से भगवान् को पुकारते है और कभी निर्गुण भाव से, असल मे उनका कोई स्थिर तात्विक सिद्धान्त नही था।'[1] दूसरे, विवेचकों के लिए उनकी रचनाओं मे अपने इच्छित दार्शनिक मत को सिद्ध करने की सुविधा हो गई है। उदाहरणार्थ डा० वडथ्वाल[2] की दृष्टि से कवीर अद्वैतवादी है तो डा० एफ०ई० की[3] के मतानुसार विशिष्टाद्वैतवादी है, फर्कुहर[4] उन्हे भेदाभेदी मानते है तो डा० भण्डारकर[5] द्वैतवादी मानते है। एतद्विषयक, हिन्दी के विद्वानो की मान्यताओं को समझने के लिए आचार्य शुक्ल का यह 'निर्णायिक-विधान' ध्यानाकर्षक है कि—'निर्गुण पथ के संतो के सम्वन्ध मे यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमे कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उन पर द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करेगा।'[6] इस दो टूक निर्णय से 'डाक्टर आफ फिलासफी' के दावेदारों की योग्यता का निर्णय और हितो की रक्षा किसमे है यह समझा जा सकता है। शायद यही कारण है कि अपनी सूक्ष्म परख-निरख के वाद कवीर को एक महान् चिन्तक, विचारक और दार्शनिक आदि कहते हुए भी वे कवीर की विचारधारा को या तो सभी मतो को समा-

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'कवीर', पृ० १३१ पर उद्धृत।

२ हिन्दी काव्य मे निर्गुण सप्रदाय, पृ० १५७।

३. कवीर एण्ड हिज फालोअर्स, पृ० ७१।

४. एन आउट लाइन आफ रिलीजस लिटरेचर।

५. वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस कल्ट्स, पृ० ७०-७७।

६ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८६।

हित करने वाली सिद्ध करते है या फिर कही की नही रहने देते और उन्हें एक भक्त या निर्गुणोपासक कहकर काम चला लेते है ।[1]

'अखेगीता', 'अनुभव बिन्दु' एवं छप्पा आदि कुछ गिनी-चुनी गुजराती रचनाओं के आधार पर डा० योगेन्द्र त्रिपाठी[2] ने अखा को अजातवादी माना है, तो डा० थूँठी[3] ने उन्हे शुद्धाद्वैतवादी कहा है । डा० उमाशंकर जोशी ने मध्यम मार्ग अपनाकर अखा के 'विचार-पिण्ड' को गौड़पादाचार्य के अजातवाद और शंकराचार्य के केवलाद्वैत से निर्मित किन्तु भक्ति या निर्गुणोपासना को शुद्धाद्वैत से प्रभावित माना है ।[4] श्री नर्मदाशंकर मेहता के विवेचन निश्चय ही विद्वत्तापूर्ण है किन्तु वे टीका-टिप्पणियों के रूप मे विशृंखल अवस्था मे है । डा० रमणलाल पाठक ने अपने शोधप्रबन्ध की हिन्दी व गुजराती—दोनों आवृत्तियो मे कुछ विचित्र विधान किये है ।[5] उनके आचार्य शंकर ने माया को ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' बताकर 'जगन्मिथ्या' का प्रतिपादन किया है, जबकि अखा ने माया को "मन का पर्याय', 'मिथ्या' एवं 'अजा' कहा है । अतः अखा का अनुभव मायावाद से पर की कक्षा का सही अर्थो मे 'केवल ब्रह्म' अथवा अजात का अनुभव है । वेदान्तियों के केवलाद्वैत-सिद्धान्त मे माया की गन्ध है, जबकि अखा का केवलाद्वैत मायावाद की गन्ध से नितान्त रहित है, वह किसी का पर्याय नही है, यह स्वानुभव मात्र है अर्थात् अखा स्वानुभवी सन्त है ।[6] आचार्य शंकर के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' प्रतिपादन के विपरीत अखा अणु-प्रतिअणु मे व्याप्त पूर्ण ब्रह्म की स्थापना करते है ।[7] अजात-दर्शन की तरह अखा मे भी किसी के जन्म-मरण और 'बन्धन-मोक्ष' की स्वीकृति नही है, + + जीव की बद्ध और मुक्त दोनो अवस्थाओं के अस्तित्व का भी खण्डन किया गया है ।[8] अखा का कथन है कि जगत् को किसी ने पैदा होते नही देखा, नही नष्ट होते देखा । मनुष्य स्वयं अज्ञानग्रस्त होकर अनुमान द्वारा द्वैत की सृष्टि खड़ी करता है ।[9] कहना न होगा

१. द्र०, डा० त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा—चौथा प्रकरण ।
डा० सहायक : कबीर दर्शन—तीसरा प्रकरण ।
२. द्र०, केवलाद्वैत इन गुजराती पोइट्री ।
३. द्र०, दी वैष्णवाज आफ गुजरात ।
४. द्र०, अखाना छप्पा 'आतम सूझ', पृ० २३ एवं ३३ ।
५. अखाकृत काव्यो—भाग १ ।
६. द्र०, सं०क०अ०जी०उ०हि०र०आ०अ०, पृ० २३०-३१ अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १६९ ।
७. द्र०, वही, पृ० २३६, अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १७० ।
८. द्र०, अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १७२ ।
९. वही, पृ० १७९ ।

कि कबीर की उलट-बाँसियों की स्मृति दिलाने वाले इन विधानों का वाच्यार्थ अखा को ही नहीं, शंकराचार्य को भी नास्तिक या भौतिकवादी ही सिद्ध करता है।

वस्तुस्थिति यह है कि इन कवियों ने अपने मत के प्रतिपादन में न तो कोई बाह्य प्रमाण स्वीकार किया है, न न्याय, मीमासा आदि मे स्वीकृत तर्क-पद्धतियों में से किसी को अपनाया है, अतः न तो उन्हे रूढार्थ मे दार्शनिक कहा जा सकता है, न उनके मत को किसी परम्परागत-दर्शन के अन्तर्गत रखना ही व्यावहारिक हो सकता है। उन्होने अपने विचारो को जो रूप दिया है उसमे अपने अनुभव, चिन्तन एव व्यवहार को अधिक महत्व दिया है, किन्तु साथ ही, जैसा कि हम आगे देखेंगे, अन्य स्रोतों से मान्यताओं एव शब्दो का नवीन अर्थघटन करके अपने विचारों मे सगति लाने का सफल प्रयत्न किया है। उनकी विरोधाभासी उक्तियो एवं मान्यताओं को भी यदि सही संदर्भ मे देखा जाय तो वे नितान्त अतार्किक एव असंगत प्रतीत नही होती। अतः यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती कि कबीरादि सन्तों का अपना कोई स्थिर मत है ही नही, अथवा कुछ असंगत बातो का संकलन ही उनका मत है और वे उसी को मनवाने के आग्रही है। उनकी यत्र-तत्र विकीर्ण विचारधारा को सुसंगत रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न यहाँ अपेक्षित है, किन्तु उससे पूर्व संक्षिप्त पूर्वपीठिका पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है।

**पूर्व-पीठिका**

लौकिक सन्ताप और मृत्यु के संत्रास से मुक्त होकर मनुष्य एक तो सुखपूर्वक अनन्त काल तक जीवित रहना चाहता है, दूसरे वह सृष्टि-रचना के रहस्य को भी जानना चाहता है। अतः उसके पारलौकिक चिन्तन के प्रेरक तत्व दो है—(१) मृत्यु का भय और (२) सृष्टिरचना का रहस्य। मृत्यु-भय से मुक्त या अमर होने की अभिलाषा से वह जानना चाहता है कि—मै कौन हूँ ? क्या यह देह ही मै हूँ ? या इससे पृथक् भी मेरा अस्तित्व है ? यदि है तो किस रूप मे ? क्या मृत्यु ही मेरे जीवन का अन्त है ? या उसके बाद भी जीवन है ? यदि है तो वह कैसा है ? सुखमय या दुःखमय ? इत्यादि। सृष्टि के सौन्दर्य, उसकी रचना के रहस्य एवं उसके नियमित रूप से गतिशील घटनाचक्र को देखकर उत्पन्न होने वाले आश्चर्य से प्रेरित होकर वह जानना चाहता है कि—यह सृष्टि क्या है ? एक आकस्मिक घटना या सुनियोजित कार्य ? यदि आकस्मिक घटना है तो इसका नियमित सचालन कैसे सम्भव है ? यदि सुनियोजित कार्य है तो किसका ? जिसका यह कार्य है उसका स्वरूप क्या है ? उससे मेरा क्या सम्बन्ध है ? उसे कैसे पाया जा सकता है ?—इत्यादि। व्यक्ति की इस द्विपक्षीय-जिज्ञासा का शृङ्खला-बद्ध व बुद्धिगम्य समाधान प्रस्तुत करना ही दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य होता है। भारतीय तत्व-चिन्तकों अथवा दार्शनिको ने एतद्विषयक समाधान मुख्यतः तीन रूपों मे प्रस्तुत किये है :—

(१) एकमात्र प्रत्यक्ष को ही सत्य मानने पर मृत्यु ही जीवन का अंत है, शारीरिक-सुख ही जीवन का ध्येय है। सृष्टि-पञ्चभूतो का आकस्मिक सर्जन है। उसके आगे-पीछे

किसी सत्ता का अस्तित्व नही है। आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि स्वार्थी एवं धूर्त पुरोहितों की कल्पनाएँ हैं। अतः जब तक जीओ, सुख से जीओ, ऋण लेकर भी घृत का पान करो, क्योंकि भस्मीभूत हुई देह का पुनरागमन कैसा ? संक्षेप मे यही आधिभौतिक-दर्शन की रूपरेखा है, भारत मे चार्वाक्, केश-कम्बल एवं मंखलि-गोशालक आदि ऐसे ही दार्शनिक थे।

(२) पारलौकिक सत्ता-विषयक आस्था के साथ जब कल्पना का योग होता है तब मानवीय स्वरूप मे शील, शक्ति एवं सौन्दर्य से युक्त न्यायप्रिय ऐसे व्यक्तिगत एक अथवा अनेक देव की कल्पना की जाती है जो लौकिक अभावों से मुक्त और सुखों से युक्त अपने धाम मे निवास करता हुआ स्वय अवतार लेकर या अपने दूत भेजकर दुनियाँ के योग-क्षेम की रक्षा करता है। व्यक्ति के भाग्य व सृष्टि का नियमन भी वही करता है। विशेप प्रकार के कर्मकाण्ड या उपासना आदि से उसे प्रसन्न कर इहलोक और पर-लोक दोनों को सुखी बनाया जा सकता है। उसके अप्रसन्न होने पर दंडित होने या नरक प्राप्ति का भय बना रहता हैं। संक्षेप मे यही आधिदैविक दर्शन की बाह्य रूप-रेखा है। वैदिक बहुदेववाद एवं पौराणिक धर्म इसी प्रकार के दार्शनिक मत है।

(३) श्रद्धा का स्थान जब बौद्धिक चिन्तन ने लिया, और प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर किया गया अनुमान भी स्वीकृत बना, तो निश्चय किया गया कि धनुष व बाण के अस्तित्व के आधार पर जिस प्रकार बाणधारी के अस्तित्व का अनुमान करना असङ्गत नही है उसी प्रकार सृष्टि रूपी कार्य को देखकर उसके कारण की सत्ता के अस्तित्व का अनुमान भी असङ्गत नही है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य चाहे न हो किन्तु उसके अस्तित्व में सन्देह नही रहता। क्योकि वह सृष्टि का मूल कारण है अतः दृश्य व अदृश्य, जड व चेतन समस्त सृष्टि उसी से उत्पन्न होकर उसी मे लीन होती हैं, वही सर्वत्र व्याप्त है, वही सबका अधिष्ठान है। जो स्वयं अजर-अमर, सत्य-नित्य, एक एवं आनन्दमय है। उससे परे कुछ भी नही है, इसलिए तत्वतः 'तू वही हैं', 'मैं वही हूँ', 'समस्त विश्व वही है।' संक्षेप मे यही अध्यात्म-दर्शन की बाह्य-रूप-रेखा है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता की 'प्रस्थान-त्रयी' मे, आचार्य शङ्कर के अनुसार इसी का प्रतिपादन किया गया है।[1]

उपर्युक्त तीन प्रकार के दर्शनो से इहलोक मे सुख चाहने वालों के लिए आधिभौतिक, इहलोक और परलोक—दोनो मे सुख चाहने वालो के लिए आधिदैविक और मोक्ष का सुख चाहने वालों के लिए आध्यात्मिक-दर्शन, ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। किन्तु आधिभौतिक दर्शन मे व्यक्ति के सदाचार के लिए कोई आध्यात्मिक आधार न होने के कारण एक तो 'मत्स्य-

---

१. विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत एवं शुद्धाद्वैत आदि दार्शनिक मतों मे आधिदैविक एवं आध्या-त्मिक-दर्शनो का समन्वित रूप स्वीकार किया गया है। प्रस्थान-त्रयी के भाष्य उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोणो से इसी आधार पर किये हैं।

न्याय' की सम्भावना है, दूसरे व्यक्ति की शक्ति सीमित और इच्छाएँ अनन्त है अतः वह सबको सदैव के लिए सुखी बनाने मे असमर्थ है। आधिदैविक दर्शन का एक तो नाम-रूपात्मक व्यक्तिगत ईश्वर संकीर्ण साम्प्रदायिकता का पोषक होता है, दूसरे उसके भव्य-भवन का मूलाधार श्रद्धा है, जिसे तर्क की टाँकी से ढहाया भी जा सकता है। अध्यात्म दर्शन इस प्रकार के सभी दोषो से प्रायः मुक्त है, क्योंकि एक तो उसमे सुख की प्राप्ति भोगो के भोगने मे नही उनके त्याग मे और समृद्धि साधनों के संग्रह मे नही वरन् संतोष मे मानी जाती है। दूसरे सभी नाम-रूपात्मक ईश्वरों का समावेश निर्गुण-निराकार एक की परिधि मे हो जाता है। अपने पृथक् अस्तित्व में वे उस निर्गुण-निराकार की प्राप्ति के लिए—'प्रतीक' या 'शक्ति-चिह्न' या साधन मात्र रह जाते है। इस प्रकार उनका स्वतंत्र अस्तित्व मान्य रहने पर भी साम्प्रदायिकता की मूल उनकी सर्वोपरिता बाधित हो जाती है। मानव या प्राणी-मात्र मे ही नही वरन् जड़-व-चेतन के भी समस्त नानात्व मे एकता का प्रतिपादन करने वाला अध्यात्म से श्रेष्ठ कोई अन्य दर्शन सम्भव नही है। इसलिए भेद के स्थान पर अभेद, वैषम्य के स्थान पर साम्य, व साम्प्रदायिक-नानात्व के स्थान पर सर्वात्मवादी-एकत्व की स्थापना हेतु कबीर एवं अखा आदि संत अध्यात्म दर्शन को स्वीकार करें तो यह स्वाभाविक ही है।

उल्लेखनीय यह है कि अध्यात्म-चिन्तन की प्रेरणा देने वाले मृत्यु के भय व सृष्टि रचना के आश्चर्य—जिन दो तत्वों का उल्लेख ऊपर किया गया है कबीर एवं अखा की रचनाओं में उन दोनो का समावेश हुआ है।[1] प्रथम से प्रेरित होकर वे आत्मा के आदि व अंत को जानना चाहते है तो द्वितीय से प्रेरित होकर सृष्टि के रहस्य व उसके कर्ता को—

> उपजै प्यंड प्रान कहां थैं आवै मूवा जीव जाइ कहां समावै।
>
> इन्द्री कहां करहिं विश्रामा सो कत गया जो कहता रामा॥ क०ग्रं०, पद ३७
>
> कौन सो मैं और कहाँ सूं आया ?
> आगे सो क्या गति होय मेरी ? अ०र०झू० १६
> कहो भैया अंबर कासूं लागा कोई जाणैगा जाननहार सभागा।
>
> अंवरि दीसै केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरन हारा॥ क०ग्रं०, पद १४१

कहना न होगा कि 'कोऽयमात्मा' अथवा 'कोऽहम्' और 'किम् इदम्'—अर्थात् मैं कौन हूँ ? और यह सृष्टि क्या है ? इन दो प्रश्नों में व्यक्त जिज्ञासा को ही 'ब्रह्म जिज्ञासा' के नाम से जाना जाता है और इसके मूल वेद[2] एवं उपनिषदों[3] मे मिलते है। इस

---

१. द्र०, क०ग्रं०, पद ९२, १४१, अ०वा०, पद ६३ तथा अ०अ०वा० भजन २४, पृ० ४६।

२. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुह चिद् दिवेयुः ? ऋग्वेद (१।२४।२०)
कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः। अथर्ववेद (१०।३।३७)

३. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामिहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्॥ (श्वेता० १।१)

जिज्ञासा के समाधान रूप जो ज्ञान है उसे ही ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान कहा जाता है। कबीर एवं अखा ने भी इसे 'ब्रह्म गियान', आत्मज्ञान, 'आतम साधन सार' 'आत्मदृष्टि', 'ज्ञान दृष्टि' आदि कहा है,[1] और मृत्यु के भय से निर्भय तथा सृष्टि के रहस्य से परिचित, होने का एक मात्र साधन माना है—

> कबीर सीतलता भई पाया ब्रह्म गियान ॥ क०ग्रं० कुसबद कौ अंग, सा० ४।
> लाधा है कछू लाधा है ताकी पारिष कौ न लहै।
> अवरन एक अकल अविनाशी घटि घटि आप रहै।
> जामैं हम सोई हम ही मे नीर मिलैं जल एक हुवा।
> यौं जाणै तौ कोई न मरिहै बिन जाणैं थै बहुत मुवा ॥ क०ग्रं०, पद १६८।
> बीक जमनी टले स्वर्ग आशा पले, सहज सदा फले ब्रह्म जाण्ये ॥
> अ०वा० पद ५४।
> समजतामां स्र्वे ज थई अे अेवो ते ब्रह्म विचार ॥ वही, पद ६।

परंपरा से भी इस ज्ञान को अमरत्व या मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का एक मात्र साधन माना गया है।[2] ध्यातव्य यह है कि आत्मस्वरूप और सृष्टि के रहस्य-विषयक जिस ज्ञान को कबीर एवं अखा ने इतना महत्व प्रदान किया है, उसे ही इनकी दार्शनिक-विचारधारा भी कहा जा सकता है। इनकी इस विचारधारा के दो पक्ष हैं–(१) सिद्धांत पक्ष और (२) साधना पक्ष। इस अध्याय मे प्रथम का विश्लेषण अभिप्रेत है और उसके अन्तर्गत इन कवियो के ब्रह्म, आत्मा व जीव, बन्धन व मोक्ष, माया तथा सृष्टि-रचना विषयक विचारो का समावेश किया गया है।

## (१) सिद्धान्त पक्ष

**ब्रह्म**—बुद्धिमूलक अध्यात्म-दर्शन मे पारलौकिक सत्ता के नाम-रूप एवं गुण-धर्मो के निरूपण का प्रश्न बाद में आता है सर्वप्रथम तो उसके अस्तित्व को ही असंदिग्ध रूप से सिद्ध करना होता है। कबीर एवं अखा ने सृष्टि से पूर्व व सृष्टि के बाद की स्थिति पर विचार करके उसके अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनकी मान्यता है कि सभी प्रकार के ऐकान्तिक अभाव से भाव का अथवा शून्य से सृष्टि का सर्जन संभव नहीं है। अतः सृष्टि से पूर्व जिसका अस्तित्व था, अथवा पिण्ड व ब्रह्माण्ड का सर्जन जिससे हुआ है वही परम सत्य है।[3] दूसरे, यह कि जिस प्रकार अभाव से भाव का सर्जन सभव

---

१. दे०, क०ग्रं० कुसबद कौ अंग, सा० ४ पद ४९, १८१, ३९१, अ०वा० पद ७३, १२३, १४१।

२. तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ श्वेता० ३।८ व ६।१५। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः ॥ अथर्व० १०।८।४४ दे०, मुण्डकोपनिषद् २।२.५।

३. जब तै जल ब्यंब न होते तब तू ही राम राया। क०ग्रं०, पद २१९।

नही है, उसी प्रकार भाव का अभाव मे विलय भी संभव नही है। अन्तत. यह कि यह दृश्य जगत् जिसमे लय होता है, या पिण्ड व ब्रह्माण्ड के विलय होने पर जो शेष रहता है, वही परम सत्य है।[1] इस प्रकार दोनों कवियों की मान्यता है कि सृष्टि के आदि व अन्त मे जिसका अस्तित्व सिद्ध होता है वही (सत्ता) सत्य व नित्य है, और वही आराध्य एवं साध्य है।[2]

पारलौकिक सत्ता का अस्तित्व सिद्ध करने मे इन कवियों ने जिस युक्ति को स्वीकार किया है, वह परम्परानुमोदित है। क्योकि श्रद्धामूलक आधिदैविकदर्शन से असंतुष्ट बुद्धि ने जब यह प्रश्न किया कि—प्रलय के समय कुछ भी शेष न रहा था, और अदिति के पुत्रों के रूप मे, देवता सृष्टि के बाद अस्तित्व मे आये तो सृष्टि से पूर्व की स्थिति क्या थी ?[3] अथवा उस समय किसका अस्तित्व था ? तो इसका समाधान था कि—देवताओं से पूर्व अव्यक्त से व्यक्त की सृष्टि हुई।[4] इस विषय मे दूसरा प्रश्न था कि—उस पूर्व-जन्मा को किसने देखा ?[5] तो इसका संभावित समाधान था कि—उस समय श्वास-प्रश्वास की क्रिया के विना जीवित उस एक के अतिरिक्त कुछ भी न था।[6] बुद्धिमानो ने बुद्धि के द्वारा सोचकर अव्यक्त से व्यक्त की सृष्टि स्वीकार की है।[7] ऋग्वेद का यह 'अव्यक्त' ही उपनिषदो का 'ब्रह्म' है, जिसके विषय मे कहा गया है कि—'इस देहादि के छूट जाने पर जो अवशिष्ट रहता है वही वह है।'[8] जिससे सब भूतो की उत्पत्ति होती है, जिसके आश्रय मे ये जीवित रहते है, और अन्त मे जिसमें लीन होते है, उसी को विशेष रूप से

---

रे नर कहा परवालै काया सो तन चीन्हि जहाँ थै आया ।।वही,पद२७९,पृ० १३६।
(और दे०, परचा कौ अग सा० २७, पृ० ११)
सबका पूरब राम है अखा सो इच्छा सार।।अ०र०पूरब जनम अंग सा० ५,पृ० १८०।
तुझ पहले कोई नही ज प्यारे और साथी भी कोई नही तेरा ।। अ० र० झू० २९, पृ० ६२।

१. कहै कबीर सबै जग विनस्या रहे राम अविनासी रे। क०ग्रं०पद ३६६, पृ० १५८।
स्वप्न ससार जाग्रतमा टले अेम अखा विश्व ब्रह्ममा मले ।। छप्पा २३५
और दे०, क०ग्र० पद १०३ एवं छप्पा ३०।

२. दे०, क० ग्र० मधिको अग सा० ६, पृ० ४२ अ० र० असत को अंग सा० ९, पृ० ३१३, छप्पा ३४८ एवं अ०वा० पद ३८ इत्यादि।

३ दे०, ऋग्वेद १०।१२९।

४ देवाना पूर्वे युगेऽसत. सदजायत। वही, १०।७२।

५ को ददर्श प्रथम जायमानम्। वही, १।१६४।४।

६. वही, १०।१२९।

७ वही, १०।१२९।

८. दे०, कठ २।२।४।

जानने की इच्छा कर ।[1] जगत् की उत्पत्ति, लय एवं स्थिति के कारण-भूत की उपासना करें[2]—इत्यादि ।

ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि की उपर्युक्त युक्ति को संतो की भाषा मे 'आदिविचार', 'अन्त-विचार', 'मूल-विचार' एवं 'वंश-विचार' आदि कहा गया है । अखा की रचनाओं मे इसे कार्य-कारण विचार, 'स्थूल-सूक्ष्म विचार', 'लोम-प्रतिलोम-पद्धति' 'व्यक्ताव्यक्त विचार', 'सगुण-निर्गुण विचार' आदि भी कहा गया है । इस प्रकार दोनों ही कवियों ने स्थूल व इष्ट के अस्तित्व के कारण का अनुमान करके सूक्ष्म व अदृष्ट सत्ता के अस्तित्व को सिद्ध किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से जहाँ पारलौकिक सत्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है वहाँ कुछ अन्य तथ्य भी प्रकट होते है । एक तो यह कि सृष्टि कार्य-रूपा है, अत. इसका कोई सचेतन और सावयवी कर्ता होना चाहिए—क्योकि निश्चेष्ट व निर्-अवयवी सत्ता से किसी कार्य के संपादन की संभावना नही । दूसरे यह कि सभी प्रकार की नाम-रूपात्मक सृष्टि जब अनित्य है तो इसके आदि व अन्त मे जो सत्य व नित्य सत्ता है वह निश्चय ही नाम-रूप से परे होगी । इस प्रकार ब्रह्म के परस्पर विरोधी गुण-धर्म वाले दो रूप होने चाहिए—(१) कार्य-रूप और (२) कारण-रूप । संतो की भाषा मे इन्हे 'हद-बेहद', 'प्रगट-गुपत' एवं सगुण-निर्गुण आदि, तो उपनिषत्कारों की भाषा मे क्षर व अक्षर, कार्य व कारण, अपर व पर ब्रह्म आदि, तो आचार्य शंकर की भाषा मे औपाधिक ब्रह्म एवं निरुपाधिक ब्रह्म कहा जाता है ।

अब यदि सत्ता एक ही है और नाम-रूप ( या सावयवी अस्तित्व ) अनित्य है तो उसका उक्त कार्य रूप निश्चय ही द्वितीय का कार्य और अनित्य होगा और इसलिए वह आराध्य व साध्य नहीं हो सकता । कबीर एव अखा ने अपने आराध्य व साध्य को नाम-रूप व जन्म-मरण से मुक्त सत्य व नित्य बताते हुए,[3] निर्गुन कहा है ।[4] उत्पत्ति, वृद्धि एव लय के विकार से युक्त सभी 'सगुण' अस्तित्वो को अनित्य माना है ।[5] बृहदा-

१. दे०, तैत्ति०, ३।१ ।

२. तज्जलानिति शान्त उपासीत । छा० ३।१४।१ ।

३. अविनासी उपजै नहि बिनसै सत सुजस कहै जाको रे । क०ग्रं०, पद ४८,पृ० ८१ ।
+ + उपजै बिनसै जेती सर्व माया । वही, पद १९९, पृ० ११६ ।
उपजै नही सो आप चिद् और उपजण का नाम माये।।अ०र०अथ ज्ञान अंग सा० १४।

४. दे०, क०ग्रं०,पद ४९, ३७५ एवं रमैणी,पृ० १७५ तथा अ०वा० पद ९९व१४५ ।

५ अंजन ब्रह्मा संकर इंद अंजन गोपी संगि गोव्यंद । क०ग्रं०, पद ३३६, पृ० १५१ ।
अंजन आवै अजन जाइ निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ ।।वही, पद ३३७,पृ० १५१ ।
सगुण ब्रह्म सो स्तुति पदारथ—ब्रह्मलीला चो० १ ।
हरि ब्रह्मा कीट लगे माया आवरी । छप्पा ११९, दे०, छ० ५७१, ५७७ ।

रण्यकोपनिषद् (२।३।१) में ब्रह्म के दो रूपों—मूर्त एवं अमूर्त—का वर्णन करते हुए प्रथम को मूर्तिमान, मर्त्य, स्थित एवं सत् और द्वितीय को अमूर्तिमान्, अमृत, अस्थित एव त्यत् कहा गया है।[1] किन्तु यह व्यक्त या सगुण रूप एक तो ब्रह्म का ही रूप है, दूसरे माया एवं सृष्टि रचना से इसका सीधा सम्बन्ध है अत. आराध्य न होने पर भी इसको भुलाया नही जा सकता। अतः कबीर एव अखा ने ब्रह्म के दोनों रूपो को स्वीकार किया है। ईशोपनिषद् (मन्त्र १४) मे ब्रह्म के संभूति (कार्य ब्रह्म) और असंभूति (कारण ब्रह्म) दोनो रूपो की उपासना को आवश्यक बताया गया है और दोनो की उपासना का फल अमरत्व की प्राप्ति कहा गया है। इन कवियो ने ब्रह्म के उक्त दोनो रूपों का जो वर्णन किया है वह निम्नांकित है—

### (क) व्यक्त अथवा कार्य ब्रह्म

वैदिक परपरा जिसे हिरण्यगर्भ या विराट् कहती है वह व्यक्त या सगुण ब्रह्म है। नाम-रूपात्मक यह समस्त सृष्टि ही उसका स्वरूप है। सब रूपो मे वही व्यक्त हुआ है, अत. सब रूप उसी के है—

आप कटोरा आपै थारी, आपै पुरिषा आपै नारी।
आप सदाफल आपै नीबू आपै मुसलमान आपै हिंदू ॥[2]
आपै धूप दीप आरती अपनी आप लगावै जाती ॥[3]
जेती औरति मरदा कहिये सब मे रूप तुम्हारा ॥[4]

\+ + +

ज्यां जेवो त्या तेवो नारायण, नारायण नर-नार ॥[5]
चांदा सूरज आपै तूं हि मेहा होय आवे।

\+ + +

फल फूल वास तू हि तूं भोगी तू प्यारा ॥[6]
कही नारी कही पुरुषा रे कही दासो छोकर सरखा रे॥[7]

ब्रह्म के इस व्यक्त स्वरूप को शास्त्रकारो ने उसका विश्व-रूप भी कहा है, और उसका वर्णन मुख्यत. तीन प्रकार से किया है—

---

१. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।
२. क०ग्रं०, पद ३३१, पृ० १५०।
३. वही, पृ० १८५ और दे०, पद ३२२।
४. वही, पद २५९, पृ० १३१।
५. अखेगीता क० ११।६।
६. अ०र० भजन २०, पृ० १२४ और दे०, अ०वा० पद ३८।
७. वही, जकडी १७, पृ० २८।

(१) उसे असंख्य अवयवों वाला कहकर[१] (२) सूर्य-चन्द्र, द्युलोक, अंतरिक्ष, दिशाएँ एवं पंचभूतादि को उसके अंग बताकर,[२] और (३) सभी नाम-रूपों मे उसी को व्यक्त हुआ बताकर।[३] उपर्युक्त उक्तियों मे कबीर एवं अखा ने व्यक्त-ब्रह्म का जो वर्णन किया है वह अंतिम प्रकार का है और श्वेता-उप० (४।२-४) के सानुरूप है। प्रथम दो प्रकारों मे से किसी के भी अनुसार-यानी अवयवी के रूप मे—कबीर ने व्यक्त ब्रह्म का वर्णन नही किया है। उन्होंने अपनी एक उक्ति मे[४] उसे करोडों सूर्यो, महादेवो, ब्रह्माओं एवं दुर्गाओं—आदि से सेवित कहा है जिसे विद्वानो ने उसके विराट् स्वरूप का वर्णन माना है[५] किन्तु लेखक की राय मे यह ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन न होकर उसके वैभव का वर्णन है। अखा ने उसका अवयवी रूप मे भी वर्णन किया है।[६] अपनी एक उक्ति में उन्होने उसे बहुत से पग, हाथ, नेत्र एवं नासा आदि अवयवों से युक्त कहा है.[७] तो अन्य उक्ति मे सकल-चरणों से चलने वाला, प्राण का त्याग व ग्रहण करने वाला, सब कानों से सुनने वाला,सब नेत्रो से देखने एवं सब शब्दो में बोलने वाला कहा है।[८] उनकी ये सभी उक्तियाँ श्वेता० उप० (३।३, ३।१४ एवं ३।१६) के सानुरूप हैं।

ब्रह्म के इस सगुण ( सत्, रज, तम से युक्त ) रूप को इन कवियो ने जीव कोटि में माना है।[९] क्योकि इसका व्यक्त रूप (या शरीर या ब्रह्माण्ड) जीव के रूप (या शरीर)

---

१. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। ऋक् १०।९० और दे०, गीता ११।१६।

२. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ मुण्डक २।१।४
और दे०, श्वेता ३।३,३।१४ एवं छा० ३।१५।१-२ आदि।

३. त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णोदण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ श्वेता० ४।३।

४. दे०, क०ग्रं०, पद ३४०, पृ० १५२।

५. दे०, डा० त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० १८२।
डा० रामजीलाल सहायक : कबीर दर्शन, पृ० १५४।

६. दे०, छप्पा ५१६, एवं अ०र० नुगरा अंग सा० ५, पृ० ३४९।

७. बहु पग ने बहु पाण, बहु नेत्र ने नासा बहु ॥ सोरठा २२१।

८. दे०, अ० वा० पद ६१ एवं छप्पा ३५३ एवं अ० अ० वा० गुज० भजन १६, पृ० ३६-३७।

९. रज गुन ब्रह्मा तम गुन संकर सत गुन हरि है सोई ॥ क०ग्रं० पद ५७, पृ० ८२।
चौथे पद कौ जे जन चीन्हैं तिनहि परम पद पाया ॥क०ग्रं०,पद १८४,पृ० ११२।
रजोगुन सो आप ब्रह्मा तमोगुन सो रुद्र है।
सत्वगुन सो विष्णु आपे सगुन ब्रह्म पहुची चहे। ब्रह्मलीला चो० २।

के गुण-धर्मों से युक्त होता है।[1] अत इन कवियों के मान्यतानुसार जीव या सकाम-भक्त एवं सगुण-भक्तो, की उपासना का विषय यही कृत्रिम या कार्य रूप ब्रह्म है—

क्रितम करता कहै परमपद क्यूँ लहै भूलि भ्रम मै पड्या लोक सारा ॥[2]

जीव विलंब्या जीव-सौ अलप न लपिया जाई ॥[3]

जीवेश्वरनी सरखी वर्त्य ईश्वरग् होये एक सुरत्य ॥[4]

जीव विषयनो व्यसनी घणो, साधे ईश्वर उपाधि ईश्वर तणो ।
भोग भावना इच्छे वहु ईश्वर अधिष्ठान मान्यु सहु ॥

गीता (५।१२) मे इसी सगुण रूप की उपासना को भक्तो के लिए सरल सुगम कहा गया है और आचार्य शंकर ने इसी को उपासना का विषय, सबका अध्यक्ष, सृष्टि का कर्ता-हर्ता, देश-विशेष का अभिजाता एवं कर्मफल का दाता आदि कहा है।[5] कबीर ने शायद इसी को सृष्टिकर्ता 'ब्रह्मा' या 'कुलाल' कहा है,[6] अखा ने पचीकरण, गु० शि० संवाद एवं चि० वि० सवाद एवं अखेगीता[7] आदि रचनाओ मे इसके स्वरूप एवं लक्षणों का विस्तृत उल्लेख किया है। उनकी एतद्विपयक मान्यता शंकराचार्य के विचारो के सानुरूप है।

(ख) अव्यक्त ब्रह्म अथवा कारण ब्रह्म

अव्यक्त रूप मे ब्रह्म निर्-अवयवी अथवा अरूप है,[8] इसलिए एक तो वह इन्द्रियातीत होने के कारण 'मन-वाणी' के लिए अगम अगोचर है।[9] दूसरे निर्विशेष व अनुपम है, इसलिए उसे किसी के सदृश भी नही कहा जा सकता,[10] और तीसरे उसे प्राप्त होने

---

कार्योपाधितणु नाम जीव, कारणोपाधि ईश्वर सदैव ।
जीवेश्वरनुं कारण जेह परब्रह्म त्या कहिये तेह ॥ गु०शि०सं० ३।७ ।

१. दे०, पंचीकरण ८२-८४ ।
२ क०ग्र०, पद १९९, पृ० ११७ ।
३. वही, चाणक कौ अग सा० १, पृ० २७ ।
४. पचीकरण : ८४ ।
५ दे०, ब्र० सू० ३।२।१६, ३।२।२८ एवं १।१।१२ का शांकर-भाष्य ।
६. क० ग्र० पद २६८, पृ० १३४ ।
७. दे०, पचीकरण : ६४-७२ गु० शि० सं० ३।१-१३ ।
८. जाके मुह माथा नही, नही रूपक रूप ॥ क० ग्रं० पीव पिछावण कौ अंग, सा० ४।
हाथ पाउ जाका नही ....................॥ अ० र० नुगरा अंग, सा० ५ ।
९. द्रष्टव्य-क० ग्रं० रमैणी, पृ० १८१, छप्पा ११९, ३६७, संतप्रिया क० १२७ ।
१०. द्रष्टव्य-क०ग्रं० रमैणी,पृ० १८३ एवं पद ६,जर्णा कौ अग-३ अ०वा० पद ३०-३४ ।

पर द्रष्टा अशेष हो जाता है[1], अतः वह गूंगे के शर्करा-स्वाद सदृश[2] अनुभवैकगम्य, किन्तु वाणी से परे है :—

> तन भीतर मन मानियाँ वाहिर कह्या न जाई। क०ग्रं० परचा कौ अंग, सा० ३१
>
> सुरत अखा तामें समे तो रसना कैसे गाइ ॥ अ०र० अदवद अंग, सा० १२

उपनिषत्कारों ने भी ब्रह्म के इस रूप को इंद्रियातीत[3], मन वाणी के लिए अगम अगोचर[4], बुद्धि के लिए अग्राह्य एवं वर्णनातीत कहा है। सब मिलाकर कहने का आशय यह है कि ब्रह्म का यह रूप मनुष्य के लौकिक ज्ञान व अनुभव से परे है। अतः उसे वस्तु-जगत् के नाम-रूप, अवस्था-भेद, लिंग-भेद, माप-तोल एवं गिन्ती-ज्ञान आदि से परे[5], सर्वविवर्जित, सर्वातीत[6] और अनुपम[7] आदि बताकर उसके इस रूप का वर्णन इन दोनो कवियों ने किया है। ध्यातव्य यह है कि मानव-बुद्धि किसी अप्रत्यक्ष सत्ता के रूप का निश्चय, अपने प्रत्यक्ष या इंद्रिय-ग्राह्य ज्ञान व अनुभव के आधार पर ही, करने की क्षमता रखती है। अतः सर्वविवर्जित, सर्वातीत आदि जैसे एकमात्र निषेधात्मक लक्षणों द्वारा ही उसके अप्रत्यक्ष रूप का निश्चित ज्ञान नही हो सकता। इसलिए जागतिक जिस किसी वस्तु, आकार, अनुभव एवं तत्व मे उसके गुण-धर्म या क्रिया विषयक किसी साम्य का अनुभव किया गया उसे ही उसका रूप बताकर आलोच्य कवियों ने उसके रूप का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया है। संभवत. इसी दृष्टिकोण से उन्होंने—सत्य[8], ज्ञान[9], आनंद[10], काल[11]

---

१. जो कुछ था सोई भया अब कछू कह्या न जाई। क०ग्रं०, परचा कौ अंग, सा० १७।
अदवद सूं एकता भई तव आप न देखत और ॥ अ० र० अदवद अग सा० ३।

२. दे०, क० ग्रं० पद ६ छप्पा ५५।

३. द्र०, केन०उप० १।२-७।

४. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ तैत्ति० २।४।१।

५. द्र०, क०ग्रं०, पद २१९, व रमैणी, पृ० १८४-८५ तथा अखेगीता क० १७।

६. द्र०, क०ग्रं०, पद २२० अखेगीता क० १७ एवं गु०शि०सं० ४।७१।

७. द्र०, वही, पद १५९, संतप्रिया क० ७८, अ०र० विवेक वेत्ता अंग सा० ८।

८. सांच सोई जो थिरह रहाई—क०ग्रं० रमैणी, पृ० १७७। सत्य चैतन्य ने मिथ्या माय—छप्पा ५०४।

९. अविगत अपरंपार ब्रह्म ज्ञान रूप सब ठांम। क०ग्रं० रमैणी, पृ० १८३।
ज्ञान गोविन्द गोविन्द सोही गनान—। संतप्रिया-क० २४ और दे०, कवित्त २८।
ज्ञान छे हरिनो निज रूप—। छप्पा ४२५ और दे०, छ० ४०७।

१०. ते तौ आहि आनन्द सरूपा—क०ग्रं० रमैणी, पृ० १७१। सकल आनन्द हरि श्रुति को ए कहेन है। अ०र० भजन ३२, पृ० १३६।

११. —आपै झीवर आपै काल। क०ग्रं०, पद ३३१, पृ० १५०।

पवन,[1] मन,[2] आकाश,[3] पुरुष,[4] पक्षी,[5] सुगन्ध,[6] अग्नि,[7] सागर,[8] वृक्ष,[9] सहज,[10] रस,[11] तेज,[12] शब्द,[13] एवं शून्य[14] आदि को ब्रह्म का रूप कहा है। विशेष मे—कबीर ने उसे रंग-रूप[15] तो अखा ने उसे वैराग्य,[16] विरह,[17] वेल,[18] एवं कवच[19] आदि के रूप वाला भी कहा दिया है। अब जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है उक्त

---

काल नो काल आदि अन्त वरजित सदा—। अ०वा० पद ७४।

१. —पवनै पवन लिया सगि लाइ। क०ग्रं०, पद ४५।
—प म मारुत पोते सदा॥ सोरठा १२२।

२ मन गोरख मन गोविन्दौ मन ही औघड होय॥क०ग्रं०मन कौ अंग,सा० १०,पृ०२२।
—निश्चल मन ते शिव सदाय॥ छप्पा ४३९।

३ आनन्दमूल सदा परषोत्तम घट बिनसै गगन न जाइ लै॥ क०ग्रं०, पद २९३ और दे०, पद ४४।
तन मै वसता देखिएँ आप अखा आकाश।अ०र० निष्ट ज्ञान अग,सा० २९,पृ० १९७।

४. प्रान पुरिष क०ग्रं०, पद १५७, अविगत परिष—वही रमैणी,पृ० १६९, पुरुषाकारे पूरण ब्रह्म—छप्पा ४७।

५. सोहं हसा ताको जाप—क०ग्रं०, पद ३२८।

६. कहै कबीर यहु वास विकट अति—क०ग्रं०, पद १५५, प्रगटी वास वासना धोइ। वही, पद ३२८।
सुगध जामी ने वराश वेशे थयो गंधन छे जो रूप छेज तोय। अ०वा०, पद ७३।

७ ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई—क०ग्रं०, पद २६३, पावक रूपी राम है—वही, सा० सा० अंग सा० १९; पृ० ४१।
परब्रह्म वह्नि अेम जाणो घट घट रह्या समाइ। अखेगीता क० २५।३।

८. कहत कबीर स्वामी सुख सागर—क०ग्रं०, पद १५०, पृ० १०२।
सो ब्रह्म-सागर सत अविनासी—अ०वा०, पद १००।

९. —वेद अरु बोधक है तरु एक॥ क०ग्रं०, पद ३८, पृ० ७८।
आपे उँबर वृक्ष परिब्रह्म पोते अखा॥ सोरठा १२४।

१०. से १४ के सदर्भ आगे दिए जायेंगे।

१५. कहै कबीर मेरे रंग राम राई—। क०ग्र०, पद २१५, पृ० १२०।
जे रंग कबहूँ आवै न जाई, वहै कबीर तिहि रह्या समाई। वही, पद २६,पृ० ७५।

१६. सत्य वैराग स्वे जाणो हरि—। छप्पा २६।

१७. विरहा सो साईया और न जांने कोय॥ विरही अंग, सा० ५ अ०र०,पृ० १९८।

१८ अधिकी केहे ब्रह्म वेल,अरुप सरुप वेल। संतप्रिया क० १२१ अ०र०, पृ० १६६।

१९. ब्रह्म कवच पहेन्ये विना काल लताडे को वच्यो॥ कुडलिया १९ अ०र०, पृ० ७।

इसी ब्रह्म के वास्तविकस्वरूप न होकर उसके गुण-धर्म एवं क्रिया आदि संकेतों प्रतीकों के द्योतक हैं। दूसरे यह कि सत्य, ज्ञान, वैराग्य एवं विरह को ब्रह्म का रूप कहने का कारण इन कवियों द्वारा साधक, साधना एवं साध्य में अभेद की स्वीकृति है।

## नाम और संख्या

नाम रूपानुसारी होता है और जैसा कि हम देख चुके हैं इन कवियों ने अपने आराध्य को अरूप माना है। ऐसी स्थिति मे उसके किसी विशिष्ट या व्यक्तिगत नाम का तो प्रश्न ही नही उठता। किन्तु एक ओर आलोच्य कवियों ने (१) उसके 'नाम-स्मरण' को महत्व दिया है,[1] (२) 'राम-नाम' को तारक-मंत्र कहा है,[2] (३) उसके लिए— राम, गोविन्द, विष्णु कृष्ण, मुरारी, केशव आदि व्यक्तिगत, प्रजापति, साहब, ईश्वर, भगवान, अल्लाह करीम, खुदा, मौला आदि एकेश्वरवादी; अलख, निरंजन, आदि औपनिषद एवं निर्गुण—अनेक नामों का प्रयोग किया है और उसे अनंत नामों वाला कहा है।[3] दूसरी ओर वे नाम-रूप को अनित्य मानकर उसका कोई भी नाम रखने के पक्ष में नहीं है।[4] इस विरोधाभास के समाधान में कबीर की यह उक्ति महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने कहा है कि वह सर्वत्र व्याप्त होने से विष्णु, सृष्टि का कर्ता होने से कृष्ण, ब्रह्माण्ड का आधार होने से गोविन्द, सर्वकालीन होने से राम, धर्म संस्थापक होने से अल्लाह, आत्म-प्रेरक होने से खुदा एवं सबका पालक-पोषक होने से रब, इत्यादि है। कहना न होगा कि कबीर के इस स्पष्टीकरण को स्वीकार करने पर, इन कवियों के द्वारा प्रयुक्त, प्रायः उपर्युक्त सभी नाम उसके व्यक्तिवाचक नाम न रहकर विशेषण सिद्ध होते हैं। [illegible] ने भी उसके उक्त सभी नामों को कल्पित अथवा आरोपित कहा है।[6] अतः निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि ब्रह्म के गुण, क्रिया एवं रूप के द्योतक विशेषणों को ही इन कवियों ने उसके 'नाम' कहा है। उनकी यह मान्यता वैदिक परंपरा के अनुकूल है, क्योंकि ऋग्-

---

१. दे०, क०ग्रं०, सुमिरण की अंग : तथा।

२. दे०, क०ग्रं०, सुमिरण को अंग—सा० १, २, पृ० ४ तथा [illegible] सा० ४०।

३. अपरंपार के नाउ अनंत कहै कबीर सोई भगवंत ॥ क०ग्रं० पद [illegible], पृ० १४८।
परब्रह्म राम नारायण नरहर जाके नाम अनंत अपार ॥ [illegible], सा० ८।

४. जे पहरया सो फाटसी नाम धरया ना जाय। क०ग्रं० रमैणी, पृ० १८३।
गुन विहूना पखिये का करि धरिये नाम ॥ वही, रमैणी, पृ० १८४।
ज्यूं का त्यूं आप है नाम धरया ना जाय।
नाम धरया दूजा भया तब मांड्या और उपाय ॥ अ०र० [illegible] विचार को अंग, सा० १६, पृ० [illegible]।

५. क०ग्रं०, पद ३२७, पृ० १४१।

६. दे०, अ०र० [illegible] ६ एवं १०, पृ० २८५।

निषदो मे उसे ब्रह्म ( बृहद् होने से ), भूमा ( अद्वितीय एवं अमृत होने से ) तथा पुरुष (शरीर रूपी पुर मे स्थिति होने से) इत्यादि गुण, क्रिया एवं रूपगत विशेषणो के आधार पर ही कहा गया है। अन्त मे इतना उल्लेख्य है कि आलोच्य कवियों ने राम, कृष्ण, अल्लाह, रहीम आदि साम्प्रदायिक देवताओं के नामों का प्रयोग करके एक ओर साम्प्रदायिक समन्वय का प्रयत्न किया है दूसरी ओर उक्त नामों का नवीन अर्थघटन करके अपने आराध्य को नाम-रूप से परे भी बनाये रखा है।

सत्ता के एक अथवा अनेक होने का निश्चय भी उसके रूप अथवा रूपों के आधार पर ही किया जा सकता है। यह हम देख चुके है कि ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त दो रूप है। और अव्यक्त रूप मे जो तोल-माप एवं गिनती आदि के ज्ञान से परे—एकमेवाद्वितीयम्—है,[1] व्यक्त रूप मे वही सब रूपों वाला अर्थात् अनेक है।[2] किन्तु एक तो उसका व्यक्त रूप अनित्य व असत्य है, दूसरे अव्यक्त ही अनेक नाम-रूपों मे व्यक्त हुआ है। इसलिए उसे अनेक कहना ठीक नही। यही कारण है कि इन कवियो ने उसे अनेक कहने वालों अथवा उसमे भेद-बुद्धि रखने वालों की निन्दा की है—

> कहै कबीर तरक दोइ साधै ताकी मति है मोटी। (क०ग्रं०, पद ५४, पृ० ८२)
> अे अखा वडु उतपात घणा परमेश्वर अे क्यानी बात ॥ (छ० ६२९)
> दैव दृष्टि अेको न दीसे बे दीसे ते रोग ॥ अ०वा० पद १९ एवं दे०, छ० ३०२, ४४६

उपनिषत्कारों ने भी उसमे नानात्व देखने वालों को ( बृ० उ० १।४।१० ) अज्ञानी, एवं मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होने वाला ( छा० उ० ४।४।१९ ) कहा है। फिर किसी निश्चित संख्या मे उसे व्यक्त करने की दृष्टि से इन कवियो के अनुसार, उसे 'एक' कहा जा सकता है, क्योकि लौकिक व्यवहार मे इससे कम कोई पूर्णांक संख्या नहीं है।[3] निष्कर्ष यह है कि उपनिषत्कारो की तरह ही इन कवियों ने भी उसे अभेद, अखडित-एक माना है।

### (घ) स्थिति

सत्ता स्वयं के स्वरूप मे ही स्थित होती है और यह हम देख चुके है कि ब्रह्म के—व्यक्त व अव्यक्त—दो रूप है। उसके व्यक्त रूप को भी सुविधा की दृष्टि से—पिण्ड और

---

१. तोल न मोल माप कछु नाही गिणंती ग्यान न होई। क०तृ०पद १६९, पृ० १०८।
मोल तोल जाका नही ताका तोल न माप ॥ अ०र०गुरु अंग सा० ४, पृ० ३४९।
जो पै एक कहुँ दूजा प्रगट पाइयत कैसे दोय कहुँ एक बोले श्रुति ॥ संतप्रिया, १२७, दे०, वही, १२९।

२. दे०, क०ग्रं०, पद ५२, पृ० ८२ भेष अंग सा० १८, पृ० ३६, नि०क० पतिव्रता अंग सा० ९, पृ० १५ तथा अ०र०झू० ६८, पृ० ७३ एवं छप्पा ३६८।

३. दे०, अखाना सोरठा १३७-३८।

ब्रह्माण्ड-दो रूपों मे देखा जा सकता है। इस प्रकार उसकी स्थिति पिण्ड, ब्रह्माण्ड एवं दोनों से परे-इन तीन रूपों में हो सकती है। कबीर एवं अखा ने पिण्ड[1] एवं ब्रह्माण्ड[2] मे उसकी स्थिति स्वीकार की है। अब क्योकि उसके अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता नहीं है[3] और पिण्ड व ब्रह्माण्ड-जो उसके व्यक्त रूप है-भी उसके अव्यक्त रूप में स्थित है[4], इसलिए एक ओर तो वह इन दोनों से परे है[5], दूसरे इनका आधार है। इस प्रकार सबका आश्रय किन्तु स्वयं निराश्रय होने के कारण वह घर, गाँव एवं ठाँम रहित भी कहा गया है.—

जसकर गाँउ न ठाँउ न खेरा कैसे गुन बरनूँ मै तेरा। (क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८४)
नाम ने ठाम जेहने गाम घर नहि भले, जे परठवे ते परपंच माहात्यु ॥
(अ०वा०, पद ८४)

निरालम्ब प्रपंच वर्जित अनाधार आधार ॥ (वही, पद २१)

ऋग्वेद ( १०।९० ) मे सृष्टि को पुरुष की महिमा और पुरुष को उसमे व्याप्त तथा उससे परे भी कहा गया है। छान्दोग्य (७।२४।१) मे उसे उसकी महिमा मे स्थित और नही स्थित कहा है। यह 'नही' इसलिए कि वह और उसकी महिमा अपृथक् है। तैत्तिरीय (२।६।१), ऐतरेय (१।३।१२) एवं बृ० उप० ( १।४।७ ) मे सृष्टि रचना करके उसके उसमें अनुप्रविष्ट हो जाने के उल्लेख है। मुण्डक (३।२।८), कठ० (२।१।१२-१३) एवं गीता (१३।७) मे उसे पिण्डस्थ कहा गया है। कठ०(२।२।९-१०) मे उसे पिण्ड-ब्रह्माण्ड मे स्थित एवं उनसे परे भी स्वीकार किया गया है। कहना न होगा कि कबीर एवं अखा ने उक्त सभी स्थितियो को अपने ढंग से स्वीकार किया है। गीता (७।७) में उसे पिण्ड और ब्रह्माण्ड मे उसी प्रकार अनुस्यूत कहा गया है जैसे हार के मध्य डोरा होता है।

---

१. वसै अपंडी पंड मै ता गति लखै न कोई ॥क०ग्रं०,हैरान को अंग,सा० २,पृ० १४।
त्युं प्यंड मध्ये पीउ हे ज्यु आरसी भीतर अंग॥अ०र०,समस्या अंग,सा० ५,पृ० २३१।
२. सकल मांड मे रमि रह्या साहिब कहिये सोइ। क०ग्रं०, पी पि० को अंग, सा० १, पृ० ४७।
भुवन त्रणमा रह्यो पूरी पूरण स्वें परमात्मा ॥ अखेगीता, क० ११।
और देखें—क०ग्रं०, पद ३२८, पृ० १४९ एवं अ०वा०, पद १५२।
३. दे०, क०ग्रं०, पद ५४ एवं पद २४५, तथा छप्पा २५९।
४. दे०, क०ग्रं०, पीव पिछावण को अंग. सा० २, पृ० ४७, पद २९३, पृ० १४० एवं छप्पा १९९ तथा २३९।
५. प्यंड ब्रह्माण्ड छाडि जे कथिये कहै कबीर हरि सोई। क०ग्रं०,पद १८०,पृ० १११।
पिंड सूँ पर ब्रह्माण्ड सूँ पर अक्षर अकल के पार ॥ अ० र०, असानी कौ अंग, सा० १५, पृ० ३२१।

इन कवियो ने इस उक्ति का भी प्रयोग किया है।[1] मुण्डक ( २।२।११ ) की उक्ति के अनुमार उन्होंने भी उसे दसों दिशाओं मे व्याप्त माना है।[2] भाव यह है कि दोनों ही के अनुसार ऐसा कोई स्थान नही है कि जहाँ उसकी स्थिति न हो। अत वह सर्व-व्यापक है।[3] इस प्रकार ब्रह्म की स्थिति विषयक, दोनों कवियों की, मान्यताएँ वैदिक परम्परा के सानुकूल है।

(ङ) लक्षण

स्वरूप और स्वभाव के आधार पर ब्रह्म के लक्षण दो प्रकार के माने गये है— (१) स्वरूपाश्रित-लक्षण और (२) आरोपित-लक्षण। आचार्य शंकर ने इन्हें क्रमशः स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ लक्षण कहा है।[4] पूर्ववर्ती पष्ठों मे ब्रह्म-विपयक जो विवरण दिया गया है उससे उसके एक, अखड अनाम, अरूप, अनादि, अजन्मा, निर्विकल्प, निराकार, गुणातीत, मायातीत, शब्दातीत एवं सर्वातीत आदि लक्षण प्रकाश मे आते हैं। यहाँ इतना और कहा जा सकता है कि वह भूख-प्यास, सुख दु ख, पाप-पुण्य, लघु-दीर्घ, सूक्ष्म-स्थूल आदि सभी प्रकार के लौकिक द्वैतो से परे है[5], और ये सव उनके स्वरूप-लक्षण है। निष्कर्प रूप मे कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर की तरह ही इन कवियो ने भी जगत् और जागतिक व्यवहारों के निपेध के सूचक सभी गुणों को उसका स्वरूप-लक्षण माना है।

लोक-व्यवहार के, श्रेष्ठतम, आरोपित गुण ही उसके तटस्थ लक्षण माने जाते हैं। इस रूप मे वह सृष्टि का कर्ता, भर्ता एव हर्ता व तोन-लोक का स्वामी हे।[6] शील[7] (धर्म), शक्ति[8] (सामर्थ्य) एवं सौन्दर्य[9] से युक्त भक्तों का पालक, पोपक व रक्षक है।[10] भक्त

१. हरि मोत्या की माल है पोई काचै तागि ।।क०ग्रं०, विचार कौ अंग, सा० ८, पृ० ४६।
सो मैं देखा स्वतंतर धागा पिंड ब्रह्माण्ड वे धागे रे लाग्या ।। अ०वा०, पद १११।

२. दे०, क०ग्र०, पद ५८, पृ० ८३ एवं अ०वा० कैवल्यगीता।

३. दे०, क०ग्र०, रमैणी, पृ० १७९, अ० र० अधम अंग, सा० १, पृ० २१२।

४. दे०, ब्र०सू० २।१।१८ का शां०भा०।

५. दे०, क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८३ एवं १७५, तथा परचा को अंग, सा० ४, पृ० १० एवं छप्पा २२३।
एवं ७३५, अ०र० तत्वभेद को अंग, सा० १, पृ० २००।

६. दे०, क०ग्रं०, पद २७३, पृ० १३१, पद २६७, पृ० १३४; अ०वा० पद १४३ एवं छप्पा ७२।

७. दे०, क०ग्रं० रमैणी, पृ० १८३-८४, एवं छप्पा ७१०।

८. दे०, वही, पृ० १७८ एवं समथाई को अग तथा अखेगीता क० २४।

९. दे०. वही, पद ३९२, पृ० १६५; अ० वा० पद १४३-१४६, छप्पा ६८२ एवं अखेगीता क० २७।

१०. दे०, वही, पद २४८, पृ० १२८ पद २८६, पृ० १३८, अ०र० नंदीक अंग, सा० ७, पृ० २२१।

उसे उतने ही प्रिय है, जितना वह भक्तों को होता है ।[1] वह लीलामय[2] कलावंत[3], जगत् का गुरु[4] तथा समदर्शी है ।[5] उसकी महिमा अनंत व अपार है ।[6] राग-रंग उसे प्रिय हैं ।[7] एक या दूसरे रूप मे सब-उसी के दास है ।[8] वह अशरण-शरण है ।[9] इतना सुलक्षण है कि सोते हुओं को जगा देता है[10]—इत्यादि । कहना न होगा उसके ये सभी लक्षण लोक-व्यवहार के है और लोकोपयोगी है ।

लक्ष्य करने की बात यह है कि ये आरोपित गुण ही उस अनाम-अरूप,अलख-निरंजन को व्यक्तिगत स्वरूप प्रदान करते है और इसीलिए वह कण-कण-व्यापी तत्व, प्रिय-पुरुषोत्तम बन जाता है । उसका यही रूप निर्गुण भक्ति का आलंबन बनता है । उसमें उपर्युक्त तटस्थ लक्षणो का आरोपण आलोच्य कवियों ने किस ढंग से स्वीकार किया है इसका उल्लेख उनकी भक्ति के आराध्य का स्वरूप निश्चित करते समय आगे किया जायगा, यहाँ इतना उल्लेख ही पर्याप्त होगा कि इन गुणो या लक्षणों के आरोपण के बाद निर्गुण व सगुण मे केवल निराकार व साकार का ही अन्तर शेष रह जाता है ।

अन्त मे यह कि कोई भी व्यक्ति उस अनन्त-अपार से समग्रतः परिचित नहीं हो सकता ।[11] कबीर ने उसका एक ही अंग देखा था, अखा की रसना पर उधर की बानगी किंचित् ही आ सकी ।[12] अतः समग्रतः वह कैसा है, यह कोई नही जानता,

१. दे०, क०ग्रं० सूरातन कौ अंग सा० ४०, पृ० ५६ एवं अखेगीता क० ३५ ।

२. दे०, क०ग्रं० रमैणी पृ० १७५, अ०र० स्वें अंग सा० ६, पृ० २०३ ।

३. दे०, वही, पद ३८१, पृ० १६२ ।

४. दे०, क०ग्रं०, पद ६१, पृ० ८३, अ०र० नुगरा अंग : सा० १, पृ० ३४९ ।

५. अ०र० ११, पृ० १९६ ।

६. दे०, क०ग्रं०, पद ३४०, अखानां सोरठा २१६, २२८ ।

७. दे०, क०ग्रं०, पद १, पृ० ६९, अ०र० जकड़ी १८, पृ० २९ ।

८. दे०, वही, पद ३२३, पृ० १४८, अ०र० साखी १६, पृ० १९१ ।

९. दे०, वही, पद १२२, पृ० ९७ अखेगीता पद ६ एवं क० ३५ ।

१०. दे०, क०ग्रं० समर्थाई को अंग, सा० ४, पृ० ४८ एवं अ०र० जकड़ी ११, पृ० २२ संतप्रिया क० २७ ।

११. यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ॥ केन० २।१ ।

+ + +

योनस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ वही, २।२ ।

१२. कबीर देख्या एक अंग महिमा कही न जाय ॥ क०ग्रं०, परचा कौ अंग, सा० ३८, पृ० १२ ।

जो कुछ कहा जाता है वह तो वाणी का विकार है, वह जैसा है वही जानता है।[1] जो उसे जिस रूप मे भजता है, उसे वैसा ही लाभ होता है। अतः वह जहाँ और जैसा है, वहाँ वैसा ही है।[2] कबीर आदि ने जो कुछ कहा है वह उसका यथातथ्य निरूपण नही वरन्

> कबीर राम रिझाइ लै मुखि अमृत गुण गाइ। क०ग्रं०, सुमिरण को अंग, सा० ३१।
>
> \+ \+ \+
>
> कबीर आपण राम कहि औरा राम कहाइ।
> जिहि मुख राम न उचरे तिहि मुखि फेरि कहाइ ॥ (वही, सा० २३)
>
> \+ \+ \+
>
> कहत सुनत सुख उपजै अरु परमारथ होय ॥[3]

का प्रयत्न मात्र है। अखा ने भी यही स्वीकार किया है कि उसके विषय मे जो कुछ भी कहा जा रहा है वह आरोपित है, वाणी का विकार है, और द्वैतभावना से युक्त है, यथातथ्य निरूपण सम्भव नही है।[4]

### कबीर एवं अखा के ब्रह्म-निरूपण की विशेषताएँ

इन कवियों ने अपने साध्य एवं आराध्य-अव्यक्त ब्रह्म—का जिन अनेक रूपों मे वर्णन

---

अखा उतकी बानगी रंच रसना पर आय ॥अ०र० अनभे अंग, सा० ५, पृ० १७७।
जैसो है ब्रह्म अेन अेन पूरन ऐसो न जान सके जीयरा ॥ दे०, संतप्रिया क० ३३, पृ० १४५, दे०, झू० ६९, पृ० ७३।

१. जस तू तस तोहि कोई न जान, लोग कहै सब आनहि आन। क०ग्रं०, पद ४७९-८०।
वो है तैसा वो ही जानै, ओहि आहि आहि नही आनै। वही रमैणी, पृ० १८३।
वस्तु केरूँ हारद वस्तु ज जाणे जी, + + + आप केरू रूप ते आपे वखाणे जी ॥ अखेगीता क० १९।१।

२. जिहि हरि जैसा जाणियाँ तिनकूं तैसा लाभ ॥ क०ग्रं०, सुमिरन को अग सा० २१, पृ० ५।
कहै कबीर हरि ऐसा, जहाँ जैसा तहाँ तैसा ॥ वही, पद २६३, पृ० १३३।
जिन जैसो देख्यो तिन तैसो ध्यायो, व्होतक रहे जो विचार विचारी ॥ अ० वा० संतप्रिया, पृ० ८२।
जहां जैसा तहा तैसा है ज तही टुक जरा भेदु मालूम ॥ अ०र०झू० ६९, पृ० ७३।

३. वही, रमैणी, पृ० १७५।

४. दे०, अखेगीता, क० १८, ३६।

किया है उनमें से उसके सत्य[1], ज्ञान[2], आनन्द[3], काल[4], वायु[5], मन[6], आकाश[7], पुरुष[8], पक्षी[9], अग्नि[10], वृक्ष[11] एवं सागर[12] आदि रूप उन्होंने औपनिषदिक परंपरा से प्रायः ज्यों के त्यों ग्रहण किये हैं। तेज या ज्योति और शब्द आदि रूपों में भी उसका वर्णन उपनिषदों में किया गया है, किन्तु उसके इन रूपों को इन कवियों ने ज्यों का त्यों ग्रहण न करके उनका सम्बन्ध अन्य परंपराओं से भी जोड़ दिया है और अन्य परंपराओं के शून्य, सहज एवं एकेश्वर आदि का समावेश स्वयं के ब्रह्म मे कर लिया है। उनके इस प्रयत्न का संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है—

शांकर भाष्य ( दे०, तैत्ति०उप० २।७।१ )[13] के अनुसार 'खट्टा-मीठा आदि तृप्तिदायक और आनन्दप्रद पदार्थ लोक में 'रस' नाम से प्रसिद्ध है, और वह सुकृत (या ब्रह्म) भी आनन्दप्रद है,इसलिए वह निश्चय ही रस ही है। अर्थात् (षट्) रसों के समान तृप्ति व आनन्ददायक होने के कारण ब्रह्म रस-रूप है। कबीर एवं अखा ने उसके जिस रस-रूप की सराहना की है वह आनन्दप्रद तो है किन्तु साथ-साथ मादक भी है, और अहंतानाशक, मुक्तिदायक आदि भी है। फिर कबीर ने एक उक्ति मे उस रस को 'जो पीवै सो योगी रे' कहकर उसका सम्बन्ध यौगिक साधना से जोड़ दिया है। अतः वह शांकर भाष्य का रस न रहकर ब्रह्मरन्ध्र से निस्सृत अमृत है। इसी को उन्होने मदिरा,

---

१. एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ।। छा०उ० ८।३।४ और दे०, वही ६।८।७।

२. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।। ( तैत्ति० २।१।१ ), प्रज्ञानं ब्रह्म। ( ऐत० ३।१।३ ) दे०, बृ०उ० ३।९।७।

३ आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।। ( तैत्ति० ३।६।१ ), एष परम आनन्दः ( बृ० उ० ४।३।३३।

४. महद्भयं वज्रमुद्यतं य—( कठ० २।३।२ ) तत्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। ( तैत्ति० २।७।१)।

५. नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।। (तैत्ति० १।१।१ )।

६-७. मनो ब्रह्म + + + आकाशो ब्रह्म। (छा०उ० ३।१८।१)।

८. पुरः पुरुष अविशदिति। बृ०उ० २।५।१८, दे०, म०भा०,शां० पर्व २३२।११।

९. पुरः स पक्षी भूत्वा—। ( बृ० उ० २।५।१८ ) एकोहंसो भुवनस्यास्य मध्ये। श्वेता० (६।१५)।

१०. दे०, श्वेता० १।१४ एवं

११. दे०, ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख + + + तद्ब्रह्म। कठ० २।३।१।

१२. दे०, मुण्डक ३।२।८ एवं बृ०उ० २।४।११।

१३. दे०, रसो वै स : (तैत्ति० २।७।१)।

रसायन, राम-रसायन या ब्रह्म-रस आदि कहा है। इसके तैयार करने की विधि हठयोगी साधना है।[1]

उपनिषत्कारों ने ब्रह्म को स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित कहा है और चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि को उसके प्रकाश से प्रकाशित आदि कहकर उसे स्वयं-प्रकाश रूप में चित्रित किया है।[2] गीताकार का मत भी यही है।[3] कबीर एवं अखा को भी यह स्वीकृत है कि वह स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित ज्योति-रूप है।[4] किन्तु उन्होंने जिस 'शून्य' (ब्रह्म-रन्ध्र) में उसे दर्शनीय माना है उससे उसका सम्बन्ध हठयोगी साधना से भी जुड़ जाता है।[5] इन कवियों के शब्द-ब्रह्म की स्थिति भी यही प्रतीत होती है। क्योंकि उपनिषत्कारों ने प्रणव अथवा ॐकारोपासना का विशद वर्णन करते हुए[6] ओ३म् अथवा प्रणव को अक्षर एवं ब्रह्म कहा है।[7] यही उनका 'शब्दब्रह्म' है। इसी प्रणव को पतंजलि ब्रह्म का वाचक[8] मानते हुए यौगिक साधना में स्थान देते हैं, इसी को भर्तृहरि 'शब्दब्रह्म' कहते हैं।[9] कबीर एवं अखा ने प्रणव को सृष्टि का मूल स्वीकार किया है।[10] शब्द-ब्रह्म को भी स्वीकार किया है किन्तु उसका सम्बन्ध हठयोग साधना के अनहद नाद से भी जोड़ दिया है—

---

१. दे०, क० ग्रं० पद ६९ से ७५, ११९, १२०, १३०, १३१, १४८, १५५ एवं १७३ आदि।
   दे०, अ०वा० तथा म०प० पद ७९, ९५, १०४, १०५, ५१ एव ५२ आदि।
२. तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। कठ० २।२।१५, आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते। बृ०उ० ४।३।६।
   दे०, श्वेता ६।१४ एवं मुण्डक २।२।१०।
३. दे०, गीता १५।१२।
४. सुर्य प्रकास आनन्द बमेक मैं घर कबीर ह्वै पैठे। क०ग्रं०, पद १५१, पृ० १०३।
   कबीर तेज अनन्त का मानौं उगी सूरज सेणि॥ वही, परचा कौ अंग, सा० १ पृ० ९।
   तेने ज्योति ज्वाला अतिघणी अने दीसे ते जाजुल्यमान॥ अखेगीता क० २५।
५. अरध उरध बिचि लाइ लै अकास, तहुवा जोति करै परकास।
   टार्‌यौ टरै न आवै जाइ, सहज सुनि मै रह्यौ समाइ॥ क०ग्रं० पद ३२८, पृ० १४९।
   झगमग ज्योत अपार छे, शून्यमां धुनि लागी॥ अखानीवाणी, पद ५३।
६. दे०, माण्डूक्य उप०, आगम प्रकरण एवं छा० उ० १।१।१-५।
७. ओमिति ब्रह्म (तैत्ति० १।८।१), एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म। (कठ० १।२।१६)।
८. 'तस्य वाचक प्रणव' पा०यो०सू० १।२५।
९. अनादि निधन ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्॥ वाक्यपदीय १।१ हि० स० द० संग्रह, पृ० ५९१।
१०. दे०, क०ग्रं० रमैणी, पृ० १८५; अखाना छप्पा ६०६ एवं पंचीकरण चौ० ९०-९६।

नादहिं व्यंद कि व्यंदहि नाद नादहि व्यंद मिलै गोब्यंद ॥[1]
अनहद सबद उठै झणकार तहां प्रभू बैठे समरथ सार ॥[2]
अखा शब्द कूं खोज ले शब्द ब्रह्म शब्द गाल ॥[3]
नाभि कमल पर नेजा फरफरे। उठे सबद सवाया जी ॥[4]

'शून्य' बौद्ध-दर्शन की निजी विशेषता है, इनमे से हीनयानियो का शून्य एकदम निषेधात्मक है किन्तु माध्यामिकों का शून्य 'अभाव' का सूचक है या 'भाव' का यह विवादास्पद है। आचार्य क्षितिमोहन सेन, (मध्ययुगीन साधना धारा--गुज० आवृ०, पृ० ८७) एवं आचार्य बलदेव उपाध्याय (बौ०द०मी०, पृ० ३१०-११) आदि उसे उपनिषदों की 'नेति नेति' शैली से विकसित और भावात्मक सत्ता का सूचक मानते हैं। किन्तु आचार्य शंकर (ब्र०सू० २।१८।२६) एवं कुमारिल भट्ट (श्लो०वा०, पृ० २६८-३४५) उसे अभावात्मक ही मानते थे। सिद्धों एवं नाथों ने उसे द्वैताद्वैत-विलक्षण सत्ता का द्योतक माना है। नाथों ने शून्य का प्रयोग ब्रह्मरन्ध्र के लिए भी किया है। कबीर एवं अखा ने शून्य का प्रयोग एक तो अद्वैत सत्ता के लिए किया है—

ऐसा हम लोक वेद के बिछुरे सुन्निहिंमांहि समावहिंगे ॥ (क०ग्रं० पद १५०)
हरि मैं तन है तन मे हरि है सुनि नाही सोई ॥[5]
शून्य तणु जे सत्व संते समज्यु सानमां ॥ (सोरठा–७४)
वस्तु ते उपमा छे शून्य तणी ते माटे वस्तु ते शून्य जगणी (छप्पा ३३३)

दूसरे ब्रह्मरन्ध्र के लिए भी किया है।

सुनि मे पुरिष एक ताहि रह्यौ ल्यौ लाइ ॥(क०ग्रं० गु० शिष्य हेरा कौ अंग सा० ७, पृ० ५२)
ते शून्य भेदी जुवो राम राया ॥ अखानी वाणी, पद १०७।

इस प्रकार बौद्धों के शून्य को दोनों ही कवियो ने एक ओर ब्रह्म का पर्याय बना दिया है, दूसरी ओर हठयोग साधना से भी जोड़ दिया है।

इन कवियों ने 'सहज' को भी ब्रह्म का रूप कहा है। यह सहज बौद्धो के सहजयान की देन है, जिसे सिद्धों, नाथपंथियों एवं वैष्णवों के सहजिया पथ आदि ने भी अपनाया है। अपने शाब्दिक अर्थ मे, 'सह जायते इति सहजः' के अनुसार जो अस्तित्व के साथ ही जन्म लेता है वह सहज है। सहज सभी धर्मो के अस्तित्व का कारण है। महासुख की

1. क०ग्र० पद ३२६।
2. वही, पद ३२९।
3. अ०र०, अथ माया कौ अंग,सा० ३, पृ० ३५१।
4. वही, भजन १५, पृ० ११९।
5. क०ग्रं०, पद २९३, पृ० १४०।

तरह वह भी धर्मो का स्वरूप है ।[१] इस रूप मे सहज औपनिषदिक आत्म-तत्व या ब्रह्म का पर्याय, प्रतीत होता है । कबीर एवं अखा ने उसे ब्रह्म के पर्याय के रूप मे स्वीकार किया भी है—

बन बन ढूढौ नैन भरि जोऊँ पीव मिले तौ बिलखि करि रोऊँ ।
कहै कबीर यहु सहज हमारा, बिरली सुहागिन पीव पियारा ॥[२]
उपजे नही सो आप चिद् और उपजण का नाम माये ।
ऐसा समज्या जे अखा सो नर सहज समाये ॥[3]

अखा के अनुसार कारण रूप मे वही हरि का रूप है, कार्य रूप मे वही जीव है, और सार स्वरूप यह सहज निश्चय ही चैतन्य-परमेश्वर है ।[४] यही सबका आश्रय स्थान है ।[५] सत्य रूप इस सहज के ज्ञान से रहित सभी प्रकार का ज्ञान अपूर्ण है ।[६] इस तरह इन कवियो ने 'सहज' को उपनिषदो के आत्म-तत्व या ब्रह्म के पर्याय के रूप मे स्वीकार किया है ।

कबीर के यहाँ राम-रहीम, केशव-करीम, बिसमिल-विश्वंभर, गोविन्द-गोरख, अल्लाह-अलखनिरंजन आदि सभी उस कण-कण-व्यापी के ही गुणानुसारी नाम-रूप है ।[७] अखा की ठीक ऐसी ही उक्ति प्राय: नही देखी जाती किन्तु उनके विचारो मे कोई अंतर नही है । इस प्रकार इन कवियों ने विभिन्न स्रोतो के विचारों एवं शब्दो को अपने विचारानुरूप अर्थ प्रदान करके अपने विचारों मे संगति को बनाये रखने का सफल प्रयत्न किया है । साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि अन्य स्रोतों की सामग्री के नवीन अर्थ-घटन द्वारा जहाँ एक ओर उनके विचार-भेद को कम करने का प्रयत्न किया है वहाँ

---

१. दे०, डा० शशिभूषणदास गुप्त:ऑब्सक्योर रिलीजस कल्ट्स (१९३१ई०),पृ० ७८ ।
२. क०ग्रं० पद ३७१, पृ० १५९ ।
३ अ०र०, अथ ज्ञान कौ अग, सा० १४, पृ० ३१९ ।
४. दे०, छप्पा १३८ ।
५. सोरठा २२६ ।
६. अ०वा० पद ३९ ।
७. हमारै राम रहीम करीमा केसो अलह राम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई ॥ क०ग्रं० पद ५८, पृ० ८३ ।
जोगी गोरख गोरख करै हिन्दू राम नाम उच्चरै ।
मुसलमान कहै एक खुदाइ, कबीरा को स्वामी घटि घटि रह्यौ समाइ ॥
वही : पद ३३०, पृ० १५० ।
पाती ब्रह्मा मुहपे विष्णु फूल फल महादेव ।
तीनि देवौ एक मूरति करै किसकी सेव ॥ क०ग्रं० पद १९६, पृ० ११६ और दे०, क०ग्रं० पद ३२७, पृ० १४९ ।

दूसरी और उन्हें अपनी परिधि में लाने या अपने रंग मे रंगने का प्रयत्न भी किया है। अतः उनकी दृष्टि 'सर्वग्राही' होने के साथ-साथ 'सर्व-ग्रासी' भी रही प्रतीत होती है।

अब जैसा कि पूर्ववर्ती विवरण से स्पष्ट है कि इन कवियों का आराध्य अजन्मा, निर्गुण, निराकार, अद्वैत ब्रह्म है। अतः उन्होंने नामरूपात्मक सभी ईश्वरों, विष्णु के अवतारों—विशेषकर राम व कृष्ण आदि के प्रति अपनी अश्रद्धा व्यक्त की है।[१] किन्तु दूसरी ओर उनके 'भक्त-हेतु' या भक्त-वत्सलता-सम्बन्धी, कार्यो की प्रशंसा की है,[२] और उन्हे ब्रह्म के ही कार्य माना है। इस विरोधाभास का समाधान यही हो सकता है कि जन्म-मरणाधीन ये नामरूपात्मक ईश्वर ही ब्रह्म है यह विचार उन्हे अस्वीकार्य है किन्तु ये उससे अपृथक् है या उसके है,यह स्वीकार्य है।[३] अतः कहा जा सकता है कि आलोच्य कवियों ने नामरूपात्मक सभी ईश्वरों को कार्य-रूप और ब्रह्म को उनका कारण रूप माना है। इस प्रकार उनका ब्रह्म एक ऐसी सत्ता है कि जो पक्षापक्ष, भेदाभेद, मत-मतान्तर, विधि-निषेध एवं वाद-विवाद विषयक सभी प्रकार के द्वैत-भावो से परे सर्वातीत किन्तु सर्वमय है।[४]

**आत्मा और जीव**

'ब्रह्म-निरूपण' में यह देखा जा चुका है कि पिण्ड मे भी ब्रह्म की स्थिति है। इस पिण्डस्थ ब्रह्म का ही अपर नाम आत्मा है। कबीर एवं अखा ने उसे सत्य, नित्य, चैतन्य, एक, अखण्डित, अनाम, अरूप एवं अजन्मा आदि उन सभी गुण-धर्मो से युक्त माना है जो ब्रह्म मे है।[५] ब्रह्म की तरह ही उन्होने आत्मा को भी ज्योति[६], हंस, शब्द, वाक्, प्राण,

१. द्रष्टव्य—क० ग्रं० पद ३३६ एवं रमैणी, पृ० १८४-८५ तथा छप्पा ४६९।

२. खंभा मे प्रगट्यौ गिलारि हरनाकस मार्‍यौ नख विदारि। क०ग्रं०, पद ३७।
दया सार जे दस अवतार असुर निकंदन भक्त उद्धार॥ छं० ८-१०।

३. द्र०, क०ग्रं० पद ३८४ तथा छप्पा ७१६, ७३९, व अ०वा०, पद १३०।

४. पषा पपी के पेषणै सब जगत भुलांना।
निरपष होइ हरि भजै सो साध सयाना॥ क०ग्रं० पद १८१।
अविनासी लहै ते संत त्यां कारण नहि दर्शन पंथ॥ छ० ४६९।
पक्षापक्ष मे जे रहे सो समझत नही,हरि हेत॥ अ०र० रामरानिया अंग,सा० १६।

५ अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई।
नाति सरूप वरण नही जाकै घटि घटि रह्या समाई॥क०ग्रं० पद १८० पृ० १११,
दे०, पद १५७, ६२, ५५ एवं १७०।
अमल आतमा अेक अखडित अविनाश।
अजर अमर अनाम अव्यय पूरण ज्योत प्रकाश॥ दे०, अखेगीता क० १७।

६. दे०, क०ग्रं०, विचार कौ अंग सा० ४, एवं पद स० ६६, ३२, ३१८, ६२, ९१, ३०० तथा १५७।
अक्षयरस भजन १२, धुआसा पृ० ११,अ०वा० पद ४५,३६ सोरठा १८८इत्यादि।

पवन, आनन्द एवं पुरुष आदि नाम-रूपो से अभिहित कराया है। कठ०उप०(१।३।१५) में आत्मा को अशब्द,अस्पर्श,अरूप, अव्यय आदि, छान्दोग्य उप० (८।१।५) मे धर्माधर्म-शून्य तथा अजर अमर व शोक, भूख, प्यास तथा सङ्कल्प-विकल्प से रहित, कठ० (१।२।१८) एवं गीता (२।२३-२४) मे अछेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य एवं अदाह्य, आदि गुणों से युक्त और वृ०उ० (४।४।२२) मे अग्राह्य,अशीर्य, असंग, निरासक्त एव अबंधित आदि कहा गया है। आत्मा के ज्योति, शब्द, हंस आदि जो रूप—इन कवियों द्वारा ग्रहण किये गये हैं वे भी अधिकाशत औपनिषदिक परपरा के सानुकूल हैं। अत: कहा जा सकता है कि उनके द्वारा स्वीकृत आत्मा के सभी गुण-धर्म औपनिषदिक ज्ञान के सानुरूप हैं।

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि एक तो आत्मा शरीरस्थ होते हुए भी शारीरिक कोई वस्तु नही है[1], दूसरे यह कि रात-दिन साथ-साथ रहने पर भी वह अत्यत दूर, दुर्विज्ञेय, अचिन्त्य एव दुर्लभ है।[2] कठोपनिषद् (१।२।२३) मे भी उसे प्रवचन, धारणा एवं श्रवण आदि से अलभ्य और (१।२।८)दुर्विज्ञेय कहा गया है। किन्तु दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया है जिन विरले अधिकारियो (कठ० १।२।२४ एव १।३।१२) को यह सुलभ है, वे उसे (छा०उ० ३।१४।४) हृदय मे ही प्राप्त कर सकते हैं। कबीर एव अखा ने भी उसका साक्षात्कार हृदय मे ही किया था—

सत गुर मिलि परचा भया तब हरि पाया घट माहि ॥[3]
जेही राम जाने था दूरा सोही राम मैं पाया उरा ॥[4]

अतः दोनो ही कवियो ने साधक के लिए ब्रह्म को इसी स्थिति मे यानी आत्म-रूप मे प्रत्यक्ष या प्रकट, निकट एव सुलभ माना है।[5] उपनिषदों मे भी इसी को साक्षात् या

---

१. वसै अपडी पड मैं ता गाते लषै न कोइ।क०ग्र० हैरान कौ अग, सा० २,पृ० १४।
जो या देही रहित है सो है रमिता राम ॥ वही रमैणी, पृ० १८५।
क्षर पिंड अक्षर आतमा जे समज्यो समझ्यो बातमा ॥ छप्पा ५९।
हरि थाये ते हेत समझे देहातीत ते आतमा ॥ अखेगीता, क० १७।

२. अच्यंत च्यत ए माधौ सो सव माहि समाना।
दे०, क०ग्र० पद ३८४ एव अ०र० आवेस अग, सा० २, पृ० २७६।

३. क०ग्रं० क० मृग कौ अग, सा० ७, पृ० ६४।

४. अखानी वाणी, पद १११।

५ हिरदा भीतर हरि वसै तू ताही सौं ल्यो लाइ ॥ क० ग्र०, भ्रमविधौंसण अंग, सा० ११, पृ० ३५।
है हाजिर परतीत न आवै सो कैसे परताप धरै ॥ क०ग्रं० पद १८३, पृ० ११३।
प्रत्यक्ष राम पोतामा वसै अने मूरख सामो जाणी धसै ॥ छप्पा ९१,दे० सोरठा ४०, अ०र० प्रत्यक्ष अंग सा० ३, पृ० १८३।

अपरोक्ष ब्रह्म कहा गया है।[1] बृ०उ० ( ५।३।१ ) मे हृदयस्थ ब्रह्म की उपासना-विधि भी दी गई और (२।४।५) इसी के दर्शन, श्रवण, मनन एवं ज्ञान को विधेय ठहराते हुए कहा गया है कि इसके ज्ञान से सबका ज्ञान हो जाता है।[2] कबीर एवं अखा ने भी इस एक के ज्ञान के अभाव मे शेष ज्ञान को व्यर्थ और इसका ज्ञान होने पर सबका ज्ञान हो जाने की बात स्वीकार की है।[3] आत्मा के पश्चात् कबीर एवं अखा के दार्शनिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है उनकी जीव-विषयक अवधारणा जिसका अनुशीलन आगे किया जा रहा है।

### जीव

माया-प्रदत्त प्रलोभनो मे आसक्त[4] होकर स्वरूप के विस्मृत होने या देहात्म भाव के प्राप्त होने की आत्मा की स्थिति को ही कबीर एवं अखा ने जीव की संज्ञा से अभिहित किया है। जीव के गुण-धर्मो का निरूपण कबीर की रचनाओ मे यत्र-तत्र विकीर्ण व सांकेतिक रूप मे तो अखाकृत ब्रह्मलीला, पंचीकरण, चित्त-विचार-सवाद एवं अखेगीता आदि मे विस्तार से दिया गया है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि देहात्म-भाव को प्राप्त होते ही जीव मे सर्वप्रथम अहङ्कार का प्रादुर्भाव होता है[5] जिसके कारण वह अपना पृथक् अस्तित्व मानकर एक तो स्वयं को कर्ता एवं भोक्ता मान लेता है।[6] दूसरे स्वयं को अकेला, निर्बल, दीन, असहाय एवं लघु अनुभव करता है।[7] अज्ञान-जन्य इस द्वैत व देहात्म-भाव के परिणामस्वरूप वह कर्मो के बंधन मे बँध जाता है, और स्तुति-निन्दा, लाभालाभ, आशा-निराशा, विषयासक्ति, दारिद्र्य, दीनता, भय-शोक आदि के अनुभव से सुखी व दुःखी होता हुआ जन्म-मरण के अनादि भव-चक्र मे पड जाता है। जीव के इन गुण-धर्मो का उल्लेख दोनो कवियों की रचनाओ मे यत्र-तत्र सर्वत्र मिलता

---

१. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य २), यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म। बृ०उ० ३।४।१।

२. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो विज्ञानेनेदं सर्व विदितम्। (बृ०उ० २।४।५)

३. दे०, क० ग्रं०, नि० पतिव्रता कौ अङ्ग,सा० ८, पृ० १५; छप्पा ५३०, अ०र० गैब अङ्ग सा० १, पृ० ३६५।

४. दे०, क०ग्रं०, विरह कौ अङ्ग,सा० ३१, पृ० ८, छप्पा ६५एवं अखेगीता क० ४-६।

५. दे०, क० ग्रं० पद २६०, पृ० १३२ अ० र० झू० २४।

६. दे०, क० ग्रं०, चाणक कौ अङ्ग,सा० २१, पृ० २९;अ०र० समदृष्टि अङ्ग,सा० २२ पृ० २०८।

७. तिहि बिवोग तजि भये अनाथा, परे निकुच न पावै पंथा।क०ग्रं० रमैणी,पृ० १७३।
अखा पीडा ताहे की भाखण लाग्या दीन।
देवो देव पीसाच ग्रहे सब का भया आधीन॥अ०र०,अधम अङ्ग, सा० ६,पृ० २१२।

है ।[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।८।१०) मे मायाधीन जीव को भोक्तृत्व भाव से बँधा हुआ, गुणो से सम्बद्ध फलप्रद कर्मो का कर्ता व भोक्ता, विभिन्न रूपों वाला, त्रिगुणमय, प्राणों का अधिष्ठाता, अपने कर्मानुसार गतिवाला, अहङ्कार, बुद्धि एवं शरीर के गुण से युक्त सूर्य के समान ज्योति स्वरूप, अंगूठे के बराबर परिमाण वाला, आरे के दाँतों की नोक के आकार वाला, एक वाल के सौवें भाग के एक भाग और उसके भी सौवें भाग के बराबर, अनन्त रूपो वाला व लिगातीत कहा गया है। कबीर एवं अखा ने जीव के जो लक्षण माने है वे इनसे मिलते है। जहाँ तक उसके आकार का प्रश्न है, दोनो कवियों ने उसे दीपक की ज्योति सदृश कहा है[2], इसे हम उसका अंगुष्ठाकार होना भी समझ सकते है। उसके सूक्ष्म होने को भी दोनो कवियों ने स्वीकार किया है।[3] कबीर ने उसे तिल के समान विस्तार वाला कहा है तो अखा ने उसे परमाणु से भी सूक्ष्म कहा है।[4]

---

१. पंच तत्त ले कीन्ह बंधाना। पाप पुंनि मान अभिमाना॥
अहंकार कीन्हे माया मोहू। सपति विपति दीन्ही सव काहू॥
भले रे पोच अकुल कुलवता। गुणी निरगुणी धनं नीधनवंता॥
भूख पियास अनहित हित कीन्हा। हेत मोर तोर कसि चीन्हा॥
पंच स्वाद ले कीन्हा बंधू। बधे करम जो आहि अबंधू॥
+ + +
निंद्या असतुति मान अभिमाना। इनि झूठै जीव हत्या गियाना॥
क०ग्र० रमैणी, पृ० १७३ और दे०, वही, पृ० १७४।
अखा जोव की बानि ए जे मान वडाई चाह्य।
अ०र०, अथ अनु० शब्द को अङ्ग, सा० ५, पृ० ३६२।
भय भ्राति लज्जा अखा स्तुति निंदा जीव धर्म॥ वही सा० ६, पृ० ३७२।
अणछतो उभो थयो तो जनम मरण वश जीव।
ते दारिद्रय दाखतो दुबलो अेनों आद्य शून्य सदैव॥ अ० वा० पद २२।
कर्म तहाँ जहाँ कामना ताँहाँ कामना जाँहाँ जीव॥
अ०र०, ज्ञानी अग, सा० ३, पृ० ३४०।
जय-पराजय नित्य पावे हर्ष-शोक हृदे विपे।
तन-मन के आनन्द कारन कर्म मादक नित भखे॥
ब्रह्मलीला चौ० ५, दे०, वही : चौ० ४, ५, ६, अखेगीता, क० ५, ६।

२. मन्दिर माँहि फबूकती दीवा कैसी जोति॥ क०ग्र०, काल कौ अंग, सा० ५८।
अेक दीवो मारे अंतर दीसे जेने रोमे रोमे उजाश॥ अ० वा० पद १७।

३. पुहुप गध ते पातला ऐसा तत्व अनूपं॥ क०ग्र०, पी पि० कौ अंग, सा० ४, पृ० ४७।
भेदाभेद जहाँ नही वाचा आकाश तें अति झीनो॥ अ०वा०, पृ० ९८।

४. देवल माँहैं देहुरी तिल जैहै बिसतार॥ क०ग्रं०, परचा को अंग सा० ४२, पृ० १२।
सूक्ष्मथी सूक्ष्म घणु परमाणु न थाये॥ अ०वा०, पद ९३।

ध्यातव्य यह है कि माया-पुत्र-जीव आदि मे न था, और अन्त में भी नही रहेगा, किन्तु मध्य मे है। अतः वह आदि अन्त मे असत्य किन्तु मध्य मे सत्य है।[1] दूसरे वह आत्मा की भ्रमित अवस्था रूप है, कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं, अत. भ्रामक है, और तीसरे यह कि मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार के चतुष्टय के कारण उसमे जो चेतना दिखाई देती है[2] वह उसकी स्वयं की नही वरन् चैतन्य आत्मा के प्रतिविम्ब या अध्यास के कारण है, अतः वह स्वयं जड़ है।[3] अब क्योंकि न तो वह स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है, न नित्य है, केवल स्वरूप-विस्मृति की अवस्था मात्र है, अत. अज व मिथ्या होने से बंध्यासुत सदृश है।[4] दोनों कवियों ने जीव को इन्हो विशेषताओं से युक्त माना है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर आत्मा व जीव विषयक निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सके है—

(१) आत्मा ब्रह्म का वह अंश है, जो प्रकृति या माया जनित 'नाम-रूप' के माध्यम से व्यक्त होता है। वह स्वयं एक है किन्तु उसके आश्रय अनेक है।

(२) माया-वश होकर जब वह अपने स्वरूप को भूल जाता है, देह को ही अपना स्वरूप मानने लगता है तब वही जीव संज्ञा से अभिहित होता है।

(३) प्रथम अनाम, अरूप, सत्य, नित्य, आनन्दमय, अजन्मा, एक, अजर, अमर है तो दूसरा नाम-रूप, असत्य, अनित्य, दुःखी, जन्म, जरा एवं मृत्यु के अधीन है।

(४) आत्मा आराध्य है, जीव आराधक।

## जीवन के बन्धन एवं मोक्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा सत्य, नित्य, निर्विकार, आनन्दमय एवं मुक्त है, और शरीर जड़ है। अतः इन दोनो के विषय मे बन्धन व मोक्ष का प्रश्न नहीं उठता।[5] किन्तु चैतन्य एवं जड़—इन दो तत्वो के मिथुन से जिस अविद्या का सर्जन

---

१.,२. आदि अत अनंत उभै पख निरमल दृष्टि न देख्या जाई ॥ क०ग्रं० १५७, पृ० १०४
विच कै वासे रमि रह्या काल रह्या सर पूरि ॥
क०ग्रं० काल को अंग, सा० २३, पृ० ५९।
प्रकृति पुरुष के जोग जंतु न मिथ्या पुरुष प्रकट भवो।
सो आद्य नाहीं अन्त्य नाही मध्य मानि तापें रह्यो। ब्रह्मलीला चौ० ४।
+ + +
नाही मिथ्या नाही साँचो रूप ऐसौ जीव को ॥ वही चौ० ६।

३ दे०, आ०वा० पद १०६।

४. वांझ का पूत बाप बिना जाया। बिन पाऊं तरवरि चढिया ॥
क०ग्रं०, पद १५८, पृ० १०५।
वंध्या सुत व वा णे चढ्या ख पुष्प वसाँणा भर्या ॥ छप्पा ६५३।

५. बंध मोक्ष चैतन्य के कशा ? जोता देहनी जड़ छे दशा ॥
अे तो विचार विना अंधेर ज्यम दीसे फरतुं फरता फेर॥छप्पा ६८,दे०, छ० ६३०।

होता है उसके कारण आत्मा अपने स्वरूप को विस्मृत होकर जिस देहात्मभाव या जीव-भाव को प्राप्त होता है, बंधन व मोक्ष का सम्बन्ध उसी से है। अर्थात् देहात्म-भाव की प्राप्ति ही बन्धन है और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है। अब जैसा कि देखा जा चुका है—इन कवियों ने जीव की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की है पारमार्थिक नहीं। परिणाम-स्वरूप जीव से सम्बन्धित बन्धन–मोक्ष[1], जन्म-मरण[2], दुःख-सुख[3] एवं पाप-पुण्य[4] इत्यादि सभी आत्म-दृष्टि से तो भ्रामक ही है किन्तु देहात्म-दृष्टि या जीव-दृष्टि से अस्वीकार्य नहीं है।[5] अतः जीव के बंधन व मोक्ष-विषयक इन संतों के विचारों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

**बंधन**

यद्यपि जीव को बंधन में डालने के लिए माया अपना सशक्त जाल बिछाती है, परंतु यदि वह सावधान हो तो उससे बच सकता है।[6] अतः उसके बंधन-ग्रस्त होने में माया

---

१. रांम मोहि तारि कहा लै जैहौ।

+ + +

जे मेरे जीव दोइ जानत हौ तो मोहि मुकति बताओ।

एकमेक रमि रह्या सबनि मैं तौ काहे भरमावौ॥ क०ग्रं०, पद ५२, पृ० ८१-८२।

मुक्ति बंध नहीं जुग माट, ओ तो अण जाण्या जीव वाधे घाट॥ छ० ९९।

२. कबीर संसा दूरि करि जामण मरण भरम।

पंचतत तत्तहि मिले सुरति समाना मन॥क०ग्रं०, उपदेश कौ अंग,सा० ४,पृ० ४४।

ना मरे जीव ईश्वर फुनि मरे न मरे ए पंचभूत। अ०र० धुआसा, पृ० १०।

३. संपति देखि न हरषिये बिपति देखि न रोइ।

ज्यूँ सपति त्यूँ बिपति है करता करै सु होइ॥ क०ग्रं०, पद १२१, पृ० ९६।

दुख देवे तो देहकु सुख चाहे तो देह।

+ + +

देह दरसी बल कर्म के दुख सुख केरा पात्र॥ अ० र० देहदरसी को अंग, सा० ८ एवं २०, पृ० २८०-८१।

४. जब पाप पुण्य भ्रम जारी,तब भयो प्रकास मुरारी॥क०ग्रं०, पद २६३, पृ० १३३ दे०, पद २८३।

भ्रम भय भागी गयो रे पाप पुन्य नो नाश॥ अ०वा०, पद १८।

नहि पापी ने नहि पुण्यवंत अेक लहे ते साचा संत॥ छ० २२३ दे०, अ०र०, संसै परिहार अंग, सा० ७, पृ० १८८।

५. दे०, पीछे 'जीव-लक्षण'।

६. कबीर माया पापणी फँध ले बैठी हाटि।

सब जग तौ फंधै पड्या गया कबीरा काटि॥क०ग्रं०,माया कौ अंग,सा० २,पृ० २५।

एकमात्र कारण नही है, उसकी स्वयं की असावधानी या अज्ञान ही मुख्य कारण है। इस प्रकार उसका बंधन उस पर किसी वाह्य सत्ता द्वारा लादा गया बंधन न होकर स्वयं उसके द्वारा गृहीत या आरोपित बंधन है।[1] इसलिए इन कवियों ने उसकी इस बंधन-ग्रस्त स्थिति की तुलना-गिर जाने के कल्पित भय से नली को जकड़कर रहने वाले अज्ञानी तोते एवं अपने ही जाल मे उलझो हुई मकडी आदि से की है।[2] उसके इस बंधन को बिना गाँठ,बिना रस्सी एवं बिना अपराध का बंधन कहा हैं।[3] उसकी स्वरूप-विस्मृति,कंठ मे पहने हुए हार,[4] कधे पर बैठे हुए बालक[5] एवं नाभि मे स्थित कस्तूरी[6] की विस्मृति सदृश बताई गई है। अखा ने उसकी द्वैत बुद्धि की तुलना काँच के मंदिर में स्वयं की प्रतिच्छाया को देखकर भौकने वाले श्वान[7], एवं स्वयं के प्रतिबिम्ब को देखकर कूएँ मे कूद पडने वाले सिंह[8] से की है। उसके कर्तापन के अभिमान को उस श्वान के मिथ्याभिमान जैसा कहा है जो गाड़ी के नीचे चलते हुए यह मानता है कि गाडी उसके वल से चल रही है।[9] अनृत और अनात्म को सत्य व नित्य मानने के उसके अज्ञान को मृग-मरीचिका सदृश दोनो ने कहा है।[10] उसके दु खो को स्वप्न के सर्प-

---

माया छे महामोही जाल, पासे कोरे उभो काल।
विश्व सकल अे टीले मले मांहे पेठु ते नव नीकले।
अखा जेने सदगुरुनी दया, ते झीणा थई ने नीसरी गया॥
छ० ७४९, दे०, छप्पा ६८४।

१ आपहिं आप बधाइया द्वै लोचन मरहि पियास रे। क०ग्रं० पद ५, पृ० ७०।
आप बंधाना जान के अखा सब छूटन जाअे। चित्तविकास अंग, सा० ४ अ०र०, पृ० ३३१।
बीजो नथी बांधनहार अज्ञान रुसे बंधाणो॥ कुंडलियाँ १७ अ०र०, पृ० ७।

२. दे०, क०ग्रं० पद २४१, २६६ अखानीवाणी पद २५, सोरठा ८०-८१ अ०र० जकड़ी ३, पृ० १४।

३. दे०, क०ग्रं० पद १७४, ५ व चाणक कौ अंग सा० २२; अखानी वाणी पद १५, अ०र० कुडलिया १३, पृ० ६।

४. दे०, अ०वा० पद ३७ एवं झूलना ६६ अ०र०, पृ० ७२, छप्पा १११।

५. दे०, चि०वि० सं० ३२१-२४।

६. दे०, क०ग्रं० कस्तूरिया मृग कौ अंग एवं अ०र०, जकडी ७५, पृ० ७५, अ०वा०, पद १२३।

७. दे०, अखेगीता क० १९, अ०र० कुमति अंग, सा० १०।

८. अ०र० नैरासी कौ अंग सा० २२, पृ० २७७।

९. दे०, छप्पा १७७ अ०वा० पद ६०।

१०. दे०, क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १७६, ७७ एवं अ०वा० पद २०,२५, ५१सोरठा ७९।

दंश[1], या स्वप्न की विपत्ति सदृश[2], और उसके सासारिक भोगों को श्वान के हड्डी-स्वाद[3] सदृश भ्रामक कहा है। उसकी सासारिक आसक्ति या मोह की तुलना अपने मृत-वत्स के चर्म को चाटने[4] के गाय के अज्ञान-जन्य मोह से की है। सासारिक भोगों से तृप्त होने की उसकी आशा को चित्र-दीप से प्रकाश, स्वप्न-भोजन अथवा व्यञ्जनों के नाम रटन से तृप्त होने की आशा सदृश कहा है।[5] कर्म-रत होकर ध्येय प्राप्ति के उसके प्रयत्न को घानी के बैल की अज्ञान-जन्य यात्रा सदृश कहा है।[6] सब मिलाकर उसकी स्थिति उस मूर्ख बकरे जैसी है जो कसाई को अपना हितू समझता है,[7] उस पतगे जैसी है जो मोह-वश दीपक का स्पर्श करता है[8], उस पसारी जैसी है जो सब औषधियों का विक्रेता होते हुए भी स्वयं वैद्यक-ज्ञान के अभाव मे रोग से पीडित रहता है[9] और उस अज्ञानी व्यक्ति जैसी है जो हाथ मे दीपक लेकर कूएँ मे गिरता है।[10] निष्कर्ष यह है कि उसके बधन का कारण उसका अज्ञान है, जो बाहर से लादा गया नही वरन् अन्त.करण से स्फुरित होता है जैसे लोहे मे मोरचा[11], पानी से काई और दीपक से कालिख[12] होती है।

यह कहा जा चुका है कि जीवात्मा द्वारा देहात्म-भाव की प्राप्ति बंधन है और उससे निवृत्त होना ही मोक्ष या मुक्ति है। कबीर ने अपनी एक उक्ति मे—'आपा-पर' के ज्ञान को मुक्ति कहा है[13], तो एक अन्य उक्ति मे 'आपा-पर' के समत्व-भाव को निर्वाण-पद' को प्राप्ति का कारण कहा है।[14] अखा ने भी 'आपा-पर' के अभाव को 'अनुभवी' या

१. अ० वा० पद ४६ छप्पा ६७।
२. क० ग्रं०, रमैणी पृ० १७५ संतप्रिया क० १०४।
३. छप्पा ९२ अ० वा० पद ३२, अ० अ० वा० गुज० भजन ७, पृ० २४।
४. क०ग्र०, अपारिख को अग सा० ५,पृ० ६१; अखाना छप्पा २८०।
५. अ०वा० पद १३१, सोरठा १२७-२८, छप्पा १३०।
६. छ० १५०, ६००, अ०वा० पद ३७।
७ अखेगीता क० ५।
८. दे०, क०ग्र०, गुरुदेव को अंग सा० २०, पृ० २।
९. दे०, अ०र० उपदेश अंग, सा० २९, पृ० २४४।
१० क०ग्र०, मन को अङ्ग सा० ७, पृ० २२; अ० अ० वाणी पृ० ७।
११. दे०, क०ग्र०, विरह को अङ्ग सा० ८,छप्पा ६६६-६७।
१२. अ० वा० पद ४४।
१३. मुकति सोज आपा पर जानै, सो पद कहाँ जु भरमि भुलानै॥
क०ग्र०, रमैणी, पृ० १७७।
१४. आपा पर सब एक समान तब हम पाया पद निर्वाण॥ क० ग्र०, पद १६७, पृ० १०८।

'मुक्त पुरुष' का लक्षण माना है और उसे द्वन्द्वातीत कहा है।[1] दोनों कवियों की उक्तियों का भाव एक ही है कि द्वन्द्वातीत आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर उसमे स्थित हो जाना ही जीवात्मा की मुक्ति है। अर्थात् इस स्थिति मे भेद-बुद्धि का मूल देहात्म-भाव छूट जाता है और अखण्ड आत्म-भाव प्राप्त हो जाता है।[2] आचार्य शङ्कर ने भी जीवात्मा के सब प्रकार के देहात्म-भाव से मुक्त होकर अपने शुद्ध चैतन्य-स्वरूप मे स्थिर हो जाने को मुक्ति कहा है।[3]

इन कवियों ने स्वर्गादिक लोकों को अनित्य मानकर जीवन का लक्ष्य मुक्ति को माना है, और उसकी दो अवस्थाएँ—जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति—स्वीकार की है। एतद्विषयक उनके विचारों से अवगत होने से पूर्व इतना निर्देश करना अनुचित न होगा कि प्राचीन-काल में—मोक्ष जीवितावस्था मे प्राप्य है अथवा नही? या जीवन्मुक्ति सम्भव है या नहीं? यह एक विवादास्पद विषय अवश्य रहा था। विपक्ष का तर्क था कि—'जीवात्मा का शरीर में रहना संसार के साथ रहना है, उससे पृथक् रहने मे मुक्ति है, परस्पर विरुद्ध (जीव और मुक्ति) भावों या धर्मो का एक आयतन (शरीर) में रहना कैसे सिद्ध हो सकता है? अर्थात् मुक्ति शरीरान्त होने पर ही प्राप्य है, अतः विदेह मुक्ति ही सत्य है। जीवन्मुक्ति के पक्ष मे उक्ति है कि—मुक्ति को सभी तीर्थंकर (दार्शनिक) मानते है। क्या वह (मुक्ति) ज्ञेय है? या नही? यदि अज्ञेय है तो—'खरहे के सींग' जैसे शब्दो की तरह असंभव (कल्पना का विषय) हो जायगी और यदि पहला विकल्प (कि वह ज्ञेय है) मानते है तो जीवन को त्याग नही सकते, क्योकि बिना जीवन के कोई ज्ञाता बन जायगा—ऐसा सिद्ध नही कर सकते।[4] अतः जीवन्मुक्ति ही सत्य है। कबीर एवं अखा ने भी जीवन्मुक्ति का समर्थन किया है।[5]

---

१. अनुभव जे मोटा तणो आपा पर नहि जे विखे।
आप गलियुं आप मांहे द्वन्द्वातीत रह्या सुखे॥ अखेगीता क० १५।

२. लीन निरंतर बपु बिसराया, कहै कबीर सुख सागर पाया॥
क०ग्र० पद १४९, पृ० १०२।
मिटी देह की भावना अब स्वयं चैतन्य ह्वै चला॥ ब्रह्मलीला, चौ० ८।

३. दे०, मुण्डकोपनिषद् (३।२।८) का०शां० भाष्य।

४. दे०, हिन्दी सर्वदर्शनसंग्रहः (रसेश्वर दर्शन), पृ० ३८१।

५. प्यंग मुकति कहा लै कीजै जो पद मुकति न होइ। क०ग्रं० पद ३६, पृ० ७८।
जीवत जिस घर जाइये ऊँवै मुषि नहि आवै॥ वही, पद १५४, पृ० १०४।
मूवां पीछे देहुगे सौ दरसन किहि काम॥ वही, विरह कौ अंग, सा० ७, पृ० ६।
मूए मुक्त हशे त्यम हशे, जीवते बाघ ते पाजर वसे॥ छ० ५९२।
ज्यारे आप संभाल्यु नरे त्यारे मुक्ति पाम्यो वण-मरे॥ गु०शि०स० २।४९।

'जीवन् मुक्ति' के जिन लक्षणों का निरूपण इन कवियों की रचनाओं में हुआ है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि जीवितावस्था मे ही जब जोवात्मा अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है[1] और उसमे स्थित हो जाता है[2] तो वह अपने देहात्म भाव या जीव-लक्षणों से मुक्त हो जाता है।[3] उसके कर्म-बन्धन दूर हो जाते है[4], अहं-भाव समाप्त हो जाता है[5], और जन्म-मरण के भवचक्र से वह छूट जाता है।[6] त्रिताप से मुक्त होकर शान्ति एव आनन्द का अनुभव करता है।[7] द्वैत-बुद्धि या भेद-दृष्टि से

---

कह्या सुने जो सत का तो जीवन मुक्ती कु पाय । अ०र० उपदेश अंग, सा० ३, पृ० २४१।

जे घर जावु मुआ पछी ते घर जीवता जोवो ॥ अ०वा०, पद ३६।

१. आपै मैं तब आपा निरण्या अपन पै आपा सूझ्या ।

\+ \+ \+

अपनै परचै लागी तारी अपन पै आप समाना ॥ क०ग्रं०, पद ६, पृ० ७१ ।

आत्मा अर्क उगे ज्यारे आपमाँ त्यारे निशाचर ठाम थाये ॥ अ०वा०, पद ७२, दे०, पद १७, १८।

ज्यारे आप आपूं रे ओलखे त्यारे अमृत वरसे ॥ वही, पद ४३ दे०, पद २५ एवं ९ अखेगीता, क० १९ ।

२. आतमलीन अपंडित रामा, कहै कबीर हरि माहि समाना ॥ क०ग्रं०, पद २०३, पृ० ११७ ।

अपने परचै लागी तारी अपनपैं आप समाना ॥ वही, पद ६, पृ० ७१ ।

परम में आसे मिल्या लक्ष भयौ तद्रूप ॥

अखा काम इतनाई है समझो भया स्वरूप । अ०र०,अदबद अंग,सा० ७,पृ० १७८।

३. मन के मतै न चालिये छाडि जीव की बानि ।

ताकू केरे सूत ज्यूँ उलटि अपूठा आंणि ॥ क०ग्रं०,मन को अंग, सा० १, पृ० २२ ।

जतपणु सद्य जाय अन्त्ये त्या आ ल्खे अखा ॥ सोरठा २४३ दे०, पद ५१ ।

जीव बुद्धिनो थयो विनाश आत्मतानो थयो प्रकाश । गु०शि०सं० ४।२४ ।

४. दे०, क० ग्र०, पद ३६२, पृ० १६७ एव संतप्रिया क० दोहरा ६५ अ०अ० वाणी, पृ० १० ।

५. दे०, वही, पद २८२, पृ० १३७ एवं परचा को अंग, सा० ३५, पृ० १२ एवं अक्षयरस : भजन १३, पृ० ११७ ।

६. दे०, क०ग्रं०, पद ३१, पृ० ७७, पद १५६, पृ० १०४ एवं अखानां छप्पा २२३, अ०वा० पद १११ एवं २५ ।

७. दे०, वही, पद १५१, पृ० ७३, पद ७२, पृ० ८६, अ०वा० पद ७०,छप्पा २३८, ७३ अ०र०झू० २६, पृ० ६१ ।

रहित होकर[1] एकात्म-भाव[2], सर्वात्म-भाव[3] या ब्रह्म भाव को प्राप्त होकर वह स्वयं ब्रह्म हो जाती है।[4] उपनिषदों मे भी इस ब्रह्म-भाव की प्राप्ति या ब्रह्म-वेत्ता के ब्रह्म ही हो जाने[5] व जन्म-मरण से मुक्त होकर आनन्द के अनुभव की बात स्वीकार की गई है।[6] गीता में भी सर्वात्म बुद्धि या सर्वात्म-भाव को स्वीकार किया गया है।[7] इस अवस्था मे यद्यपि जीवात्मा देह मे अवस्थित रहता है किन्तु उसके सुख-दुःखादि गुण-धर्मो से अप्रभावित रहता है[8], इसलिए कबीर एवं अखा ने एक तो उसकी इस स्थिति को देह-भाव की विस्मृति कहा है।[9] दूसरे उसका वर्णन 'मरजीवा' के नाम से किया है।[10] उनका यह 'मरजीवा' जीवन्मुक्त ही है जो एक ओर दैहिक दु.ख-सुख, मानापमान एवं हानि-लाभ इत्यादि के सर्व द्वैतों से अप्रभावित रहता है; दूसरी ओर निरासक्त, निरभिमान एवं अकर्ता रहकर लोक-संग्रह मे प्रवृत्त रहता है।

अन्त मे शरीरान्त होने पर, जीवन्मुक्त ब्रह्म मे अभेद रूप से उसी प्रकार लीन हो जाता है जैसे कि लहर समुद्र मे[11], जल जल मे[12], ज्योति ज्योति मे[13], घटाकाश

---

१. दे०, पद १६७, पृ० १०८ एवं संतप्रिया क० ५४।

२. दे०, क०ग्रं०, पद ५२ एवं ५४, पृ० ८२ एवं अखानां सोरठा २४, अ० र० स्वें अंग, सा० १३।

३. दे०, क०ग्रं०, पद ३३२, पृ० १५० अक्षयरस : अथ ज्ञान अंग, सा० ८, पृ० ३१८ एवं० छप्पा ५९।

४. दे०, क०ग्रं० पद ५०, पृ० ८१; अ० वा०, पद ११६,९ अ०र० हेरा अंग सा० ३, पृ० २१५, सं० प्रि० ५५।

५. दे०, मुण्डक उप० ३।२।९, कठ० २।३।१४।

६. बृ०उ० ३।३२।

७. दे०, गीता।

८. दे०, अखेगीता क० १३ एवं १५ गु०शि०सं० ३।७६।

९. दे०, क०ग्रं०, पद १४९, पृ० १०२ ब्रह्मलीला चौ० ८ छंद २।

१०. दे०, वही, जीवनमृतक कौ अंग, एवं गुरुदेव कौ अंग, सा० २६, पृ० ३; अखानां छप्पा १३९, १८४, ७१२-१३ सोरठा ८।

११. दे०, वही, साध कौ अंग, सा० ११, पृ० ३९ एवं अ०र० समदृष्टि अंग, सा० १५, पृ० २०७।

१२. दे०, क०ग्रं०, पद १६९, ६, एवं २९२ तथा अ०वा० पद ७, १५०, अ०र०झू० ६२ एवं सोरठा २२७।

१३. दे०, वही, पद ७२, पृ० ८६।

मठाकाश मे[1], आभूषण स्वर्ण मे[2], एवं प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब मे[3] इत्यादि। ध्यान रहे कि साधक का अपने साध्य मे अभेद रूप से मिल जाना उसके स्वयं के जीवन का अन्त नही वरन् मूल स्वरूप की प्राप्ति है जैसे कि नमक की डेली[4] या बर्फ के टुकडे[5] का पिघल कर 'जल-रूप' को प्राप्त करना। लक्ष्य करने की बात यह है कि उपर्युक्त अभेद-अवस्था की प्राप्ति को कबीर जहाँ पंचतत्व की रचना के विसर्जित ( शरीरान्त ) होने पर ही स्वीकारते प्रतीत होते है[6], वहाँ अखा जीवितावस्था मे भी उसके प्राप्त हो सकने का समर्थन करते है।[7] दोनो कवियो की मोक्ष-विषयक अवधारणा मे इस सूक्ष्म अन्तर का कारण सम्भवतः अखा पर पडा केवलाद्वैत एवं अजातवाद का प्रभाव है। जो हो, दोनो ने इस स्थिति को वर्णनातीत माना है। शरीरान्त होने पर उक्त अभेद स्थिति का प्राप्त होना दोनों को स्वीकार्य है, जिसे उनकी विदेह-मुक्ति-विषयक अवधारणा भी कहा जा सकता है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि इन कवियों के मतानुसार बंधन-कर्ता देहात्म-भाव से निवृत्त होकर जीवात्मा का आत्म-स्वरूप मे स्थिति होना ही जीवन्मुक्ति है और शरीरान्त होने पर ब्रह्म मे अभेद रूप से मिल जाना ही विदेह-मुक्ति है। इस प्रकार अवस्था-भेद से मुक्ति के उपर्युक्त दोनों भेदो को मान्य रखकर उन्होंने उनसे सम्बन्धित पूर्ववर्ती विचार-वैषम्य मे समन्वय की स्थापना का प्रयत्न किया है। दूसरे मुक्ति या मोक्ष को 'अनिर्वचनीय निर्वाण-पद'[8] कहकर उन्होने बौद्धों के निर्वाण व वेदान्त के मोक्ष मे अविरोध की स्थापना की है।

## माया

आत्मा को संसाराभिमुख करना और नाम-रूपात्मक दृष्ट जगत् की सृष्टि करना-माया के इन कार्यो का उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों मे हो चुका है। यहाँ कबीर एव अखा के माया-

१. दे०, वही, पद २९३, पृ० १४०।
२. दे०, वही, पद १५०, पृ० १०२।
३. दे०, वही, पद ५४, पृ० ८२, अ०वा०, पद २५ एवं छप्पा २७०।
४. दे०, वही, परचा कौ अंग, सा० १६, पृ० १० छप्पा ७३७ गु०शि०सं० २।६३, झू० ८९।
५. दे०, वही, परचा कौ अंग, सा० १६, पृ० १०, छप्पा १५५. ब्र०ली०चौ० ७, कुडलिया १३।
६. दे०, वही, पद १५०, पृ० १०२।
७. दे०, अखेगीता : क० १८।
८. दे०, क०ग्रं०, पद १६७, पृ० १०८ एवं अखेगीता क० २३ छप्पा २५७, २६९ एवं ५४४।

विषयक विचारों को स्पष्ट करने के प्रयत्न मे सर्वप्रथम उल्लेखनीय यह है कि इन दोनों कवियों ने उसके स्वरूप को दुर्विज्ञेय, अकथनीय एवं अद्भुत कहा है।[1] आचार्य शंकर ने भी उमे अत्यन्त अद्भुत एवं अनिर्वचनीय कहा है।[2] ऐसी स्थिति मे सीधे या प्रत्यक्ष रूप मे उसके स्वरूप का वर्णन सम्भव न होने के कारण इन कवियों ने उसके विषय मे जो कुछ कहा है वह उसके कार्यो के आधार पर ही कहा है। आचार्य शंकर ने भी उसे 'कार्यानुमेया' कहा है।[3] दूसरे यह कि इन कवियों ने अपनी रचनाओं मे उसके लिए 'एक वचन' का प्रयोग किया है[4], श्वेता० उपनिपद्[5] (४।५) एवं गीता[6] (७।१४) मे भी उसके लिए 'एकवचन' प्रयुक्त हुआ है, अतः वह एक है। किन्तु कार्य-भेद से उसके भेदोपभेद भी स्वीकार किये जाते हैं। कबीर एवं अखा ने मोटे-तौर पर उसके-विद्या व अविद्या-दो भेद स्वीकार किये हैं।[7] श्वेताश्वतरोपनिषद् (५।१) मे विद्या व अविद्या को ब्रह्म मे गूढ रूप से स्थित, विद्या को अमृत व अविद्या को क्षर कहा गया है और इनके शासनकर्ता ब्रह्म को इन दोनों से परे कहा गया है।[8] जैसा कि हम आगे देखेंगे इन कवियों ने आत्म-ज्ञान से भिन्न ज्ञान के लिए विद्या शब्द को प्रयुक्त कर उसे भ्रामक व क्षर माना है।[9] यहाँ उनके एतद्विपयक विचारो को पृथक्-पृथक् करके रखना उचित होगा, जो निम्नांकित है :—

---

१. कहै कबीर कछु समझि न परई विषम तुम्हारी माया।क०ग्रं०,पद १९२,पृ० ११५।
जो काटौ तौ डहडही सीचौं तो कुमिलाइ।
इस गुणवंती वेलि का कुछ गुण कह्या न जाइ। वही,बेलिको अंग,सा० ३,पृ० ६७।
समजी न जाय एवी माया नटी ॥ अखेगीता क० ७
वेलि विचरती जाय अटपटी-सी छे अखा ॥ सोरठा-१५८।

२. महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥ वि०चू० ११।

३. कार्यानुमेया सुधियैव माया ॥ वही-११०।

४. 'माया दासी संत को····· ·····।' क०ग्रं०, माया कौ अंग, सा० १०, पृ० २६।
माया मोटी जगमाहे नटी।अखेगीता,क० ७'माया ठगणी माया पापणी।'छ० ६२।

५. 'अजामेका'।

६ दैवी ह्येपा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

७. अंजन विद्या पाठ पुरान अंजन फोकट कथहि गियान।क०ग्रं०,पद ३३६,पृ० १५१।
ग्यांन न पायी बावरे धरी अविद्या मेंड़ ॥ वही, रमैणी, पृ० १८५।
चातुर्य चातुरी चौद विद्या अविद्या सर्व साधना ॥
पडित जाण कवि गुणी दाता अे माया केरी साधना ॥ अखेगीता क० ६।

८. द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये यत्र गूढे।
क्षर त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईसते यस्तु सोऽन्यः ॥

९. गूंथे ग्रंथ वाचे साभले ते तो काले सघला टले ॥ छ० ३३९।

**विद्या माया**

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है आत्म-ज्ञान से भिन्न-ज्ञान को इन कवियों ने भ्रामक, अथवा माया के अन्तर्गत माना है। जिस 'ब्रह्मात्मैक-ज्ञान' को उपनिषत्कारों ने 'विद्या', 'परा विद्या' एव 'श्रेय विद्या' आदि कहा है उसे इन कवियो ने 'आत्मज्ञान', 'ब्रह्मज्ञान' एव 'आत्मदृष्टि' आदि और गुरु-प्रदत्त होने के कारण उसे ही 'गुरु-ज्ञान', 'गुरु-शब्द' एव 'गुरु-दृष्टि' आदि कहा है। जिसे उपनिषत्कारों ने 'अपरा विद्या', 'प्रेय-विद्या' एवं 'मंत्र-विद्या' आदि कहा है उसे ही इन्होने 'विद्या-माया' कहा है। उनके मान्यतानुसार अपने इस रूप मे माया एक तो जीवात्मा मे अहंकार का पोषण करती है[१], दूसरे उसमे ब्रह्म से भिन्न होने के भ्रम का संचार करती है[२], तीसरे इस आशा को जन्म देती है कि अमुक प्रकार के कर्म, धर्म, साधना, जंत्र-मंत्र, एव वेषादि के द्वारा वह ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[३] परिणामस्वरूप जीव कर्म मे प्रवृत्त होता है और समझता है कि वह धर्म मे प्रवृत्त है[४] किन्तु वास्तव मे उसके ये सभी कर्म और इनके द्वारा स्वय से

---

१. पढे गुन उपजें अहकारा अधधर डूबे वार न पारा ।। क०ग्रं०, पद १३२, पृ० ९९।

ज्यम ज्यम अधिकु जाणतो जाय त्यम त्यम हुँ ना मल बंधाय।
यद्यपि कथे जो ब्रह्म ज्ञान तोये अखा न मूके मान ।।

छ० ५२०, दे०, छ० ५३१-३२ एवं छप्पा ६५२।

२. पढत पढत केते दिन बीते गति एकै नही जानै। क० ग्रं०, पद ५९, पृ० ८३, दे०, पद ३८, ४०।

यहु चतुराई जाहु जलि खोजत डोलै दूर।। क०ग्रं०, क०मृ० कौ अंग, सा० ८, पृ० ६४।
घणु विद्यानो पोघ चतुराइअे न होय चेतना ।। सो० १६६।
दूजा होकर एक उपासे, दूजा होर ध्यान अभ्यासे ।। अ०र० भजन १६, पृ० १२०।

३. चार वेद छह शास्त्र वखानै विद्या अनंत कथै को जानै।

तप तीरथ कीन्हे व्रत पूजा, धरम नेम दान पुन्य दूजा ।।क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १७४।
सुरति सुमृति दोइ को विसवासा, वाझि पर्यो सब आसा पासा ।। दे०, वही, पद ४७, पृ० ८१।

धन आयु विद्या वल रूप शूर चातुरी न्याय सिद्ध भूप।
ज्ञान भक्ति विवेक वैराग्य, चौरी व्रत तीरथ तप त्याग ।।
अखो कहे सर्वे अजमाल तो जो आपे आपनो भाल ।।

छ० ६०३, दे०, अखेगीता, क० ५६।

४. कबीर मन फूला फिरे करता हूँ मैं ध्रंम।
कोटि क्रम सिर ले चल्या चेत न देखं भ्रंम ।।

क०ग्रं०, चाणक कौ अंग, सा० २१, पृ० २९।

जीव टलवा सहु कर्मज करे, त्यम त्यम ते वहोलो विस्तरे ।।

छ० ४२०, दे०, छ० ३०१, ५३५।

भिन्न परमात्मा की बाह्य-शोध, द्वैत-भावना के भ्रम से प्रेरित होने के कारण उसके लिए बन्धन ही होते हैं।[1]

'पोथी-ज्ञान' और एतद्-मान्य कर्मो के इनके विरोध का मूल रहस्य इनकी उक्त मान्यता ही प्रतीत होती है। विद्या माया के विस्तार एवं उसके विरोध से सम्बन्धित इनकी उक्तियाँ पर्याप्त मात्रा मे है और प्रसिद्ध भी है, जिनका उल्लेख आगे के अध्यायों मे किया जायगा, यहाँ इतना ही पर्याप्त होगा कि इन्होने छह दर्शन और छयानवे पाखंड इसके अंतर्गत माने है।[2]

निष्कर्ष यह है कि द्वैत भावना, बाह्य-शोध, और नाम-रूपात्मक अनेक ईश्वरों की मान्यता के पोषक समस्त साम्प्रदायिक ज्ञान, कर्म, साधनाएँ एवं वेषादि को भ्रामक मानकर उन्होने विद्या-माया के अन्तर्गत माना है। अखा ने पंचीकरण (६७) मे सूक्ष्म प्रकृति के लिए भी विद्या शब्द का प्रयोग किया है।

### अविद्या माया

साख्य की जड प्रकृति का ही अपर नाम 'अविद्या-माया' है। श्वेता० (४।१०) में प्रकृति को माया कहा भी गया है।[3] सृष्टि रचना इसका प्रमुख कार्य है। इन कवियो ने सृष्टि रचना मे सत, रज एवं तम-त्रिगुण को मूलभूत माना है अत इस माया को उन्होने 'त्रिगुणात्मिका' कहा है।[4] यह 'त्रिगुणी-सृष्टि' स्थूल और सूक्ष्म-दो रूपो मे देखी जाती है। स्थूल-सृष्टि मे देहादिक के रूप मे दृष्ट जगत् को सम्मिलित किया जाता है[5], जिसका

१. भरम करम दोऊ बरते लोई, इनका चरित न जानै कोई।
इन दोऊ संसार भुलावा इनके लागे ग्यान गँवावा॥
क०ग्रं० रमैणी, पृ० १७९, दे०, पृ० १८०-८६।
कर्म त्यां भर्म ने भर्म त्या कर्म ज्यम बुद्धवोणी धेनु चाटे चर्म।
छप्पा २८०, दे०, छ० २७३।

२. दे०, क०ग्रं०, पद ३४६, पृ० ७७ एवं अखाना छप्पा ४४० और दे०, अखेगीता, क० २४।

३. 'माया तु प्रकृति विद्यात्'।

४. राजस तांमस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया॥ क०ग्रं० पद १८४, पृ० ११२।
सत रज तम थै कीन्ही माया आपण मांझे आप छिपाया।वही,रमैणी, पृ० १७०।
जगत थयुं ते त्रण गुण वडे अे त्रण गुण ते माया घडे॥
छप्पा ३३७, दे०, ब्र०ली०चो० २।

५. रजगुन सतगुन तमगुन पंच तत ले साज्या बीन।
तीन लोक पूरा पेखना नांच नचावै एकै जनां॥ क०ग्रं०, पद १९४, पृ० ११५।
दे०, पद १६७।

सम्बन्ध पच-भौतिक स्थूल-प्रकृति से है। सूक्ष्म-सृष्टि मे मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार के 'अन्तःकरण चतुष्टय' एवं शब्द, रूप, रस, गंध व स्पर्श—इंद्रियों के विषय[1]—आदि को सम्मिलित किया जाता हैं; जिनका सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वभाव (सूक्ष्म-प्रकृति) से है। अतः अविद्या माया के-स्थूल और सूक्ष्म—दो भेद हुए। शायद इन्हीं को कबीर एवं अखा ने मोटी माया या बडी माया और झीनी माया या छोटी माया या मीठी माया आदि नामों से अभिहित किया है। यद्यपि कबीर ने उसे बडी व छोटी नाम स्पष्टतः नहो दिये हैं किन्तु उन्होने अपनी एक उक्ति मे उन्हे 'एक माया एक मौसी' कहा है। अखा ने उन्हें स्पष्टतः 'बडी व छोटी' नाम दिये है।[2] मोटी माया को देहादिक स्थूल सृष्टि में[3], और झीनी माया को अन्त करण चतुष्टय व इंद्रियो व उनके विषयो के अधिष्ठान-मन[4] में स्थित दोनों ने माना है। अत' उसके उक्त दोनो रूपों को दोनो कवियों ने स्वीकार किया हैं। अखा ने अपनी एक उक्ति ( पद ४४ ) मे विद्या-अविद्या दोनों का सम्बन्ध मन से

---

भूत उपाधि उपजे पिंड पिंड तेम जाणे ब्रह्माण्ड ॥ गु० शि० सं०, दे० २।७-६ एवं छ० ४१।

सत्व रज-तम रूपे थई माया पछे अकेकाना बहु थया।
पचभूत ने पचमात्रा तामसना नीपजी रह्या ॥
अखेगीता क० ७, एवं दे०, अ०बा०, पद ६।

१. चहूँ दिसि बैठे चारि, पहरिया जागत मुसि गये मोर नगरिया।
क०ग्रं०, पद २७३, पृ० १३५।

या डाइन के लरिका पांच रे निसदिन मोहि नचावे नाच रे ॥
क०ग्रं०, पद २३६।

पच स्वादि ले कीन्हा बंधू, बंधे करम जो आहि अबंधू ॥ वही, रमैणी, पृ० १७४।

पच कर्मेन्द्रिय पच इन्द्रि ज्ञाना, पच तन्मात्रा विषे कही माना।
अंत करण चतुष्टय पचभूता एव लिये सर्वे माया के तूता ॥
अ०र० भजन १८, पृ० १२२।

दे०, अखेगीता क० ७ एवं कुडलिया ८, अ०र०, पृ० ५।

२. दे०, क०ग्रं०, पद २७० एवं संतप्रिया क० १२४, अ०र०, पृ० १६७।

३ कीडी कुजर मै रही समाई तीन लोक जीत्या माया किनहूँ न खाई ॥
क०ग्रं०, पद २३२, पृ० १२४।

........ब्रह्म कीट लगे माया आवरी ॥ छं० ११९।

४. इक डाइनि मेरे मन मै बसै रे, नित उठि मेरे जीय को डसै रे।
क०ग्रं०, पद २३६, पृ० १२५।

मायाये ब्रह्म मन मूल थकी मूके नहि ॥ सोरठा ४४।

मन ते माया, माया मन × × × । गु०शि०सं० २।५५।

जोड़ा है। जो हो, यहाँ सब मिलाकर करने का भाव यह है कि सूक्ष्म-स्थूल, दृष्ट और श्रुत जो कुछ उत्पत्ति, स्थिति या वृद्धि और लय के विकारों से युक्त है वह माया की ही महिमा (सृष्टि) है।

उपजि विनसै जेती सर्व माया ॥ (क० ग्रं०, पद १९९, पृ० ११६)।

वणसे सो ही माया जी ॥ (अखेगीता, पद १, दे०, वही, कडवु ८)।

अव जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है—माया के उक्त भेद व्यावहारिक है, मूल रूप मे वह एक ही है। जो पिण्ड व ब्रह्माण्ड की रचना के माध्यम से आत्मा व ईश्वर को ब्रह्म से पृथक् 'नाम-रूप' मे व्यक्त करती है।[1] और आत्मा के सच्चिदानन्दमय स्वरूप को आच्छादित कर उसे संसारोन्मुख जीवात्मा बना देती है।[2] इन दोनों कार्यों को वह क्रमशः अपनी विक्षेप एवं आवरण शक्तियों के द्वारा करने मे समर्थ होती है। ऋग्वेद (६।४७।१८) मे इन्द्र को अपनी माया से अनेक रूप धारण करने वाला कहा गया है। और कठोपनिषद् (१।३।२-३) मे कहा गया है कि यह हृदयस्थ आत्मा अनृत से आच्छादित है, इसलिए लोग उसे नही जानते। इन उक्तियो मे उसकी उक्त दोनों शक्तियों के संकेत निहित है। आचार्य शकर ने भी उसे उक्त दोनों शक्तियों से युक्त स्वीकार किया है।[3]

माया के गुण-धर्मो के विषय मे कहा जा सकता है कि त्रिगुण, पंचभूत एवं जीवात्मा आदि की जननी होने से वह प्रसव-धर्मिणी है।[4] आदि व अन्त मे उसकी सत्ता न होने से वह असत्य[5] व अनित्य है।[6] किन्तु सूक्ष्म रूप मे या ब्रह्म की ससृच्छा के रूप मे, वह त्रिगुण—सत्, रज एवं तम—के जनक ॐकार से भी पूर्व विद्यमान थी।[7] आचार्य शंकर ने भी इस अव्यक्त नामवाली को अनादि, अविद्या, परमेश्वर की पराशक्ति कहा है।[8] वर्तमान मे उसकी जो (व्यावहारिक) सत्ता है वह जीव-सुलभ-अज्ञान, विपरीत-भावना या

---

१. दे०, क०ग्रं० माया कौ अग, एवं भेष कौ अंग, तथा पद ३३६, पृ० १५१, रमैणी, पृ० १८४, तथा अ०वा, पद ७१, गु०शि० स० २।३९, एवं चि० वि० सं० २४८, अखेगीता क० ४, ५, ७।

२. दे०, क० ग्रं०, पद २४१, पृ० १२७, रमैणी, पृ० १७४ एवं छप्पा २७४, अखेगीता क० ७।

३. दे०, विवेक चूडामणि : ११३-१५।

४. दे०, क०ग्रं०, पद २३१, पृ० १२३, छप्पा ६५५।

५. दे०, वही, पद २६९, पृ० १३४, पद २९६, पृ० १४१, तथा गु०शि०सं० २।३४।

६. दे०, वही, पद १९९, पृ० ११६ अखेगीता पद १।

७. दे०, वही, पद ३३६, पृ० १५१ एव अखेगीता क० ७।

८. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका। वि०चू० ११०।

मिथ्या-भावना या अभ्यास तक ही सत्य है जैसे कि कम प्रकाश मे रज्जु में सर्प का अध्यास होने पर व्यक्ति भयभीत हो जाता है; किन्तु समुचित प्रकाश होने पर यह अध्यास और एतद्जन्य भय दूर हो जाता है।[1] उस समय जैसे अध्यासजन्य सर्प का अस्तित्व अवास्तविक सिद्ध होता है वैसे ही आत्मज्ञान होने पर माया का अस्तित्व भी वंध्यासुत, खपुष्प, अप्रसूता का दूध, शशा-सीग का धनुप आदि सदृश अवास्तविक सिद्ध होता है।[2] असत् मे सत् और सत् मे असत् की प्रतीति को ही भागवत (२।९।३३) मे माया कहा गया है। आचार्य शंकर ने भी अवस्तु मे वस्तु के आरोप के मिथ्या-ज्ञान को स्वयं के मायावाद का मूलाधार स्वीकार है।[3]

तदुपरान्त इन कवियो के अनुसार वह अत्यन्त शक्तिशालिनी है।[4] वह जो कुछ उत्पन्न करती है उस सबका भक्षण करती है, अत. वह काल-रूपा है।[5] अतिशय मोहक है[6], किन्तु जो उसे ग्रहण करना चाहता है उससे दूर भागती है, और जो दूर भागता है उसके पीछे-पीछे लगी फिरती है।[7] कामिनी और कचन उसके दो ऐसे शस्त्र है जिनसे वह अच्छे-अच्छो को परास्त कर स्ववश मे कर लेती है।[8] जो हो, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आलोच्य कवियो के अनुसार धन-दारा-सुत-बधवा आदि के रूप मे जो मोटी माया है उसका त्याग इतना कठिन नही है जितना कि छोटी माया (अर्थात् राग-द्वेप-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर आदि) का है।[9] क्योकि उसका सीधा सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वभाव (प्रकृति)

---

१. दे०, क० ग्र० रमैणी, पृ० १७९ एवं १८०, अ०वा०, पद २०, एवं छप्पा ४१९।
२. दे०, वही, बेलि कौ अग, सा० ४, पृ० ६८ एवं अखेगीता, क० ३६तथा अ० वा०, पद १०८।
३. दे०, ब्र०सू० १।१ १ का भाष्य एव वि०चू० १३९-४०।
४. तू माया रघुनाथ की खेलण चढी अहेड़ै।
   चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई न छोड्या नैडै॥
   क०ग्र०, पद १८७, पृ० ११३ और दे०, पद ३०९, पृ० १४४।
   संसै को बाण लग्यो सबके तन मार लीओ सब माया आहेडे।
   सन्तप्रिया क० ९८, दे०, अ० वा०, पद ५८।
५. दे०, क०ग्रं० माया कौ अग, सा० २१, पृ० २६, एवं अखेगीता क० ८।
६. दे०, वही, माया कौ अंग, सा० ६, पृ० २५ एवं गु० शि० सं० २।४३।
७. दे०, क०ग्र० माया कौ अग, सा० ९, पृ० २६ एवं छप्पा ६०।
८. दे०, क०ग्रं० माया कौ अंग, सा० ३२ एवं अ० र० खलज्ञानी कौ अंग, सा० ५-६ पृ० ३०२।
९. माया तजी तौ का भया मानि तजी नही जाई॥
   क० ग्रं० माया कौ अंग, सा० १७, पृ० २६।

से होता है। माया भोगने मे मीठी अवश्य लगती है किन्तु परिणाम मे घातक होती है।[१] जिस किसी ने इसे भोगने का उद्यम किया है अन्त मे उसे दुखी व निराश ही होना पडा है।[२] इससे छूटने का एकमात्र उपाय है—गुरु-प्रदत्त-ज्ञान।[3] जिन्हे आत्म-ज्ञान उपलब्ध हो जाता है उन सन्तों के समक्ष वह दासी बनकर सेवा मे तत्पर रहती है :—

माया दासी सन्त की ऊँची देइ असीस। (क०ग्रं० माया कौ अंग,सा० १०, पृ० २६)
सन्त भये हरि मे लौ लीना सन्त के आगे माया अधीना। (अ०र० भजन १८)

जीवात्मा के गुण-धर्म एव माया द्वारा भ्रमित होकर बन्धन-ग्रस्त होने का उल्लेख हो चुका है। अब देखना यह है कि सच्चिदानन्दमय मुक्त आत्मा को बन्दी बनाने मे माया किस रूप मे सफल होती है। यह कहा जा चुका है कि अव्यक्त चैतन्य स्थूल के माध्यम से स्वयं को व्यक्त करता है। अर्थात् अपने व्यक्त रूप मे आत्मा को माया द्वारा सर्जित पंचभौतिक शरीर का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। अतः उसे स्थूल/पचभूतों के साथ रहना पड़ता है।[४] उसकी यह संगति ठीक वैसी ही है जैसी कि आकाश-स्थित मेघ से जमीन पर गिरने वाले निर्मल जल-बिन्दु की होती है।[५] जो स्वरूपतः निर्मल होते हुए भी पृथ्वी के रजकणो से लिप्त होने के कारण मलिन प्रतीत होता है, आत्मा मे जो भ्रम, अज्ञान, संशय या द्वैतभाव उत्पन्न होता है वह उक्त सगति-दोष से होता है। क्योकि इस स्थूल देह के साथ उसे जिन इन्द्रियो व जिस अन्त.करण-चतुष्टय की प्राप्ति होती है वे सब बहिर्गामी, स्थूल-दर्शी, द्वैत-दर्शी, विषयी एवं चचल होते है।[६] अथवा यो कहिए कि

---

तन कौ जोगी सब करै मन कौ बिरला कोइ ॥

वही, भेप कौ अंग, सा० १७, दे०, सा० १५, पृ० ३६।

१. दे०, क०ग्रं०, पद २३२, पृ० १२४ एव छप्पा ७१८-१९ एवं ५६०।

२. वही, पद २६९ एवं माया कौ अंग, सा० ३।

३. दे०, वही, गुरुदेव कौ अंग, सा० २०, पृ० २ एव अखेगीता, पद २, क० १२ एवं छप्पा ७२०।

४. पाणी पवन अवनि नभ पावक तिहि संगि सदा बसेरा।क०ग्रं०,पद १७२,पृ०१०९।
पांच तत्वनी ओथे रहे हथोहथ अखा बोल घे ॥ छप्पा ४७७।

५. निरमल बूंद अकास की पड़ि गई भोमि विकार।
क०ग्रं०, कुसंगति कौ अंग, सा० १, पृ० ३७।
ज्यम मेघना बिंदु नाना मोटा रेलाये पृथवी पड्या ॥ अखेगीता, क० ८।

६. चित चंचल रहै न अटकयौ विषै बन कूं जाइ। क०ग्रं०, पद ३०९, पृ० १४४।
मेरी चंचल बुद्धि ताते कहा बसाइ ॥ वही, पद ३८४, पृ० १६२।
नैनूं निकट श्रवनू रसनूं इन्द्र कह्या न मानै हो राम ॥ वही, पद २२२, पृ० १२१,
दे०, पद १९२, ३०८ एवं रमैणी, पृ० १७४।

जिस घर मे शाह (आतमा) रहता है उसी मे सदैव सक्रिय रहने वाले शक्तिशाली चार या पाँच ऐसे चोर रहते है कि जिनसे आत्म-ज्ञान की पूँजी की रक्षा करना बडा कठिन होता है।[1] यह भी सभव है कि इस संगति-दोष से साहूकार स्वयं चोरों मे मिल जाय।[2] किन्तु देहात्म-भाव की प्राप्ति में आत्मा के लिए देहेन्द्रिय की प्राप्ति ही पर्याप्त नही है। जीव भाव की जननी व पोपक माया समयानुसार अपने मोहिनी रूप में उसकी भोग्या या पत्नी बनने के लिए उसके समक्ष प्रस्तुत होती है[3], उसे मोहित या आकर्षित करती है, लौकिक एवं स्वर्ग के सुखों का लालच देती है, नरक या अवगति का भय दिखाती है[4], उसके इस छल से जो ठगा जाता है या उस पर मुग्ध होकर उसके अधीन हो जाता है वह आत्मा जीव-भाव या वन्धन को प्राप्त होता है।

अब क्योंकि माया जीव की माता व भोग्या (पत्नी) दोनों हैं अतः वह वेश्या अथवा पापिनी है[5], भोक्ता जीव सदैव असंतुष्ट एवं अन्ततः दुखी होता है अत. वह ठगिनी है[6],

---

शब्द स्पर्श रूप रस गंध, अेणे व्यसने जीव पमाड्यो धंध ॥
छप्पा २७४ दे०, छ० ५६२, ३८४, ४३८, ४४१ आदि।

परमात्मा ने पूठ देई आतमा इन्द्री जुअे।
इंद्रीनी द्रिष्टि विषय सामी अेम आपोपु नर खुअे ॥अखेगीता,क० ४,दे०, ६३-२३६।

१. पच चोर संगि लाइ दिये है इन संगि जनम गँवायो ।क०ग्रं०,पद ३०८,पृ० १४४।
चहूँ दिसि वैठि चारि पहरिया जागत मुसि गये मोर नगरिया ॥
क०ग्रं०, पद २७३, पृ० १३५।

२. पच को सवाद चाहे अधिक अधिक की।
चोरु के सग मे मिल्यो भूल्यो शाही रीत को ॥ अ०र० भजन २८, पृ० १३२।

३. राती खाडी देखि कवीरा देखि हमारो सिंगारो।
सरग लोक थै हम चलि आई करन कवीर भरतारो ॥
क०ग्रं०, पद २७०, पृ० १३४, दे०, पद ३७०।
जनुर्नानो थई पोषिता पछे वल पोपी पोते वर्या ॥ अखेगीता, क० ७।

४. कनक लेहु जेहु जेता मन भावै कामनि लेहु मन हरनी।
+ + +
आठ सिधि लेहु तुम्ह हरि के जना नवै निधि है तुम्ह आगे।
क०ग्रं०, पद २६९, पृ० १३४।
स्वर्ग केरा भोग वखाणे अने वोक देखाडे नर्कनी ॥ अखेगीता,क० ६, दे०, क० ५।

५. जग हटवाडा स्वाद ठग माया वेसां लाइ ।क०ग्रं० माया कौ अग,सा० १, पृ० २५।

६. तै पापिनी सवै संघारे काकौ काज संवारो।
जिनि जिनि संग कियौ है तेरौ को येसासिन न मान्यौ ।क०ग्रं०,पद२६९,पृ० १३४।

जीव उसका भक्ष्य भी है अत. वह पिशाचिनी या डाकिन है।[१] भाव यह है कि भोक्ता जीव के लिए दु:खदायी है[२], बन्धन मे डालने वाली है[3] और इस तरह उसका अहितू होने के कारण निन्दनीय व त्याज्य है। किन्तु ध्यान रहे कि जीव के साथ माया का भोग्या या पत्नी का ही एक मात्र सम्बन्ध नही है। अखा ने उसे जीव की माता व भोग्या रूप मे विशेपत: चित्रित किया है किन्तु कबीर ने जीव व माया का अधिष्ठान एक ही ब्रह्म होने के कारण उसे जीव की बहिन और उसकी पोपक या पालक होने के कारण उसे मौसी भी कहा है।[४] कहना न होगा कि अपने भोग्या रूप मे वह जितनी शीघ्रता से त्याज्य है उतनी अन्य रूपों मे नही, क्योंकि जिन्होंने पंचेन्द्रियों को वश मे कर लिया हो उनकी तो वह सेविका होती है।[५] उसके द्वारा प्रदत्त शरीर, विशेपत: मानव-देह, जहाँ बन्धन मे डालने मे सहायक है वहाँ ब्रह्म से मिलाने का माध्यम भी है।[६] अत. जीव के लिए माया के भोग और उसमे निहित आसक्ति ही त्याज्य है। कबीर ने अपनी एक अन्य उक्ति (पद १५२) मे इसे ऐसी 'कामधेनु' कहा है कि जो प्रसूता होने पर दूध नही देती किन्तु गर्भावस्था मे अमृत-स्रवित करती है; जिसे यदि वश मे कर लिया जाय तो व्यक्ति को पूर्णकाम व आनन्द विभोर कर देती है। अत: कहा जा सकता है कि उन्होने माया के भोग्य रूप को ही त्याज्य माना है, प्रभु-प्राप्ति मे सहायक होने वाले रूप को नही।

---

महा ठगणी माया पापणी ज्यम सेवंता डसे सापणी। छ० ६२।

दे०, क०ग्रं० माया को अंग, एवं पद ३६६, ८४एवं १८७ अखेगीता, क० ४,५,६,७।

१. दे०, क०ग्रं०, पद २३६, पृ० १२५ एवं अखेगीता, क० ८ तथा ५।

२. माया तरवर त्रिविध का साखा दुख संताप। क०ग्रं० माया को अंग, सा०२०, पृ० २६।
अखा माया करे फजेत खाता खाड ने चावता रेत। छ० ५६०।
अखा सत्य भाषण किया, माया मारे पूत ॥अ०र० समदृष्टि अंग, सा० ८, पृ० २०७।

३. माया जप तप माया जोग माया बाधे सबही लोग ॥ क० ग्रं०, पद ८४, पृ० ८९, दे०, पद १७६।
घट घूंघट घेरी रह्यो माया शुं मन बाध्यो। अ०वा०, पद ३६।

४. दे०, क०ग्रं०, पद २७०, पृ० १३५।

५. कोई एक देखे संत जन जांकै पाँचूं हाथि॥क०ग्रं०, क०मृग को अंग, सा० २, पृ० ६४।
चौद लोक माया के माही संत को माया लेपे नांही।
संत भये हरि मे लौ लीना, संत आगे माया अधीना ॥अ०र० भजन १८, पृ० १२२।

६. या देही कूं लौचै देवा, सो देही करि हरि की सेवा ॥क०ग्रं०, पद ३४८, पृ० १५४।
देव इच्छे मनुष्यना देहने जो छे पाम्यो तु तेने जो।
ततबर थई हरि भज जो जमनां बंधन तजजो जो ॥ अ०वा०, पद १२९।

### माया एवं ब्रह्म का सम्बन्ध

यह देखा जा चुका है कि जो कुछ अनित्य व अनात्म है वह माया है, और जो नित्य व आत्मतत्व है वह ब्रह्म है। ब्रह्म के दो रूप हैं—निरुपाधिक ब्रह्म और सोपाधिक या माया संवलित ब्रह्म। यह माया-सवलित ब्रह्म,निरुपाधिक ब्रह्म का कार्य है। इससे फलित होता है कि माया भी निरुपाधिक ब्रह्म का कार्य है, या उससे उत्पन्न होती है।[१] अपने सूक्ष्म रूप मे वह सोपाधिक ब्रह्म के साथ रहती है। कबीर ने उसके इस रूप को 'निरगुण' रूप कहा है और उसके त्रिगुण-युक्त व्यक्त रूप को 'सगुण' या 'गुणवंती' कहा है।[२] अखा ने इसके निराकार व साकार दोनो रूपों को स्वीकार किया है किन्तु स्थिति भेद से उसे अलग-अलग नामों से अभिहित किया है। कही इसे ब्रह्मतत्व की चित्शक्ति या इच्छा शक्ति कहा है, कही सोपाधिक ब्रह्म की सगति मे इसे 'माया शक्ति' या 'शून्यस्वामिनी' कहा है, तो व्यक्त रूप मे त्रिगुणी या प्रकृति भी कहा है।[३]

माया यद्यपि ब्रह्म से उत्पन्न होती है और उसकी सहायता से सृष्टि का सर्जन करती है; फिर भी ब्रह्म माया से असंपृक्त ही रहता है।[४] ब्रह्म मे उसकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे नभ मे धूम व धूल आदि की होती है। क्योकि वह इसका अधिष्ठान कारण है, उपादान कारण नही है।[५] किन्तु माया से ब्रह्म के असंपृक्त रहने का अर्थ यह नहीं है कि साख्य की प्रकृति--की तरह वह ब्रह्म से पृथक् कोई सत्य व नित्य सत्ता है। वह ब्रह्माश्रिता है[६], या ब्रह्म की शक्ति है। श्वेताश्वरोपनिषद (४।१०) मे माया को प्रकृति

---

१. अवधू ऐसा ग्यान विचारी ताथै भई पुरिष थै नारी। क०ग्र०,पद ३३१,पृ० १२४।
उर अन्तर मे आप स्ववस्तु ढिग नही माया तवे।
+ + +
मिथ्या माया तहा कल्पित अध्यारोप किनो सही ॥ ब्रह्मलीला चौ० १।१।
+ + +
आप फेलाव किनो ग्रही माया सहज भोग करी सुत तीनुं जाय ॥ वही, चौ० २।

२. मीठी मीठी माया तजो न जाई, अग्यानी पुरिष कौ भोलि भोलि खाई ॥
निरगुण सगुण नारी, संसारिपियारी लपमणि त्यागी गोरषि निवारी ॥
क०ग्रं०, पद २३२, पृ० १२४।

३. दे०, अखेगीता क० १, ७ एवं संतप्रिया कवित : १२८, अ०र०, पृ० १६७।

४. पीहरि जाऊँ न रहूँ सासुरै पुरषहि अगि न लाऊँ।
कहै कबीर सुनहु रे संतो अंगहि अंग न छुवाऊँ ॥ क०ग्रं०, पद २३१, पृ० १२४।
आप ज्यों के त्यो निरजन सर्व भाव फेली अजा ॥ ब्रह्मलीला चौ० १, दे०, अखेगीता, क० ७।१०।

५. दे०, गु०शि०सं० ३।८-११।

६. भानै घड़ै सँवारै सोई यहु गोविन्द की माया ॥ क०ग्र०, पद २४९, पृ० १२८।
राम ! माया बलवत अति ताहरी ॥ अखानीवाणी, पद ५८।

व ब्रह्म को 'मायापति' कहा गया है, गीता (७।१४) मे माया को 'ब्रह्माश्रित' कहा गया है। आचार्य शंकर ने भी उसे ब्रह्म के अधीन या ब्रह्म मे विशेष रूप से स्थित मानकर ही अद्वैत का संपादन किया है। इन कवियों ने भी इसी परपरा का अनुसरण करके अद्वैत की स्थापना की है।

**सृष्टि**

आध्यात्मिक चिन्तन के मूल जिन दो प्रश्नो का उल्लेख इस अध्याय के प्रारंभ मे किया गया है उनमे से द्वितीय सृष्टि-रचना के रहस्योद्घाटन की जिज्ञासा से सम्बन्धित है। कबीर एवं अखा की रचनाओ मे एतद्विषयक जो जिज्ञासा व्यक्त हुई है[४], उसमे—यह सृष्टि क्या है? इसका स्रष्टा कौन है? इसकी रचना के उपादान क्या हैं? इसके सर्जन व विसर्जन का क्रम क्या है? एवं इसका हेतु क्या है? आदि—अनेक प्रश्नों का समावेश हुआ प्रतीत होता है। इस जिज्ञासा के समाधान मे आलोच्य कवियों ने जो विचार व्यक्त किये है, यहाँ उन्हो का निरूपण किया जायगा।

इससे पूर्व यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कबीर की रचनाओं मे सृष्टि-रचना विषयक उक्तियाँ एक तो अल्प मात्रा मे हैं, दूसरे साकेतिक है, और तीसरे यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। परिणामस्वरूप सृष्टि रचना-विषयक कबीर के विचारों का निरूपण करने वाले कतिपय विद्वानो ने उन्हे साख्य के गुण-परिणामवाद, इस्लाम के नूरवाद, गौडपादाचार्य एवं बौद्धो के स्वप्नवाद और शंकराचार्य के विवर्तवाद, अध्यासवाद, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, सर्वात्मवाद और विशिष्टाद्वैत के ब्रह्म-परिणामवाद से प्रभावित अथवा उनका समर्थक सिद्ध किया है।[३] जबकि तथ्य यह है कि आलोच्य दोनों कवियों ने सृष्टि का मूल 'शब्दब्रह्म' अथवा प्रणव या ऊँकार माना है—

---

१. साई माइ मास पुनि साई साई मानी नारी ।। क०ग्रं०,पद १५२, पृ० १०३।
ज्यं छो त्यंम ते तमो छो प्रभु जी काया माया स्वें आप ।। अखेगीता, क० २०।
कहे अखो माया कहो के कहो परब्रह्म घाट अे ।। ब्रह्मलीला चा० २।

२. कहौ भैया अंबर कासूं लागा, कोई जाणैगा जांनणहार सभागा ।।
अवरि दीसै केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरन हारा ।। क०ग्रं०, पद १४१।
पंच तत ले काया कीन्ही तत कहा ले कीन्हा ।। वही, पद २९३।
प्रथमे गगन कि पुहमि प्रथमे प्रभु प्रथमे पवन कि पाणी। वही, पद १६४।
+ + +
माणस विना अनेरी जात अति विचित्र बहु दीसे भात।
अे शुं ? ने केम ते नीपजे पाछो पुनरपि देहने भजे ।। चि०वि०सं० १६३।
दृष्टि तत्व स्वामी कहो दृष्टि तत्व शु नाम ?
दृष्टि तत्व प्रगट्ये होय शु जेम बुद्धि वैसे ठाम ।। गु०शि०सं० ४।२७।

३. द्र०, डा० गोविन्द त्रिगुणायत ' कबीर की विचारधारा, पृ० २४८-५९।
द्र०, डा० रामजीलाल सहायक : कबीर दर्शन, पृ० २०९-२१।

ऊँकार आदि है 'मूला राजा परजा एकहि सूला' ।। क०ग्रं० रमैणी, पृ० १८५ ।

ऊँकार जग उपजै विकारे जग जाय ।। वही, पद १२१ ।

अर्द्धमात्रा स्वभाव प्रणव सो त्रिगुण तत्व माया भई ।। ब्रह्मलीला चौ० ११२ ।

अखा ने सृष्टि-रचना विषयक स्वयं के विचारो को सरल व स्पष्ट भाषा में, क्रमबद्ध रूप से पर्याप्त विस्तार के साथ व्यक्त किया है, अतः उनकी मान्यताओं के विषय में कोई अस्पष्टता नही है । किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, कबीर की एतद्विषयक उक्तियाँ अत्यल्प, असंबद्ध एव साकेतिक है । इसलिए उनकी मान्यताओं मे कुछ अस्पष्टता अवश्य पाई जाती है । दूसरे ऊँकार-विषयक अत्यन्त प्राचीन, जटिल एवं विस्तृत व विविध रहस्यात्मक मान्यताएँ उपलब्ध होती है । अतः कबीर और अखा के सृष्टि विषयक विचारों के सम्यक् अध्ययन के लिए सर्वप्रथम ऊँकार का सक्षिप्त परिचय आवश्यक है ।

व्याकरण की दृष्टि से 'अव्' धातु से औणादिक 'मन्' प्रत्यक्ष का विधान होने से 'ओम्' बनता है । 'अव्' धातु के—रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति आदि उन्नीस अर्थ है, 'ओम्' उन सबका द्योतक है ।[1] एक अन्य मान्यता के अनुसार ऋग्वेद के प्रारंभिक मंत्र–'अग्निमीळे····'के प्रथमाक्षर 'अ',यजुर्वेद के मध्य के मंत्र—'ऊर्जे त्वा····' का प्रथमाक्षर 'ऊ' और सामवेद के अतिम वाक्य—'सगानम् वरम्' के अन्तिमाक्षर 'म्' के योग से 'ओम्' शब्द बना है । वेदत्रयी के आदि, मध्य एवं अतिम अक्षरो के संयोग से उत्पन्न शब्दब्रह्म (ओम्) वेद का सार है ।[2] यौगिक एवं तात्रिक मान्यतानुसार समस्त चेतन सृष्टि—प्राणी एव वनस्पति आदि—अपने लौकिक अस्तित्व के आदि से अंत तक श्वास-प्रश्वास की क्रिया से युक्त है । श्वास-प्रश्वास के ग्रहण व त्याग, अथवा पूरक व रेचक, की विकास व संकोच वाली क्रिया मे एक नैसर्गिक ध्वनि होती है । पूरक के समय 'स' और रेचक के समय 'ह' की ध्वनि में व्यक्त होनेवाली इस नैसर्गिक ध्वनि को श्वास-प्रश्वास की धारावाहिकता ( सा०हं० ह०सः ) मे सुनने पर जो ध्वनि-रूप बनता है उसे वैखरी भाषा मे 'सोहम्' कहा जा सकता है । इस 'सोहम्' मे से 'स' और 'ह' व्यंजनों को निकाल देने पर 'ओम्' शब्द शेष रहता है । यही शब्द-ब्रह्म है, जो पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनो मे व्याप्त है ।[3]

---

१. कल्याण : उपसना विशेषाक—'ऊँ का रहस्य' : श्री मदनमोहनजी का लेख ।

२. नर्मदाशंकर देवशकर मेहता : अखाकृत काव्यो, भाग १, पृ० ७० ।

३. वही, पृ० ७०-७१ एवं

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।

हकारस्य सकारस्य लोपे कामकला भवेत् ।। शक्ति संगम १ 'कल्याण' उपासना विशेषांक, पृ० १७९ से ।

सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत् ।

संधिवैं पूर्णरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत् ।। ( चतुर्थ पटल ) वही, पृ० १८१ से ।

अखा ने ॐकार की इस अन्तिम व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है और पिंड व ब्रह्मांड—दोनों में 'सोहं' शब्द की व्याप्ति का भी उल्लेख किया है :—

सोहं शब्द वैराट ने विषे अेक सूत्र पिंड माँही लखे ॥
लेतां श्वासथी उठे सकार मुके श्वासे थाये हंकार ।
स कार हं कारनो होये लोप त्यां ओंकार रहे वण ओप ॥
(पंचीकरण . ९०-९१)

कबीर ने ऐसी कोई व्युत्पत्ति नही दी है, किन्तु जिस ओंकार को उन्होने सृष्टि का मूल कहा है वह व्यष्टि व समष्टि में परिव्याप्त उपर्युक्त 'सोहं-सोहं' के अविरल नाद से सर्वथा अभिन्न है, जैसा कि उनकी निम्नांकित उक्ति से ध्वनित है :—

ब्रह्मण्डे सो प्यंडे जानि मान सरोवरकरि असनान ।
सोहं हंसा ताकौ जाप ताहि न लिपै पुन्य न पाप ॥ क०ग्रं०, पद ३२२ ।

तदुपरान्त उल्लेखनीय यह है कि ऋग्वेद (१।३।२२) की 'वागेत्र विश्वाः भुवनानि जज्ञे'—उक्ति मे समस्त लोकों की सृष्टि वाक् या शब्द से मानी गई है । माण्डूक्योपनिषद् के 'आगम प्रकरण' मे 'ओम्' को अ, उ, म्—इन तीन पादों या मात्राओ वाला बताया गया है और उसके इन तीन पादो से क्रमश. स्थूल, सूक्ष्म व कारण-त्रिकाय; विश्व-तैजस-प्राज्ञ—आत्मा के तीन भेद; वैश्वानर, हिरण्यगर्भ व ईश्वर—त्रिदेव, जागृत, स्वप्न, सुपुप्ति-त्रि अवस्था एव स्थूल, सूक्ष्म व आनन्द-त्रिभोग आदि विपयक त्रिवर्गो का व्युत्पत्ति-गत सम्बन्ध जोड़ा गया है । ध्यातव्य यह है कि एकमात्र मुण्डकोपनिपद् (२।२।४) के अपवाद को छोड़कर सर्वत्र यहाँ तक कि पातञ्जल योग-दर्शन मे भी प्रणव को ब्रह्म का वाचक कहा गया है । मुण्डकोपनिषद् मे ॐकार को ब्रह्म की प्राप्ति का साधन कहकर ब्रह्म को उससे परे माना है । ॐकार को ब्रह्म का व्यक्त या कार्यरूप मानना और ब्रह्म को उससे परे मानना मुख्यतः आगमों की मान्यता है । कबीर एवं अखा ने भी ब्रह्म को नि शब्द व अक्षरातीत माना है ।[1] और इस प्रकार 'शब्द' या ॐकार को ब्रह्म का व्यक्त या कार्यरूप माना है । अत. कहा जा सकता है कि ॐ कार विषयक उनकी मान्यता अधिकाश मे एतद्विषयक आगमो की मान्यता के सानुरूप है, यद्यपि अखा पर शंकराचार्य के 'प्रणव भाष्य' या पंचीकरण का भी प्रभाव पड़ा है । अतः यहाँ शब्द या ॐकार से सृष्टि-रचना-सम्बन्धी आगमिक विचारो का भी संक्षिप्त विवरण आवश्यक है ।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है वैखरी भाषा मे प्रणव को 'ओम्' इस प्रकार व्यक्त किया गया,इसलिए माण्डूक्योपनिषद् मे उसके तीन पाद अ, उ, म् माने गये । किन्तु तांत्रिक प्रतीको में उसे 'ॐ' इस प्रकार व्यक्त किया गया इसलिए वह अ + उ + म् + ‿ + ० इन पाँचों पादों—मात्राओं वाला माना गया । इनमे से प्रथम तीन तो परम्परागत

---

१. द्रष्टव्य—क० ग्रं० पद २१९, ३६, २९७, ३२८, अ० र० माया कौ अंग सा० ४ ।

है, चतुर्थ-अर्धचन्द्राकार ही 'नाद' है और अन्तिम-'बिन्दु' है। अब क्योकि शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध एव वैष्णव आदि सभी तन्त्रो मे जहाँ कही भी योग-साधना स्वीकार की गई, एक या दूसरे रूप मे प्रणव को भी अपनाया गया है। अतः उपर्युक्त बिन्दु ही साम्प्रदायिक विचार-भेदानुसार–महापद, महाविष्णु, सदाशिव आदि नामो से जाना गया। ध्यान रहे कि यह ब्रह्म का व्यक्त रूप है, इससे आगे जो सत्ता है वह अदृष्ट, अवाच्य, परब्रह्म, परम-शिव आदि कही जाती है, जो मन व वाणी का विषय नही है। उपर्युक्त 'नाद' ही बिन्दु की त्रिगुणात्मिका शक्ति है। माया, काली, शक्ति आदि के सभी त्रिवर्ग इसी से उत्पन्न हुए है। अत त्रिवलय-कुडलिनी, त्रिपुरा, त्रिपुर-सुदरी, त्रिगुणी, त्रिकोणाकार–(योनि), जो भी कहिये, यही है। वाक्-सिद्धान्त की दृष्टि से बिन्दु परावाणी है, नाद-पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी के तीन रूपा मे दृष्ट अथवा व्यक्त है। हठयोगियों का अनहद नाद भी यही है।[1] आगम ग्रंथो मे प्रणव से निम्नाकित त्रिवर्गो की व्युत्पत्ति मानी गई है—

| ॐकार की विभक्त मात्राएँ | | वेद-त्रिवर्ग | भोग्य-त्रिवर्ग | भोक्तृ-त्रिवर्ग | अवस्था-त्रिवर्ग | भोग-त्रिवर्ग | गुण-त्रिवर्ग | देव-त्रिवर्ग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| १ | अ | ऋग्वेद | भूलोक | विश्व | जाग्रत | स्थूल | सत्व | विष्णु |
| २ | उ | यजुर्वेद | भुवलोक | तैजस | स्वप्न | सूक्ष्म | रजस् | ब्रह्मा |
| ३ | म् | सामवेद | स्वर्गलोक | प्राज्ञ | सुषुप्ति | कारण | तमस् | रुद्र |

(कही-कही इनमे त्रि-वाक् एव त्रि-दोष आदि के त्रिवर्ग भी शामिल किये गये है)। ये सभी त्रिवर्ग परस्पर संवलित होते है और उसमे ईश्वर-पद एवं सदा-शिव संबधी चौथी (तुरीय) नादमात्रा व पंचमी (तुरीयातीत) बिन्दुमात्रा भी अनुस्यूत होती है। किन्तु चतुर्थ और पचम पद के अनुभव जाग्रत, स्वप्न एव सुषुप्ति भोगने वाले जीवों के लिए स्फुट नही होते।[2]

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है यह बिन्दु माया-संवलित ब्रह्म है। उसकी इस माया शक्ति या प्रकृति से ही तीन गुणो-सत,रज व तम–की उत्पत्ति और उनसे पंचभूत, अन्त करण-चतुष्टय एवं तन्मात्राओ की उत्पत्ति मानी गई है।[3]

उपर्युक्त संक्षिप्त भूमिका के प्रकाश मे जब कबीर एवं अखा के सृष्टि रचना-विषयक विचारो का अवलोकन करते है तो स्पष्ट होता है कि ॐकार से सृष्टि-विकास-क्रम का उल्लेख करते समय दोनों कवियों ने उससे सर्वप्रथम-सत्, रज एव तम—तीन गुणों व अपचीकृत-पचभूतो या 'अव्यक्त' की उत्पत्ति मानी है और इस अव्यक्त से पंचीभूत महा-

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य, कल्याण : उपासना विशेषाक, पृ० १७७-१८२ तथा डा० जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक विद्या, पृ० ८-११ एव २९-३५।

२ द्र०, नर्मदाशकर देवशकर मेहता : अखाकृत काव्यो भाग १, भूमिका पृ० ७९।

३. विशेष विवरण के लिए, द्र०, वही, भूमिका, पृ० ७०-८०।

भूतों तथा उनके स्थूल सृष्टि की रचना स्वीकार की है।[1] ध्यान रहे कि यह 'अविगत' अथवा अव्यक्त न तो निरुपाधिक ब्रह्म है, जैसा कि कतिपय विद्वानों ने माना है[2]; और न सांख्य की स्वतंत्र प्रकृति। यह गुणों की साम्यावस्था वाला कारण द्रव्य है।[3] जो सांख्य की मूल-प्रकृति से अभिन्न होते हुए भी स्वतंत्र नही है। जो हो, कबीर ने पंचभूतों की क्रमिक उत्पत्ति का उल्लेख यद्यपि नही किया है किन्तु यह एक सर्व-स्वीकृत तथ्य है कि रचना काल मे जिस क्रम से इनका सर्जन होता है प्रलय काल में उसके व्यतिक्रम से इनका विलय होता है। कबीर ने इनके विलय का जो व्यतिक्रम दिया है[4] उसे उलटने पर फलित होता है कि 'सबद' या आकाश से पवन, पवन से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी की व्युत्पत्ति हुई। अखा ने भी इसी क्रम से इनका सर्जन माना है।[5] उल्लेख्य यह है कि यद्यपि कबीर की रचनाओ मे अधिष्ठान चतुष्टय—( मन, वुद्धि, चित्त और अहंकार) पच प्राण, पंच इंद्रिय, पंच तन्मात्राएँ, सप्त धातु, नौ या दस द्वार, पच्चीस तत्व एवं बत्तीस तत्व आदि सबका उल्लेख हुआ है[6]; किन्तु एक तो उन्होंने इनके पारस्परिक-कार्य-कारण सबंधों का निर्देश नही किया, दूसरे एतद्विपयक (रूपक-प्रधान) भापा शैली उनकी अपनी है। अत. उनकी तत्व-मीमांसा कुछ अस्पष्ट अवश्य है। जबकि अखा ने ऊँकार से समस्त त्रिवर्गो[7] और उनके उपसर्गो के रूप मे समस्त पंचकों[8] का विस्तार से उल्लेख किया है साथ ही उनके कार्य-कारण संबंधों को भी स्पष्ट किया है।

सृष्टि रचना की तत्व-मीमासा मे यद्यपि उन्होंने तत्वों की संख्या कही छब्बीस[9] मानी है तो कही उनचास[10], फिर भी मुख्य रूप से उन्होने चौबीस तत्वों[11] को ही

---

१. दे०, क०ग्रं०, पद ३३६, पृ० १५१ एवं दे०, पचीकरण, ४-६।

२. दे०, डा० सरनामसिंह : कबीर व्यक्तित्व कृतित्व एवं सिद्धान्त।

३. दे०, न०दे० मेहता : अखाकृत काव्यो भाग १, पृ० ३३ एवं ७३।

४. पथ्वी का गुण पांणी सोष्या पानी तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे॥

क०ग्रं०, पद १५०, पृ० १०२।

५. दे०, पंचीकरण-३ एवं गु०शि०सं० ११२९-३०।

६. दे०, क०ग्र०, पद ३२५, २७३, २०८, २२२, १९३, ३८३ एवं १९५ तथा रमैणी, पृ० १७४।

७. त्रिगुण, त्रिदेव, त्रिलोक, तीन अवस्थाएँ आदि।

८. पंच प्राण, पंचभूत, पंच इंद्रिय, पंच तन्मात्राएँ.......इत्यादि।

९. दे०, अखेगीता : क ७।

१०. दे०, पचीकरण १५-२७ एवं ७२-७६।

११. दे०, पंचीकरण : ५.६ एवं अखेगीता क०—७।

स्वीकार किया है और इस विषय मे भागवत का प्रमाण दिया है।[1] अतः सम्भव है कि उन्होंने अपनी तत्व मीमांसा मे भागवत ( ३।२६।१५-१७ ) का आधार भी ग्रहण किया हो। किन्तु मूलतः दोनों ही कवियो की तत्व-गणना सांख्य दर्शन की तत्व-गणना से प्रभावित है।

## सृष्टि एवं ब्रह्म सम्बन्ध

सृष्टि एवं ब्रह्म के मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध तो प्रायः वे ही है जिनका निरूपण माया व ब्रह्म सम्बन्धों मे किया गया है। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि एक तो इन कवियों ने सृष्टि के कर्ता के रूप मे कही ब्रह्म को माना है,[2] कही ब्रह्मा या ईश्वर को[3] तो कही माया को।[4] जैसा कि पूर्ववर्ती विवेचन से भी प्रकट है, इन्होंने ब्रह्म मे सर्व-कारणत्व स्वीकार किया है[5], अत. उनकी इन उक्तियों मे कोई विरोध नही है। सर्व-कारणत्व को स्वीकार करने पर अन्ततोगत्वा ब्रह्म ही सृष्टि का कर्ता, भर्ता एवं हर्ता सिद्ध होगा। किन्तु तर्कशास्त्रियों की दृष्टि से यहाँ मुख्य दो प्रश्न उपस्थित होते है एक तो यह कि सृष्टि रचना मे ब्रह्म का प्रयोजन क्या है ? दूसरा यह कि अदृष्ट, चैतन्य से दृष्ट-स्थूल की रचना कैसे सम्भव है ? अब यदि प्रथम प्रश्न के उत्तर मे कहा जाय कि उसने एक से अनेक होने की इच्छा की और वह अपनी सामर्थ्य से अनेक हुआ, तो ब्रह्म मे 'इच्छा' का अस्तित्व सिद्ध होते ही वह अपूर्ण सिद्ध होगा।[6] इसलिए अद्वैतवादियो का कथन है कि सृष्टि रचना उसका स्वभाव है—जैसे सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है, इसलिए उसमे न अपूर्णता का आरोप होगा न कर्तृत्व का। कबीर इस विषय मे इतने गहरे नही पैठे है किन्तु अखा ने इस स्थिति को मान्य रखकर सृष्टि रचना को ब्रह्म का स्वभाव माना है।[7] उनकी यह मान्यता माण्डूक्योपनिपद् ( १।६ ) एवं आचार्य शकर से साम्य रखती है। दूसरे प्रश्न के समाधान मे यदि जडतत्व को ब्रह्मोद्भूत न माना जाय तो एक तो द्वैत सिद्ध होगा दूसरे ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण होगा। अद्वैतवाद को स्वीकार करने पर जड से चैतन्य की सृष्टि या चैतन्य से जड की सृष्टि मे से एक विकल्प स्वीकार करना अनिवार्य है। इन सन्तो ने अद्वैतवादी परम्परा का अनुसरण कर चैतन्य से जड की

---

१. तत्व चौबीस अे भागवत लखे। पंचीकरण-६।

२. दे०, क० ग्रं० पद २६१, पृ० १३२, अखानां छप्पा १७।

३. दे०, वही : पद २६८, पृ० १३४।

४. दे०, वही : पद १५६, पृ० १०४ एवं अखेगीता क० ७ अ० वा० पद ६।

५. दे०, वही : पद ३८४, पृ० १६२ एवं 'दूसर के लेखै कछु नांही'-रमैणी, पृ० १७४ ब्रह्मलीला चौ० १-३ एवं पंचीकरण : अखेगीता क० २१।

६. दे०, सन्तप्रिया : कवित्त १२९ अ०र०, पृ० १६८।

७. दे०, अखेगीता क० १९-२१, २४ व ब्रह्मलीला चौ० ४।३।

सृष्टि मान्य रखी है।[1] और इस प्रकार ब्रह्म को सृष्टि का निमित्तोपादान कारण माना है। फिर सृष्टि उसमें स्थिति भी है[2] अतः वह इसका अधिष्ठान भी है। इस विषय में आगे का प्रश्न यह है कि सृष्टि का निमित्तोपादान कारण होकर भी ब्रह्म उससे निर्लिप्त एवं निर्विकार बना रहे यह कैसे सम्भव है ? इस विषय मे इन कवियो ने माण्डूक्योपनिषद् एवं आचार्य शंकर का अनुसरण कर स्वप्न-सृष्टि का उदाहरण दिया है।[3] जिसमे व्यक्ति—घोडा, हस्ती, सेना, सेवक एवं गढ आदि की रचना करता हुआ भी स्वयं उससे निर्लिप्त व निर्विकार बना रहता है। इस विषय मे अन्य उदाहरण प्रतिबिम्ब[4], जादूगरी[5] अथवा दीपक ज्योति से अन्य दीपक को जलाने आदि के भी दिये गये है। इस प्रकार उन्होंने आचार्य शंकर के विवर्तवाद को मान्य रखा है।

तदुपरान्त उल्लेखनीय यह भी है कि मोटे-तौर पर जड़ व चैतन्य या प्रकृति व पुरुष दोनों को पृथक् रूप से सत्य व नित्य मानना द्वैतवाद है, प्रथम को व्यावहारिक, अनित्य, अनात्म, एवं ब्रह्माश्रित मानना और द्वितीय को पारमार्थिक सत्य, नित्य, आत्म एवं स्वयंभू मानना अद्वैत है, दोनों में अभेद व अविरोध स्वीकारना केवलाद्वैत है, और प्रथम के सर्जन या अस्तित्व को नितरां अस्वीकार कर द्वितीय को ही स्वीकारना अजातवाद है। ब्रह्म को उक्त भेदाभेद से विवर्जित मानना नाथपंथियों का विलक्षणवाद है जिसे शंकराद्वैत से पृथक् सिद्ध करने के लिए ही ऐसा नाम दिया गया है। उक्त सैद्धांतिक मान्यताओं के आधार पर देखने पर कबीर एवं अखा की रचनाओं मे महद्-अंशों मे अद्वैत का ही प्रतिपादन किया गया लक्षित होता है, क्योंकि दोनों ने सृष्टि, जीव एवं माया आदि का व्यावहारिक अस्तित्व स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्होंने असत्य एवं अनात्म से परे जो सत्य, नित्य एवं आनन्दमय चैतन्य है उसे अपना आराध्य व साध्य माना है।[6] फिर भी जहाँ-तहाँ कबीर ने रूप व अरूप अथवा सगुण व निर्गुण मे अद्वैत को स्वीकार किया है—

घट माहै औघट लह्या औघट मांहै घाट।[7]

---

१. क० ग्रं०, पद ५५, पृ० ८२ एवं पद १८०, पृ० १११ रमैणी, पृ० १७५ एवं ब्रह्मलीला चौ० ३।

२. दे० क०ग्रं० पीव पिछाणन कौ अंग, सा० २, पृ० ४७, छप्पा १९९।

३. अखेगीता क० ४।

४. वही, क० २२ एवं २८।

५. वही, रमैणी, पृ० १७२।

६. दे०, क०ग्रं०, पद १९९, पृ० ११६ एवं पद ४८, पृ० ८१ तथा अ०र० अथ ज्ञान अंग, सा० १४, पृ० ३१६ एवं छप्पा ४०९।

७. वही, परचा कौ अंग, सा० ९, पृ० १०।

'गुण में निरगुण निरगुण मे गुण है, बाटि छाड़ि क्यूँ वहिये ।'[1]

और अंत में 'आदै गगना अंतै गगना मध्ये गगना भाई ।'[2] कह कर उन्होने केवलाद्वैत की सीमा मे प्रवेश अवश्य किया है । किन्तु 'बाटि छाडि क्यूँ वहिये' की व्यवहार बुद्धि के जागृत होते ही वे इसी मे संतुष्ट होते प्रतीत होते है कि 'सति असति कछू नही जानू जैसे बजाया तैसे बाजू'[3] 'तेरी गति तू ही जानै कवीर तो सरना ।'[4] जबकि अखा इतने शीघ्र शरणागति स्वीकार न कर रूप-अरूप, जड-चैतन्य, कार्य-कारण एवं जगत व जगदीश मे अभेद का प्रतिपादन करने मे सतत् प्रयत्नशील रहकर केवलाद्वैत को अंगीकार कर लेते है—

पिंड समेत परब्रह्म है, अरुपी रूपवान ।[5]
आपे आप हुआ अखा पवन मही नीर तेज ।[6]
जड़ को रूप चैतन्य लीनो चैतन्य ज्यो का त्यों सदा ।[7]
कारज कारन और नांही, रूप अरूपी ह्वै फवै ।[8]
जगत नाम जगदीश तणु............।[9]

जगत् को मृग-मरीचिका एवं स्वप्न-सृष्टि और जीव को बंध्या-सुत एवं शशा-सीग सदृश कहकर दोनों के अस्तित्व को असिद्ध करना, आत्मा व ब्रह्म मे घटाकाश एवं मठाकाश सम्बन्ध मानकर आत्मा को एक, अखडित, अजन्मा, निर्विकार सिद्ध करना आदि अजातवाद की प्रसिद्ध उक्तियाँ हैं । इन दोनो कवियो ने भी इनका प्रयोग किया है । किन्तु जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है, ब्रह्म को सृष्टि का निमित्तोपादान कारण मानकर भी उससे निर्लिप्त सिद्ध करने के लिए इन उक्तियो का प्रयोग अद्वैत दर्शन मे भी होता है । अतः इन उक्तियों के लिए इन कवियों को अजातवाद से प्रभावित तो कहा जा सकता है किन्तु उन्हे अजातवादी नही कहा जा सकता । फिर भी 'ये ससार है मन का मान्या'[10], ज्याहा अंकुर उग्या नही तो पत्र पेड़ कहाँ छाल'[11], 'चिद् अर्णव सदा भरपूर अखा उत्पन्न स्थिति लय लहेरी पूर'[12], 'आरोपण अे विश्व सघलु', एव 'संसार सुत वंध्यातणा'[13] आदि अखा की ऐसी अनेक उक्तियाँ है कि जिनमे अजातवादी विचारो को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है । फिर भी इन कवियो के दार्शनिक चिन्तन को न तो

१. वही, परचा को अंग, पद १०८, पृ० १११ । २. वही, पद ४४, पृ० ८० ।
३. वही, पद २९२, पृ० १४० । ४. वही, पद २१९, पृ० १२१ ।
५. अ०र० प्रतीत को अंग, सा० ३, पृ० ३१७ ।
६. वही, निष्ट ज्ञान अंग, सा० २०, पृ० १९७ ।
७. ब्रह्मलीला चौ० ३ और दे०, छ० २५७, ३९३, सो० ११९ ।
८. वही, चौ० ३ ९. छप्पा ४३७ ।
१०. अ०र० जकडी २, पृ० १२ । ११. अ०र०एकलक्ष रमैणी, पृ० २ ।
१२. छप्पा ४४३ । १३. अ०वा०, पद ३६ ।

अजातवादी कहा जा सकता है न केवलाद्वैतवादी। क्योंकि इन दोनों ही मतों मे द्वैतमूला भक्ति का स्थान प्रायः नही होता, और इन्होंने उसे अपनाया है। अतः इनका मत आगमों के अद्वैत, कि जिसका अर्थ एक मे दो अथवा दो मे एक, जैसे—चना और उसकी दाले—जैसा होता है; के अधिक निकट है। जिसे आगमों मे शिव व शक्ति का अद्वय कहते हैं उसी को इन कवियों ने शंकराद्वैत के वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके प्रस्तुत किया है।

## तुलनात्मक निष्कर्ष

जैसा कि इस अध्याय के प्रारंभ मे संकेत किया गया है कबीर की रचनाओं में दार्शनिक-सिद्धान्तों का निरूपण यत्र-तत्र प्रसंगवशात् हुआ है, जिसमे न तो किसी शास्त्रीय पद्धति को ही अपनाया गया है और न उनकी क्रमबद्धता पर ही कोई विशेष ध्यान दिया गया है। यद्यपि अन्य रचनाओं की अपेक्षा उनकी रमैणियों मे सैद्धांतिक निरूपण कुछ अधिक व व्यवस्थित अवश्य है। जबकि अखा की रचनाओं मे एक तो सैद्धातिक निरूपण सविशेषमात्रा मे हुआ है दूसरे उन्होंने विशेषरूप से गुरुशिष्य-संवाद, चित्त-विचार-सवाद, पंचीकरण एवं ब्रह्मलीला और आंशिक रूप से अखेगीता एवं अनुभव बिन्दु मे अपने विचारो को क्रम-बद्ध या व्यवस्थित रूप मे रखने का प्रयत्न किया है, यद्यपि इनमे से किसी भी एक रचना मे उनके समस्त विचारों का समावेश नही हो पाया है। छप्पा, जकडी, भजन, साखी, पद एवं संतप्रिया आदि रचनाओ मे सिद्धात-निरूपण की स्थिति कबीर की रचनाओं जैसी ही है। यद्यपि दोनों ही संतों के दार्शनिक विचारों पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव मुख्य है फिर भी स्वयं के विचारों को प्रमाण-पुष्ट बनाने की जो प्रवृत्ति अखा मे देखी जाती है—कबीर उससे मुक्त है।

पारलौकिक सत्ता के अस्तित्व की सिद्धि और उसके स्वरूप के निर्णय के लिए दोनों ने कार्य के कारण या प्रत्यक्ष के प्रमाण से परोक्ष के अनुमान की ऐसी तार्किक पद्धति स्वीकार की है जो निश्चय ही साप्रदायिक अंधश्रद्धा तज्जन्य संकीर्णता से सर्वथा मुक्त है। उल्लेखनीय यह है कि 'पुहुप बास थे पातला ऐसा तत अनूप', 'फूलनि मे जैसे रहत बास यूं घट घट है गोविन्द निवास', एवं 'पावक रहै जैसे काष्ट निवासा' आदि उक्तियो में यद्यपि कबीर ने ब्रह्म के तात्विक रूप का ही प्रतिपादन किया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'विष्णु', 'कृष्ण', गोविन्द, राम, अल्लाह, करीम, गोरख एवं महादेव आदि उसके गुणानुसारी नाम-मात्र है, फिर भी भक्ति-भाव से उन्होने जिस ब्रह्म को स्वीकार किया है उसके व्यक्तिगत-स्वरूप को भुलाया नही जा सकता। अखा की भक्ति एवं विरह-परक रचनाओ—विशेष रूप से भजन, जकडी एवं कतिपय अन्य फुटकल रचनाओ मे यद्यपि ब्रह्म के व्यक्तिगत रूप की स्पष्ट स्वीकृति है फिर भी उनकी अन्य रचनाओ मे उसके तात्विक रूप का निरूपण ही विशेष रूप से दृष्टिगत होता है।

'सर्व-कारणत्व' के गुण से युक्त होने के कारण यद्यपि दोनों ही का ब्रह्म क्रियाशील, या कर्तृत्व से युक्त है फिर भी कबीर ने अपेक्षाकृत रूप मे उसके क्रियाशील होने को जो

महत्व दिया है वह उसके द्रष्टा व अकर्तापन को नहीं, जबकि अखा ने उसके द्रष्टा व अकर्तापन को जो महत्व दिया है वह कर्तापन को नही। 'ब्रह्मा एक जिनि सृष्टि उपाई नाम कुलाल धराया' एवं 'आपै कर्ता भये कुलाला' जैसी उक्तियो मे कबीर ने ब्रह्म व सृष्टि के मध्य किसी नाम-रूपात्मक ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार किया है किन्तु अखा ने 'ईश्वर' के गुण-धर्मो व उसके कार्यो का जो सैद्धातिक विशद विवरण दिया है, वह कबीर की रचनाओ मे नही है।

आत्मा को एक अखंडित, सत्य, नित्य, निर्लिप्त, निर्विकार, आनन्दमय और उसकी स्वरूप विस्मृत अवस्था जीव को तात्विक या आत्म दृष्टि से असत्य किन्तु व्यावहारिक या देहदृष्टि से अनेक, विकारग्रस्त, दुःखमय, कर्ता-भोक्ता, कर्माधीन, जन्म-मरण-अधीन एवं बंधन-ग्रस्त दोनों ने माना है। फिर भी कबीर की अपेक्षा अखा की रचनाओं मे जीव की उत्पत्ति या स्वरूप-विस्मृति और उसके लक्षणों का निरूपण क्रमबद्ध व विस्तृत देखा जाता है। अतः इस विषय में उनकी मान्यताओ मे विचारगत नही किन्तु विस्तारगत अन्तर अवश्य है।

माया के विद्या व अविद्या—दो रूपों, उसके असत्य, अनात्म, जननी, भोग्या, बंधक, दु खद एवं वंचक आदि लक्षणो, जीव के लिए त्याज्य व निन्दनीय, किन्तु संतों की सेविका होने और ब्रह्माधीन होने आदि को दोनों कवियों ने स्वीकार किया है। परन्तु कबीर ने एक दृष्टि से ईश्वर-प्राप्ति मे सहायक मानकर उसकी जैसी प्रशंसा की है वैसी कोई प्रशंसा अखा की रचनाओं मे नही देखी गई। उल्लेखनीय यह है दोनो सतो के एतद्विषयक विचार आचार्यो के दुर्बोध तर्कजाल से सर्वथा मुक्त, व्यावहारिक स्तर के है। यदि एक ही वाक्य मे और स्पष्ट रूप से कहा जाय तो कहना होगा कि जीवात्मा में इह-लोक और परलोक मे सुख-प्राप्ति की आसक्ति के पोपक समस्त ज्ञान, साधना और कर्मो तथा अनात्म व अनित्य सृष्टि को उन्होने माया कहा है।

सृष्टि-रचना दोनो ने ॐकार शब्द से मानी है, और दोनो का तत्वनिरूपण सांख्य-दर्शन से प्रभावित है। फिर भी कबीर ने एक तो सृष्टि रचना के क्रम और उसके तत्वों के पारस्परिक 'कार्य-कारण' संबधों का ऐसा विस्तृत व पांडित्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत नही किया जैसा कि अखाकृत 'पंचीकरण' मे उपलब्ध होता है। परंतु इस आधार पर यह समझना एक भूल होगी कि उन्हे इस विपय का पर्याप्त ज्ञान न था, क्योकि दोवर कोट, त्रेवर खाई, तीन जकाती, पंच चोर, पच-किसान, पच सखी, चार पहरुआ, नौ मन सूत, पच सुवटा, पचीस-बैल, आदि प्रतीको मे निश्चय ही उनकी तत्व-मीमासा अन्तर्निहित है; किन्तु कुछ के लिए, सबके लिए नही। जबकि अखा ने अपने एतद्विपयक विचारों मे क्रम, विस्तार एव निरावरण-भापा को स्थान देकर उन्हे सब के लिए सुगम बना दिया है। अत यहाँ पर भी दोनो का मुख्य अन्तर भापा-शैली एवं विस्तार-संबंधी ही है।

यद्यपि दोनों कवियों की विचारधारा में स्वानुभूत तथ्यों का उद्घाटन हुआ है और उस पर उनकी मौलिकता की अमिट छाप है, किन्तु इस स्वानुभूति का अर्थ परम्परा-विच्छिन्न व्यक्तिगत विचार व मौलिकता का अर्थ नवीनता नही है। उनकी स्वानुभूति की फलश्रुति अपने विचारो मे निरपेक्षता, बौद्धिक-संगति एवं व्यावहारिकता लाने मे, तो मौलिकता की सार्थकता परस्पर विरोधी या असंगत विचारों मे समन्वय स्थापित कर उन्हें युगानुकूल विकासोन्मुखी रूप प्रदान करने मे है।

दोनो कवियो के दार्शनिक विचार मुख्यतः वेदान्त-उपनिषद् एवं गीतादि, सांख्य, योग एवं नाथपंथी विचारों से प्रभावित है किन्तु वेदान्ती परम्परा का उनका ज्ञान आचार्यो की कोटि का नही, प्रत्युत आचार्यो के प्रवचनों व साधु समाज की निर्मल-वाणी से निस्सृत, श्रुति-परम्परा से गृहीत ज्ञान है—जो वेदान्त जैसी अत्यन्त विकसित चिन्तन-धारा से संबंधित होने के कारण एक ओर विद्वानों के अध्ययन का विषय है तो दूसरी ओर तर्क-जाल की उलझनो से अपेक्षाकृत रूप से मुक्त होने के कारण जन-साधारण के लिए भी बोधगम्य व उपयोगी है।

आगे कबीर एवं अखा की आध्यात्मिक विचारधारा के साधना-पक्ष पर विचार किया जायगा।

## पंचम अध्याय

# आध्यात्मिक विचारधारा-साधना पक्ष

**आमुख**— पूर्ववर्ती अध्याय में 'दार्शनिक-विचारधारा' शीर्षक के अन्तर्गत आलोच्य कवियों की आध्यात्मिक विचारधारा के जिस सैद्धातिक पक्ष का निरूपण किया गया है, उसका एक मुख्य प्रयोजन मुमुक्षु को उसके आध्यात्मिक इष्ट से परिचित कराना होता है। इस परिचय अथवा ज्ञान से निश्चित हुए इष्ट को प्राप्त करने के लिए किसी अनुभवी व्यक्ति अथवा गुरु के निर्देशन मे विधिवत् किये गये सतत प्रयासों को ही साधना कहते हैं। कबीर एवं अखा द्वारा स्वीकृत साधना-मार्ग के विषय में प्रथम तो उल्लेखनीय यह है कि उसके स्वरूपादि के विषय मे विद्वानों मे मतैक्य नही है। सामान्यतः उन्हें ज्ञान मार्गी अथवा निर्गुण भक्त कहा जाता है; किन्तु दूसरी ओर डा० मुन्शीराम शर्मा[1] द्वारा कबीर को तो डा० एन० ए० थूंठी[2] द्वारा अखा को सगुण भक्त सिद्ध करने के प्रयत्न किये गये है। चन्द्रबली पाण्डेय[3] कबीर को 'सूफी-जिंद' सिद्ध करते है तो सागर महाराज[4] अखा को 'सूफी-औलिया' कह देते है। कबीर की योग साधना को डा० रामकुमार वर्मा[5] हठयोग से जोडते है तो श्री विल्सन[6] राजयोग से। डा० त्रिगुणायत[7] उसे 'सहज-योग' कहकर 'राज-योग' का पर्याय मानते है, डा० सहायक[8] मनोयोग कहते हुए गीतोक्त (१०।७) 'योग-मुक्ति' का द्योतक मानते है तो डा० सरनाम सिंह[9] उसे सभी यौगिक परम्पराओं का 'संपुटित रूप' सिद्ध करके 'मनोयोग या भक्तियोग' कहना उचित समझते हैं।

ध्यातव्य यह है कि कवोर की साधना के स्वरूप के विषय मे जितने मतभेद है, उतने अखा की साधना के स्वरूप के विषय मे नही, किन्तु इसका कारण यह नही है कि उनकी साधना का कोई एक निश्चित स्वरूप स्वीकृत हो चुका है, वरन् यह है कि कबीर की साधना का विभिन्न विद्वानो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से जैसा विस्तृत विवेचन

---

१. दे०, भक्ति का विकास . 'कबीर और भगवद्भक्ति।'

२. दे०, दी वैष्णवाज आफ गुजरात : 'अखा'।

३. दे०, जिंद कबीर को संक्षिप्त चर्चा . निबंध।

४. दे०, अप्रसिद्ध अक्षयवाणी : प्रस्तावना, पृ० ६।

५ दे०, कबीर का रहस्यवाद।

६. रिलीजस सेक्टस आफ दी हिन्दूज, पृ० ६९।

७. दे०, कबीर की विचारधारा, पृ० २८६।

८. कबीर दर्शन : पृ० ३४६।

९. दे०, कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० ३९८-४०२।

प्रस्तुत किया है, वैसा अखा की साधना का नही हुआ। डा० उमाशंकर जोशी[1] ने (छप्पा ४५३-५४ के आधार पर) अखा की साधना को ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति का समन्वित रूप कहा है, और अखा को एक अनुभवी या 'स्वानुभवी' सन्त[2] की सज्ञा से अभिहित कराया है। डा० जोशी ने एक तो अखा की साधना मे योग के समावेश का उल्लेख तक नही किया है, दूसरे ऐसा परिचयात्मक विवेचन अपर्याप्त भी है। डा० रमणलाल पाठक[3] ने अखा की साधना मे योग के समावेश को स्वीकार अवश्य किया है किन्तु उनका प्रयत्न भी परिचयात्मक ही है, क्रमबद्ध व प्रमाण-पुष्ट विवेचन नही। अतः प्रमाण-पुष्ट विवेचन की दृष्टि से यह क्षेत्र अछूता ही है। कबीर की साधना का विवेचन विस्तृत अवश्य है किन्तु उनकी साधना के विभिन्न अंगो के पारस्परिक सम्बन्ध, उपयोग एवं समग्र साधना मे उनके स्थान आदि के विषय मे अधिकाशतः विश्रृखलता एवं अस्पष्टता पायी जाती है। यहाँ इन उपेक्षित पक्षो को ध्यान मे रखकर इस विषय पर विचार किया जा रहा है।

भारतीय परम्परा मे कर्म, ज्ञान, योग, उपासना एवं भक्ति की साधनाएँ अत्यंत प्राचीनकाल से प्रचलित रही हैं। ये सभी साधन-मार्ग स्वतन्त्र और अपने आप मे पूर्ण माने गये, और समय-समय पर इनमे विरोध भी देखा गया। विशेषत ज्ञान का कभी कर्म से तो कभी भक्ति से विरोध रहा। यह उल्लेखनीय है कि इनकी कथित पूर्णता एवं स्वतन्त्रता इनके परस्पर इतने विरोधी होने की द्योतक नही कि एक के क्षेत्र मे दूसरे का कोई स्थान ही सम्भव न रहा हो। यह विरोध मुख्यत इनमे से किसी एक के मुख्य एवं अन्य के गौण-स्थान को लेकर ही था। अर्थात् कर्मकाण्डी के लिए कर्म, ज्ञानी के लिए ज्ञान, योगी के लिए योग तो भक्त के लिए भक्ति ज्येष्ठ और श्रेष्ट साधन थी, शेष गौण या सहायक। इस प्रकार मुख्य या अंगी मानी गई साधना मे, अपने एक या दूसरे रूप मे, अन्य साधनाएँ उसके अंग के रूप मे स्वीकृत होती रहती थी।

आलोच्य कवि जिस प्रकार विचारो के क्षेत्र मे मताग्रही नही रहे उसी प्रकार साधना के क्षेत्र मे भी किसी लकीर के फकीर नही रहे। कबीर ने अनेक उपायों से मन की स्थिरता को प्राप्त (क०ग्रं०, पद १७ व १७८) करने और प्रभु की प्राप्ति को सरल बनाने मे सहायक हो सके ऐसे किसी भी वेश को स्वीकार करने की अपनी तत्परता का उल्लेख (क०ग्रं० विरह को अंग, सा० ४१) किया है। अखा ने तो स्पष्ट घोषणा की है कि उन्हें साँप मारने से काम है लाठी तोडने से (अ०र०ज्ञ० ५२) नही अर्थात् उन्हें उपाय से नही लक्ष्य (छ० २२५) से काम है। अत. जिस प्रकार भी हो अद्वैत का ज्ञान (छ० १५४) प्राप्त कर, हरि को प्राप्त (छ० ३११) करना चाहिए, और नदी को पार उतर जाने पर

१. दे०, अखानां छप्पा · अखानी आतमसूझ, पृ० ३२-३५।
२. दे०, अखो अेक अध्ययन · अध्याय-६, तत्वनुं टूपणुं।
३. दे०, अखो अेक स्वाध्याय : पृ० २०४-२०६।

( गु० गि० सं० ३।८७-८८ ) नाव को पकडे रहने का आग्रह छोड़ देना चाहिए। दोनों कवियों के इस लक्ष्यवादी दृष्टिकोण के परिणाम-स्वरूप उनकी साधना मे भारतीय परंपरा के ज्ञान, योग आदि के साथ नाथपंथी हठयोग एवं सूफियों के विरह-भाव का भी एक या दूसरे रूप मे समावेश हुआ है। अत उनकी साधना का स्वरूप इन विभिन्न साधना-अंगों के अंगांगी सम्बन्धों को स्पष्ट करके ही निश्चित किया जा सकता है, जो भारतीय परंपरा एवं संतों के लक्ष्यवादी दृष्टिकोण के अनुरूप भी होगा।

जैसा कि ऊपर कहा गया है साधना इष्ट लक्ष्य की प्राप्ति का उपाय है। अतः उसका स्वरूप उसके द्वारा प्राप्त लक्ष्य के सानुकूल होना परमावश्यक है। कबीर एवं अखा का लक्ष्य आत्म-स्वरूप, या राम-रूप, को प्राप्त कर जीवन्मुक्त होना था। अर्थात् जिस आत्म-तत्व को उन्हें प्राप्त करना था वह अन्दर ही था बाहर नही। अतः उनकी साधना का अन्तर्मुखी होना स्वाभाविक है—

जो नर जोग जुगति करि जानै खोजै आप सरीरा।
तिनकूं मुकति का संसा नाही कहत जुलाह कबीरा॥ क० ग्रं०, पद ३१७।
पिंड शोधे प्राणेश्वर जडे बीजु ते द्वैत नो रूपक चढ़े। छ० ५८१।
त्यु पंड्य मध्ये पीउ हे ज्यु आरसी भीतर अंग॥ अ० र० समस्या अंग,
सा० ५९-२३१।

इस आत्मोपलब्धि मे ज्ञान, योग एवं निर्गुण भक्ति की साधनाएँ ही सहायक सिद्ध हो सकती है; विधि-निषेधयुक्त बाह्य कर्म एवं सगुण-भक्ति नही। अत इन कवियो ने उक्त तीन को ही अपनाया है—

अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रह्म गियान।
आवगति अतारे प्रगटै लागै प्रेम धियान॥
क०ग्रं० परचा कौ अग, सा० ४४, पृ० १२।
ज्ञान भक्ति अरु जोग के मारग तीन अरु तीन लक्ष ॥अ०र० कुडलिया २५।
भक्ति भक्त कूं तो फले जोग ध्यान तो आय॥
जान अखा तव ऊपजे जो विरहा होय सहाय॥
अ०र० विरही अंग, सा० १४१, पृ० १९९।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी, भारतीय साहित्य मे परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति के तीन मार्ग—योग-मार्ग, ज्ञान-मार्ग एवं भक्ति मार्ग है।[1] अतः आलोच्य कवियो की साधना का निरूपण इन्ही तीन साधन-मार्गो के अंतर्गत किया जायगा। किन्तु उससे पूर्व इतना स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि आलोच्य कवियो ने अपनी अत-साधना या आत्मोपलब्धि के लिए विधिनिषेध-युक्त बाह्याचारो को अनुपयोगी माना है, व्यक्तिगत जीवन मे कर्म-त्याग का समर्थन नही किया। डा० मदनगोपाल गुप्त के मता-

१. दे०, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ६७।

नुसार भी, इन कवियों (संतों) की अन्तःसाधना से संबंधित अन्तर्मुखता जीवनगत यथार्थ के प्रति पलायनवादी मनोवृत्ति की द्योतिका नही है। उनका निजी जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि उन्होंने आजीविका का कोई न कोई साधन प्रायः अपनाया था।'[१] यद्यपि अखा के विषय मे हम यह निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि घर छोडने के बाद जीविकोपार्जन का कोई साधन उन्होंने अपनाया था, फिर भी इतना अवश्य है कि अकर्ता होकर, या निरासक्त होकर, कर्म करते रहने का (छ० ६२१) समर्थन उन्होंने किया है। अतः उन्होने स्वयं यदि संन्यस्त जीवन ही बिताया हो तो एतद्विषयक उनकी मान्यता कबीर से भिन्न नही है।

**ज्ञान-साधना**

यह पहले देखा जा चुका है कि इन कवियों ने ज्ञान को ब्रह्म का स्वरूप तक कहा है। इसके महत्व का प्रतिपादन करते हुए उन्होने न केवल ज्ञान-शून्य समस्त साधनाओं को निष्फल[२], या व्यर्थ का श्रम[३], घोषित किया है, वरन् मनुष्य जीवन को ही अर्थहीन बताया है। कबीर के अनुसार अज्ञानी पुत्र को जन्म देनेवाली माता व्यर्थ ही प्रसव-वेदना सहन करती है[४], तो अखा के अनुसार अज्ञानी व्यक्ति (श्वान और सूकर) पशु से अधिक नही होता।[५] नर और खर मे ज्ञान के होने व न होने का ही अंतर उन्होने माना है।[६] ज्ञापोपलब्धि के अभाव मे कबीर यदि अपने जीवन को बर्बाद हुआ मानते है[७], तो अखा सामान्य-जन के विषय में भी यही कहते है[८], और ज्ञान-प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर[९] कर देने को तत्पर रहते है। दोनो के इस 'ज्ञान-महिमा-गान' से इतना स्पष्ट है कि उनकी साधना मे ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान था।

---

१. मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० १९८।

२. रज बिन कैसौ रजपूत ग्यांन बिना फोकट अवधूत ॥ क०ग्रं०, पद १७६।
आतम ज्ञान बिना सब चोले जती सती तपसी सन्यासी ॥ अ०वा०, पद ४६।
दे०, पद ३९, संतप्रिया २४, २५, ५४।

३. दे०, क०ग्रं०, पद १३५, २७४ एवं छप्पा ५३४, अ०वा० पद १४।

४. जिहि कुलि पुत्र न ग्यांन विचारी, वाकी बिधवा काहे न भई महतारी ॥ क०ग्रं०, पद १२५।

५. ज्ञान बिना श्वान सूकर जैसो ज्ञान, आयो भ्रम को भाड फूटे ॥ संतप्रिया २४।

६. दे०, अ०र० अथ सहज अंग, सा० १९, पृ० ३५५।

७. दे०, क०ग्रं०, पद २३५, पृ० १२५।

८ दे०, अ०र० दुर्मति अंग, सा० ७, पृ० २३७।

९. दे०, वही, उपदेश अंग, सा० ८, पृ० २४१।

ज्ञान के लक्षणो को स्पष्ट करने के अपने प्रयत्नो मे उन्होंने उसे दीपक[1], प्रज्वलित अग्नि[2], सूर्य[3] एवं खड्ग[4] आदि कहा है। इसके अतिरिक्त भी ज्ञानविपयक उनकी जो उक्तियाँ हैं, उन सब के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ज्ञान को उन्होंने अज्ञान रूपी अंधकार का निवारक, स्वयं प्रकाशित, संबधित विपयों का प्रकाशक, एक, अखंड, सत्य, नित्य एवं आनन्द आदि लक्षणों वाला कहा है। दोनों कवियों की ज्ञान-विपयक मान्यताओ मे यद्यपि कोई अन्तर नही है, फिर भी अखा की रचनाओं में एतद्विषयक उक्तियो का जो विस्तार एव वैविध्य पाया जाता है वह कबीर की रचनाओं मे नही। इसका कारण सभवत. यह है कि एक तो उनकी रचनाएँ कबीर की अपेक्षा परिमाण व प्रकार दोनों मे अधिक है, दूसरे उन्हे 'वेदान्ती-परम्परा' के कुछ आर्ष-ग्रंथों का ज्ञान था और तीसरे उनकी रुचि भी इस ओर अपेक्षाकृत अधिक रही होगी।

उपनिषदो मे भी ज्ञान को अज्ञानान्धकार का निवारक (केन० २।४), सत्य, नित्य, आनन्दमय एव ब्रह्म-स्वरूप (दे०,तैत्त० २।१।१, ऐत० ३।१।३ एवं बृ०उ० ३।६।७-२८) कहा गया है। गीता ( १८।२० ) मे भेद मे अभेद की प्रतीति कराने वाले ज्ञान को सात्विक ज्ञान कहा है। ज्ञान से आलोच्य कवियो का अभिप्राय भी ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान से ही है।[5] आचार्य शंकर ने ज्ञान को आत्मा, ब्रह्म एवं मोक्ष का पर्याय और साध्य माना है।[6] अतः कहा जा सकता है कि ज्ञानविपयक आलोच्य कवियो को मान्यताएँ वैदिक परम्परा के सर्वथा अनुरूप है, किन्तु जैसा कि हमारे आगे के विवरण से स्पष्ट होगा, आचार्य शंकर की तरह ये कवि ज्ञान को साध्य न मानकर साधन ही मानते है।

आलोच्य कवियों की साधना मे ज्ञान के स्थान एवं उपयोगिता आदि के विपय मे किसी निश्चय पर पहुँचने से पूर्व इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उन्होने ज्ञान के—सैद्धातिक एव अनुभूत (या आत्मसात्)—दो रूप स्वीकार किये है। वेदान्ती इन्हें परोक्ष व अपरोक्ष ज्ञान कहते है।

पूर्ववर्ती अध्याय मे जिसे कबीर एव अखा की दार्शनिक विचारधारा कहा गया है वही उनके द्वारा स्वीकृत ज्ञान का सैद्धातिक रूप है। जिसकी प्राप्ति गुरु, शास्त्र एवं

---

१. दे०, क०ग्रं०, पद २४९, २६२, गुरुदेव कौ अंग, सा० ११ एवं अ०र० भजन २४, छप्पा ४०।

२. दे०, वही, पद ७, पृ० ७१ एव अ०वा०, पद ११४, छप्पा ४८।

३. दे०, वही. रमैणी, पृ० १८०, अ०वा, पद १४४, ७।

४. दे०, क०ग्र० सूरातन कौ अंग, सा० २७, पृ० ५५; अ०र० कजा कौ अंग, सा० २, पृ० ३२६, छप्पा ६८५।

५. दे०, क०ग्र०,पद ५५,१८१ तथा अ०र० फोम अंग,सा० १०,११,अ०वा०,पद३२।

६. दे०, डा० शातिस्वरूप त्रिपाठी : शाकर अद्वैतवेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव, पृ० १९९-२१०।

सत्संग आदि के माध्यम से संभव है। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है, ज्ञान के इस पक्ष का मुख्य उपयोग यह है कि इसके प्राप्त हो जाने पर मुमुक्षु पारलौकिक सत्ता के अस्तित्व-विषयक संशय से मुक्त होकर उसके स्वरूप, स्थिति एवं गुण-धर्मों से भली-भाँति परिचित हो जाता है। इसके अभाव मे उसकी स्थिति उस पथिक जैसी होती है जो अधिष्ठान या गन्तव्य-स्थल के ज्ञान के बिना ही चलने की तैयारी मे लग जाता है, या चल देता है।[1] अतः अपने 'साहिब' अथवा 'अधिष्ठान' का ज्ञान मुमुक्षु या साधक के लिए आवश्यक होता है।[2] किन्तु जिस प्रकार अग्नि कहने से पैर दग्ध नही हो जाता, खांड कहने से मुख मीठा, जल व भोजन कहने से क्रमशः तृषा व भूख शांत नही हो जाती[3], उसी प्रकार 'ब्रह्म सत्य है', 'जगत् मिथ्या है', 'जीव ही ब्रह्म है' और 'मैं ब्रह्म हूँ' आदि के शाब्दिक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नही हो जाती। यही कारण है कि शाब्दिक ज्ञान को ही सर्वस्व मानने की भावना की इन कवियों ने निन्दा की है—

> वेद पुरान पढत अस पाडे खर चंदन जैसे भारा।
> राम नाम तत समझत नाही अंति पडै मुखि छारा ॥क०ग्रं०,पद ३९,पृ० ७८
> बोहोत विद्या बोहोत दिन पढ़े खाली कीना सीस।
> अखा वाद करते मर्‍यो चीन्हे नही जगदीश ॥
> अ०र० प्रेम प्रीछ कौ अंग, सा० १५, पृ० ३०९।

और अक्षरों मे ही न उलझ कर उनके 'मर्म' भेद, रहस्य, अर्थ या विचार, को ग्रहण करने की आवश्यक्ता पर जोर दिया है।[4] ध्यातव्य यह है कि मर्म एवं भेद आदि 'आत्म-चिन्तन' से अभिन्न है और इसे उन्होने 'विचार', 'आप-विचार' एवं 'आतम-विचार'आदि भी कहा है।[5] इस आतमचिन्तन मे पूर्वोक्त सैद्धातिक ज्ञान के आधार पर चिन्तन या

---

१. चलौ चलौ सबको कहै मोहि अंदेसा ओर।
साहिब सूँ परचा नही ए जाहिंगे किस ठौर ॥ क० ग्रं० सूक्षिम भारत कौ अंग, सा० ४, पृ० २४।

अधिष्ठान ओलख्या विना सहु पंथ पलाय।
ध्येता दशना देखोये घरनां घर माय ॥ अ०वा०, पद ३७ और दे०, पद १०।

२. दे०, क०ग्रं०, पद १७०, पृ० १०२, छप्पा २१४, १८३।

३. दे०, क०ग्रं०, पद ४०, अ०वा०, पद १३१।

४. दे०, क०ग्रं० विचार कौ अंग,सा० ६,७; अ०र० कुमति अंग,सा० २,छप्पा ६१६।

५. अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान।
+ + +
कहै कबीर जे आप विचारै मिटि गया आवन जान ॥ क० ग्रं०, पद ६, दे०, पद २६४, ५२, ३९ एवं २६७।

मनन इस रूप मे करना होता है कि—'बुद्धिमानी किसमे है ? और मूर्खता किसमें ? दुःख कैसे प्राप्त होते हैं ? कैसे दूर हो सकते हैं ? सार क्या है ? और असार क्या है ? प्रिय क्या है ? और अप्रिय क्या है ? सच क्या है ? झूठ क्या है ? कडुवा क्या है ? मीठा क्या है ? किससे संतप्त हुआ जाता है ? किससे आनन्द की प्राप्ति होती है ? मुक्ति कैसे मिल सकती है ? कैसे बंधन मे पडा जाता है ? इत्यादि ।[1] और इस आत्म-चिन्तन का अंतिम परिणाम यह निकलता है कि—

अनहित आहि सकल संसारा, हित करि जानियै राम पियारा ॥
साच सोई जे थिरह रहाई, उपजै विनसै झूठ ह्वै जाई ॥

+ + +

मुकति सो आपा पर जानै सो पद कहा जु करमि भुलानै ॥
क०ग्र० रमैणी, पृ० १७७ ।

अर्थात् इस संसार मे आत्म-तत्व ही सत्य, नित्य एवं आनन्दमय होने से ग्राह्य है और अनात्म तत्व अनित्य एव दु खमय होने से अग्राह्य है—यो वै भूमा तत्मुखं नाल्पे सुख-मस्ति । ( छ०उ० ७।२३।१ ) अखाकृत चित्त-विचार-संवाद इसी आत्म-चिन्तन का प्रति-फल है । तदुपरान्त उनकी अनेक रचनाओं (दे०, अ०वा० ९।४३, कुडलिया ७ इत्यादि) मे इस 'आप विचार' का प्रतिपादन हुआ है । वेदान्तियो की भाषा मे यही नित्यानित्य-विवेक है । इस 'आत्म-विचार' से युक्त व्यक्ति ही सच्चा ज्ञानी है—

कथता बकता सुरता सोई, आप विचारै सो ज्ञानी होई । क०ग्रं०, पद ४२ ।
देही-देह का विवेक छेक लूं करे सो ज्ञानी ॥ अ०र० कुंडलिया ८ ।
पण ज्ञान तो छे आतम सूझ अखा अनुभव होय तो बूझ ॥ छ० ३०८ ।

इस आत्म-चिन्तन द्वारा आत्मसात् किया गया ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है । वही 'कथनी का करणी' मे और 'कागद की लेखी' का 'आँखिन की देखी' मे अथवा सैद्धातिक ज्ञान का अनुभूत ज्ञान मे वदल जाना है, जिसे इन्होंने सर्वाधिक महत्व दिया है—

ऊपर की मोहि वात न भावै, देखै गावै तो सुख पावै ॥ क०ग्र०, पद २१८ ।
कहै सुनै कैसे पतिआइये जब लग तहाँ आप न जाइये ॥ वही, पद २४ ।
मीठी सब की वात । अखा । सुण्या सुणाया सब गाया ॥ झू० २९ ।

+ + +

दीठी सुणी भात बहु लखे अखा न नीपजे जोया पखे ॥ छ० ५५३ ।

---

करत विचार मन ही मन उपजी ना कही गया न आया ॥ वही, पद २३ ।
आप विचारे मलशे राम, वण समज्ये ले कोनुं नाम ॥ छ० ३७, दे०, छ० १७६ ।
१. दे०, क०ग्रं० रमैणी, पृ० १७६ ।

प्रतिपादन किया गया है[1]; और मोक्ष अथवा प्रभु प्राप्ति का उसे एक मात्र सरल मार्ग बताया गया है।[2] इस सबसे भक्ति के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि एवं उनकी साधना मे उसके महत्वपूर्व स्थान का परिचय मिलता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रभु के प्रति श्रद्धा से युक्त प्रेम ही भक्ति है। यहाँ इतना उल्लेख्य है कि श्रद्धा और प्रेम—दो स्वतंत्र भावनाएँ है।[3] भक्ति मे इनका सह-अस्तित्व अपेक्षित है, समत्व नही। अत. आश्रय के मन में, एक स्थिति मे प्रेम मुख्य और श्रद्धा गौण हो सकती है तो दूसरी स्थिति मे इसके विपरीत। संभवत. यही कारण है कि जहाँ एक ओर भक्ति को 'अनुराग रूपा' कहा जाता है वहाँ दूसरी ओर भगवान् की पूजा या सेवा को भी भक्ति कहा गया है—

भज इत्येष वै धातु' सेवाया परिकीर्तितः।
तस्मात् सेवा बुधै. प्रोक्ता भक्तिसाधन भूयसी ॥ (गरुड-पुराण, पूर्व० २३१)
पूजादिर्ष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ ना०भ०सू० १६।

भक्ति-भाव की आधारभूत जिन ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख महर्षि नारद [भ०सू० ८२] ने किया है, उनमे पूजासक्ति भी सम्मिलित है। अत' कहा जा सकता है कि पूजा या सेवा भक्ति का ही एक रूप होती है। सगुण भक्ति मे स्वीकृत षोडशोपचार इस पूजा के बाह्य रूप है, जिन्हे निर्गुण मे नही अपनाया जा सकता। शायद इसीलिए सतो ने अपने निर्गुण राम के लिए मानसी-पूजा को अपनाया है। कबीर ने इसे 'भाव-प्रेम की पूजा' कहा है और अपनी भक्ति के इस रूप को उन्होने 'भाव-भगति नाम' दिया है। अखा ने भी भावात्मक या मानसी-पूजा को अपनाया है।

भाव भगति पूजा अरु पाती आतम राम मिलै बहुभाती ॥
क०ग्र०, रमैणो, पृ० १८०।
साच सील का चौका दीजै भाव भगति की सेवा कीजे ॥ वही, पद १८६।
सद्विचार ते साची भक्ति जेणे जीव शिवनी लहीओ व्यक्ति ॥ छप्पा ४१७।
भाव भरोसो देखे अखा तब पीउ पकडे हाथ ॥[4] अ०र०,साखी १०,पृ० १९९

---

१. द्र०, क०ग्र०, पद १५, १२५ रमैणी,पृ० १८३-८४, चितावणी कौ अग, सा० २७, ३५ तथा अ०र०, आनुरता कौ अंग, सा० ९, चेतन अग, सा० ५, अखेगीता ३२, छप्पा १०६।

२. चरन कँवल चित लाइये राम नाम गुन गाइ।
कहै कबीर ससा नही भगति मुकति गति पाइ रे ॥ क०ग्रं०, पद ५।
कहे अखो त्यो गोविन्द गाई, तो मुक्त थई ने महालिओ रे ॥ अ०वा०, पद १४१।

३ द्र०, आचार्य शुक्ल . चिन्तामणि, श्रद्धा भक्ति, निबंध।

४ दे०, छप्पा ७३, ७७ तथा अ०वा०, पद १४।

भाव-भक्ति में रूप,वर्ण, कुल एवं जाति के श्रेष्ठत्व,चातुर्य या विद्वता की आवश्यकता नही ( अ०र० विरही अंग, सा० १० ) शायद इसीलिए अखा ने इसे 'भोरी-भक्ति' भी कहा है और व्याकरण आदिक शास्त्रीय ज्ञान-विरहित नामदेव एवं कवीर को (अ०र०, भोरी भक्ति अग, सा० ५) इसी का अनुयायी कहा है। कवीर ने भाव-भक्ति को जप, तप, संयम एवं तीर्थ-व्रतादिक बाह्य क्रियाओं से श्रेष्ठ वताते हुए सामान्य भक्ति-विपयक औपचारिकता की चिन्ता न करके, भाव को प्रभु के चरणों मे सतत पिरोये रखने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है—

क्या जप तप संजमा क्या तीरथ व्रत अस्नान।
जो पै जुगति न जानिये भाव भगति भगवान् ॥ क०ग्रं०, पद १२१।
भगति जाइ पर भाव न जाइयौ हरि के चरन निवास ॥ वही, पद २३५।

परमातमा से संपर्क स्थापित करने मे भाव-भक्ति को ही उन्होने उत्तम साधन माना है। उनका विश्वास है कि भाव के बिना हृदयस्थ होकर भी प्रभु दूरस्थ ही रहता है—

कहै कबीर तन मन का ओरा भाव भगति हरि सूं गठ जोरा ॥क०ग्र०, पद२१३
जद्यपि रह्या सकल घट पूरी भाव बिना अभिअतरि दूरी ॥वही,रमैणी,पृ० १७९

दोनों कवियों की रचनाओ—विशेपत कबीर की रचनाओं मे 'साच-सील का चौका', 'तत्व का तिलक', 'ज्ञान का दीपक', शब्द-ध्वनि का घंटा, हृदय का मंदिर, आत्मा ही देव, मन का मुण्डन, त्रिवेणी या आत्म-तीर्थ का स्नान आदि विपयक उक्तियों मे संभवतः सगुग की पूजा के पोडशोपचारो एवं नवधा के विधि-विधानों की भावात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। नवधा का विकल्प रूप होने के कारण ही इस भक्ति को 'दशधा' भी कहा जाता है। भक्तमाल मे कबीर को 'दशधा के आगर' सभवत. इसी अर्थ में कहा गया है।

भाव-भक्ति मे समाहित प्रीति या लगन की व्यंजना के लिए दोनों कवियों ने चन्द्र व चकोर एवं चन्द्र व कमोदिनी, आदि के ऐसे उदाहरण चुने है कि जिनमे दूरस्थ प्रिय के साथ भाव द्वारा नैकट्य स्थापित कर प्रियतमा (या प्रेमी) को सतोष प्राप्त करना होता है।[1] अखा ने इसकी व्यंजना हेतु एक अन्य उदाहरण 'अनल पक्षी' (या कुजी-पक्षी) का दिया है, जो स्वयं आकाश मे उडते रहकर भी सुर्त या लगन द्वारा जमीन पर स्थित अपने अंडों को सेने की अद्भुत क्षमता रखता है।

इस भाव-भक्ति का उल्लेख 'गोरखबानी'[2] मे हुआ है किन्तु वहाँ इसके विषय मे

---

१. दे०, क०ग्रं० हेत प्रीति सनेह कौ अंग, सा० १, पृ० ५३, एवं अ०र० हंस परीक्षा अंग, सा० ६, ७.तथा अ० वा० पद १०५।

२. भणत गोरख मछीन्द्रा ना दासा। भाव भगति और आस न पासा।
गो० बा०, पृ० १३०।

विशेष रूप से कुछ नही कहा गया। श्रीमद्भागवत में इसका उल्लेख है, श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'गोपी, गाय, यमलार्जुन (वृक्ष) मृग और दूसरे मूढबुद्धि एवं कालियादिक (नाग) मुझे भाव द्वारा अनायास ही प्राप्त कर कृतार्थ हो गये।[१] अतः दोनों कवियों की भाव-भक्ति परंपरा-पोषित कही जा सकती है।

लेखक, डा० हरवंशलाल शर्मा के इस कथन से सहमत है कि—'सन्तों द्वारा प्रयुक्त भाव शब्द के अर्थ का क्षेत्र सीमित नही है। वैधी भक्ति के स्थूल उपकरणों को त्याग देने के बाद भक्ति की साधना के सम्पूर्ण उपायों का समावेश सन्तों के 'भाव' शब्द के अर्थ मे ग्रहण किया जाना चाहिये।[२] उनके अनुसार तत्कालीन 'भक्त समाज अंधविश्वास के कारण आरती, पाठ, नैवेद्य आदि बाहरी उपकरणों के अनुष्ठानों मे ही आत्म-कल्याण की प्राप्ति के प्रति दृढ विश्वासी हो चुका था। इस प्रकार भक्ति द्वारा अंतःकरण की शुद्धि का महत्व गौण बनकर रह गया था। अतः प्रभु की भक्ति से सम्बन्धित इन्ही अंधविश्वासों को दूर करने के लिए ही संतो ने वैधी भक्ति के स्थान पर भाव-भक्ति का प्रचार किया।[३] डा० शर्मा का यह कथन जितना कबीर आदि संतों पर लागू होता है उतना अखा पर भी।

उल्लेख्य यह है कि श्रद्धा या पूज्य-भाव के स्थान पर प्रेम का आधिक्य होने पर यह भाव-भक्ति ही प्रेमाभक्ति की अभिधा प्राप्त करती है। आलोच्य कवियो की भाव-भक्ति-विषयक उपर्युक्त उक्तियो, मान्यताओ एवं डा० हरवशलाल शर्मा के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि भाव-भक्ति और प्रेमाभक्ति मे कोई तात्विक अन्तर नही है। अन्य विद्वानो ने भी इन दोनो मे अभेद ही माना है।[४] आलोच्य कवियों ने भी अन्यत्र अपनी भक्ति को प्रेम-भक्ति और भक्ति-मार्ग को प्रेम-मार्ग कहा है :—

अब हरि हूँ अपनौ करि लीनौ प्रेम-भगति मेरौ मन भीनो ॥ क०ग्रं०, पद ३३४।
लाभ अलाभ को अत न आवे नहि भक्त भगवत अखा सेवो प्रेमा ॥ अ०वा०, पद ६८।
कबीर निज घर प्रेम का मारग अगम अगाध ॥ क०ग्रं०, सूरातन कौ अग, सा० २०।
प्रेम गली हैं ऐसी रे सिर साटे पग देसी रे ॥ अ० र० झू० १४।

कबीर ने प्रेम की रस्सी को मन के गले मे बाँधकर उसे माधव के निकट (क०ग्रं०, पद २१३) ले जाने, अथवा प्रेम के खटोला पर चढकर स्वयं (वही, पद ७७) प्रिय से जा

---

१. केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढाधियो नागाः सिद्धा मामीयुरंजसा ॥ भागवत ११।१२।८।
२. डा० हरवशलाल शर्मा : मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना, पृ० ५।
३. वही, पृ० ५-६।
४. दे०, डा० सरनामसिह : कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धात, पृ० ४५७-५८ एवं डा० रामजीलाल सहायक : कबीर दर्शन, पृ० ३६९-७०।

मिलने मे सरलता व निर्विघ्नता का अनुमोदन (या प्रतिपादन) किया है। अखा के अनुसार प्रेमी नदी के उस प्रवाह सदृश है कि जिसमे मिल जाने पर नदी-नाले ही नही वरन् जलकण भी सागर तक पहुँच सकते हैं और न मिलने पर बीच मे ही सूख कर नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार शर्बत आदि पीने पर भी पानी के बिना प्यास नही बुझती उसी प्रकार अन्य उपासनाओं के होने पर भी (अ०र०झू० ९७ एवं ८०) प्रेम के बिना प्रिय की प्राप्ति नही हो सकती। अत' दोनों ही कवियो ने अपनी साधना मे प्रेम को सर्वाधिक महत्व दिया है—

जरै सरीर अंग नही मोरौ प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं। क० ग्रं०, पद ३३४।
बीना ईश्क पीउ ना मिले ए सिर साटे का खेल ॥ अ०र०, सा० १२, पृ० १९६।
मन लागे तब मौला मिले लाख बातो की बात ये ही ॥ वही, झु० ५२।

नारदभक्तिसूत्रों मे प्रेम को गुण एवं कामना से रहित, प्रतिक्षण वर्धमान, विच्छेदरहित, सूक्ष्मतर एवं अनुभव रूप कहा गया है[1], और प्रेम को प्राप्त हुए प्रेमी द्वारा इसी को देखना, इसी का सुनना, इसी का वर्णन एव चिन्तन करना कहा गया है।[2] कबीर एवं अखा ने भी अपने प्रेम को निष्काम[3], अनन्य[4] एवं नित्य-नवीन[5] आदि कहा है। तदुपरान्त प्रभु के प्रति अपनी प्रीति की व्यञ्जना हेतु दोनों कवियो ने स्वाति-सीप, चन्द्र-कमोदिनी, नाद-मृग, जल-मीन, मेघ-चातक एवं भ्रमर-कीट आदि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[6] इस प्रकार नारद द्वारा निर्दिष्ट प्रेम के सभी लक्षणो का समावेश, इन कवियो के प्रेम मे भी हो जाता है।

उल्लेखनीय यह है कि जिस प्रकार श्रद्धा-भाव की अभिव्यक्ति श्रद्धेय की सेवा-पूजा के रूप मे होती है, प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति जागतिक सम्बन्धों के रूप मे होती है। अर्थात् माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र व मित्र तथा स्वामी-दास आदि लोक-व्यवहार के

---

१. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥
नां० भ० सू० ५४।
२. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भावयति तदेव चिन्तयति।
वही, सू० ५५।
३. दे०, क० ग्रं०, नि-पतिव्रता कौ अंग, सा० १०, अ० वा०, पद ११३, ११७ एवं अखेगीता क० ३५।
४. दे०, वही, सुमिरण कौ अंग, सा० १२ अ०र० साखी १६, पृ० १९१।
५. दे०, वही, पद ३०४ एवं अ०र०,झू० ८९, ९७ एवं साखी ८, पृ० ३०२।
६. दे०, वही, पतिव्रता कौ अंग, सा० ५, परचा कौ अंग, सा० ६, ७, हेतप्रीति सनेह कौ अंग, सा० १ व पद ३९३ तथा अ० र० हंसपरीक्षा अंग, सा० ६, ७ अखेगीता क० ३४, कुण्डलियाँ २१ एवं अ०वा०, पद २६, ६९, १०५, छप्पा ७०१।

निकटतम सम्बन्धों मे से भक्त जिस किसी सम्बन्ध के प्रेम-भाव को अपनाकर प्रभु से प्रीति करता है उसके साथ अपने उसी सम्बन्ध के आरोपण द्वारा वह अपनी प्रेमाभक्ति की अभिव्यक्ति करता है। इनमें से एक या अनेक सम्बन्धों की स्वीकृति आश्रय के रुचि-भेद पर निर्भर रहती है; अतः इनकी कोई निश्चित सीमा या संख्या निर्धारित नही की जा सकती। फिर भी जैसा अन्यत्र संकेत किया गया है भक्ति के प्रमुख आचार्यो ने, सगुण भक्ति को लक्ष्य मे रखकर, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं दाम्पत्य-भावों के सम्बन्धों को प्राथमिकता दी है। कबीर एवं अखा ने अपनी निर्गुण भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए उक्त भावात्मक सम्बन्धो को कुछ संशोधित रूप मे अपनाया है। अतः यहाँ उनकी रागात्मिका या प्रेमाभक्ति का निरूपण उनके द्वारा स्वीकृत सम्बन्धों के शीर्पको के अन्तर्गत करना उचित होगा।

**दास्य-भाव**—इष्टदेव अथवा आराध्य को स्वामी और स्वयं को उसका दास या सेवक मानकर की जाने वाली भक्ति ही दास्य-भाव की भक्ति है, और इसका मूलाधार नारद द्वारा निर्दिष्ट दास्यभक्ति है। 'कहै कबीर मैं दास तुम्हारा' एव 'त्यां शु कही स्तवे दास'[1] आदि उक्तियो मे इन दोनों कवियो ने स्वय को प्रभु का दास कहा है। किन्तु विष्णु के पुरुषावतार या चर्यावतार की अर्चना, वन्दना, आदि से युक्त जिस वैधी सेवा को सगुण भक्ति मे दास्य-भक्ति कहा जाता है, और हनूमान् जिसके आदर्श माने जाते है, आलोच्य कवियो की दास्य-भक्ति उससे कुछ भिन्न है। कबीर के मतानुसार ससार को पार करने के संकल्प से युक्त होकर, तारक-तत्व का ज्ञान प्राप्त करके, प्रीतिपूर्वक जो राम का स्मरण करता है उसी भक्त को दास कहा जा सकता है।[2] उनके इस कथन से सगुण व निर्गुण के दास्य-भाव का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

कबीर ने स्वयं को स्वामी के प्रति सर्वात्मभावेन समर्पित गुलाम (क०ग्रं०, पद ११३) अथवा स्वामी की इच्छा के अनुसार जीवन यापन करने के दृढ़-संकल्प से युक्त (क० ग्रं०, नि० पतिव्रता कौ अग, सा० १४, १५) उनका श्वान आदि कहा है। अखा ने प्रभु के प्रति स्वयं को उसी प्रकार अर्पित कहा है जैसे गृहस्थ के घर (छ० २४७) गाय। तदुपरान्त दोनो कवियों ने स्वयं को परमात्मा का प्रिय हाथी कहा है।[3] परमात्मा को 'जगद्-गुरु' या 'बाजीगर' बताकर दोनो ने स्वय को उसका शिष्य कहा है।[4] आलोच्य कवियों द्वारा स्वीकृत इन सभी सम्बन्धो मे सेवक-सेव्यभाव स्पष्टतः लक्षित होता है, अतः उनका

१ क०ग्रं०, पद १४६ एवं अखा, अनुभवबिन्दु १।

२. भगता तिरण मतै ससारी तिरत तत ते लेहु बिचारी।
प्रीति जानि राम जे कहै, दास नाउँ सो भगता लहै॥ क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १६९।

३ दे०, क०ग्रं०, पद २६१, पृ० १३२ तथा अ०र०।

४. दे०, वही, पद ३९०, २९२ तथा अ०र० जकड़ी ७, पृ० १८।

समावेश दास्य-भाव की भक्ति मे हो सकता है। एतद्विषयक उनकी अन्य उक्तियो को देखने से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि दास्य-भाव के अन्तर्गत उन्होने प्रभु के प्रति आत्म-समर्पण और अपने योग-क्षेम का समस्त उत्तरदायित्व उन्ही पर छोड़ देने को सर्वाधिक महत्व दिया है।[1]

उल्लेख्य यह है कि दास्य-भाव का जितना विस्तार कबीर मे पाया जाता है उतना अखा में नही।

### सख्य-भाव

इष्ट-देव को स्वयं का समवयस्क व घनिष्ठ-सखा मानकर उसके प्रति प्रेम-भाव का संपादन करना ही सख्य-भाव की भक्ति है, और इसका आधार नारद द्वारा निर्दिष्ट सख्य-भक्ति है। सख्य-भाव का सर्वाधिक विकास, विस्तार एवं महत्व कृष्ण-भक्ति मे देखा जाता है, और ब्रज के गोप, सुदामा एवं अर्जुन आदि इसके आदर्श माने जाते है। कबीर एवं अखा ने अपने आराध्य के प्रति—'मीत दोसत', 'साथी' एवं 'यार' आदि—सख्य-भाव के सूचक शब्दों का प्रयोग किया है—

> कहै कबीर यहु हेत हमारा या रब या रब यार हमारा ॥ क०ग्रं०, पद ६३।
>
> कबीर साथी सो किया जाकै सुख दुख नही कोय।
> हिलि मिलि करि खेलिस्यूं कदे बिछोह न होय ॥
>
> क०ग्रं०, अविहड कौ अंग, सा० १।
>
> हद के खोजै तू नही मीता वेहद कहाँ लौ ध्यावै॥ अ०दा०गुज०, भजन ३१।

यत्र-तत्र इन्होंने उसके साथ अपनी 'पहचान-पुरानी' का उल्लेख करते हुए उसे 'बालापन का मीत' या 'जूना साथी' आदि कहा है।[2] इस प्रकार सख्य-भाव को उन्होंने अपनाया अवश्य है किन्तु एक तो उसका कोई विस्तार नही, दूसरे कृष्ण-भक्ति जैसा उसमें लालित्य नही, तीसरे प्रभु को सखा या मीत मानते हुए भी वे उसे अपना हितू ही अधिक मानते है। अतः इस भाव का उनकी भक्ति मे बहुत महत्व नही रहता।

### वत्स-भाव

इष्टदेव को बालक और स्वयं को उसका अभिभावक मानकर उसके प्रति किये प्रेम संपादन को सगुण भक्ति मे वात्सल्य भाव की भक्ति कहा गया है, और उसका आधार नारद की 'वात्सल्यभक्ति' है। कृष्णभक्ति मे नंद-यशोदा एवं रामभक्ति मे दशरथ-कौशल्या इसके उदाहरण माने गये है। कहना न होगा यह वात्सल्य-भक्ति अवतारी ब्रह्म के प्रति ही संगत है, अजन्मा के प्रति नही, क्योंकि सृष्टि का कर्ता होने से वह स्वयं सबका जनक (पिता) है, कोई लौकिक व्यक्ति उसका जनक हो, यह विचार मान्य नहीं

१. क०ग्रं०, पद ११४, ४।
२. दे०, वही, पद ३९४; अखेगीता, पद ४ तथा अ०र० जकड़ी ७ व ८।

हो सकता। अतः कबीर एवं अखा आदि संतो ने स्वयं को उसकी संतान मानकर वात्सल्य के स्थान पर वत्स-भाव को अपनाया है और परमात्मा को स्वयं का पिता एवं माता दोनों ही माना है। माता के रूप मे परमात्मा को दोनों कवियों ने वात्सल्य और मातृत्व-सुलभ-क्षमा भाव से युक्त माना है—

हरि जननी मै बालक तेरा, काहे न औगुन वकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन कैते, जननी के चित रहै न तेते ॥
कर गहि केस करै जो घाता तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुधि विचारी बालक दुखी दुखी महतारी ॥ क०ग्रं,पद १११।

हरीजन छौना राम के जौ गऊ का छौना वछ।
सिर मारे अरु पय पीये त्यों त्यों लागे अछ ॥[१]
अ०र०, दुनियाँ अंग, सा० २४, पृ० ३०७।

पिता रूप मे परमात्मा को दोनों कवियो ने वात्सल्य व क्षमा-भाव से युक्त तो माना है, किन्तु माता की तरह मार खाकर भी क्षमा करने वाला नही। परिणाम-स्वरूप पिता के समक्ष भक्त उतना निर्भय नही है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने पर दण्ड का भय उसे बना रहता है अतः यहाँ विनय है, हठ नही—

वाप राम सुनि विनती मोरी तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी ॥
पहलै कांम मुगध मति कीया ता भै कंपै मेरा जीया ॥
राम राइ मेरा कहा सुनीजै पहले बकसि अब लेखा लीजै ॥
कह कबीर वाप राम राया अब हूँ सरनि तुम्हारी आया ॥ क०ग्रं०,पद ३५७
हरीजन छौना राम के ताके प्यारे प्यार ॥ अ०र०, दुनियाँ अंग, सा० २२।

इसके अतिरिक्त अखा ने भक्त व भगवान् के मध्य स्वीकृत पुत्र-पिता संबंधों का आधार वैचारिक दृष्टि से आत्मा व परमात्मा के मध्य स्वीकृत अंश-अंशी[२] व आधेय-आधार[३] सम्बन्धों के होने का निर्देश किया है, और बालक (भक्त) के भोलेपन पर मुग्ध हुए पिता के वात्सल्य का चित्रण भी किया है। किन्तु वहाँ भी यह स्पष्ट कर दिया है कि बालक को पितृ-स्नेह तभी तक प्राप्य है कि जब तक उसमे भोलापन पाया जाता है। जब से वह तुतली वाणी की जगह 'चाटु-वचन' बोलने लगता है पितृ-स्नेह से वंचित हो जाता है।[४]

एतद्विषयक उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वत्सभाव के अन्तर्गत आलोच्य कवियों ने आलम्बन के वात्सल्य-भाव का निरूपण किया है। आश्रय की दृष्टि से तो उन्होने क्षमा-

१. और दे०, चि०वि०सं० ३९६।
२. दे०, अ०र० भजन १९ एवं साखी ८, पृ० १८७।
३. दे०, चि०वि०सं० ३२१-२४ एवं छप्पा २१७।
४. दे०, अ०र०, भोरी भक्ति अंग, सा० ३, ४, पृ० २०९।

याचना, आत्म-निवेदन एवं शरणागति आदि का ही निरूपण किया है, जो दास्य-भाव का पोषक है।

**दाम्पत्य-भाव**

परमात्मा और स्वयं के मध्य पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के लौकिक सम्बन्ध के आरोपण द्वारा उसके प्रति अपने प्रेम का संपादन ही दाम्पत्य-भाव की भक्ति है और इसका आधार नारद द्वारा स्वीकृत कान्तासक्ति है। उल्लेख्य यह है कि प्रेम की अंतिम परिणति प्रिय के साथ भक्तात्मा के तादात्म्य की स्थापना,या महाभाव की प्राप्ति मे होती है। यह तादात्म्य जितनी अभेदता से दाम्पत्य-भाव द्वारा स्थापित हो सकता है उतना दास्यादि अन्य भावों से नही, क्योंकि उनमे भय, लज्जा, संकोच एवं मर्यादा-पालन आदि के कारण द्वैत की संभावना बनी रहती है। दूसरे परमात्मा के साथ स्वय की संयोग एवं वियोग-सम्बन्धी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए जो व्यापक क्षेत्र इस सम्बन्ध मे प्राप्य है वह अन्य मे नही। इसलिए प्रेमा-भक्ति में दाम्पत्य-भाव का महत्वपूर्ण स्थान पाया जाता है। कबीर एवं अखा ने भी अपनी भक्ति मे इस सम्बन्ध को स्वीकार किया है और स्वयं को आराध्य की पत्नी या प्रियतमा माना है—

तू मेरी पुरिषा हौं तेरी नारी ॥ क०ग्रं०, पद ३९४।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया ॥ वही, पद ११७।
तू प्यारा ने हूँ प्यारी रे ॥ अ०र०, जकड़ी ११।

उल्लेख्य यह है कि लौकिक शृङ्गार और परमात्मा-विषयक प्रेम दोनों का स्थायी भाव—रति—एक ही है। अतः उनकी अभिव्यक्ति मे मुख्य अन्तर तो आलम्बन के लौकिक और अलौकिक होने का ही रह जाता है। प्रेम-निरूपण का बाह्य-स्वरूप प्रायः वही रहता है जो काव्य-शास्त्रों मे शृंगार-रस का होता है। इसलिए उसमे संयोग शृगार के हाव-भाव, संचारी एवं उद्दीपन आदि ही नही वरन् विरह की दशाएँ एवं नायिका-भेद आदि का भी समावेश न्यूनाधिक मात्रा मे हो जाता है। कबीर एव अखा ने अपनी दाम्पत्य-भाव की भक्ति का निरूपण यद्यपि काव्य-शास्त्रीय नियमों के आधार पर नही किया फिर भी जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट होगा, शृगार-निरूपण के कतिपय अंगों का समावेश उसमे हो गया है। शृंगार के दो भेदो—संयोग व वियोग—को भी उन्होने माध्यम बनाया है।

संयोग शृंगार के वर्णन मे सामान्यत. एक-दूसरे के अनुकूल प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक अवलोकन, आलिंगन एवं संलाप आदि का निरूपण किया जाता है। कबीर एवं अखा की निम्नांकित उक्तियों मे संयोग-शृंगार के प्राय. सभी लक्षण विद्यमान है :—

मेरी अँखिया जान सुजान भईं।
देवर भरम सुसर संग तजि हरि पीव तहाँ गईं।
बाँह पकरि करि कृपा कीन्ही आप समीप लईं।

दास कबीर पल प्रेम न घटई दिन दिन प्रीत नई ॥ क०ग्रं०, पद ३०४।
मदिर माहि भया उजियारा ले सूती अपना पीव पियारा ॥ वही, पद २।

\+ \+ \+

नेन वेणे रस चाखती ! गायती ! पायती चाख के रस रमणे।
प्रशंसती पियुने ! प्रेमे प्रेमदा घणुं दिव्य रूपा नथी दीठो करणे ॥

अ० अ० वा०, गुज० भजन ३८।

साचा साजन मेरा रे तुज आवत गया अंधेरा रे ।। अ०र०, जकडी-६।

मिलन से पूर्व की दशा के निरूपण मे भक्तात्मा रूपी नवोढा नायिका की अभिलाषा, प्रतीक्षा एवं उमंग[1] आदि मनोभावों एवं शंका व भयादिक संचारियो से युक्त द्विविधात्मक स्थिति[2] तथा अन्य भी अनेक मनोभावों के उल्लेख मिलते है। उल्लास संचारी से युक्त वासकसज्जा का रूप निम्नाकित उक्तियों मे स्पष्ट है—

मै बौरी मेरा राम भरतार ता कारनि रचि करौ स्यंगार ।।क०ग्रं०,पद ३४२
किया स्यंगार मिलन कै ताई काहे न मिलौ राजा राम गुसाईं।।वही,पद ११७
पंच रगी मेरा चोला रे सो पहन्या है ढोला रे।
सब आभूपण मेरा रे, सोल सिंगारा सेरा रे ।। अ०र० जकडी १३।
सब शणगार सजे ढोलन का नखशिख भारी वहु मोलन का ॥ जकडी ३०।

प्रथम साक्षात्कार के समय के नायिका के हर्ष, उत्साह, लज्जा एवं विस्मृति आदि अनेक मनोभावो का निरूपण अखाकृत जकडियो (दे०, जकड़ी १०,११,६ एवं १६ आदि) मे हुआ है। मिलन के बाद गर्व[3], लोक-लाज के त्याग[4], प्रिय के प्रति आभार-दर्शन[5]

---

१. वे दिन कब आवेगे माई।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंग लगाई। क०ग्रं०
सब सखियन मे मिली गावे गान। अन्तर आप मिलावे तान।
कहत अखा पहुँची उमंग मोरा, पिय प्यारी है नवल किसोरा ॥ अ०र० भजन ५।

२. मन प्रतीति न प्रेम रस ना इस तन मे ढंग।
क्या जाणौ उस पीव सूं कैसे रहसी रंग ।।क०ग्रं०,नि० पतिव्रता कौ अंग,सा० १६।
थरहर थरहर कपै जीव ना जानूं का करिहै पीव ॥ क०ग्रं०, पद ३६०।

३. सब सहीउ मै मै रानी रे, जब लालन की ठकरानी रे। जकड़ी १०।

४. भलै नीदौ भलै नीदौ भलै नीदौ लोग, तन मन राम पियारे जोग ।।क०ग्रं०, पद३४२
लाजु लाज न रहीए। सहीओ। ऐसा लाग गया फिर न आवे रे ।।अ०र०, जकड़ी३२

५. मैं रनिरासी जे निधि पाई हमहि कहा यहु तुमहि बड़ाई ॥ क० ग्रं०, पद २।
जे जे विनति करूं वचन तुजथी अहरूं अंतरे ऊर्मि तुज आरो ॥

अ०अ०वा०,गुज० भजन ३४।

दे०, अ०र० विरही अंग, सा० २, पृ० १९८।

आदि के उपरान्त उसे सदैव अपने निकट ही बनाये रखने के प्रयत्नों का उल्लेख दोनों की रचनाओं मे हुआ है—

अब तोहि जान न दैहूँ राम पियारे ज्यूँ भावै त्यूँ होइ हमारे ॥ क०ग्रं०,पद ३

अब मै छोड्या न जाया रे आज दूधे वूठ्या मेहा रे ॥ अ०र०, जकडी १६ ।

उल्लेख्य यह है कि कृष्ण को राधा के प्रति अपने प्रेम का निवेदन करते हुए चित्रित करके अखा ने (गुज० भजन ३९) अपने संयोग-निरूपण में पुरुष-पक्ष को भी स्थान दिया है। दूसरे, सखियों द्वारा एक ओर राधा को तो दूसरी ओर कृष्ण को (दे० अ०वा०गुज० भजन ३७-३८) पारस्परिक मिलन के लिए तैयार करने, एक दूसरे को (गुज०भजन३८) अपने 'भुजदण्डो मे मीड़ने' व 'रमण-रस' की सराहना करने तथा पारस्परिक हास्य-विनोद, कटाक्ष, अधरामृत द्वारा प्रीति (गु० भजन ३३) को पोषने एवं सहवास की अत-शून्य-बहिःशून्य दशा ( अ० र० भजन २ ) के उल्लेखों मे रीतिकालीन परम्पराओं का अनुसरण किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संयोग-निरूपण का जो विस्तार और वैविध्य अखा की रचनाओं; विशेषतः जकड़ियों एवं गुजराती भजनो, मे पाया जाता है वह कबीर की रचनाओं मे नही। किन्तु कबीर का संयोग वर्णन जितना मर्यादा-युक्त है उतना अखा का नही।

प्रेमा-भक्ति में सर्वाधिक महत्व विरह-भाव का माना गया है। नारद ने अपनी भक्ति की परिभाषा, जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है, मे विरह-भाव की व्याकुलता को स्थान दिया है, इतना ही नही उन्होने 'परमविरहासक्ति' को कान्तासक्ति से पृथक् एक स्वतंत्र आसक्ति माना है। काव्य-शास्त्रों के अनुसार रतिभाव के प्रकंपित रहने पर भी (नायक-नायिका के ) अभीष्ट की अप्राप्ति को वियोग या विप्रलंभ-शृंगार का लक्षण माना गया है।[1] भक्ति मे भक्तात्मा द्वारा स्वयं के परमात्मा से बिछुडने के ज्ञान व उसके प्रति प्रेम-भाव के जागृत होने तथा मिलन की तीव्र इच्छा होने पर भी न मिल सकने की स्थिति को ही वियोगावस्था कहा जायगा। कबीर ने अपनी इसी स्थिति को वियोगावस्था माना है—

बासुरि सुख ना रैणि सुख ना सुख सुपिनै माहि।
कबीर बिछुट्या राम सूँ नां सुख धूप न छाह ॥
आइ न सकौं तुज्झ पै सकूँ न तुज्झ बुलाइ।

---

१. यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलंभोऽसौ॥विश्वनाथ : 'साहित्य-दर्पण'३।१८७।
भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥ भोज : सरस्वती कण्ठाभरण, ५।४५
(काव्यमाला सीरीज)

जियरा यौ हौ लेहुगे बिरह तपाइ तपाइ ॥

क०ग्रं०, विरह कौ अंग, सा० ४ एवं १० ।

परमात्मा से मिलाने मे सहायक होने के कारण विरह, दु:खद होने पर भी, आलोच्य दोनों कवियों की दृष्टि मे न तो त्याज्य है, न निन्दनीय—

विरहा बुरहा जिनि कहौ विरहा है सुलितान ।

जिहि घटि बिरह न सचरै सो घट सदा मसान ॥

क०ग्रं०, विरह कौ अंग, सा० २१ ।

नेह विरहा पहेलवान पियु का छोडे नही जिसे आव लागे ।

नूर सु जाय निकाह करे बनाबनी होय एक जागे ॥ अ०र०,झू० १०२ ।

कबीर के अनुसार हँसते-गाते प्रिय की प्राप्ति संभव नहीं है, उसे जिसने भी पाया है रोकर (क०ग्रं०, बिरह कौ अग, सा० २८-२९) ही पाया है। मन रूपी तीर को विरह के मसकले पर घिस कर ही इतना तीक्ष्ण बनाया जा सकता है कि वह प्रभु के चरणो मे (वही, संजीवनी कौ अंग, सा० ५) चुभा (संलग्न) हुआ रह सके। अखा के अनुसार विरह के मसकले पर नेह की रज के साथ घिस कर जीवात्मा रूपी हीरे को (अ०र०झू० ५७) तेजस्वी (मूल) रूप दिया जा सकता है। बिरह रूपी कमान पर सुर्त के तीर का संधान कर परमात्मा रूपी लक्ष्य को बीधा (झू० १०१) जा सकता है। भक्ति, योग, ध्यान एवं ज्ञान आदि तभी फलदायी होते है जब विरह सहायता करता है। अतः प्रभु का साक्षात्कार चाहने वाले को बार-बार विरह माँगना चाहिए, क्योंकि विरह और भगवान् दोनो एक ही है।[1]

व्यक्ति की शारीरिक क्षीणता या खोखलेपन का कारण[2] होने के कारण विरह को दोनों कवियो ने अन्दर ही अन्दर धुँधकती हुई अग्नि, घुन[3] एव भौरंग[4] आदि कहा है। और शारीरिक दुर्बलता, उदासीनता, निर्वेद, अनमनापन, अनिद्रा एवं निराहार आदि को विरही व्यक्ति के सामान्य लक्षण माना है।[5] पानी के अभाव मे तडफडाती हुई मछली की स्थिति को दोनों कवियों ने विरह व्याकुलता की आदर्श स्थिति की व्यजक माना है।[6]

उल्लेख्य यह है कि अखा की रचनाओ मे विरह के महत्व का प्रतिपादन एवं उसके आदर्श रूप का उल्लेख ही मुख्यतः देखा जाता है। कबीर की रचनाओं मे विरहानुभूति

१. दे०, अ०र०, विरही अग, सा० ४–६, १४ व १५, पृ० १९८-९९ ।

२. क०ग्रं०, विरह कौ अंग, सा० ३८-३९, ग्यान विरह कौ अंग, सा० ३-६, अखेगीता, क० ९, अ०र०झू० ८० ।

३. दे०, वही, विरह कौ अंग, सा० २८, अ०र० कुडलिया २१ ।

४. दे०, वही, विरह कौ अंग, सा० १८-१९ ।

५. दे०, क०ग्रं०, साध सापीभूत कौ अंग, सा० ३-५, व ९-१० तथा अखेगीता, क० ९ ।

६. दे०, वही, पद ११९, २२४ एवं अखेगीता, क० ९ ।

की जो मार्मिक व्यंजना देखी जाती है अखा की रचनाओं में उसका अभाव है। अनुभूति-परक वियोग के विस्तृत विवरण के कारण कबीर की रचनाओं में विप्रलंभ शृंगार की नायिकाओं के अनेक भावों की व्यंजना हुई देखी जाती है। उनकी एक उक्ति (क०ग्रं०, पद २३०) में किसी ऐसी मति की बौरी—मुग्धा—का निरूपण है, जो प्रिय के साथ एक ही सेज पर शयन करते हुए भी उसे नहीं देख पाती है। एक अन्य उक्ति (दे०, वही, पद ३०७ ) मे ऐसी प्रोषित-पतिका का निरूपण है कि जो किसी परोपकारी पथिक के माध्यम से प्रिय को अपनी असह्य विरह-वेदना के संदेश के साथ यह संदेश भी पहुँचा देना चाहती है कि उसे उसकी नारी कहते हैं किन्तु उससे प्रिय का मिलन ही नहीं हुआ तो स्नेह का यह सम्बन्ध कैसा ? इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नायिका-रूप भी ढूंढ़े जा सकते हैं।

प्रिय-वियोग में प्रतीक्षा संचारी के साथ रजनी व सूनी-सेज के उद्दीपन का निरूपण द्रष्टव्य है—

वे दिन कब आवेंगे माइ।

+ + +

मोहि उदासी माधौ चाहै चितवत रैनि बिहाइ।

सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊँ तब खाइ॥ क०ग्रं०, पद ३०६।

भाव यह है कि कबीर की रचनाओं मे अभिलाषा, चिन्ता आदि विरह की दसों दशाओं एवं अनिद्रा, स्मृति, हर्ष, शंका, अतृप्ति, विवशता आदि अनेक संचारियों का समावेश हुआ देखा जाता है।[1]

ध्यान रहे आलोच्य कवियों द्वारा स्वीकृत विरह गुण-श्रवण[2] एवं स्वप्न-दर्शन[3] आदि से उत्पन्न पूर्वराग-जन्य विरह है। विरह के 'प्रवास' आदि भेदों मे एक 'मान विरह' भी होता है, इन दोनों कवियों की रचनाओं में उसका आश्रय लिया गया है—

नारी पुरिष बसै इक संगा दिन दिन जाइ अबोलं।

तजि अभिमान मिलै नही पिव कूँ ढूंढत बन बन डौलै॥ क० ग्रं०, पद ३१६

साजन संग सदा सुखकारी मुख फिराये क्या बैठी रे।

सम्मुख होय के देख अखो कहे बात रही सब हेठी रे॥ अ०र०, जकडी-३३

---

१. दे०, क०ग्रं०, विरह कौ अंग, ज्ञान विरह कौ अंग, उपजणि कौ अंग, पद ३०२, ३१६ आदि।

२. ज्यूँ ज्यूँ हरि गुण साँभलूं त्यूँ त्यूँ लागे तीर।
साँठी साँठी झड़ि पड़ी भलका रह्या शरीर॥
क० ग्रं०, सबद कौ अंग, सा० ६, पृ० ४०।

३. सुनि सखि सुपनें की गति हरि आये हम पास।
सोवत ही जगाइया जागत भये उदास॥ क० ग्रं०, पद ३०२।

कबीर ने राम के साथ स्वयं के पाणिग्रहण संस्कार का निरूपण ( दे०, क० ग्रं०, पद २२६ ) विस्तार से किया है, अखा ने भी स्वयं के लिए परमात्मा को वरेण्य ( अ० वा०, पद १२५, १४३ ) माना है। तदुपरान्त दोनों ने पतिव्रता की ऐकान्तिकी निष्ठा को आदर्श रूप माना है। अतः कहना न होगा कि उनके द्वारा स्वीकृत विरह स्वकीया-विरह है। यद्यपि अखा ने एक स्थान ( अखेगीता क० १० ) पर 'जार-लुब्धी' युवती के गृह-कार्य में व्यस्त रहते हुए प्रिय के स्मरण की; तो दूसरे स्थान ( छ० ६९५ ) पर गोपी-भाव की प्रशंसा की है। किन्तु समग्रतया देखने पर यह उनका मुख्य भाव सिद्ध नही होता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों ने 'एकमेवाद्वितीय' अनुभवैकगम्य अपार्थिव सत्ता के प्रति अपने प्रेम के सम्पादन और उसकी अभिव्यक्ति के लिए लोक-व्यवहृत रागात्मक सम्बन्धों की स्वीकृति में कोई विरोध नही माना है। यहाँ तक कि अपने प्रभु-प्रेम को पूर्णत्व देने के लिए लौकिक शृंगार को भी उन्होंने अग्राह्य या अस्पृश्य नही माना।

उल्लेखनीय यह है कि उपर्युक्त भावात्मक सम्बन्धों को जहाँ एक ओर सगुण भक्ति मे 'रागात्मिका भक्ति' का नाम दिया जाता है वहाँ दूसरी ओर उनका समावेश रहस्यवाद के अन्तर्गत भी किया जाता है।'[1] क्योंकि 'विशेष अनुभूति' की प्रतीकाश्रित अभिव्यक्ति साहित्य में 'रहस्यवाद' नाम पाती है। रहस्यवाद कोई दार्शनिक वाद न होकर वस्तुतः साहित्यिक वाद है जिसका लक्षण है प्रेमाश्रयी अद्वैतानुभूति एवं प्रतीकाश्रयी सांकेतिक अभिव्यक्ति।[2]

आलोच्य कवियों द्वारा अपनी निर्गुण भक्ति मे स्वीकृत दाम्पत्य या माधुर्य-भाव को सूफियों का प्रभाव मानने के विषय में जो विवाद है उसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है अतः यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि—उनके प्रेम के प्यालों, तज्जन्य मादकता[3] एवं विरहानुभूति की अभिव्यक्ति मे प्रयुक्त ऊहात्मकता[4] आदि पर सूफियों के प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है। उनकी विचारधारा एवं साधना शुद्ध भारतीय परम्परा के सानुरूप है। फिर भी यह स्वीकार्य है कि सूफी साधकों की 'प्रेम की पीर' का रंग उनकी भक्ति के प्रेम-तत्व को गहरा करने मे अवश्य सहायक सिद्ध हुआ

१. परमात्मा को पिता-माता, प्रियतम, पुत्र अथवा सखा आदि के रूप मे देखना रहस्यवाद ही है, क्योंकि लौकिक अर्थ मे परमात्मा इनमे से कुछ भी नही है। डा० श्यामसुन्दरदास : कबीर ग्रंथावली, प्रस्तावना, पृ० ४०।
२. डा० सरनामसिंह : कबीर एक विवेचन, पृ० ३५६।
३. दे०, क०ग्रं०, चितावणी कौ अंग, सा० ४, पृ० २०, अ०र० जकड़ी-६।
४. दे०, क० ग्रं०, विरह कौ अंग, सा० २२, २३, २६ तथा अ० र० विरही कौ अंग, सा० १७, पृ० १९९।

है।[1] डा० सरनामसिंह का विचार है कि—'वस्तुतः दाम्पत्य भाव' या 'माधुर्य-भाव' हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों धर्मो की प्रेम-साधना की सामान्य भूमिका बनने की क्षमता रखता था। सम्भवतः माधुर्य-भाव की धार्मिक पृष्ठभूमि मे सामाजिक एकता की प्रौढ़ सम्भावनाओं के अनुमान ने सुधारवादी कबीर को निर्गुण भक्ति मे इस भाव को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया हो।[2]

जो हो, ध्यातव्य यह है कि प्रेम के मूल मे एक या दूसरे प्रकार की आसक्ति का होना अनिवार्य है। नारद ने ( भक्तिसूत्र ८२ ) भक्ति भाव की उपर्युक्त ग्यारह आसक्तियों—(१) गुणमाहात्मासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) वात्सल्यासक्ति, (८) कान्तासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयासक्ति एवं (११) परम विरहासक्ति का उल्लेख किया है। परमात्मा के प्रति अपने प्रेम के सम्पादन के लिए, उसके—सगुण या निर्गुण—रूप के अनुसार आवश्यक संशोधन करके, भक्त अपनी रुचि के अनुसार इनमे से एक या अनेक को अपना सकता है। कबीर एवं अखा की प्रेमाभक्ति मे इनका एक या दूसरे रूप में समावेश देखा जाता है। उनके द्वारा स्वीकृत हुई इन आसक्तियों मे से क्रम संख्या तीन, पाँच, छह, सात, आठ एवं ग्यारह का उल्लेख पूर्ववर्ती विवरण मे हो चुका है, नवमी (आत्मनिवेदनासक्ति) का निरूपण आगे प्रपत्ति शीर्षक के अंतर्गत किया जायगा। अतः यहाँ शेष एक, दो, चार एवं दस का परिचय ही पर्याप्त होगा।

**गुणमाहात्म्यसक्ति**

प्रभु या प्रिय के गुणों का गान करना और उसके माहात्म्य का प्रतिपादन करना ही गुणमहात्म्यासक्ति है। कहने की आवश्यकता नही कि आराध्य के गुण उसके प्रति हमारी आसक्ति के कारण होते हैं। उसके गुणों का सतत-स्मरण हमारी मनोवृत्तियों को उसकी ओर उन्मुख करता है। हमारी भावनाओं एवं संस्कारों को भी परिशुद्ध करता है; क्योंकि इष्ट के गुणों का सतत-स्मरण करने पर 'कीट-भृंगी-न्याय' से उसके गुण भक्त मे आने लगते हैं। इस प्रकार भक्ति मे गुण-गान का अपना विशेष महत्व है।

कबीर ने परमात्मा-विषयक ज्ञान की बहुत चिन्ता किये बिना भी, प्रफुल्लित मन ( क० ग्रं०, जर्णा कौ अंग, सा० २ ) से हरि के, गुणगान द्वारा ही जीवन को सफल (वही, पद १७२) बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। प्रभु का गुणगान करने वाले भक्तों के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति (क०ग्रं०, पद १२४) व्यक्त की है; और ऐसा न करने वालों को चोर या चमगीदड़ (क०ग्रं०, चिंतामणि कौ अंग, सा० २८) कहा है। अखा ने भी लोकनिन्दा का भय छोडकर प्रभु के स्वरूप-ज्ञान को प्राप्त कर उसका गुणगान करते

---

१. डा० हरवंशलाल शर्मा : मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना, पृ० ६।

२. डा० सरनामसिंह : कबीर : व्यक्तित्व कृतित्व एवं सिद्धांत, पृ० ४३६।

रहने का उपदेश दिया है।[1] गुणगान द्वारा परमनिधान की प्राप्ति का उल्लेख दोनों कवियों ने किया है—

गोव्यंद गुण गाइये रे ताथै भाई पाइये परम निधान ।। क०ग्रं०, पद १२१ ।

कहे अखो हु तो कई नव जाणुं मैं तो हरिनां गुण गाया जी ।

लख चौरासी राह चुकाव्यो ने अखण्ड ने घेर आण्या जी ।।

अ०अ०वा० गुज० भजन, पृ० २७ ।

और अहर्निश के सतत गुणगान को राम से मिलाने वाला अथवा सच्ची प्रीति का द्योतक माना है :—

गुण गायें गुण नाम कटै रटै न राम विवोग ।

अहनिसि हरि घ्यावै नही क्यू पावै द्रुलभ जोग ।।

क०ग्रं०, सुमिरण कौ अंग, सा० २८, पृ० ५ ।

अतः कहा जा सकता है कि गुणगान उनकी भक्ति का एक आवश्यक अंग है।

**रूपासक्ति**

प्रिय का मनोहारी रूप उसके प्रति हमारे आकर्षण का एक प्रवल कारण होता है। अनाम-अरूप के उपासक कबीरादि की भक्ति मे रूपासक्ति की वात कुछ विद्वानों को स्वीकार्य नही है।[2] किन्तु हम पीछे यह देख चुके है कि अस्तित्व मात्र रूपाश्रित है। जिसका अस्तित्व है उसका कोई न कोई रूप होगा ही। अतः निर्गुण भक्ति मे रूपासक्ति की स्वीकृति असंगत या तर्क-विरुद्ध नही ठहरती। कवीर एवं अखा ने अपने आराध्य के मनोहारी रूप का वर्णन भी किया है :—

कंद्रप कोटि जाकै लावन करैं, घट घट भीतरि मनसा हरै ।। क० ग्रं०, पद ३४० ।

राम राजसि नैंन वानी सुजान सुन्दर सुन्दरा ।। वही, पद ३९२ ।

जी हाँ, रे जोऊँ त्यां राम रंगीला, लोक न लखै अलौकिक लीला ।।

( अ० वा०, पद ९४ ) ।

जोतां सुरत्य जात रुचिर मनोहर रंग छे ।। सो० २३४, दे०, छ० ६८२ ।

फिर भी इतना स्वीकार्य है कि यह रूप-सौन्दर्य किसी दृश्य-सत्ता का नही वरन् अव्यक्त मे आरोपित या कल्पित है।

**स्मरणासक्ति**

उपास्य के नाम का स्मरण मध्ययुगीन भक्ति की एक सर्व—सामान्य विशेषता रही है। वैष्णवों मे विष्णु के सहस्र नाम, सूफियों मे 'जिक्र', सिक्खों में 'जपुजी' आदि नाम-

---

१. दे०, अ०र०, दुनियाँ अज्ञान अंग,सा० ५, उपदेश अंग, सा० १४, अ०अ०वा०,गु० भजन ३१ ।

२. दे०, डा० सरनामसिंह कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त; पृ० ४६८ ।

स्मरण के रूपान्तर हैं। कहना न होगा कि बाह्य-उपकरणों एवं विधि-विधानों से युक्त-स्मरण हमारी मनोवृत्तियों को सांसारिक विषयों से विरक्त करके प्रिय की ओर केन्द्रित करने वाली एक शुद्ध मानसिक, सर्व-सुलभ एवं सरल साधना है। आलोच्य कवियों ने 'राम-नाम' को तारक-मन्त्र' कहा भी है :—

कबीर कहता जात हूँ सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा नहितर भला न होइ॥

क० ग्रं०, सुमिरण कौ अंग, सा० १।

'राम' तारक-मंत्र जे ते ज अखेगीतानो भाव॥ अखेगीता क० ४०।

कबीर ने इस 'राम-नाम' को ही अपना-धन, खेती-बारी, सेवा-पूजा, बंधु-बान्धव'[1] व्यापार (क० ग्रं०, पद २५४, १४८), अमूल्य हीरा (पद ३२१), मीठा-रस (पद ३१०) आदि तथा सर्वस्व कहा है। उनके अनुसार तीनों लोकों में व्याप्त यह (कस्तूरिया मृग कौ अंग, सा० ८) राम-नाम ही सार-रूप (पद ३८०) है। यही एक मात्र ऐसा साधन है कि जिससे साधक के लिए योग और भोग दोनों की प्राप्ति सम्भव है :—

एक जुगति एकै मिलै किवा जोग कि भोग।
इन दून्यूँ फल पाइये राम नाम सिधि जोग॥ क० ग्रं०, पद ५, पृ० ७०।

अतः लोकनिन्दा (कथणी बिना करणी कौ अंग, सा० १) एवं कुल आदि की मर्यादाओं को त्याग कर नि.शंक भाव से (पद ३१४) राम-नाम का स्मरण करना चाहिए।

अखा की रचनाओं में 'नाम-स्मरण' के महत्व का प्रतिपादन अधिक नहीं किया गया किन्तु इससे एतद्विषयक उनकी मान्यता में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं पाया जाता। दोनों कवियों ने अपने-अपने गुरु के इसकी प्राप्ति का उल्लेख किया है।[2] दोनों ही की मान्यता है कि नाम-स्मरण द्वारा 'नामी' अथवा उसके स्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है :—

मेरा मन सुमिरै राम कूँ मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या शीष नवावौं काहि॥ क०ग्रं०, सुमि० कौ अंग, सा० ८।
राम ही राम जपे सो राम हे नाम कहे नित्य सो श्यामसुन्दर॥ संतप्रियाः १०२।

दोनों ही ने इसे अन्य सभी साधनाओं से उत्तम माना है :—

---

१. दे०, क०ग्रं०, पद ३३३, वेसास कौ अंग, सा० ४।

२. गुरुदेव ग्यांनी भयौ लगनियाँ सुमिरन दीन्हो हीरा।
बड़ी निसरनी नांव राम का चढ़ि गयौ कीर कबीरा॥

क० ग्रं०, पद १०८, दे०, अंग १, साखी ४।

सद्‌गुरु मलीया सांसा टलीया निर्भय नाम बताया जी॥

अ०अ०वा०, गुज० भजन २७ और दे०, छ० ३२२।

कहै कबीर कछु आन न कीजै रांम-नाम जपि लाहा लीजै । क०ग्रं०, पद ३५५।

प्रथम गुरुनी पूजा करे पछे राम नाम हृदे मा धरे ।

बीजे उपासने बेसे गाल वलतां माथे आवे काल ।। छ० ७५० ।

अत' दोनों ही सन्तों ने मनसा-वाचा-कर्मणा हरि-स्मरण का समर्थन किया है ।[1]

**तन्मयासक्ति**

प्रभु की स्मृति, भजन एवं गुणगान आदि मे सुध-बुध भूलकर तन्मय हो जाना ही तन्मयासक्ति है। कबीर एवं अखा को रचनाओं में इस तन्मयता की व्यञ्जक उक्तियाँ मिलती है :—

नैना नीझर लाइया रहट वहै निस जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव-पिव करौ कब रु मिलहुगे राम ।[2]
गदगद् कंठ गाते थके रोमाचित होये गात्र ।
हर्ष आँसू हेत हृदे प्रेम केरू ते पात्र ।।[3]

आचार्य शुक्ल के अनुमार—'सामीप्य से अभिप्राय केवल किसी के साथ-साथ लगा रहना ही नही है। श्रवण, कीर्तन और स्मरणादि भी सामीप्य ही के विधान हैं। स्मरण द्वारा हम अपने आराध्य को—उसके कार्य-क्षेत्र को, अपने अन्तःकरण के सामने उपस्थित करते है ।'[4] अतः स्पष्ट है कि उक्त तन्मयासक्ति भक्त की वह अवस्था या दशा भी है कि जिसमे वह अपनी समस्त लौकिकता को विस्मृत कर अपने आराध्य के सामीप्य का अनुभव करता है।

अतः कहा जा सकता है कि यद्यपि इन संतों ने अपनी भक्ति को न तो कोई शास्त्रीय रूप देना चाहा है, न किसी बँधी हुई परम्परा के अनुसार उनका निरूपण किया है, फिर भी उनकी प्रेमा-भक्ति मे, नारद द्वारा स्वीकृत प्रायः सभी आसक्तियों का समावेश एक या दूसरे रूप मे हुआ देखा जाता है।

**भक्ति-प्राप्ति के उपाय या साधन**

शाडिल्य (भ०सू० ७) एवं अंगिरा ने (दैवीमीमांसा-रसपाद सूत्र ३१) भक्ति को ज्ञान व योग की तरह साधक के पुरुषार्थ से अप्राप्य कहकर, भगवद्कृपा से प्राप्य माना है। नारद ने (भ०सू० ३५-४०) विषय-त्याग, सत्संग, भगवद्गुण-श्रवण, भजन, कीर्तन आदि भक्ति-प्रासि के साधनो मे से महापुरुषों अथवा भगवान् की कृपा को महत्वपूर्ण कहा है।[5]

---

१. दे०, क०ग्र०, सुमिरण कौ अंग, सा० ४, पृ० ४ तथा सन्तप्रिया-क० १०।

२. क०ग्रं०, विरह कौ अग, सा० २४।

३. अखेगीता क० ११, द्र०, छ० ६९५।

४ चिन्तामणि, श्रद्धा भक्ति, पृ० २३-२४।

५. मुख्यतस्तु,गुरुकृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ।। ना०भ०सू० ३३।

किन्तु महापुरुषों की प्राप्ति भी भगवत्कृपा[1] से सम्भव मानी जाने के कारण भक्ति-प्राप्ति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन भगवत्कृपा ही सिद्ध होती है।

कबीर के अनुसार जप, तप, संयम, शौच, ध्यान एवं ज्ञान आदि के विविध साधनों मे से केवल उन्ही दो या तीन की साधना सफल होती है कि जिन पर गोविन्द (क०ग्र०, पद ३८५) की कृपा होती है। उदाहरण के रूप मे अखा की उक्ति है कि शुकदेव की कथा मे राजा परीक्षित् के अतिरिक्त अन्य श्रोता भी तो थे। किन्तु (प्रभु-कृपा के अभाव में) उन सबकी मुक्ति कहाँ हुई—(छ० ११३)? दोनों ही कवियों का दृढ़ विश्वास है कि जिसकी सहायता वह करता है उसी का कार्य सिद्ध होता है।[2] पुरुषार्थ भी तभी सफल होता है कि जब प्रभु की कृपा होती है।[3] इस प्रकार उन्होने साधना की सफलता, भक्ति की प्राप्ति एवं जीवन के अन्य व्यापारों मे भी पुरुषार्थ की अपेक्षा प्रभु-कृपा का अधिक महत्व स्वीकार किया है।

यह बताने की आवश्यकता नही कि गीता, भागवत आदि वैष्णव-भक्ति के समस्त साहित्य मे प्रभु की कृपा की प्राप्ति का एकमात्र उपाय प्रपत्ति या सर्वात्मभावेन शरणागति मानी गई है। यह हम अन्यत्र कह चुके है कि प्रपत्ति यद्यपि पूर्व-परम्परा से विद्यमान थी किन्तु उसका सर्वाधिक प्रचार रामानुज द्वारा किया गया और उनकी शिष्य-परम्परा के स्वामी रामानन्द के माध्यम से कबीरादि संतों की भक्ति मे वह स्वीकार्य हुई। अतः यहाँ आलोच्य कवियों की प्रपत्ति-भावना का संक्षिप्त निरूपण आवश्यक है।

**प्रपत्ति**

प्रेमी अथवा भक्त की एक हार्दिक इच्छा यह होती है कि जैसे परमात्मा उसे प्रिय या अच्छा लगता है वैसे ही वह भी उसे प्रिय या अच्छा लगे। इसके लिए एक तो यह आवश्यक है कि वह परमात्मा के अनुकूल (या उसे अच्छा लगने वाले) आचार-विचार को अपनाए। अर्थात् असत्य का मार्ग छोड़कर सत्य का मार्ग अपनाए—

> कूड़ी करनी राम न पावै, साँच चलै निज रूप दिखावै॥ क०ग्रं०, पद २०१।
> साचो मारग जे कोई लिये मिथ्या मारग मूकी दिये॥ छ० ६८३।

दूसरे यह कि सुख मे तो परमात्मा की भक्ति, एव ज्ञान-ध्यान आदि की वातें हर कोई करता है; किन्तु संकट आने पर उसे उस मार्ग मे च्युत होने मे देर नही लगती। इस प्रकार की सुविधानुसारी भक्ति या धर्माचरण से प्रिय के प्रसन्न होने की आशा नहीं की जा सकती। अतः परमात्मा का प्रिय पात्र बनने के लिए बड़े से बड़े सकट मे भी भक्ति-भाव या ईश्वरानुराग से विचलित न होने का दृढ़ संकल्प आवश्यक है। आलोच्य कवियों ने अपने इस संकल्प को व्यक्त किया है—

---

१. लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥ वही, सू० ४०।

२. दे०, क०ग्रं०, समर्थाई कौ अंग, सा० ९, छप्पा० ७०७ व ५८८।

३. दे०, वही, सा० १०, व पद ३८५ तथा छप्पा २०५, ११४, अखेगीता—क० ३३।

जेते तारे रैणि के ते ते वैरी मुज्झ।

धड सूली सिर कँगूरे तऊ न बिसारौं तुज्झ ॥ क० ग्रं०, सूरातन कौ अंग, सा० २९।

राम आवे तो जाओ रे सर्वे जे जन निश्चे राख्यो रै मरवे ॥अ०वा०, पद११७

परमात्मा के प्रति अनुकूल रहने से इस दृढ संकल्प से भक्त के मन में उसके प्रति जिस प्रेम का प्रादुर्भाव होता है वह प्रायः ऐकान्तिक प्रेम होता है। जिसके प्रभाव से भक्त का मन लौकिक विषयों से स्वतः ही विरक्त होने लगता है। अर्थात् परमात्मा एवं उसकी भक्ति के प्रतिकूल आचार-विचार एवं विषयादिक को वह त्यागने लगता है। आलोच्य कवियों ने ऐसे त्याग का समर्थन किया है—

बंदे तोहि बंदगी सौं काम हरि बिन जानि और हराम ॥ क०ग्रं०,पद २३४।

कबीर हरि की भगति करि तजि विषयारस चोज ॥

वही, चिन्तावणी कौ अंग, सा० २।

प्रपंच रीते न राचो भाई अेवी परापरनी छे सगाई ॥ छ० २०१।

स्पष्ट है कि प्रपत्ति-संबंधी उपर्युक्त दोनों बातों का लक्ष्य भक्त के मन में प्रभु के प्रति ऐकांतिकी प्रीति का प्रतिपादन करना है। क्योंकि, अपने विरोधियों एवं उदासीनों के प्रति हमारी शरणागति स्वाभाविक, या आत्मप्रेरित व संशयरहित नही हो सकती, इसलिए जिसकी शरण ग्रहण करनी हो उसका हमारा प्रिय और हितू होना आवश्यक है। अथवा यों कहिए कि प्रिय होने के साथ-साथ हमारे हितों की रक्षा कर सकने की सामर्थ्य का उसमे होना और हम मे इस दृढ विश्वास का होना,—कि उसकी शरणागति स्वीकार करने वालों मे से किसी को भी निराश नही होना पडा है,अतः वह हमारे 'योगक्षेम' की भी रक्षा करेगा ही,—भी आवश्यक है। आलोच्य कवियों की रचनाओं मे ईश्वर के संरक्षण मे उनके दृढ विश्वास की सूचक उक्तियाँ पाई जाती है—

कहै कबीर रांम भजि भाई दास अधमगति कबहूँ न जाई ॥क०ग्रं०,पद१४५।

उस सम्रथ का दास हौ कदे न होइ अकाज ॥ वही,वेसास कौ अंग,सा० १२।

दास थया ते दुखिया नथी वेद पुराणे जोयु कथी ॥छ० ७५१,दे०,छ० १७०।

ध्यातव्य यह है कि ईश्वर के संरक्षण मे मात्र विश्वास का होना भी पर्याप्त नही है। अपने गोप्ता या संरक्षक के रूप मे उसका 'वरण' या स्वीकार करना भी उतना ही आवश्यक है। आलोच्य कवियों ने भगवान् को अपना संरक्षक स्वीकार किया है—

त्राहि त्राहि हम कीन्ह पुकारा, राखि राखि साईं इहि बारा ॥[1]

क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १७८।

अब मोहि राम भरोसा तेरा और कौन का करौं निहोरा ॥ वही, पद११४।

---

१. दे०, क०ग्रं०, अबिहड़ कौ अंग, सा० ६३ एवं पद ८४।

रहीअे ईश्वर ने आशरे समरी लइये साइयाँ ॥ अ०वा, पद ९० ।

शीष स्वामीना उछरंग ऊपर घरी आपमाँ आप अरपी ने सूतो ॥

वही, पद ८६ ।

इस 'गोसृत्व वरण' का परिणाम ही 'आत्मनिक्षेप' या सर्वात्मभावेन आत्म-समर्पण है। कबीर एवं अखा—दोनों कवियों ने प्रभु के प्रति अपने आत्म-समर्पण का भी उल्लेख किया है—

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाई, तन मन धन मेरा राम जी कै तांई ॥

क०ग्रं०, पद ११३ ।

अहंकार तजीने आशे रह्यो, मन कर्म वचने तमारो थयो ॥ छ० ६९१ ।

इस 'आत्मनिक्षेप' के परिणाम-स्वरूप भक्त का 'अहंभाव' विगलित होता है, स्वयं के योग-क्षेम की चिन्ता से मुक्ति मिलती है, और सुख-दुःख दोनो को प्रभु का प्रसाद मानने से उनके प्रति समत्व बुद्धि की प्राप्ति होती है।

उल्लेख्य यह है कि इस 'आत्म-निक्षेप' के रूप मे शरणागति की विधि प्रायः पूर्ण हो जाती है। आगे आत्मनिवेदन एवं कार्पण्य का आधार ग्रहण किया जाता है। 'नारद-भक्तिसूत्र' (८२) मे इसे ही 'आत्मनिवेदनासक्ति' कहा गया है। आत्म-निवेदन द्वारा प्रेमी (भक्त) प्रिय की सामर्थ्य, उसके परोपकारी स्वभाव और स्वयं की दीन-हीन अवस्था का निरूपण कर उसके मन मे स्वयं के प्रति करुणा या दया-भाव उत्पन्न करना चाहता है। या यों कहिए कि—'दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अन्तस् की भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे-धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो जायगा।[1] आलोच्य कवियों ने अपनी भक्ति मे आत्मविवेदन को स्थान दिया है—

कहै कबीर सुनि केसवा तू सकल बियापी।

तुम्ह समान दाता नही हमसे नही पापी ॥[2] क०ग्रं०, पद १७८ ।

अवगुण म जोशो प्रभु महाराज तमारा बानानी तमने लाज ॥

तमे तमारानी प्रभु करो सार, अखा करूँ विनती तजी अहंकार ॥[3] छ० ६९०

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रभु-कृपा और उसके द्वारा भक्ति-भाव की प्राप्ति के लिए आलोच्य कवियों ने प्रपत्ति को अपनाया है। अहिर्बुध्न्य संहिता (२३।२७-२८) मे पर-मात्मा के—(१) अनुकूल या संकल्प, (२) प्रतिकूल का त्याग, (३) संरक्षण मे विश्वास, (४) गोसृत्व का वरण, (५) आत्मनिक्षेप और (६) कार्पण्य को प्रपत्ति के अंग कहा गया है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रपत्ति-विषयक आलोच्य कवियों की मान्यता इस

१. विस्तृत विवरण के लिए दृष्टव्य—आचार्य शुक्ल : चिन्तामणि, 'लोभ और प्रीति'।

२. दृष्टव्य, क०ग्रं०, पद ९६, १९१, १९२, ३८४, ३५८ एवं १४६ ।

३. दृष्टव्य, अ०वा०, पद ६० ।

अवधारणा के सानुरूप है। उल्लेख्य यह है कि कार्पण्य का जो विस्तार कबीर में देखा जाता है वह अखा मे नही है।

भक्ति प्राप्ति के लिए जिन अन्य साधनों को इन संतों ने अपनाया है उनमे से गुरु-कृपा, साधु-सेवा एवं सत्संग महत्वपूर्ण है। एतद्विषयक उनके विचारों का संक्षिप्त परिचय निम्नांकित है—

**गुरु-कृपा**

यह देखा जा चुका है कि आलोच्य संतों ने गुरु की प्राप्ति भी परमात्मा की कृपा से ही संभव मानी है, फिर भी परमात्मा एवं उसकी भक्ति की प्राप्ति गुरु की कृपा के बिना सम्भव नही मानी। गुरु-कृपा की प्राप्ति गुरु-सेवा से होती है, जिसका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। अतः यहाँ इतना निर्दिष्ट करना ही पर्याप्त होगा कि परमात्मा एवं उसकी भक्ति की प्राप्ति के लिए गुरु-कृपा को इन्होंने एक आवश्यक साधन माना है—

गुरु सेवा करि भगति कमाई जो तै मनिषा देही पाई ॥ क०ग्रं०, पद ३४८।
सतगुर गुरु बताइयाँ पूरिबला भरतार ॥ वही,पीव पिछांणन कौ अंग,सा० ३
खोजत पाइये नाही अखा सो गुरु लाया किरतार ॥अ०र०,क्रीपा अंग,सा० ८

**साधु सेवा**

गुरु की तरह साधु-संतों को भी आलोच्य कवियों ने परमात्मा का ही स्वरूप माना है—

साधू प्रतषि देव है नही पाथर सूं काम ॥ क०ग्रं०, साध कौ अंग, सा० ५।
परब्रह्म अरूप है हरिजन है स्वरूप ॥ अ०र०,संसे अंग, सा० ९, पृ० १८७।

और उनकी सेवा को परमात्मा की सेवा जितना ही महत्वपूर्ण माना है—

जिहि घर साध न पूजिये हरि की सेवा नांहि।
ते घर मडहट, सारषे भूत बसै तिन मांहि ॥
क०ग्रं०, साध महिमा कौ अंग, सा० ३।

संत सेव्या तेणे स्वामी सेव्या निर्गुण ब्रह्म सगुण संत जाणवा ॥
(अखेगीता, पद ८)।

लाभ अलाभ को अत आवे नहि भक्त भगवंत अखा सेवो प्रेमा ॥
अ०वा०, पद ६८।

तथ्य यह है कि जिस किसी के प्रति हमारे मन में श्रद्धा व प्रेम होता है उससे संबंधित वस्तु एवं व्यक्ति भी हमारे सम्मान एवं प्रेम के पात्र हो जाते है। उसके प्रति हमारे प्रेम का विस्तार इसी रूप मे होता है।[1] हरि के जनों की सेवा वस्तुतः हरि की ही सेवा है जो परिणाम मे हरि की प्रीति-प्रदायक है। अतः कबीर की दृष्टि मे हरि के दास (क०ग्रं०, पद २७) तीर्थो से भी बढकर है और उनकी तथा उनके दासों की भी सेवा

---

१. दे०, आचार्य शुक्ल : चिन्तामणि, 'लोभ और प्रीति' निबंध।

( वही, जीवन मृतक कौ अंग १३ ) सौभाग्यपूर्ण है, तो अखा के अनुसार साधु-सेवा के बिना ज्ञान व भक्ति की प्राप्ति (अ०वा०, पद १२६, १२८ एवं ६८) संभव नही है।

**सत्संग**

व्यक्ति जैसी संगति करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है, अथवा वह स्वयं वैसा ही बन जाता है।[1] सत्संग से न केवल भक्ति के सानुकूल वातावरण सर्जित होता है वरन् साधक की दुर्मति एवं संशय आदि भी दूर होते हैं। उसे आत्म-ज्ञान एवं प्रभु-भक्ति की प्राप्ति होती है। अतः उसे अपने समान-आदर्श वाले व्यक्तियों की संगति अविलम्ब ही करनी चाहिए——

> कबीर संगति साध की वेगि करीजै जाइ।
> दुरमति दूर गँवाइसी देसी सुमिति बताइ ॥ क०ग्रं०, साध कौ अंग, सा० २।
> सत्संग करतां बिलंब न कीजे जी, महाजन संगे कार्य सीजे जी ॥
> (अखेगीता ३४)।
> संत समागम संसे भागे जीवपणुं टली जाय।
> महासुख निर्मल निजरूप प्रगटे हरि हस्तामलक थाय ॥ अ० वा०, पद ५१।
> दृष्टव्य, पद १२६।

कबीर के मतानुसार सत्संग ही सच्चा वैकुण्ठ ( क० ग्रं०, पद २४ ) है और मथुरा, द्वारिका एवं जगन्नाथ आदि तीर्थों से बढ़कर (वही, साध कौ अंग, सा० ३) है। अखा के अनुसार भव-सागर को पार करने के लिए सत्संग ही दृढ नौका ( अ०वा०, पद १४७ ) है, और मुक्ति एवं भक्ति की प्राप्ति का एकमात्र सरल उपाय (अ०वा०, पद १२९,१४२ व सोरठा १९) है। सत्संग की महिमा वर्णनातीत (अखेगीता ३५) है।

इस प्रकार साधु-सेवा की तरह ही सत्संग भी भक्ति-प्रदायक है, किन्तु इस विषय मे अंध-श्रद्धा न पनपने पाये इसलिए दोनो कवियों ने इतना स्पष्ट भी कर दिया है कि उज्ज्वल वेषधारी सभी सच्चे साधु नही होते[2] और सभी व्यक्ति सच्चे मुमुक्षु भी नही होते। सत्संग तभी सार्थक होगा कि जब साधु गुणवान् और मुमुक्षु गुण-ग्राहक हो।[3] जडबुद्धि या 'अपारिप' मुमुक्षु के लिए सत्संग वैसा ही निरर्थक होगा जैसा कि पत्थर के लिए नदी का तट, आक, जवासा एवं सूखे ठूँठ के लिए वर्षा, मेढक के लिए कमल-दण्ड, (अ०वा०, पद १६), मछली के लिए गंगा व बगुलो के लिए मानसरोवर का वास आदि होते हैं। किन्तु सच्चे मुमुक्षु के लिए वह वैसा ही उपयोगी होगा जैसा कि नीम, आक,

---

१. दे०, क० ग्र०, संगति कौ अंग, सा० ७; साध कौ अंग, सा० ७ तथा अ० र०, विभ्रम अंग, सा० १।
२. दे०, वही, असाध कौ अंग,तथा अ०र०, आत्मज्ञान कौ अंग, सा० ६,७,पृ० १७४।
३. दे०, क०ग्रं०, पारिष कौ अग, सा० १,२ तथा सतप्रिया : ५६, व०अ०वा,पद १६।

पलास आदि के लिए चन्दन, नदी-नाले के लिए गंगा का प्रवाह एवं लोह के लिए पारस का स्पर्श आदि होते हैं।

नारद-भक्तिसूत्रों ( सूत्र सं० ३९ ) मे सत्संग को भक्ति-प्राप्ति का अमोघ साधन कहा गया है। भागवत ( ११।१८।१३ ) मे सत्संग सुख को वैकुण्ठ व मोक्ष के सुख से भी बढ़कर कहा गया है। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि भक्ति-प्राप्ति के साधन-विषयक आलोच्य कवियों की मान्यता परम्परानुसारी है।

**भक्ति के अंग**

आलोच्य कवियों की भक्ति-विषयक अवधारणा के आधार पर परमात्मा विषयक-प्रेम, मानसी-पूजा, स्मरण, गुणगान, निष्कामता, अनन्यता एवं सर्वात्मभाव को उनकी भक्ति के अग कहा जा सकता है। इनमें से प्रथम चार का निरूपण पूर्ववर्ती पृष्ठों में हो चुका है, अन्तिम तीन का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

**निष्कामता**

दुखो को दूर करने और सुखों को स्थायी बनाने की कामना भी भक्ति का एक प्रेरक बल है।[1] गीता ( ७।१६ ) मे स्वीकृत चार प्रकार के भक्तों में सकाम भक्त का समावेश है। किन्तु सकाम भक्ति से एक तो कामना का पूर्ति ही संभव है प्रभु की प्राप्ति नही, दूसरे कामना की पूर्ति होने पर भक्ति की समाप्ति भी संभव है, तीसरे कामना चाहे लौकिक सुखों की हो या पारलौकिक की वह सच्चे भक्ति-भाव की अवरोधक एवं बंधन-रूपा ही मानी गई हैं।[2] कबीर एवं अखा की भक्ति का प्रेरक न स्वर्ग का लालच है, न नरक का भय, उनका लक्ष्य एकमात्र प्रभु की प्राप्ति है—

दोजग तौ हम अंगिया पहु डर नाही मुझ।
भिस्त न मेरे चाहिए बाँझ पियारे तुझ॥

क०ग्रं०, पतिव्रता कौ अंग, सा० ७, पृ० १५।

राम भक्त साचा अखा बिन मादक ही मस्त।
दोज्यग से डरता नही चाहता नहीं सो भस्त॥

अ०र०, प्राप्ती अंग, सा० २०, पृ० २५९।

अतः उन्होंने सकाम भक्ति को निष्फल बताते हुए निष्काम भक्ति का समर्थन किया है—

जब लगि भगति सकामता तब लग निरफल सेव।

क०ग्रं०, पतिव्रता कौ अंग,

कहै कबीर ते रांम के जे सुमिरै निहकाम॥

वही, कामी नर कौ अंग, सा० ७।

---

१. दे०, क०ग्रं०, मधि कौ अंग, सा० ८ तथा छप्पा १०८।

२. दे०, क०ग्रं०, पद २४, एवं सूरत कौ अंग, सा० ४० तथा अ० वा०, पद ११३। अ०र०, नैरासी अंग, सा० ५।

सेहेजे नर थाये निष्काम तो नथी लेवा जावो राम ॥ छ० ९४ ।

निष्काम वहाला नाथने हेत तुनुं मन वस्यु ॥ अखेगीता ३५ ।

अतः कहा जा सकता है निष्कामता उनकी भक्ति का एक आवश्यक अंग है ।

**अनन्यता**

अन्य आश्रयों को त्याग, एक को ग्रहण करना ही अनन्यता है ।[1] कबीर एवं अखा अद्वैत के समर्थक है अतः अनेक का आश्रय ग्रहण करने की बात उनकी दृष्टि मे न केवल त्याज्य है वरन् निन्दनीय भी है—

आश्रय अनेक करसि रे जियरा राम विना कोई न करै प्रतिपाल ॥

(क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १७३)

भाई ! तारे जोवो होये एक राम तो बीजा जाण्ये नही पाये ठाम ॥

अ०अ०वा०, गुज० भजन १६ ।

राम पियारा छांडि करि करै आन का जाप ।

वेस्वाँ केरा पूत ज्यूं कहै कौन सूं वाप ॥ क०ग्रं०, सुमिरण कौ अंग, सा० २२

एक राम का ही आश्रय ग्रहण करना न केवल सैद्धांतिक दृष्टि से ही मान्य है वरन् सुखी होने का एकमात्र उपाय भी यही है—

जे मन लागै एक सूं तौ निबाल्या जाइ ।

तूरा दुह मुखि वाजणां न्याइ तमाचे खाइ॥क०ग्रं०,पतिव्रता कौ अंग,सा० १२।

जिनि दिल बँधी एक सूं ते सुख सोवै नचीत । वही, वही, सा० १८ ।

अेक कुं गाय और नहि वाचे समज ले सान सद्‌गुरु केरी ॥ अ०वा, पद ९४।

अपने अनन्य भाव की व्यंजना के लिए दोनों कवियों ने सागर व मछली के संबंधों से तुलना की है ।[2] अर्थात् जैसे जल मछली का एकमात्र आश्रय है वैसे ही राम उनका एकमात्र आश्रय है ।

**सर्वात्मभाव**

स्वयं से अभिन्न सर्वभूतान्तर्यामी आत्म-तत्व का अनुभव करना ही सर्वात्म भाव है ।[3] 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की इस अनुभूति से युक्त भक्त को भागवत ( ११।२।४५ ) मे 'भागवत्तोत्तम' कहा गया है । इस भाव के प्राप्त होने पर साधक रागद्वेष, मानापमान, स्तुति-निन्दा, एवं ऊँच-नीच आदि संबंधी सभी प्रकार के द्वैत-भावो से मुक्त, निर्वैर एवं

---

१. अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता ॥ ना०भ०सू०, १० ।

२. दे०, क० ग्रं०, पद १२० एवं अ० र० झू० ४० तथा अथ विश्वरूप अंग, सा० २, पृ० ३५६ ।

३. दे०, ईशोपनिषद् मंत्र ६, श्वेता०उप० ६।११।१३ एवं गीता ६।३० व ५।१८ ।

समत्वबुद्धि से युक्त हो जाता है।[1] प्रत्येक रूप मे आराध्य की स्थिति का अनुभव होने से प्रत्येक आत्मा उसे वंदनीय प्रतीत होतो है—

जेती औरत मरदा कहिये सब मैं रूप तुम्हारा ॥ क०ग्रं०, पद २५९।
जेती देखौ आतमा तेता सालिगराम ॥ क०ग्रं०,भ्रम विधो० कौ अंग, सा० ५
ज्याँ जेवो त्याँ तेवो नारायण नर-नार ॥ अखेगीता—क० ११।

कहना न होगा कि सर्वात्म-भाव प्राप्त होने पर, अथवा साधक के स्वार्थ व परमार्थ या अहं व इदं मे अभेद की स्थापना होने पर, निष्काम भक्ति जितनी सरल, सार्थक और संभव हो सकती हैं अन्यथा नही। सर्व-भूत-हितेच्छा, जीव-दया, अहिंसा, एवं परोपकार आदि सद्गुणों का मूल-स्रोत होने के कारण सर्वात्मभाव का सामाजिक महत्व भी है, जिसका उल्लेख यथा-स्थान आगे किया जायगा।

**भक्ति के अंतराय**

परमात्मा के प्रति हमारी श्रद्धा एवं प्रेम के बाधक सभी आचार-विचार एवं विषय-वस्तु भक्ति के अंतराय कहे जा सकते है। अतः इनकी कोई निश्चित संख्या नही हो सकती,फिर भी आलोच्य कवियों की एतद्विपयक धारणाओ के आधार पर संशय,कुसंगति, विषयासक्ति एवं पंचमनोविकार आदि को भक्ति के मुख्य अंतराय कहा जा सकता हैं।

पूर्ववर्ती विवरण से स्पष्ट है कि ईश्वर के अस्तित्व एवं उसकी भक्त-वत्सलता मे हमारी अविचल श्रद्धा का होना, उसके प्रति हमारे भक्तिभाव का मूलाधार है। कहना न होगा कि 'संशय' हमारी इस श्रद्धा या निष्ठा का बाधक होता है। अतः जिस 'घट' मे संशय भरा हुआ हो वहाँ न भगवान् के लिए स्थान रहता है,न उसकी भक्ति के लिए—

जिहि घट मै ससै बसै तिहि घटि राम न होइ ॥
क०ग्रं०, साधसापी-भूत कौ अंग, सा० १४।
संसै का संसार है नीरसंसै का पीउ ॥ अ०र० संसै अग, सा० ६।

चतुराई, कुतर्क एवं वाद-विवाद भी परमात्मा-विपयक हमारी उक्त श्रद्धा के बाधक होने से संशय के ही सहायक होते है। अतः इन कवियो ने भक्ति-विरोधी चतुराई[2], अश्रद्धा के पोषक तर्क या कुतर्क[3], और वाद-विवाद[4] सभी को भक्ति के अतराय और साधक की अधोगति के कारण माना है। गीता (४।४०) मे भी संशयात्मा के विनष्ट हो

---

१. दे०, क०ग्रं०, पद १५, छप्पा ३२१, २२० तथा अखेगीता ११।

२. कहै कबीर एक राम भगति बिन बूडे बहुत सयाँना ॥ क०ग्रं०, पद ३११।
+ + विचक्षण पड्यो चतुराईनी खाड्य ॥ छप्पा ३९७।

३. अंधे कूपक दिया बताई तरकि पड़ै पुनि हरि न पत्याई ॥
जाइ परी हमारी का करिहै, आप करै आपै दुख भरिहै ॥ क०ग्रं०,पद १४३।
अेक मेलो मंत्र ने बीजो कुतर्क अे साधक ने मुख मूके नर्क ॥ छ० २२७।

४. ते सब तिरे राम रस स्वादी, कहै कबीर बूडै बकवादी ॥ क०ग्रं०, पद ३७५।
वाद कर्या ऊपर वहु हाम, लक्ष विना विद्यानी माम ॥
क्लेश करतां कापे काल, अखे वितंडनी काढी भाल ॥ छ० ४९५, द्र०, छ० ३११।

जाने का उल्लेख किया गया है। नारद भक्तिसूत्र (७४) में वाद-विवाद को सर्वथा त्याज्य कहा गया है। कबीर एवं अखा ने भी संशय के पोषक वितंडावाद के त्याग का समर्थन किया है—

मन रे अहरषि वाद न कीजै। अपना सुकृत भरि भरि लीजै॥

क०ग्रं०, पद १०५।

+ + +

निरपष होइ हरि भजै सो साध सयानां॥ वही, पद १८१।

नहि पक्षपात ते हरि ते हमारो + +॥ अ०वा०, पद ११६।

बाद विवाद न कीजिये आदरमां रहियें॥ अ०वा०, पद ४२।

कुसंगति भी भक्ति की बाधक है। नारद (भ०सू० ४३) ने दु सग को सर्वथा त्याज्य कहा है। कबीर एवं अखा ने 'हरि विमुखन' या भक्ति-भाव से शून्य लोगो की संगति को भयंकर एवं त्याज्य कहा है—

जे नर भये भगति थैं न्यारे तिनथै सदा डराते रहिये।
आपण बूडै और कौ बोडै अगनि लगाइ मंदिर मैं सोवै॥ क०ग्रं०,पद १४४।
कुबुधी संगी नही भला सु प्रीत्यम कु करे ज्यान।
रोचक बोध बोधे अखा वीमुख करे भगवान्॥

अ०र०, वीटड अंग, सा० ५।

काम-क्रोधादिक पंच मनोविकारों को आलोच्य कवियो ने भक्ति के प्रबल शत्रु माना है—

माधव मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति होत नही साधी।
काम क्रोध माया मद मंछर ए सतति हम माही॥ क०ग्रं०, पद १९१।
काम क्रोध मच्छर मोह माय तु मरते ते तरत मरी जाय॥

चि० वि० सं० २८७।

दोनों कवियों ने इन्हे पंच कुसंगी[1], पंच चोर (क० ग्रं०, पद ३०८) एवं ठग (चि० वि०सं० २८६) आदि कहा है और इन्हें त्याज्य माना है—

काम क्रोध मोह मद मछर पर अपवाद न सुणिये।
कहै कबीर साध की संगति राम नाम गुण भणिये॥ क० ग्रं०, पद २५३।

उल्लेख्य यह है कि परम्परागत मान्यता—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर-षट्‌विकारों की है; किन्तु इन कवियो ने कही लोभ को छोड़कर उन्हे पाँच ही रक्खा है तो कही मद की जगह माया को जोड़ दिया है। कबीर ने उपर्युक्त (पद २५८) उक्ति मे 'पर अपवाद' को साथ रख दिया है तो अखा ने एक उक्ति (दे०, चि०वि०सं० २९६) मे 'ममता' एवं 'असूया' को। अतः इस विषय मे उन्होने कुछ मौलिकता का परिचय दिया

---

१. द्र०, क०ग्रं०, मन कौ अंग, सा० २१।

है। किन्तु अन्यत्र लोभ का स्वतंत्र रूप से उल्लेख व विरोध करने से[1] परम्परा का अनुमोदन हो जाता है। फिर भी इनके अन्तर्गत माया की स्वीकृति कुछ विशिष्टता अवश्य रखती है।

कबीर ने काम को मानव मात्र का सबसे भयंकर शत्रु (पद ३०९) माना है। इंद्रियों का वशवर्ती-कामी नर—'न केवल भक्ति से विमुख रहता है वरन् अपने अमूल्य जीवन को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है।[2] अखा ने काम-निन्दा स्वतत्र रूप से नही की है, किन्तु काम-वासना के आलंबन-नारी-की निन्दा उन्होंने कबीर के समान ही की है—

> नारि नसावै तीनि सुख जा नर पासैं होइ।
> भगति मुकति जिनि ज्ञान मै पैसि न सकई कोइ॥ क० ग्रं०, कामी नर कौ अंग, सा० १०।
>
> अविद्यानुं मूल ते तन त्रियातनु जेना गुण प्रपंचनो पार ना वे।
> अेनी संगते विद्या सहु विसरे शुद्ध विचार चित्तमां न आवे॥अ०वा०,पद ५७

नारी के साथ ही धन या कचन को निन्दा भी आलोच्य दोनों कवियों ने की है।[3] धन की निन्दा को लोभ के अन्तर्गत माना जा सकता है। डा० मदनगोपाल गुप्त[4] ने संतो द्वारा की गई कंचन-कामिनी की निन्दा के मूल में तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिवेश के प्रति उनके सुधारात्मक दृष्टिकोण को तो डा० सरनाम सिंह[5] ने वाममार्गी शाक्तों की उस साधना को माना है जिसमे नारी को साधना का एक अग वनाकर व्यभिचार को प्रश्रय दिया जा रहा था।

लेखक को दोनों ही मत ग्राह्य हैं। डा० गुप्त ने 'कंचन-कामिनी' की इस निन्दा से जिस सामाजिक महत्व का प्रतिपादन किया है उसका उल्लेख यथा-स्थान आगे किया जायगा।

निष्काम-भक्ति मे कामना एक अतराय होतो है। इसका संक्षिप्त विवरण पीछे दिया जा चुका है, अत यहाँ इतना उल्लेख पर्याप्त होगा कि अखा ने सकाम-भक्ति को द्वैत-मूला, अपूर्ण एवं व्यापार-वुद्धि की पोपक कहा है। कुछ लोग ऊपर से राम-नाम जपते

---

१. कबीर अपने जीवतें ए दोइ बातै धोइ।
लोभ वडाई कारणै अछता मूल न खोइ॥ क०ग्रं०, चिता कौ अंग, सा० ४१।
लोभे लोक वडाई तणे ज्यम ऊदर काजे डूंगर खणे॥ छ० ८७।

२. दे०, क०ग्र०, कामी नर कौ अग, सा० १८, १९।

३. दे०, वही, कामी नर कौ अग, ( संपूर्ण ) तया छप्पा ९३, अ०र०, आसा कौ अग, सा० ७।

४. दे०, भारतीय साहित्य और संस्कृति, पृ० ९६-१०८।

५. कबीर : व्यक्तित्व कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० ४५२।

६. दे०, अ०र०, नैरासी अंग, सा० ५ व १३ तथा छप्पा २०६।

हैं, माला फेरते हैं किन्तु अन्तस्तल मे कंचन-कामिनी, अथवा ऋद्धि-सिद्धि की कामना करते है।[1] इन कवियों ने ऐसी 'कपट-भक्ति' को निन्दनीय एवं त्याज्य माना है—

कपट की भगति करै जिन कोई अंत की बेर बहुत दुख होई।

क०ग्रं०, पद २३३।

कपटी भक्त स्वांगी अखा बाना वधिक का जाल।

जक्त धिजावन पेहेनीआ तातै दूर दयाल।। अ० र०, कपटी की अंग, सा० २, पृ० ३१५।

सर्वात्मभाव का विरोधी होने से अहंकार भी भक्ति का एक प्रवल अंतराय होता है। अहं-भाव हमे स्वार्थी संकुचित एवं दंभी बनाता है। स्तुति-निन्दा, मान-अपमान, आपा-पर आदि के सभी द्वैत-भाव इसी से उत्पन्न होते हैं। जो दु.खद होने के साथ-साथ भक्ति में बाधक भी होते हैं। अतः कबीर एवं अखा ने इन सभी को त्याज्य माना है।[2] अहंकार-जन्य 'मैं-मेरा' व 'तू-तेरा' का द्वैत एवं एतज्जन्य राग-द्वेष ही माया है। माया और मान, भक्ति के सर्वाधिक प्रवल शत्रु हैं। सामान्य जनों की कौन कहे, वड़े-वडे ज्ञानी-ध्यानी, पीर-पैगम्बर, योगी, मुनिवर, छत्रपति राजा आदि भी इनकी चपेट में आ जाते हैं।[3]

रूप, रस, गंध आदि विषयों की आसक्ति भी भक्ति की बाधक होती है क्योंकि विषयासक्त का मन प्रभु के प्रति अनुरक्त नही हो सकता—

जदि विषै पियारी प्रीति सूं तब अंतरि हरि नांहि।

जब अन्तर हरि जी बसै तब विषया सूं चित नांहि।।

क०ग्रं०, साध साषी-भूत कौ अंग, सा० १३।

विषयी पामर ने अे सुख नव जामे।। अ०वा०, पद १२३।

विषय मन ते आ संसार अखे विषे काढ्यो पार।। छ० ३२५।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि शील-संतोष से युक्त, निरभिमानी, काम-क्रोध, तृष्णा एवं लोभ-मोहादिक से मुक्त, प्रसन्न चित्त, परनिन्दा का त्यागी, सम-दृष्टि, शीतल-स्वभाव; निष्काम एवं निर्द्वन्द्व आदि गुणों वाला व्यक्ति ही आलोच्य कवियो की दृष्टि में सच्चा भक्त हो सकता है।[4] उनके द्वारा स्वीकृत आदर्श भक्त के ये सभी गुण गीता

---

१. दे०, क०ग्रं०, भेप कौ अंग, सा० १-५, अ०र०, आसा कौ अंग, सा० १९, चालक अग, सा० ६-७, छ० ७५५।

२. दे०, क० ग्रं०, पद १८४, ३००, अ० र०, विवेक अंग, सा० १८, दुनियाँ अज्ञान अंग, सा० ९, अ०वा०, पद १।

३. दे०, वही, पद १८७, १९१, ३०९, संतप्रिया, क० ९८, अ०वा०, पद ५८।

४. दे०, क०ग्रं०, पद १३७, ३६३, ३७२, अ०र०, असंत अंग, सा० २, लालन अंग (पूरा) अ०वा०, पद ८, तथा अ०अ०वा०, गुज० भजन ३५।

(१२।१३-१४) में दिये गये ज्ञानी भक्त के लक्षणों से मिलते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सतत योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

अत कहा जा सकता है कि उनकी भक्ति निर्गुण परमात्मा के प्रति निष्काम-भाव से की गई प्रेमा-भक्ति है, और वे ज्ञानी-भक्त हैं।

### भक्ति का श्रेष्ठत्व

'कबीर एवं अखा द्वारा प्रतिपादित भक्ति के महत्व का उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों मे किया जा चुका है। और यह भी देखा जा चुका है कि उनकी भक्ति मे सगुण की वस्तु-पूजा के स्थान पर निर्गुण की मानसी-पूजा स्वीकार की गई है। अत वैधी की षोडशोपचार-युक्त पूजा का बाह्य विधि-विधान यहाँ अस्वीकार्य है।'[1] दूसरे जाति,जन्म, लिंग, शिक्षा-दीक्षा एवं बल-वैभव आदि के आधार पर भक्ति में किसी का विशेषाधिकार भी स्वीकृत नही है। उनका भगवान् उसी का है जो उसकी भक्ति (क०ग्रं०, पद ४९, छप्पा ७१७, अ०र०झू० ५७) करता है। अतः 'हरि-भजन' के प्रताप से नीच से नीच व्यक्ति भी ऊँचे से ऊँचे पद (क०ग्रं०, पद ३०१, ३२०, एवं छप्पा ११९, संतप्रिया २१) को प्राप्त कर सकता है। तीसरे ज्ञान एवं योगादिक साधनाओं में चिन्तन, मनन, यम-नियम, आसन, प्राणायाम आदि क्रियाओं का जो कष्टसाध्य सतत अभ्यास अपेक्षित हैं वह भक्ति मे नही। क्योकि भक्ति प्रभु-कृपा से अन-आयास के ही प्राप्त हो जाती है—

बहुत दिनन थै मै प्रीतम पाये, भाग वडे घर वैठे आये।
कहै कबीर मै कछू न कीन्हा सखी सुहाग राम मोहि दीन्हा॥ क०ग्रं०,पद २
आनन्द अद्भुत आया अव मोहि आनन्द अद्भुत आया।
कीया कराया कछु बी नांही सेजे पीयाजी कु पाया॥
देश न छोड्या वेश न छोड्या नही छोड्या संसारा।
सूता नर निद्रा से जागा मिट गया स्वप्ना सारा॥अ०वा०,पद १२०

इस प्रकार भक्ति साधना न केवल योग और भोग (क०ग्रं०, पद ५) अथवा मुक्ति और भुक्ति दोनो को प्राप्त करानेवाली है, वरन् ज्ञान व योग के जप, तप, ध्यान और

---

१. विधि नखेद पूजा आचार सब दरिया मै वार न पाइ।
दास कवीर रह्या त्यौ लाइ भर्म कर्म सब दिये वहाइ॥ क०ग्रं०, पद २५२।
कोई तीरथ करै कोई व्रत आचरे कोइक अेकान्त रही काया शोधे।
कोइक पूजन करे कोईक मौन धरे, मारो जन ते मुझने आराधे॥
अ०वा०, पद ६३, द्र०, छ० ६०३।

कर्मकाण्ड के याज्ञिक कर्म व दान आदि भी तभी सफल होते है कि जब उनके साथ भक्ति-भाव का भी योग हो—

झूठा जप तप झूठा ज्ञान राम नाम बिन झूठा ध्यान ॥ क०ग्रं०, पद २५२।
का जोग जगि तप दानां जो तै राम नाम नही जाना ॥ वही, पद २६५।
भक्ति भक्त कूं तो फले जोग ध्यान तो आय।
जान अखा तब ऊपजे जो विरहा होय सहाय ॥ अ०र० विरही अंग,सा० १४

अतः ज्ञान, योग, कर्म एवं सगुण भक्ति आदि से निर्गुण की निष्काम भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध है। गीता (११।५३-५४),श्रीमद्भागवत (११।१४।२०-२१ एव ११।२०।३२-३५) तथा नारद भक्ति सूत्र (२५-२६, व २८) मे भी भक्ति को ज्ञान, योग एवं कर्म आदि से श्रेष्ठ, सरल एवं सुलभ साधना कहा गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ज्ञान, योग व कर्म आदि निरर्थक व त्याज्य है। आलोच्य कवियों ने न केवल उनका महत्व स्वीकार किया है वरन् उन्हे भक्ति के सानुकूल रूप मे अपनाया भी है।

अखा ने ज्ञान द्वारा अर्थात् नित्यानित्य विवेक द्वारा—सासारिक प्रलोभनों से विरक्त व प्रभु के प्रति आसक्ति सपादित करके; योग द्वारा चंचल मन को वश मे करके न अहं-भाव को दूर करके प्रभु से लौ लगाने,तथा भक्ति द्वारा ध्येय-ध्याता के रूप मे भजन करके बनवारी की प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] और इन तीनों मार्गों को अज्ञानियों की दृष्टि मे पृथक् किन्तु अनुभवियों की दृष्टि मे एक ही होने का ( छ० ५५३-५६ ) विधान किया है। अन्यत्र (अखेगीता क० १०) उन्होने ज्ञान व वैराग्य (अथवा योग) को भक्ति-रूपिणी पक्षी के दो 'पंख' कहा है। कबीर ने भी ( दे०, क०ग्रं०, पद २९ ) ज्ञान, योग एवं बैराग्य को भक्ति का सहायक माना है। इन सभी संदर्भों से सिद्ध है कि भक्ति उनकी अगी या मुख्य साधना है और ज्ञान व योग उसके अंग है।

आलोच्य कवियों के 'साधना-मार्ग'—सम्बन्धी इस विवेचन का मूल्याकन करने पर निम्नाकित तथ्य प्रकाश मे आते है—

(१) कि अपनी साधना में ज्ञान का उपयोग उन्होने मुख्यत. परम-सत्ता के अस्तित्व, स्थिति एवं स्वरूपादि का निर्भ्रान्त ज्ञान ( या परिचय ) प्राप्त करने और नित्यानित्य-विवेक द्वारा अनित्य के प्रति विरक्ति तथा नित्य के प्रति अनुरक्ति को दृढ़ करने के लिए किया है। ज्ञान-साधना के संन्यास का समर्थन उन्होंने नही किया।

(२) योग का उपयोग उन्होंने मुख्यतः चंचल एवं बहिर्गामी इन्द्रियो व मन को स्थिर या स्ववश करने तथा उन्हे अन्तर्मुखी बनाकर हृदयस्थ परमात्मा के साक्षात्कार के लिए किया है। योग की जड-समाधियों को अपनी साधना का लक्ष्य उन्होंने नही बनाया।

---

१. दे०, कुंडलियाँ २५, तथा छप्पा १४१।

(३) सगुण भक्ति से प्रपत्ति या आत्मनिवेदन को और प्रभु की भक्तवत्सलता सिद्ध करने वाले पौराणिक उदाहरणों को स्वीकार किया है; किन्तु उसके अवतार-सिद्धान्त एवं उसके बाह्याचारों को अस्वीकार किया है।

सगुण भक्ति की वस्तु-पूजा के कर्म-काण्ड को अस्वीकार किया है, किन्तु चित्त-वृत्तियों को ईश्वरोन्मुखी बनाने में षोडशोपचारों के महत्व को स्वीकार करके उन्हें मानसी रूप देने का प्रयत्न किया है।

(४) समकालीन प्रायः सभी साधनाओं से आराध्य के नाम ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिये हैं किन्तु उनसे संबंधित किसी भी रूप को अंतिम रूप से नहीं अपनाया।

निष्कर्ष यह है आलोच्य कवियों ने, विशेषकर कबीर ने, अपनी समकालीन विभिन्न साधनाओं के अनुपयोगी, असंगत एवं परस्पर विरोधी आचार-विचारों का बहिष्कार, किन्तु उपयोगी तत्वों का संग्रह, करके अपनी साधना को लोकोपयोगी तथा सर्वग्राह्य समन्वित रूप देने का सफल प्रयत्न किया है।

## तुलनात्मक निष्कर्ष

(१) यद्यपि आलोच्य दोनों कवियों ने मुख्य साधना के रूप में भक्ति को और उसके सहायक साधन या अंग के रूप में ज्ञान व योग को अपनाया है; किन्तु कबीर का जितना झुकाव भक्ति और योग की ओर है उतना ज्ञान की ओर नहीं और अखा का जितना झुकाव आत्म-चिन्तन व भक्ति की ओर है उतना योग की ओर नहीं।

(२) आराध्य के स्वरूप, गुरु के महत्व एवं अनुष्ठेय-कर्मों के विरोध आदि के विषय में उनकी मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं है।

(३) दोनों ही सर्वभूतान्तर्यामी निर्गुण निराकार के उपासक और उपनिषद् व शंकराद्वैत से प्रभावित हैं, किन्तु भक्ति के आवेश में कबीर द्वैत-अद्वैत एवं सगुण-निर्गुण के विषय में इतने चुस्त नहीं हैं जितने अखा हैं। परिणामस्वरूप जहाँ कबीर की रचनाओं में दीनता एवं आत्म-निवेदन विषयक उक्तियों की भरमार है वहाँ अखा की रचनाओं में ऐसी उक्तियाँ उदाहरण प्रस्तुत कर सकने की मात्रा तक ही सीमित हैं। दूसरे, कबीर की भक्ति-परक उक्तियाँ जितनी भावुकतापूर्ण एवं प्रभविष्णु हैं उतनी अखा की नहीं। कबीर भक्त पहले हैं ज्ञानी बाद में, अखा ज्ञानी पहले हैं भक्त बाद में।

(४) कबीर की भक्ति-परक उक्तियों में अनुभूति एवं विनय मुख्य है तो अखा की भक्ति-विषयक उक्तियों में सैद्धान्तिक निरूपण तथा खण्डन-मण्डन।

(५) वत्स एवं सख्य-भाव दोनों की भक्ति में गौण या नहीवत् हैं, तो दास्य भाव को जो महत्व कबीर ने दिया है वह अखा ने नहीं। शायद इसलिए कि सेवक

व सेव्य या अणु व विभु का द्वैत एवं अन्तर उनको 'एकमेवाद्वितीयम्' के विचार मे कुछ असंगत या प्रतिकूल से जँचते है। किन्तु दाम्पत्य-भाव को दोनों ने समान रूप से अपनाया है।

(६) दोनों की भक्ति-साधना मे स्वीकृत माधुर्य-भाव का विचारपक्ष सर्वथा भारतीय परम्परा के अनुकूल है किन्तु उसके अभिव्यक्ति पक्ष पर सूफियों का कुछ प्रभाव है। माधुर्य भाव मे संयोग व वियोग पक्षों का वर्णन दोनों ने किया है, कबीर का वियोग वर्णन जितना विस्तृत, समृद्ध, वैविध्यपूर्ण एवं अनुभूति-परक है अखा का नही, उन्होंने अधिकतर तो विरह के महत्व एवं आदर्श रूप का प्रतिपादन ही किया है। जो थोडा-बहुत विरह-वर्णन उन्होंने किया है वह भी तटस्थ रहकर किया है, जबकि कबीर ने आत्म-कथन-शैली अपनाकर उसे अधिक स्वाभाविक एवं प्रभावशाली वना दिया है।

संयोग वर्णन दोनों ने आत्म-कथन शैली मे किया है, किन्तु इसका जो विस्तार एवं भाव-वैविध्य अखा की रचनाओं मे उपलब्ध होता है वह कबीर की रचनाओं मे नही।

(७) सामान्यः भक्ति-निरूपण मे मर्यादाओं का पालन दोनों ने किया है। प्रेमा-भक्ति के क्षेत्र मे लोक की उपेक्षा भी दोनों को स्वीकृत है; किन्तु सयोग-वर्णन में अखा ने अपेक्षाकृत अधिक छूट ली है।

(८) योग-साधना का जो विशद निरूपण कबीर ने किया गया है, वह अखा ने नही। अखा ने जहाँ-तहाँ एतद्विषयक अनुभूतियों का ही उल्लेख किया है। इस प्रकार दोनों की साधना-पद्धति मे कोई मूलभूत पार्थक्य न होने पर भी कबीर जहाँ गोरखनाथ की ओर ढले हुए है; वहाँ अखा आचार्य शंकर की ओर। प्रथम की वाणी मे एक साधक का स्वर मुखर है तो द्वितीय की वाणी मे विचारक का।

षष्ठ अध्याय

# संत-मत से भिन्न धर्म, मत एवं साधनाओं के प्रति दृष्टिकोण

यह हम अन्यत्र देख चुके हैं कि कबीर और अखा पर पड़े सम-सामयिक-वातावरण के प्रभाव के मुख्य दो पक्ष हैं—(१) क्रियात्मक और (२) प्रतिक्रियात्मक। प्रथम उनके द्वारा वातावरण से ग्रहण किये प्रत्यक्ष प्रभाव का द्योतक है, तो द्वितीय उनके द्वारा वातावरण को प्रभावित करने के सुधारात्मक या आलोचनात्मक प्रयत्न का। प्रथम की अभिव्यक्ति उनके द्वारा विविध धर्म, मत व साधनाओं से सार ग्रहण करके अपने मत को एक सर्व-सुलभ व सर्वमान्य रूप देने में, तो द्वितीय की विविध धर्म, मत व साधनाओं की विकृतियो, रूढियों एवं अंधविश्वासों के सुधारात्मक दृष्टि से किये गये तर्कपूर्ण खण्डन तथा यत्र-तत्र कटु-आलोचना के रूप में हुई है। प्रथम के परिणामस्वरूप उनकी दार्शनिक विचारधारा और साधना ने जो रूप ग्रहण किया है उसका अध्ययन पूर्ववर्ती अध्यायों में किया जा चुका है। अतः यहाँ द्वितीय के अनुशीलन द्वारा धार्मिक विश्वासों से संबंधित उनके विचारों से अवगत होना अभिप्रेत है।

संत-मत से भिन्न धर्म मत एवं साधनाओं के प्रति इन कवियों की प्रतिक्रिया को मोटे-तौर से दो भागों में प्रस्तुत किया जा सकता है : (१) सामान्य और (२) विशिष्ट।

### (१) सामान्य

सामान्य-प्रतिक्रिया से हमारा अभिप्राय इन कवियों की ऐसी उक्तियों से है जिनमें उन्होंने किसी विशिष्ट धार्मिक संप्रदाय को लक्ष्य न करके इस क्षेत्र में प्रवर्तित वैविध्य की सामूहिक रूप से आलोचना की है।* अब क्योंकि यह वैविध्य धर्म के किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित न था इसलिए इसके अन्तर्गत दार्शनिक मतमतान्तरों के साथ साधना, आराध्यदेव, कर्म एवं वेश से संबंधित वैविध्य को भी लिया जा सकता है।

#### (क) दार्शनिक मत-मतान्तर

दार्शनिक मत-वादों के रूप में कबीर एवं अखा की रचनाओं में छह दर्शन एवं छयानवें पाखण्डों का उल्लेख हुआ है।[1] परम्परा से पूर्वमीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं वेदान्त—ये छह दर्शन और वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार व माध्यमिक-चार

---

* अध्ययनगत सुविधा की दृष्टि से अखा द्वारा की गई षट्दर्शनों की विशिष्ट आलोचना का समावेश भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत कर लिया गया है।

१. दे०, क०ग्रं०, पद ३४ एवं अखेगीता २९।

बौद्ध दर्शन तथा जैन व चार्वाक—ये छह उपदर्शन माने गये है।[1] परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर द्वारा प्रयुक्त 'छह दरसन' शब्द का अभिप्राय परम्परामान्य षड्दर्शनों से नही माना है। दरसन' शब्द को 'भेष' या संप्रदाय का द्योतक मानकर उन्होंने 'छह दरसन' से कबीर का अभिप्राय जोगी (नाथ-पंथ), जगम (वीर शैव संप्रदाय), शेवड़ा (जैन-धर्म), संन्यासी (बौद्ध धर्म), दरवेश (सूफी व इस्लाम) तथा ब्राह्मण ( हिन्दू धर्म ) ग्रहण करने का प्रस्ताव किया है। अपनी इस मान्यता के समर्थन मे दादू[2] ( सं० १६०१-१६६० वि० ) और कबीर-पंथी रामरहदास[3] ( स० १७८२-१८६६ वि० ) की दो साखियाँ उद्धृत करके उन्होंने कबीर की निम्नाकित उक्तियो मे प्रयुक्त 'पट् दरसन' से उपर्युक्त छह संप्रदायो का भी अर्थ ग्रहण करने का औचित्य सिद्ध किया है—

षट दरसन ससै पड्या अरु चौरासी सिद्ध ॥ क०ग्रं०, मधि कौ अंग,सा० ११

अरु भूले पटदरसन भाई, पाखण्ड भेप रहे लपटाई।
जैन बोध अरु साकत सैंना चारिवाक चतुरग विहूँना ॥

क ग्र०, रमैणी, पृ० १८२।

कहना न होगा कि इन उक्तियों मे प्रयुक्त 'अरु' शब्द से षटदर्शनों का पृथक्त्व स्पष्ट है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो भी जैन, बौद्ध, चार्वाक व शाक्त ये चार ही होते है, छह नही। एक अन्य उक्ति ( दे०, क०ग्रं०, पद ३४ ) मे कबीर ने 'छह दरसन' के साथ 'जोगी अरु जंगम' का उल्लेख किया है किन्तु वहाँ भी एक तो उनका पृथक्त्व स्वीकृत है दूसरे षड्दर्शन की संख्या मे संगति नही बैठती। इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य से श्री चतुर्वेदी के मत का समर्थन नही होता। अतः सभव है कि 'षटदरसन' से कबीर का अभिप्राय परंपरामान्य षड्दर्शनों से भी रहा हो।

अखा ने षड्दर्शनो के विषय मे तो परम्परा का अनुसरण किया है, किन्तु उपदर्शनों में उन्होने चार्वाक, बौद्ध व जैन के साथ शैव, सांख्य व मीमासा को गिनाया है।[4] इस

---

१. दृष्टव्य, नर्मदाशकर देवशकर मेहता : अखाकृत काव्यो, भाग १, पृ० ८२।

२. जोगी जंगम सेवड़े बोध सन्यासी सेष।
षटदर्शन दादू राम विन सबै कपट के भेष ॥दादू जी की वाणी : जयपुर, पृ० २८७,
(यहाँ कबीर साहित्य की परख, पृ० ४३ से)

३. योगी जंगम शेवडा सन्यासी दरवेश।
छठवाँ कहिये ब्राह्मणहि छौ घर छौ उपदेश ॥ बीजक शिशु बोधनी टीका, बाँकीपुर
द्वितीय प्रकरण, पृ० १९ से।

४. हवे कहुँ दरसन षट जे अपूरब अमथु रह्यु ॥
न्याय पातजल मीमांसा, वैशेषिक साख्य वेदान्त।
दरसन उपदरसन भेद कीधा ते जाणजो तमे संत ॥

तरह मीमांसा एवं सांख्य की गणना उन्होंने—षड्दर्शनों एवं उपदर्शनों दोनों में की है। आचार्य नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता के अनुसार षड्दर्शन श्रुति-प्रामाण्यवादी हैं और उपदर्शन अप्रामाण्यवादी। अखा ने जिस शैव दर्शन को उपदर्शनों मे गिनाया है वह पाशुपत मत है—जो कोई खास वेदवादी नही। साख्य दर्शन मे अखा ने सभवतः सात्वत अथवा पाचरात्र-वैष्णव मत को गिनाया है। मीमासा के दो भेद है—(१) निरीश्वरवाद-कर्मवाद और (२) सेश्वर मीमासा। षड्दर्शनों मे यदि सेश्वर मीमासा को गिनें तो निरीश्वर-मीमांसा उपदर्शन मानी जायगी। चार्वाक, बौद्ध एवं जैन तो परम्परा से उपदर्शन है ही। इस प्रकार श्री मेहता के अनुसार अखा ने उपदर्शनों मे चार्वाक, जैन, बौद्ध, पाशुपत (शैव), सात्वत (पांचरात्र) एवं निरीश्वर कर्मवादी-मीमासा—की गणना की है।[1]

उल्लेख्य यह है कि इन कवियो ने षड्दर्शनों का सम्बन्ध जैनों व काजियो से भी जोड़ा है—

ताकी हत्या होइ अदभूता, षट दरसन में जैन विगूता ॥

क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८२।

षट दर्सन देखे अखा तामे खरे विगूते जैन ॥

अ०र०, क्रम जड अंग, सा० १, पृ० २१८।

काजी षटदरसन के जे कोई ज्ञानी जन ॥

वही, कजा को अंग, सा० १, पृ० ३२६।

कबीर, अखा, दादू एव रामरहदास की इन समस्त उक्तियों के सूक्ष्म निरीक्षण से यह निष्कर्ष निकालना असंगत न होगा कि षड्दर्शनों के विषय मे प्रायः कोई विवाद न था, किन्तु षट्-उपदर्शनो मे जैन व बौद्ध दर्शनों के साथ, व्यक्तिगत रुचि के आधार पर, चार्वाक, पाशुपत, सात्वत, निरीश्वरवादो मीमांसक, नाथ-पंथ, एवं सूफी या इस्लाम में से किन्ही चार को जोडकर उनकी सख्या छह कर दी जाती है और उन्हे षट् उपदर्शन के स्थान पर षट्-दर्शन कह दिया जाता है। संभव है यह परम्परा कबीर के बाद की हो, और यदि उनके समय मे भी थी तो छयानवे पाखण्डो के साथ जोडे जाने वाले षड्दर्शन ये उपदर्शन ही रहे होगे, षड्दर्शन नही।* अतः यह कहना अधिक उचित होगा कि 'षट दरसन' से कबीर का अभिप्राय कही परम्परामान्य षड्दर्शनो से है तो कही उपदर्शनों से। विशेष रूप से छयानवें पाखण्डो के साथ उल्लिखित षड्दर्शन से उनका अभिप्राय षट्-उपदर्शनो से ही रहा होगा।

---

शैव साख्य मीमासा चारुवाक बौद्ध ने जैन।
ऐ उपदरसन भेद जाणे ते शरीर सबधी चेहेन ॥ अखेगीता २९।

१ दे०, अखाकृत काव्यो, भाग १, पृ० ८२।

* इस मान्यता की पुष्टि आगे के छयानवें पाखण्डो विषयक विवरण से भी होती है।

लक्ष्य करने की बात यह है कि कबीर ने षड्दर्शनों को कही तो परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान कराने में असमर्थ ( क०ग्रं०, पद ३४ ) बताया है, कही संशय-ग्रस्त (क०ग्रं०, मधि कौ अंग, सा० ११), तो कहीं उन्हें आत्म-स्वरूप के ज्ञापक भी कह दिया है—

घट दरसन कहियत हम भेखा: हम ही अतीत रूप नहीं रेखा ।।

क०ग्रं०, पद ३३२ ।

न तो उन्होंने कहीं इनके नामों का उल्लेख किया है और न इनके सिद्धान्तों की ही कोई समीक्षा की है । सामान्यतः उन्होंने भक्ति-भाव से शून्य इनके दार्शनिक मतों को सामान्यजनों के लिए अनुपयोगी मानकर इनकी उपेक्षा ही की है । जबकि अखा ने न केवल इनके परम्परागत नामों का स्पष्ट उल्लेख किया है, इनके प्रतिपाद्य मतों की समीक्षा भी की है । जिसे यहाँ संक्षेप मे इस उपक्रम से रखा जा सकता हे—

**न्याय दर्शन**

नैयायिकों का दर्शन महान् है, जो सृष्टि-रचना के मूल मे चार तत्वों को मानता है । इन तत्वों का संकोचन अणुओं मे होने पर स्थूल-सृष्टि का शमन और अणुओं का भी अरूप मे शमन हो जाना मानता है । इस प्रक्रिया के व्यतिक्रम से सृष्टि की रचना मानता है और सृष्टि-रचना का प्रेरक बल ईश्वर को मानता है । नैयायिक शरीर रचना में स्थूल व सूक्ष्म को कारणभूत मानते है ।[1] उनकी तर्क पद्धति सत्य है । प्रत्यक्ष मार्ग को प्रमाण के आधार पर वे जीव की सत्ता सिद्ध करते हैं । प्रत्यक्ष को प्रमाण और निश्चित तर्क पद्धति या न्याय को स्वीकार करने के कारण ही उन्हें न्यायवादी कहा जाता है ।[2]

**वैशेषिक-दर्शन**

वैशेषिक कहते है, ऐसा नही है (अर्थात् नैयायिकों का मत ठीक नही है) । महारथी ईश्वर बहुत सामर्थ्यवान् है, तत्व सामर्थ्य ईश्वर के ही कारण है, अत· ईश्वर मुख्य तत्व है । इस प्रकार (चार नही किन्तु) पाँच तत्व अनादि हैं । तत्व ही ईश्वर रूप मे विस्तृत या व्यक्त हुआ है । मन सहित छह इन्द्रियाँ और उनके छह विषय (या ज्ञान) है । सुख-दु:ख देहाश्रित है । इक्कीस दोषों (छह इन्द्रियाँ, छह विषय, छह प्रकार का ज्ञान, शरीर एवं दु'ख, सुख[3]) से मुक्त होने पर ही वह (जीवात्मा) 'आदि पद' को प्राप्त हो जाता है । देह के दु ख-सुख से रहित-शांत, होकर वह मुक्त हुआ एकान्तवास करे । न्याय और वैशेषिक की मुक्तिविषयक धारणा एक ही है ।[4] वैशेषिक जीव का वैशिष्ट्य स्वीकार करते हैं । वे मानते है कि जीव के अस्तित्व के विना ये विविध भेष कैसे हो सकते है ?

१. दे०, चि०वि०सं० ६४-६६ ।

२. दे०, अखेगीता ... ३० ।

३. अखानी ... हर पद, पाद टिप्पण, पृ० ७१ ।

४, दे०, च ... १० ।

इस प्रकार वे पदार्थों के गुणों की ही चर्चा करते हैं, जीव की उपेक्षा, या उसके अस्तित्व को अस्वीकार, नहीं करते अतः वे भी भौतिकवादी या देहदर्शी हैं।[१]

**सांख्य दर्शन**

सांख्य प्रकृति-पुरुष के योग को नित्य मानता है। जो प्रकृति तत्व है उसमें अहं-भाव या ममत्व का होना जीव के बंधन का कारण है। इसीलिए वह त्रिलोक में टकराता है—या जन्म-मरण के वशीभूत होता है। यदि वह अहंकार को त्याग कर प्रकृति-पुरुष के पृथक्त्व का विचार करे तो मुक्त हो सकता है।[२] इस प्रकार सांख्य प्रकृति के तत्वों की संख्या निश्चित करता है और जीव के चैतन्य स्वरूप का निश्चय करता हुआ कहता है कि जीव-माया सवलित ब्रह्म ही है, जो कर्माधीन भी है। यदि माया ( प्रकृति ) से मुक्त हो जाय तो वह स्वयं ब्रह्म ही है! यही सांख्य की मुक्ति है। स्वरूप-विस्मृति से उत्पन्न हुए आवरण एवं विक्षेप के कारण जीव दुःखी होता रहता है।[3]

**मीमांसा दर्शन**

मीमांसक कहते हैं कि यदि जीव नहीं है तो स्वर्ग के सुखों का भोक्ता कौन है? अर्थात् जीव है।[४] अतः मीमांसा दर्शन के अनुसार जीव आदि-अंत-रहित सत्य व नित्य सत्ता है, जो कर्माधीन एवं जन्म-पुनर्जन्म के अनादि चक्र का वशवर्ती है। सत्कर्मों से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है दुष्कर्मों से चौरासी लाख योनियों में जन्म लेना पड़ता है। यह स्वर्ग की प्राप्ति ही जीव की मोक्ष है।[५]

**योग-दर्शन**

महर्षि पतंजलि सृष्टि का मूल प्रकृति को मानते हैं। प्रकृति से ही तारा, शशि, सूर्य, चौदह लोक एवं समस्त जीवों की सृष्टि हुई है। जीव की गति में जीव की ही प्रकृति मुख्य होती है। प्रकृति व पुरुष का योग नित्य है। यदि इसकी ( प्रकृति-पुरुष के योग की) साधना की जाय तो जीव ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है। पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की रचना में पवन (प्राण) मुख्य है यदि उसकी साधना की जाय तो अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है। इसके बिना जीव मृत्यु के अधीन रहता है। प्राण-साधना से वह ब्रह्माण्ड से तादात्म्य स्थापित कर सकता है। इस सिद्धि की प्राप्ति ही योग दर्शन की मुक्ति है।[६]

---

१ दे०, अखेगीता—क० ३१।

२. दे०, चि०वि०सं० ७०-७३।

३. दे०, अखेगीता क० ३१ एवं चि०वि०सं० ७०-७३।

४. दे०, वही, क०, ३०।

५ दे०, चि०वि०सं० ७३-७५।

६. दे०, वही, ७४-७८।

इस प्रकार पतंजलि क्रियायोग द्वारा प्राण-साधना मे मुक्ति मानते है और देह तथा प्राण दोनों को सत्य मानते है क्योंकि जीव के बिना देह भी कैसे रह सकती है ? अतः वे पिण्ड के आधार पर जीव की सत्ता स्वीकार करते है ।[1]

### वेदान्त-दर्शन

वेदान्त किसी ऐसी महानिधि ( अद्वैत सत्ता ) को मानता है कि जिस तक जीव की गति नहीं है । उसके अनुसार यद्यपि उक्त पाँचों-दर्शन-सत्य है किन्तु एक तो वे असंभावना (संशय) का आधार ग्रहण करते है, दूसरे विपरीत भावना ( भेद बुद्धि या देहात्म-भाव ) को भी जन्म देते है, अतः उनमे दूसरे-रूप (या देव) की ही उपासना या भक्ति होती है । जहाँ देह को ही सत्य व आत्मरूप माना गया हो वहाँ द्वैत को ही ग्रहण किया जा सकता है । सर्वत्र एक ही चिद् का विलास स्वीकार किया जाय वहाँ वाणी के उच्चारण का अवकाश ही नही रहता । यदि यह जगत् प्रकृतितः है ही नही तो 'मै' का कथन किसके समक्ष किया जा सकता है ? अत वेदान्त के अनुसार उक्त पाँचो-दर्शन द्वैतवादी है । वह इन पाँचो के उत्पत्ति (सृष्टि)-विषयक विचारों की भी उपेक्षा करता है ।[2]

वेदान्त की विशिष्टता यह है कि सृष्टि को वह असत्य माया की लीला मानता है । माया ही इसकी कर्ता-धर्ता है, आवागमन का खेल भी उसी का है । कर्म, जीव एवं कर्म-फल, असत्य माया ही की माया का स्फुरण है । श्रेष्ठ समझे जाने वाले सभी धार्मिक कृत्य भी माया-जन्य है—(अखेगीता क० ३१) ।

अखा कहते है कि षट्दर्शनों के मूल या केन्द्रीय विचार तो ये ही है, किन्तु संप्रति जो जिस मत को अपनाता है वह उसके सिद्धान्तो का विस्तार कर लेता है—अखेगीता ३१ ।

षड्दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्धों आदि के विषय मे अखा का कथन है कि—अनुभव की दृष्टि से शून्य न्याय, पातजल, मीमासा, वैशेषिक एवं सांख्य, वेदान्त की आलोचना करते है—( अ०अ०वा०, गुज भजन ९ ) वेदान्त उन्हे द्वैतवादी एवं भौतिकवादी ( या देह-दर्शी) कहता है—(चि०वि०सं० ८०-८२) इन सभी की रचना जीव-बुद्धि से की गई है, इन सबके आचरण पृथक्-पृथक् है, परस्पर खटपट ( वितंडावाद ) करते रहते है । इनमे एकता या सामंजस्य का अभाव है । इनकी इस खण्डनात्मक या कलहपूर्ण स्थिति का प्रेरक बल माया है, जो इनके मध्य विराजमान रहती है और अपनी इन संतानों को इसी स्थिति मे रखना चाहती है—(अखेगीता क० ३१) परिणामस्वरूप ये न केवल भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन करते है वरन् स्वयं को सार ( या श्रेष्ठ ) सिद्ध करने के लिए अन्य की निन्दा भी करते है, मूल वस्तु का विचार नही करते । पुस्तक प्रामाण्य को स्वीकार करते है, अक्षरों के विविधार्थो की आड़ लेकर, मूल अर्थ को समझे विना ही,

---

१. दे०, अखेगता—क० ३० ।

२. दे०, चि०वि०सं० ७८-८२ ।

संकुचित वाडों का सर्जन करते है—(अखेगीता क० २९ एवं छप्पा ३, १५७ व ३३८)।

स्वयं की ओर से इनकी समीक्षा करते हुए अखा कहते है कि—न्याय, मीमांसा आदि प्रथम पाँच दर्शनों मे एक या दूसरे रूप मे जोव की पृथक् सत्ता—अर्थात् द्वैत-स्वीकृत है। साथ ही प्रकृति या देह को भी सत्य व नित्य माना गया है अतः वे अपूर्ण है।[1] हाँ, साख्य के पास दृष्टि ( ज्ञान ) अवश्य है किन्तु अत्यल्प। यदि वह जीव-स्वरूप एवं कर्म-बंधन आदि को त्यागकर एकमात्र ब्रह्म पर ही ध्यान केन्द्रित करे तो ठीक रास्ते पर अग्रसर हो सकता है। वेदान्त यदि माया को रटन का त्याग करे तो वह भी आगे बढने की क्षमता रखता है—(अखेगीता क० ३१)।

**समीक्षा**

षड्दर्शन विषयक कबीर एवं अखा के उपर्युक्त विचारों की समीक्षा के रूप मे कहा जा सकता है कि भक्ति-भाव से शून्य उनके मतवादों को उन्होंने प्राय निरर्थक माना है। इनके सिद्धान्तो की समीक्षा का कबीर ने कोई प्रयत्न नही किया है, अखा ने जो समीक्षा की है वह एकदम असंगत न होने पर भी न केवल अपर्याप्त है वरन् एतत्सबधी उनके निजी दृष्टिकोण को ही व्यक्त करती है, क्योकि उसमे निश्चित तर्क-पद्धति एवं प्रमाण आदि का सर्वथा अभाव है।

अब जैसा कि पीछे संकेत किया गया है षड्दर्शनो के साथ छयानवें पाखण्डों का उल्लेख भी दोनों कवियो ने किया है। किन्तु कबीर[2] ने उन्हे प्रभु के ज्ञान से अनभिज्ञ कहने के अतिरिक्त कोई विशेष जानकारी उनके विषय मे नही दो है। अखा ने षड्दर्शनों से उनकी उत्पत्ति, स्थान-स्थान पर उनकी व्याप्ति एव उनके अगणित भेदोपभेद होने का उल्लेख किया है।[3] छयानवें पाखण्डों मे परिगणित मतों की स्पष्टता करने वाली एक साखी आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने उद्धृत की है—

> दस सन्यासी बारह योगी चौदह शेख बखान।
> अठारह ब्राह्मण अठारह जंगम चुविश शेवडा जान ॥[4]

कहना न होगा कि इस उक्ति मे तथ्य-निरूपण की अपेक्षा अनुमान अधिक है। अत. कहा जा सकता है कि इन पाखडो के लिए प्रयुक्त छयानवें संख्या किन्ही निश्चित मतवादो की द्योतक न होकर उनको बहुलता की सूचक है। आचार्य चतुर्वेदो का निष्कर्ष भी इसी मान्यता का समर्थन करता है।[5] यहाँ इतना उल्लेख कर देना अप्रासगिक न

१ दे०, अखेगीता—क० ३०-३१।
२. छह दरसन छयानवें पाखण्ड आकुल किनहूँ न जाना॥ क०ग्रं०, पद ३४।
३. दे०, अखेगीता—क० २९।
४. बीजक, पृ० २० यहाँ 'कबीर साहित्य की परख', पृ० ४३ से साभार।
५. दृष्टव्य, कबीर साहित्य की परख, पृ० ४४।

होगा कि अखा ने छयानवें पाखंडों की व्युत्पत्ति षड्दर्शनों से बताई है; क०ग्रं०, (रमैणी, पृ० १८२) की उपर्युक्त उक्ति मे जिन षटदर्शनों से इन्हें संबंधित बताया गया है वे सब ऊपर गिनाये गये उपदर्शनो मे से है। अतः इससे लेखक की उस मान्यता का समर्थन होता है जिसमे कहा गया है कि छयानवें पाखंडों के साथ उल्लिखित षटदर्शन छह उपदर्शनों के पर्याय होते है परम्परामान्य षड्दर्शनों के नही।

उल्लेख्य यह है कि परम्परामान्य उपदर्शनों मे से माध्यमिकों के 'शून्य' की चर्चा दोनों कवियों ने की है, किन्तु कबीर की रचनाओं मे 'शून्यवाद' की समीक्षा का कोई प्रयत्न दिखाई नही पडता। अखा ने 'शून्यवाद' की समीक्षा करने के अपने प्रयत्न मे शून्यवादियों के दो भेद माने हैं—(१) शून्यवादी और (२) अधम शून्यवादी।

शून्यवादी सृष्टि को धुएँ के बादल-सदृश निस्सार (तो) मानते है किन्तु वेदान्तियों की तरह धुएँ के कारण-भूत अग्नि ( ब्रह्म ) को नहीं मानते। सृष्टि मे परिव्याप्त आत्मा जैसी किसी सत्ता को भी वे नही मानते। उनके द्वारा कथित ज्ञान चित्र-दीप-सदृश है, जिससे सांसारिक क्लेश रूपी अंधकार का निवारण नहीं होता है। वे समस्त प्रपंच, या दृश्य जगत्, को मिथ्या मानते है और कहते है कि परमात्मा नही है। कर्म-धर्म भी नही है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एव लय शून्य मे होती है। पुनर्जन्म नही होता। अखा कहते है ये शून्यवादी ( अखेगीता क० २५ ) मूल तत्व को प्राप्त नही कर सकते। ये मिथ्यावादी ( छ० ३३१ ) है। शून्य रूपी छिलकों का आहार करनेवाले है—(छ० ३३५)। अर्थात् निस्सार का आहार करके स्वास्थ्य लाभ की आशा रखने वाले है।

स्वयं शून्यवादी होकर भी शून्य की ही शोध मे असमर्थ रहने वाले अधम शून्यवादी है। जो मिथ्या-बुद्धि का आश्रय लेकर अन्य की निन्दा करते फिरते है। प्रपंच को वे मिथ्या कहते है, किन्तु अन्तःकरण मे जगत् को सत्य मानते है और कर्त्तापन के स्वयं के अहं को नही त्याग सकते। इसलिए उत्तम (ब्रह्म) से वंचित रहकर मध्यम या निम्न (लौकिक सुख) को ग्रहण करते है। दूसरों से संसार की निन्दा करते है स्वयं उसे चाहते है। अज्ञान को ही ज्ञान कहते है, ऐन्द्रिय सुखों के पीछे अन्धे होकर दौडते है; कभी आत्मा को स्वीकार करते है कभी शून्य को। कभी संसार को असत्य कहते है कभी अनिर्वचनीय। सब के साथ विवाद करते है, स्वयं का कोई लक्ष्य न होने पर भी अन्य की निन्दा करते है। ब्रह्म-विद्या के रहस्य से अनभिज्ञ होते है और उसे वितंडावाद कहते है। न नारायण का अस्तित्व स्वीकारते है न प्रपंच को त्यागते है। संसार सुख उन्हे प्रिय होते है, पाप-पुण्य भी वे नही मानते। अज्ञानी होने पर भी आचार्य बनकर अन्य को नास्तिक कहते फिरते है। किसी मे उन्हे विश्वास नही, किसी के प्रति उनकी भावना नही। आस्तिकता को वे जानते ही नहीं—(अखेगीता क० २६)। वे पूरे शून्यवादी भी नही इसलिए उन्हें अधम शून्यवादी कहा गया है।

अखा के अनुसार पूरा शून्यवादी वह है जो ब्रह्म व जगत् मे अभेद या अद्वैत मानता है—(वही, वही)। अन्यत्र देखा जा चुका है कि आलोच्य कवियों ने शून्य का अर्थघटन शून्यवत्-सत्ता-ब्रह्म किया है,सत्ता का निषेध नही। अतः शून्य के साथ जुडी हुई नास्तिकता या सत्ता के अस्तित्व के निषेध से उनका स्वभावतः विरोध है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अखा द्वारा की गई शून्यवाद की यह आलोचना एकदम असगत न होने पर भी जितनी निजता लिए हुए है उतना कोई प्रामाणिक आधार नही।

तदुपरान्त अखा ने—शुष्क ज्ञानी, ज्ञानदग्ध ज्ञानी, वितंड-ज्ञानी, खल ज्ञानी, निंदक ज्ञानी, भ्रम ज्ञानी, हठ ज्ञानी, शठ ज्ञानी, शून्यवाद एवं शुद्ध ज्ञानी—जिन दस प्रकार के ज्ञानियों का परिचय दिया है उनमे से केवल अतिम को ही सच्चा ज्ञानी, शेष को मिथ्यावादी, कहा गया है—(छ० ४९३-५०३)। इनके अतिरिक्त उन्होंने गुणवादी, कूट ज्ञानी, नेष्ट ज्ञानी एव देहदर्शी आदि के उल्लेख किये है।[1]

ध्यातव्य यह है कि दर्शनो एवं छयानवे पाखंडों की जो मुख्य प्रवृत्ति अखा ने बताई है वह है उनका परस्पर वाद-विवाद मे उलझे रहना। कबीर की रचनाओं मे 'छह दरसन' छयानवें पाखडों के मतवादो ( क० ग्रं०, पद ४० ), उत्तर-दक्षिण के पंडितो के विचार-विमर्श (वही,ज्ञान विरह कौ अंग,सा० ५), नित्य नवीन ग्रंथों की रचना (वही,पद ३४), तथा स्वय की उक्तियो के अर्थ या मर्म को समझने-समझाने के लिए पडितो को ललकारना (क०ग्रं०, पद ४०, ४५) आदि के उल्लेखों से उस समय वादविवादों के होते रहने के संकेत अवश्य मिलते है। किन्तु इनसे इस प्रवृत्ति की आवश्यकता का परिचय नही मिलता।

अखा की रचनाओं मे इस प्रवृत्ति का व्यापक निरूपण हुआ देखा जाता है, जिसके अनुसार—'वाद-विवाद के लिए एकत्रित हुए ब्रह्मज्ञानियों की चर्चा में ब्रह्म की चर्चा तो अपनी जगह रहती, व्यक्त की चर्चा ही मुख्य रूप से होती थी। अव्यक्त की चर्चा कोई एकाध करता भी था तो शेप पर उसका कोई प्रभाव न पडता था। (छ० ६७२) उसे (ब्रह्म को) जैसा है वैसा ( वाद-विवाद से परे ) स्वीकार करने को कोई तत्पर न था—(छ० ३४८) किसी को ज्ञानी होने का दंभ था तो किसी को भक्त होने का। दोनों की स्थिति किसी अनागत लाभ के बँटवारे के लिए झगड़ मरनेवाले मूर्खो जैसी ( छ० २२१) थी। ज्ञानी और भक्त एक-दूसरे की निन्दा मे आत्मगौरव का अनुभव करते थे, वैरागी इन दोनों को झूठा और ससार-त्यागी को सच्चा सिद्ध करता था। इस पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण हरि विस्मृत हो जाता, अहंकार प्रत्यक्ष ( छ० ४५५ ) हो उठता। कुबुद्धि कुतर्क को ज्ञान कहता है तो विपयी दंभ को भक्ति और क्रोधी क्रोध(द्वेष भाव)को

१. और दे०, छप्पा ३३१-३३५।

वैराग्य कहता था। इन सबकी स्थिति हंस के आसन पर विराजमान काग (छ० ४२६) जैसी थी। लोग अनुभव शून्य; पुस्तकीय ज्ञान (छ० ५७३) अथवा, इधर-उधर से सुनी गई बातों ( छ० ३८८ अ०र० साखी ८, पृ० ३.१६ ) के आधार पर ही स्वयं को ज्ञानी मान लेते थे और वाद-विवादों मे ही अपनी आयु ( छप्पा ३११ ) बिता दिया करते थे। इनकी स्थिति अंधों मे काना राजा (छ० ५५८) जैसी होती थी।

दार्शनिक मत-मतान्तरों के वाद-विवाद-संबंधी जो न्यूनाधिक उल्लेख आलोच्य कवियो की रचनाओ मे मिलते है उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के समय तक यह प्रवृत्ति मुख्यत. संस्कृत के पंडितो व दार्शनिक आचार्यो तक सीमित थी। लोक-भाषाओं मे लिखे गये सगुण व निर्गुण भक्ति के काव्य के विकास व विस्तार के साथ इस प्रवृत्ति का भी विस्तार हुआ और अखा के समय तक यह एक सस्ती और सामान्य प्रवृत्ति बन चुकी थी। सूरदास, नंददास एवं तुलसीदास की रचनाएँ एव अकबर द्वारा स्थापित 'इबादतखाना' आदि इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। तुलसी की 'ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात' आदि उक्तियाँ स्थिति के सचोट उदाहरण कही जा सकती हैं।

कबीर एवं अखा ने कहीं कुतर्क करने वालों की उपेक्षा की है[1], कही चतुराई की भर्त्सना की है[2], तो कही वाद-विवाद करने वालों की दुर्गति, या उनके नरकगामी होने, का विधान किया है—

ते सब तिरे राम रस स्वादी, कहै कबीर बूड़े बकवादी ॥ क०ग्रं०,पद ३७५।

अखा वाद करते मरचो चीन्हें नहीं जगदीश ॥

अ०र० प्रेम प्रीछ को अंग, सा० १५।

अेक मेलो मंत्र बीजो कुतर्क अे साधक ने मुख मूके नर्क ॥ छ० २२७।

दोनों ही कवियों ने इस व्यर्थ के वाद-विवाद से सर्वथा दूर रहना ही उचित माना है—

मन रे अहरषि वाद न कीजै,अपना सुकृत भरि भरि लीजै ॥क०ग्र०,पद१०५

निरपष होइ हरि भजै सो साध सयाना ॥ क०ग्रं०, पद १८१।

वाद विवाद न कीजीये आदरमां रहीये ॥ अ०वा०, पद ४२।

अतः कहा जा सकता है कि इस प्रवृत्ति को हितावह न मानकर उन्होने इससे दूर रहने का उपदेश दिया है। किन्तु ध्यान रहे कि आत्म-ज्ञान के लिए शुभ आशय से किये गये आवश्यक तर्क-वितर्क के वे विरोधी न थे। उनका विरोध श्रद्धाभाव से शून्य और खण्डन-मण्डन के एकमात्र हेतु से किये गये वाद-विवादो से ही था।

---

१. दे०, क०ग्रं०, पद १४३; छप्पा २१४।

२. दे०, वही, भेष कौ अंग, सा० २२, कस्तूरिया मृग कौ अंग, सा० ८, छप्पा २१६, अ०वा०, पद ८५।

### (ख) विविध साधनाएँ

साधना से यहाँ हमारा आशय उन क्रियाओं से है कि जिनके द्वारा शरीर को कष्ट देकर साधक 'काया-शोध' या निग्रह किया करते है, और जिन्हें सामान्य रूप से तप भी कहा जाता है। कबीर एवं अखा की रचनाओ मे ऐसी साधनाओ के रूप मे योगादि से शरीर को सुखाना, धूमपान करना, धूनी लगाकर तपना, वर्षा में या जल के मध्य खड़े रहना, गुफा मे एकान्त वास करना, एवं अन्न के त्याग आदि का उल्लेख हुआ है।[1] अन्य भी अनेक साधनाएँ थी। सभी साधक अपनी-अपनी साधना को दूसरो की अपेक्षा ज्येष्ठ व श्रेष्ठ बताते थे—

जोगी कहैं जोग सिद्धि नीकी और न दूजी भाई।
लुंचित मुंडित मौनि जटाधर ए जु कहैं सिद्धि पाई॥
पंडित गुनी सूर कवि दाता ए जु कहैं बड हमही॥ क०ग्रं०, पद १३३।
अलगा उपासन अलगा देव करे हिमाटय बाथे अहमेव॥छ० ३८५।
पावस बेसे के जल-बसे करते धुमपान।
ताण्यो तृष्णानो फरे मांहे राखे बहुमान॥ अ०र०,आसा को अंग,सा० ११

इन दोनो संतों ने शरीर को कष्ट देनेवाली इन सभी क्लिष्ट साधनाओं को आत्मज्ञान या भक्ति की प्राप्ति के लिए निरर्थक माना है—

इक जोग जुगति तन हूँहि खीन ऐसैं राम नाम संगि रहै न लीन॥
इन धोम घूटि तन हूँहि स्याम, यूँ मुकति नही बिन राम नाम॥[2]
अन्नही छाडि इक पिवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदै सूध॥[3]
सिद्ध साधक साधे पुनि काया गुन के पार न जावे॥ अ०वा०, पद ४९।
आतम ज्ञान विना सव चोले जती सती तपसी संन्यासी।
अखा सोहं राम को समरो निज पद देखो तपासी॥ अ०वा०, पद ४६।

एकाध जगह उन्होंने इन काया-साधको की दुर्गति का भी विधान किया है।[4] अब जैसा कि उनकी उपर्युक्त उक्तियों मे भी ध्वनित है इन क्लिष्ट साधनाओं के विकल्प में उन्होने 'राम-नाम' के स्मरण की सरल व सहज साधना का विधान किया है—

कहै कबीर कछु आन न कीजै राम नाम जपि लाहा लीजै॥ क०ग्रं०, पद३५५
प्रथम गुरुनी पूजा करे पछे राम नाम हृदै मा धरे।
बीजे उपासने बेसे गाल बलता माथे आवे काल॥ छ० ७५०।

---

१. दे०, क०ग्रं०, पद २७६,३००,३८०,३८६ तथा अ०र०, आसा को अंग, सा० ११, १३ तथा छ० ९०, २८६, संतप्रिया, क० ११५।

२. क०ग्रं०, पद ३८६।

३. वही, पद ३८०।

४. दे०, क०ग्रं०, पद ३८४, ३८५, १९२, १३० तथा अ०वा०, पद ४६, ४९।

अन्य साधनाओं की तुलना मे भक्ति के श्रेष्ठत्व-सम्बन्धी इन संतों के विचारों का उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है।

**विविध आराध्य देव**

हिन्दुओं में स्वीकृत बहुदेववाद का उल्लेख आगे यथास्थान किया जायगा, यहाँ सामान्य दृष्टि से इतना उल्लेख्य है कि शैव, शाक्त, हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध एवं योगी आदि सभी एक या एकाधिक दैवी-सत्ताओं मे विश्वास रखते थे और स्वस्वीकृत नाम-रूपात्मक सत्ता को ही एकमात्र यथार्थ सत्ता मानते थे—

इक आराधा सकति सीव इक पड़दा दे दे बधैं जीव।
इक कुल देव्या की जपहिं जाप त्रिभुवन पति भूलै त्रिविध ताप ॥[1]
जोगी गोरख गोरख कहै हिन्दू राम नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाइ कबीर को स्वामी घटि घटि रह्यो समाइ ॥[2]
को कहे महा मोटो शिवदेव को कहे विष्णु मोटो अवश्यमेव।
को कहे आद्य भवानी सदा, बुद्ध कल्किना करे वायदा ॥ छ० ३८७।
अलगा उपासन अलगा देव, करे हिमात्य बाधे अहमेव।
अला अे मोटो उत्पात घणां परमेश्वर अे क्यांनी वात ॥ छ० ३८५।

इस देव-वैविध्य मे न केवल त्रिभुवनपति विस्मृत हो जाता है, साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है; वरन् पारस्परिक कलह भी उत्पन्न होता है।

इन कवियों ने विविध सत्ताओं के अस्तित्व की मान्यताओं को अज्ञानजन्य, भ्रामक एवं द्वैत-भाव आश्रित और उनकी उपासना को बाह्य, क्लेशदायक अथवा मूल को छोड़कर डाल व पत्तों को सींचने जैसा कार्य बताकर अनुपयोगी सिद्ध किया है।[3] उनके मान्यतानुसार इन सभी दैवी अस्तित्वों का कारण अथवा मूल, ब्रह्म है और ये उसके कार्य अथवा डाल, फल, फूल एव पत्ते आदि है—

पाती ब्रह्मा पुहपे विष्णु फूल फल महादेव।
तीनि देवों एक मूरति करो किसकी सेव ॥ क०ग्रं०, पद १९८।
कहै कबीर सेवौं बनवारी सींचौ पेड पीवै सब डारी ॥ वही, पद ११४।
शिव ने सदा उपास अज इच्छा राखे सदा।
विष्णु धरे विश्वास सरवातीत स्वामी खरो ॥ सोरठा २३७।
देह दरसी सींचत अला पात पात कुं नीर।

---

१. क०ग्रं, पद ३८०।

२. वही, पद ३३०।

३. दे०, क० ग्रं०, पद १९७-१९९ एवं कस्तूरिया मृग को अंग, अ० र०, जकड़ी ३३ एवं देह दरसी अंग, सा० १४।

आतम दरसी पेड कूं पोषत राम सरीर ॥
अ०र०, देहदरसी को अंग, सा० १४ ॥

अखा ने उपर्युक्त भिन्न-भिन्न सत्ताओ को एक अधिपति ( छ० ६८७ ) के आश्रित प्रजाजन सदृश भी कहा है। इस प्रकार इन दोनों कवियो ने विभिन्न सत्ताओं की निन्दा अथवा एतत्संबंधी अवधारणाओं का खण्डन किये बिना ही उनकी स्वतंत्र सत्ता और सार्वभौमत्व को ब्रह्माश्रित बताकर भिन्नत्व मे एकत्व की स्थापना का प्रयत्न किया है।

**विविध कर्म**

उपर्युक्त विविध दैवी सत्ताओं की स्वीकृति के परिणामस्वरूप अनेक-विध कर्मों का अपनाया जाना स्वाभाविक ही था। कर्म से यहाँ हमारा अभिप्राय विधिनिषेध-युक्त ऐसी बाह्य क्रियाओ से है कि जिनके अनुष्ठान या पालन से साधक स्वयं अन्तर्बाह्य शुचिता अथवा देव-कृपा की प्राप्ति की आशा रखता है। आलोच्य कवियों की रचनाओ में ऐसे अनेक बाह्यकर्मो का उल्लेख है कि जिनका सम्बन्ध उन्होंने किसी विशिष्ट सम्प्रदाय से प्राय नही जोडा है। इन कर्मो के अन्तर्गत उन्होंने मुख्यतः पाठ करना, उदासीन अथवा नग्न होकर फिरना, दीनता या फकीरी स्वीकारना, दान देना, मादक द्रव्यो का उपयोग करना, तंत्र, मत्र, औषधि आदि का ज्ञान प्राप्त करना तथा तीर्थ, व्रत, मौन-सेवन आदि का उल्लेख किया है।[1]

ध्यातव्य यह है कि केवल भाव से ही प्राप्त हो सकने वाले परमात्मा की प्राप्ति के लिए इन कर्मो का उन्होंने कोई महत्व स्वीकार नही किया है—

विधि नखेद पूजा आचार सब दरिया मै वार न पार।
दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ भर्म कर्म सब दिये बहाइ ॥ क०ग्रं०, पद २५२।
तप त्याग पूजन बिना ध्यान धर्म बनवास।
अखा ना कछू कर सक्या मिल गया सासोसास ॥ अ० र०, महा विचार अंग,
सा० १३।

इतना ही नही, उन्होंने इन कर्मों को प्रभु-भक्ति मे बाधक भी माना है।[2] इस प्रकार उन्होंने इन कर्मो को न केवल निस्सार बताया है वरन् इनको त्यागने और विकल्प रूप मे 'प्रभु-प्रेम को अपनाने का विधान किया है—

सब कृत काच हरी हित सार कहै कबीर तजि जग व्यौहार ॥[3]
बिना आतुरता राम की तीरथ व्रत तप त्याग।
ज्यों भूचर को मारे अखा पण खेचर न मारे बाघ ॥[4]

---

१. दे०, क०ग्रं०, पद ३८९, २७६ तथा अ० वा०, पद ९६; ६३।

२. दे०, वही, पद ३८६, २७६ अनुभवबिंदु २१-२३ तथा छप्पा २८६-३५०।

३. वही, पद २३०।

४. और दे०, अ०वा०, पद ६३।

नाना-वेश

स्वयं के मत, पंथ, अथवा संप्रदाय को अन्य से भिन्न सिद्ध करने को दृष्टि से उसके अनुयायियों द्वारा धारण किये गये विशिष्ट रंग के कपड़े एवं चिह्न आदि का समावेश वेश के अन्तर्गत किया जा सकता है। डा० मदनगोपाल गुप्त ने तिलक, माला, रामनामी, मुद्रा-मंजूषा, मुडन, जटाधारण एवं नग्न रहने आदि को वाह्य-वेश मे गिनाया है।[1] आलोच्य कवियों ने वेश-धारण के प्रति अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है—

> का नट भेप भगवाँ वस्तर भसम लगावै लोई।
> ज्युं दादुर सुरसरि जल भीतरि हरि बिन मुकति न होई ।।क०ग्र०,पद ३४६।
> नागे फिरें जोग जे होई वन का मृग मुकति गया कोई।
> मुंड मुड़ाये जो सिध होई स्वर्ग ही भेड न पहुँची कोई ।। वही, पद १३२।
> आतम समज्यो ते नर जती गु थयुं धोला भगवा वतो ?
> वोडे त्रोडे जोडे बाल अे तो सर्व उपल्यो जंजाल ।। छ० ३४१।

उनके विचार से वेश-धारण करना वाह्य-स्वांग, पेट-भरने का साधन एवं वास्तविकता को छिपाने के प्रयत्न से अधिक कुछ नही है। इसलिए यह न केवल निरर्थक है वरन् सांप्रदायिकता का पोपक भी है।[2] अत. अखा ने अपनी एक उक्ति ( छ० १ ) मे इस कुटिल मार्ग को त्याग कर सीधे व सरल मार्ग के ग्रहण का उल्लेख किया है। किन्तु तत्कालीन साधकों मे वेश-धारण के अतिशय व्यामोह को देखकर ही शायद उन्होंने इनके मानसिक अथवा साधनात्मक विकल्प प्रस्तुत किये है—

> कबीर माला मन की और संसारी भेष ।। क०ग्र०, भेष कौ अग, सा० ६।
> मन मैवासी मूडि ले केसों मूडे काइ ।। वहाँ, वही, सा० १३।
> सब सिधि सहजैं पाइए जे मन जोगी होइ ।। वही, वही, सा० १७।
> तत तिलक तिहूँ लोक मैं राम नाव निज सार।
> जन कबीर मस्तक दिया सोभा अधिक अपार।। वही,सुमिरन कौ अंग सा० ३
> ज्ञान तिलक दीवो भलो एक भावना माल।
> दीनी छाप निरजनी वन्या वैरागी लाल ।। अ०र०, वेप कौ अंग,सा० १
> और दे०, साखी २।

उपर्युक्त विवरण के निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि कबीर और अखा दोनों संतों ने अपने युग मे प्रचलित मतवादो के स्थान पर आवश्यक आत्म-ज्ञान का; क्लेशदायी

---

१. दे०, मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० २०९।

२. दे०, क०ग्रं०, गुरुदेव कौ अंग, सा० २७, भेष कौ अंग, सा० १५, साध कौ अंग, सा० १; छप्पा ३११, ३१२, ३४२, अ० वा०, पद ९९, अ० र० अथहरिजन अंग, ... कौ अंग, सा० १८।

साधनाओं के स्थान पर प्रभु-भक्ति का, विभिन्न भगवानों के स्थान पर सर्वव्यापी अखंड ब्रह्म का, बाह्य कर्मो के स्थान पर प्रभु-प्रेम का और विभिन्न वेशों के सर्वथा त्याग का समर्थन करके वैविध्य मे एकत्व या सामंजस्य की स्थापना का प्रयत्न किया है ।

### (२) विशिष्ट धर्ममत और रूढ़ियाँ

इससे हमारा अभिप्राय आलोच्य कवियों द्वारा किसी विशिष्ट धार्मिक संप्रदाय को स्पष्टतः लक्ष्य करके की गई आलोचना से है । उपर्युक्त सामान्य प्रतिक्रिया मे यद्यपि उन्होंने जोगी (नाथ पंथ), जगम (वीर शैव), शेवडा (जैन) संप्रदायो की आलोचना की है; किन्तु उसमे किसी का स्पष्ट उल्लेख नहीं है । नामोल्लेख के साथ उन्होंने जिन धार्मिक संप्रदायो की आलोचना की है उनमे शाक्त, जैन, नाथपथी, बौद्ध, चार्वाक, वैष्णव, सिद्ध-हिन्दू (स्मार्त) एवं मुसलमान मुख्य है । इनमे से सिद्धो के विषय में कबीर द्वारा उनके संशयग्रस्त[1] होने व लोगो को भ्रमित करने वाला होने[2] तथा अखा द्वारा उनके योग-साधना द्वारा सिद्धि लाभ करने[3] के उल्लेखो से अधिक कुछ नही कहा गया और बौद्धों के विषय मे उनके वेदबाह्य व अनात्मवादी होने से अधिक कुछ नही कहा गया । इसलिए यहाँ शेष के विषय मे ही इनके दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया जायगा ।

#### (क) शाक्त

संत-साहित्य मे सर्वाधिक कटु आलोचना व तीव्र भर्त्सना का लक्ष्य शक्ति के उपासकों को बनाया गया है । कबीर ने शाक्त को सन की रस्सी के समान भीगने पर कठोर होने के शठ स्वभाव वाला, व गुरु उपदेश से विमुख होने के कारण पतित या नरकगामी कहा है[4] और उसकी संगति से सदैव बचते रहने का सुझाव दिया है ।[5] किसी शाक्त से ज्ञान व भक्ति की बातें करना उनके अनुसार वैसा ही है जैसा कि गदहे के आगे स्मृतियों का पाठ करना, काग को कपूर चुगाना, या विषधर को पयपान कराना आदि है । शाक्त और गदहा दोनो भाई-भाई है, एक निन्दा करता है और दूसरा रेंकता है–(क०ग्रं०, पद२२१) । अखा के अनुसार शाक्त अनीति को उसी प्रकार सार मानकर ग्रहण करता है जैसे काग अशुभ (विष्टा आदि) को आहार के रूप मे ग्रहण करता है । जिस ज्ञान वज्र को ज्ञानी अमृत तुल्य मानता है वह उसे विष तुल्य ( छ० ७०३ ) मानता है । उसकी वाणी सबके लिए दुखदायी होती है ।[6]

---

१. षट दरसन संसै पड्या अरु चौरासी सिद्ध ।। क०ग्रं०, मधि कौ अंग, सा० ११ ।

२. सिद्ध साधिक कहै हम सिद्धि पाई ।। वही, पद १४६ ।

३. सिध्यने काजे योगीजन, थावा अजरामर करे जतन ।।छ० ६२,दे०, अ०वा०,पद४९।

४. दे०, क०ग्रं०, चाषक कौ अंग, सा० ११ ।

५. वही, कुसंगति अंग, सा० ४, पृ० ३७ ।

६. दे०, अ०र०, प्रेम प्रीछ को अंग, सा० १७ ।

डा० मदनगोपाल गुप्त[1] के अनुसार संतों द्वारा की गई शाक्तों की निन्दा के दो कारण हो सकते हैं—(१) शाक्तों व संतों के मध्य विरोध का रहना और (२) लोगो को भ्रमित करने की उनकी (शाक्तों की) प्रवृत्ति से जनता को सावधान करना। कबीर की निम्नांकित उक्तियों से भी कुछ ऐसी ही ध्वनि निकलती है—

सकल वरण इकत्र है सकति पूजि मिलि खाहि।
हरि दासनि की भ्राति करि केवल जमपुर जांहि॥
पापी पूजा बैसि करि भषै मास मद दोइ।
तिनकी दस्या मुकति नही कोटि नरक फल होइ॥ क० ग्रं०, साँच की अंग, सा० १३-१४।

प्रकट है कि संतों व शाक्तो के मध्य विरोध मे शाक्तों के अनियन्त्रित आहार-विहार एवं धार्मिक कृत्यो मे स्वीकृत हिंसा आदि ही मुख्य कारण रहे हांगे।

उल्लेख्य यह भी है कि यत्र-तत्र आलोच्य कवियों ने 'साकत' व 'शाकट' शब्दो का प्रयोग 'हरि विमुखन' के लिए भी किया है—

कबीर साषत को नही सबै बैशनों जाणि।
जा मुख राम न उचरे ताही तन की हांणि॥क०ग्रं०,सारग्राही कौ अग,सा० २
शाकट ज्ञानी वेऊँ जाण्जा मांय अलगा कोई म के' शो वराय॥ छ० ७०४।

(अर्थात् शाक्त व ज्ञानी दोनों को पृथक् न मानना चाहिए,उनका मुख्य अंतर ज्ञान के होने व न होने का ही है)। जो हो, इतना निश्चित है कि उनको यह निन्दा वाममार्गी शाक्तों और शठों दोनो पर समान भाव से लागू होती है।

**(ख) जैन**

इन संतों ने जैनों के आचार-विचार की भी कटु आलोचना की है। यदि कबीर ने उन्हें अनीश्वरवादी व वेद-वाह्य चार्वाको एवं बौद्धो के साथ गिनाया है तो अखा ने आत्मवादी कहा है—

जैन वौद्ध अरु साषत सैनां चारवाक चतुरंग बिहूँना॥
क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८२।

पिंडे हरि प्रतीत नांही सो ही सदा जैन है। अ०र० भजन ३२।

कबीर के अनुसार पानी को छानकर पीने वाले ये लोग एक ओर अपने पाडित्य का दंभ करते है ;दूसरी ओर अहिंसक होने का। जीव या आत्म-तत्त्व का भी इन्हे ज्ञान नहीं है। क्योंकि जिन पत्तियां के ये दोना बनाते है और मरुआ, चम्पक आदि के जिन फूलों को उसमे भरकर देवालयो मे लाते है, उनमे, अन्य जीवों को समान-कोटि के, करोडों

१. द्रष्टव्य, मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० २०६।
२. क०ग्रं०, चाणक की अंग, सा० १२।

जीव होते हे । उनकी हत्या तो करते ही है, देवालयों के निर्माण आदि के कार्यो मे भी ये लोग करोड़ों जीवो की हत्या करते है । इस प्रकार इनकी अहिंसा-संबंधी धारणा अद्भुत है । इनकी क्रियाएँ कामना से प्रेरित होती है इसलिए ये पतित (क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८२) भी होते है । अखा ने इन्हे वाद-विवाद मे निपुणता प्राप्त करने के लिए शुष्क ज्ञान प्राप्त करनेवाला[1], मूर्तिपूजक (छ० ३९५) एवं कर्मवादी (छ० ३८७) आदि कहा है और इनके द्वारा की जानेवाली भगवान् कृष्ण की निन्दा को यवनो द्वारा की जानेवाली निन्दा के समान बताया है ।[2]

जैसा कि पीछे भी सकेत किया जा चुका है, दोनो कवियो ने जैनो को षड्दर्शनों मे भ्रमित अथवा अतिशय पाडित्य प्राप्त करने के प्रयत्न मे रत कहा है और दोनो ने उनके दिगंबरी-वेश तथा केश-लुचन का उपहास किया है ।[3] सक्षेप मे कहा जा सकता है कि आलोच्य कवियो ने जैनो की निन्दा उनके अतिशय आचारवादी,मूर्ति-पूजक एवं अनास्था-वादी होने, नग्न फिरने, पुस्तकीय ज्ञान को महत्व देने एवं अहिंसा को मनमाने ढग से या संकुचित अर्थ मे ही अपनाने आदि कारणों से की है ।

**नाथ-पंथ**

आलोच्य कवियों की रचनाओं में 'नाथ-पंथ' अभिधान प्रयुक्त हुआ नही देखा गया । किन्तु जैसा कि अन्यत्र संकेत किया गया है, इस पंथ के सुप्रसिद्ध आचार्य गोरखनाथ का उल्लेख दोनों कवियो ने किया है । कबीर ने गोरखनाथ के मनोजयी ( क० ग्रं०, पद ३३ ) एव राम-नाम के ज्ञाता (वही. पद १६३) आदि होने और नारी से विरक्त व हरिनाम मे अनुरक्त होकर कलिकाल मे अमरता प्राप्त करने वाला कहा है ।[4] प्रसिद्ध नौ नाथो मे से गोरख के अतिरिक्त राजा गोपीचद एवं राजा भरथरी, (वही, पद ३३) के मनोजयी होने की भी उन्होने प्रशंसा की है । राजा भरथरी के वैराग्य की प्रशंसा एक पूरे पद (स० २९९) मे की गई है । इससे प्रकट है कि इस पंथ के आदि पुरुषो के असाधारण त्याग, वैराग्य, निग्रह या आत्म-सयम आदि के प्रति इनके मन मे अपार सम्मान था ।

---

१. दे०, अ०र०, भोरी भक्ति अंग, सा० २०, पृ० २१० ।

२. परवत तोल्या दव पीआ आनि दिया गुरु बाल ।
सो हरि पर दूनी राजी नहो अब जवन जैन देत है गाल ॥ अ० र०, दुनियाँ अज्ञान अंग, सा० ८, पृ० ३०४ ।

३ दे०, क० ग्रं०, रमैणी, पृ० १८२, पद १३२-१३३, अ० र०, क्रम जड की अग, सा० १, अखेगीता २९ ।

४ दे०, वही, साध सापी भूत कौ अंग, सा० १२, पृ० ४० ।

दूसरी ओर इस पंथ के, अपने समकालीन अनुयायियों द्वारा अपनाये गये वाह्याचारों की भर्त्सना दोनों कवियो ने खूब की है—

मूंड मुडाइ फूलि का बैठे काननि पहरि मंजूषा।
वाहरि देह पे; लपटांनी भीतरि तौ घर मूसा॥ क०ग्रं०, पद १३४।
मुद्रा पहरचा जोग न होई घूँघट काढ्यां सती न होई। वही, पद २१७।
स्वांग पहेन्या साई ना मिले माला मुद्रा दूर॥ अ०र०,गुलतान अंग, सा० ५

\+ + +

वोडे त्रोडे जोडे वाल अे ता सर्व उपल्यो जंजाल॥ छ० ३४१।

और इनको योग-साधना को सिद्धि-लाभ की कामना से प्रेरित, कष्टदायक, व्यर्थ का श्रम, अथवा अहंभाव से युक्त कपटाचार आदि कहा हैं—

हिरदै कपट (हरि) मूं नहिं साचौ कहा भयौ जे अनहद नाच्यौं॥
क०ग्रं०, पद २७८।

जोगी जती तपी सन्यासी अहनिसि खोजै काया।
मैं मेरी करि वहुत बिगूते विषै वाघ जग खाया॥ वही, पद १९२।
भानी मुद्रा भोग निमित्त ज्यु असन वमन वहु रिध त्रिशेखे॥
अ०वा, पद ९९।

जैसे योगी साधे काया खेचरी करे उपाय,
तैसो गत पंषी प्राय छोना के अपान मै॥ संतप्रिया ११८।

साथ ही सुधारवादी दृष्टि से उन्होंने इनकी योग-साधना की वाह्य-क्रियाओं और वेश-सबंधी वाह्याचारो के आन्तरिक या मानसिक रूपों को महत्व देने या अपनाने का सुझाव भी दिया है—

मन मैं आसन मन मैं रहणां मन का जप तप मन मूं कहणां।
मन मैं खपरा मन मैं सींगी अनहद वेन वजावै रंगी॥ क०ग्रं०, पद २०७
त्रित करि बटवा तुचा मेषली भसमैं भसम चढाइ।
तजि पाखंड पाँच करि निग्रह खोजि परम पद राइ॥ वही, पद २०८
जोग अखंडीत दिलमां वसै जो तु तारुं आप अभ्यसे॥ चि०वि०सू० २५२
अखा जोग सब सहज का हम तौ किया विचार॥
अ०र० अथ सहेजे अंग, सा० ५।

डा० मदनगोपाल गुप्त द्वारा निकाले गये निष्कर्ष के अनुसार नाथ पथ उस युग में वाह्याचार-प्रधान हो गया होगा, जिसके वाह्य उपकरणो को अन्तःसाधना की दिशा में मोड़ने का प्रयत्न (कबीर ने) किया है। अनेक नाथपंथी साधकों के प्रति इनकी

१. और दे०, चि०वि०सं० २५२।

सम्मान भावना इनके साम्प्रदायिक आग्रह से रहित दृष्टिकोण का द्योतन करती है।[1] डा० गुप्त का यह कथन जितना कबीर के विषय मे सत्य है उतना ही अखा के विषय में भी। फिर भी इतना उल्लेख्य है कि नाथपंथ के आदि पुरुषों के प्रति जो सम्मान और अपने समकालीन नाथपंथियों के बाह्याचारो के प्रति जो तीव्र, विस्तृत एवं सचोट प्रति-क्रिया कबीर की रचनाओ मे मिलती है वह अखा की रचनाओ मे नही है। इससे जहाँ एक ओर अखा की अपेक्षा कबीर के उनसे निकट के परिचय का ज्ञान होता है वहाँ दूसरी ओर उनके समय मे इनके व्यापक प्रभाव का भी संकेत मिलता है।

(घ) वैष्णवमत

कबीर ने राम के अतिरिक्त अपना दूसरा साथी वैष्णवों को माना है। प्रथम यदि मुक्तिदायक है तो द्वितीय भक्ति-भाव का प्रेरक। साथ ही उन्होने जहाँ शाक्त ब्राह्मण से भी मिलने को अशुभ माना है, वहाँ वैष्णव चाडाल से भी मिलने को श्री गोपाल से हुई भेंट सदृश कहा है, और शाक्तों के बडे गाँव की तुलना मे वैष्णव की झोपडी को भी श्रेष्ठ कहा है। इसलिए कहा जा सकता है कि वैष्णवों के प्रति उनके मन मे अपेक्षाकृत अधिक सम्मान था। किन्तु उनके भेषादिक के बाह्याचारो से उन्हे कोई सहानुभूति न थी अत यह भी कह दिया कि—

> वैसनो भया तो का भया बूझा नही बबेक।
> छापा तिलक बनाइ करि दगध्या लोक अनेक॥क०ग्रं०,भेष कौ अंग,सा० १६।

अखाकृत कुछ पदों (दे० अ०वा०, पद ६३-६५) मे नारद व श्रीकृष्ण के संवाद का आयोजन किया गया है, जिसमे श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों की ऐकान्तिकी निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, किन्तु साथ ही अन्य देवों की उपासना करनेवाले, माया के रंग में रँगे हुए वैष्णवों से स्वयं की उदासीनता का भी उल्लेख किया है। ऐसे ही माया के रंग मे रँगे वैष्णवो के प्रति अखा की उक्ति है कि जैसे राजा नाम धारण करने मात्र से राज्य की प्राप्ति नही हो सकती वैसे ही पेट भरने के लिए घर-घर फिरता हो तो वैष्णव कहलाने से कोई अर्थ नही सरता— ( छ० १९४ )। ये वेष-धारी वैष्णव प्रसाद के बहाने पत्तलें भरते हैं, पकवानों की प्रशसा करते हैं, ज्यो-ज्यो अधिक परसा जाय त्यो-त्यों अधिक खाते है। कीर्तन मे इनके द्वारा दिखाया जानेवाला उत्साह, अखा की दृष्टि से, युवानी का प्रदर्शन मात्र है—(छ० ६६४)।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आलोच्य कवियो ने सहज-भाव से निष्काम भक्ति करने वालों को ही सच्चा वैष्णव माना है और इसी दृष्टि से उनकी प्रशसा की है किन्तु वैष्णवो के वेश एव बाह्याचारो से उन्हे कोई सहानुभूति नही है।

---

१. द्रष्टव्य, मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० २०७।

उल्लेख्य यह है कि बाह्याचारों को ही सर्वस्व मानने और उन्ही मे रचे-पचे रहने वाले वैष्णवो एवं अन्य धार्मिक संप्रदायों को उन्होने एक ही सामूहिक नाम हिन्दू—से अभिहित किया है और उनकी धार्मिक मान्यताओं का खण्डन मुसलमानो के बाह्याचारों के साथ किया है अतः आगे उन दोनों के बाह्याचारो-विषयक इनके दृष्टिकोण को साथ-साथ रखकर देखा जायगा।

### (ङ) धार्मिक जगत् की इतर मान्यताएँ

यह हम अन्यत्र देख चुके है कि आलोच्य कवियों के काल-खण्डो मे, देश मे, हिन्दू और मुसलमान—दो मुख्य संप्रदाय थे और दोनो ही पारस्परिक द्वेष एवं घृणा के कारण सतत संघर्षशील स्थिति मे रह रहे थे। अतः जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त एवं चार्वाक आदि की जैसी ही सामान्य ढंग की आलोचना यदि हिन्दू व मुसलमानों की भी की जाती तो वह निश्चय ही अपर्याप्त और प्रभावशून्य सिद्ध होती। संभवत. यही कारण है कि आलोच्य कवियों ने इन दो संप्रदायो के धार्मिक ग्रन्थ, गुरु स्थान, तीर्थ, कर्मकाण्ड आदि उन सभी अंगों अथवा उपकरणों की विस्तृत समीक्षा की है जो उनके मध्य भिन्नत्व, दुराग्रह एवं वैमनस्य के सर्जक, पोषक एवं रक्षक कहे जा सकते है। उनकी इस बौद्धिक समीक्षा का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

#### (१) धर्मग्रन्थ

इस्लाम मे 'कुरान-शरीफ' एकमात्र और सर्वस्वीकृत धर्मग्रन्थ है जबकि हिन्दुओं मे वेद, वेदांग, स्मृति, पुराण. इतिहास आदि के रूप मे विपुल साहित्य है और एक या दूसरे रूप मे ये सब प्रामाणिक माने जाते है। कबीर की रचनाओ मे कुरान के अतिरिक्त वेद, स्मृति, ज्योतिष, व्याकरण, पुराण, आगम, निगम एवं उनके अनेक भेद होने का उल्लेख हुआ है।[1] अखा की रचनाओं मे गीता, भागवत, महाभारत, तैत्तिरीय, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक का विशिष्ट रूप से तो श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम, निगम, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, आयुर्वेद, पिंगलशास्त्र आदि का सामूहिक व सामान्य उल्लेख हुआ है।[2] यह उल्लेखनीय है कि श्रुति, स्मृति एवं पुराण आदि मे प्रतिपादित धार्मिक मन्तव्यो या विश्वासो की समीक्षा का कोई प्रयत्न कबीर की रचनाओ मे हुआ नही देखा गया जबकि अखा ने इस दिशा मे भी प्रयत्न किया है।

अखा का कथन है कि वेदों, स्मृतियों एवं पुराणों मे सर्वत्र व्यक्त (सगुण) ब्रह्म का

---

१. दे०, क०ग्रं०, जर्णा कौ अंग, सा० ३ एवं पद ३४, ३७, ४७, ४९, २१९, ३०१ तथा रमैणी, पृ० १७४।

२. दे०, चि० वि० सं० ३-४, ५१-६२, १५०, अ० वा०, पद ५०, ८० एवं अखेगीता क० ३०।

गुणगान किया गया है, सर्वव्यापी अव्यक्त का नहीं—(छ० ५३४)। वेद प्रारंभ में कर्म को मुख्य कहता है, मध्य मे ईश्वर को स्वीकारता है और अन्त मे उसे अवाच्य कहकर मौन का सहारा लेता है। श्रुति-स्मृति काल-क्रमानुसार ईश्वर को स्वीकार करती है, और उसके अनेक भेदों का भी उल्लेख करती हैं। सभी मे अनुमान से काम लिया गया है इसलिए उनमे मतैक्य का अभाव है; जिसे जो अच्छा लगा है उसने उसी आकार का समर्थन किया है। इनमे अनेक दार्शनिक मत हैं जो सभी माया के गर्भ में स्थित हैं—(अ०वा०, पद १३०)। श्रुति-स्मृति एव अठारह पुराणों मे कर्म के आधार पर जीव की सत्ता निश्चित की गई है। अर्थात् कर्म-प्रवाह और जीव का अस्तित्व—दोनों नित्य माने गये हैं। वेद यदि जीव को स्वीकार करते हैं तो स्मृतियाँ देह ( भौतिकता ) को भी स्वीकार करती हैं, और कर्म-धर्म के आचरण का विस्तृत विधान करती हैं। जीव का मूल क्या है ? वह किसमे निर्मित है ? उसका निमित्त एवं नियन्ता कौन है ? आदि पर विचार करके उसके स्वरूप का निश्चय इनमे नहीं किया गया —(अखेगीता क० ३०)। जिस प्रकार बालक को बहलाने अथवा डराने के लिए 'हउआ' का काल्पनिक अस्तित्व बताया जाता है उसी प्रकार श्रुति-स्मृति में ब्रह्म (या ईश्वर) का बडप्पन स्वीकार किया गया है—(अ०वा०, पद १४०)।

पुराणों ने वेद का ही अनुगमन करते हुए ईश्वर को सत्य माना है। ईश्वरत्व का निश्चय ऐश्वर्य के आधार पर किया गया है, अर्थात् श्रेष्ठ या सामर्थ्यवान् चरित्रों को ईश्वर माना गया है तो कनिष्ठ चरित्रों को जीव ही रहने दिया गया है—(छ० ५०९)। ईश्वर के चौबीस अवतार माने गये हैं, उनमे से कुछ एक को सार या (श्रेष्ठ) माना जाता है। उनकी भी प्रतिमाएँ बना ली जाती हैं। इस प्रकार माला ( या तत्र ) का विस्तार किया गया है—( छ० ५१० )। इनमे स्वीकृत कर्म एवं प्रतिमा-पूजन से स्वर्ग आदि लोको की प्राप्ति चाहे हो सकती हो, देहाध्यास दूर नही हो सकता—(छ० ५११)। इनमें स्वीकृत कर्म-धर्म एक प्रकार से जीव को उलझन मे डालने वाला उधार का व्यापार है—( छ० ५३५)। सब मिलाकर कहने का भाव यह है कि ये समस्त रचनाएँ श्रद्धा-युक्त कल्पना का सर्जन है बौद्धिकता का आधार इनमे नही लिया गया है।

कहना न होगा कि अखा द्वारा की गई यह समीक्षा आशिक रूप मे ही सत्य है और इसका मुख्य आधार श्रुति-स्मृति आदि विषयक कवि का श्रुत-ज्ञान है, गम्भीर अध्ययन नही। फिर अपनी अन्य अनेक उक्तियों मे उन्होने इन्ही श्रुति-स्मृतियो का प्रमाण स्वीकार किया है, अत. स्पष्ट है कि इस प्रकार की आलोचना मे वे अपने युग से अधिक प्रभावित हुए है।

एक ओर पुरान व कुरान अथवा वेद व कतेब संबधी अपनी प्रतिक्रिया मे आलोच्य

कवियों ने उन्हें बावन अक्षरों का शब्दजाल[1], जीव-बुद्धि का सर्जन[2], माया का कृत्य[3], भ्रामक[4], अहंभाव का पोषक[5], प्रभु का ज्ञान कराने मे अक्षम[6], जागृतो के लिए विष-सदृश[7], और इनकी मर्यादाओं को गले की फांसी[8] आदि कहा है। इच्छनीय समस्त पांडित्य को राम-नाम के दो अथवा 'पीव' के एक ही अक्षर मे अन्तर्निहित बताकर इन पुस्तकों को बहा देने का विधान किया है[9], और पुस्तकीय ज्ञान की निरर्थकता के विषय में स्पष्टतः कहा है कि—

पोथी पढ़ि पढि जग मुवा पंडित भया न कोइ।
एकै आखर पीव का पढै सु पंडित होइ॥[10]
वण कीधे हरिलेखे लह्यो प्रीति करी पारंगत थयो॥ छ० २३८।
ब्रह्मरस ते पीओ रे जे कोई ब्रह्म अंगी होय।
वेद शास्त्र अध्यात्म सघलां प्रत्यक्ष आवे सोय॥ अ०वा०, पद २६।

दूसरी ओर यह भी कहा है कि—

वेद कतेब कहौ क्यूं झूठा झूठा जो न विचारै। क०ग्रं०, पद ६२।
साधन लखियां वेद पुराण अद्वैतनी उपजेवा जाण॥ छ० १२६।
सत्शास्त्रने शोधते सद्य टलीजे जत॥ अ० र०, अथ प्रीछ अग, सा० ७, पृ० ३५२।

इन दोनो प्रकार की उक्तियों का विरोधाभास स्पष्ट है। जिन्होने कबीरादि संतों को वेद व कुरान का निन्दक माना है[11] उन्होने प्रथम उक्तियो को और जिन्होंने ऐसा नही

१. दे०, क०ग्रं०, पद ३४ एवं 'ख' प्रति की रमैणी, पृ० १६९, अखेगीता, क० २४, छप्पा ९३, २९४।
अ०वा०, पद ८० तथा अ०अ०वा०, गुज० भजन ७, पृ० २४।
२. वही, रमैणी, पृ० १७४, पद ३४ छप्पा ३०८, चि०वि०सं० ३-४, ६१-६२,१५०।
३. दे०, वही, पद ३३६, छप्पा ४४०, १६०, २९६।
४. दे०, वही, पद ४७, छप्पा १७९, अ०वा०, पद ५०, सोरठा—७३।
५. दे०, वही, पद १३२, २६४, छप्पा ६५२, २१५।
६. दे०, वही, पद ३४५, जर्णा कौ अंग, सा० २, अ० र० जकड़ी २० एवं झू० २९।
७ दे०, वही, पद ३५२, अ०वा०, पद ८०।
८ वही, पद १२९, अ०वा०, सोरठा—६८।
९. क०ग्रं०, कथणी विना करणी कौ अंग, सा० २, पृ० ३०।
१०. वही, सा० ४, पृ० ३०।
११. दे०, अयोध्यासिंह उपाध्याय : कबीर वचनावली का 'मुखबंध'
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहि भगत कलि निंदहि वेद पुरान॥ तुलसी।

माना है[1] उन्होंने द्वितीय उक्तियो को अपने मत का आधार बनाया है।

तार्किक दृष्टि से तथ्य यह प्रतीत होता है कि किसी भी धर्म-ग्रन्थ या ग्रंथकार अथवा सभी धर्म-ग्रन्थों के भी, ब्रह्म के स्वरूप-निरूपण को पूर्ण मान लेना, न केवल ब्रह्म के ब्रह्मत्व को सीमित या समाप्त करना है वरन् उस ग्रन्थ या ग्रन्थों के कर्त्ताओ को ब्रह्म से श्रेष्ठ स्वीकार कर लेना भी है। भाव यह है कि ब्रह्म का ब्रह्मत्व मनुष्य के लिए उसके अज्ञात व अकथनीय होने मे ही है, ज्ञात व कथनीय होने मे नही। इसलिए किसी धर्म-ग्रन्थ अथवा ग्रथो को ब्रह्म-स्वरूप के निरूपण मे अक्षम मानना और ब्रह्म को उनसे परे मानना—जैसा कि आलोच्य कवियों ने किया है[2]—उन ग्रन्थों की निन्दा नही वरन् ब्रह्म को निस्सीम व अकथनीय सिद्ध करना है।

उपनिषत्कारो के अनुसार भी 'परमात्मा केवल प्रवचन, मेधा एवं श्रवण आदि से प्राप्य नही है। साधक द्वारा इच्छा (या प्रार्थना) किये जाने पर वह कृपा करके स्वयं को व्यक्त कर देता है—( मुण्डक ३।२।३ व कठ० १।२।२३ )। उसका कृपा-पात्र बनने के लिए साधक को शरणागति स्वीकार करके ( श्वेता० ६।१८ व ५।५ ) उसकी उपासना करनी चाहिए—(वही, ६।५)। अन्तस्साधना को महत्व देने वाले सिद्धों एवं नाथपथियो द्वारा किया गया पुस्तकीय ज्ञान का विरोध भी सर्वविदित है। कबीर एवं अखा भी अन्तस्साधना को महत्व देने वाले भक्त थे, यह हम देख चुके है। अतः उन्होने भी इसी परम्परा का अनुगमन करते हुए अपनी भक्ति मे पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा शरणागति को अधिक महत्व दिया है—

> रुग न जुग न स्याम अथरवन वेद नही व्याकरना।
> तेरी गति तू ही जानै कबीर तौ सरना ।। क०ग्रं०, पद २१९।
> शब्री शु संस्कृत भणी हती भाई कथा वेद वाच्या करमाबाई।
>
> \+ \+ \+
>
> वली श्वपचनी समजो रीत अखा हरि तेना जैनी साची प्रीत ।। छ० ७१७।
> अहंकार तजीने आशे रह्यो मन कर्म वचने तमारो थयो ।। छ० ६९१।

इस प्रकार पुस्तकीय पाडित्य की तुलना मे वे राम-नाम के दो अथवा 'पीव' के एक अक्षर को अधिक महत्व प्रदान करें तो इसमे कोई नवीनता नही है। किन्तु इस सबका

---

१. हिन्दी सन्त-साहित्य के अधिकांश विवेचकों ने ऐसा नही माना है।

२. पाठ पुरांन वेद नही सुमृत तहाँ बसै निरकारा ।। क०ग्रं०, पद ३४५, दे०, जर्णा कौ अंग, सा० २।

> सहजे सहजे साजन घरू आया जे वेद किताबु नही लखाया ।।
> अ० र०, जकड़ी—२०।
> कुरान पुरान कहे माप मे की अमाप अखा भेदून लहे ।। वही, झू० ६८।

यह अर्थ भी नहीं है कि उन्होंने आत्म-ज्ञान से शून्य भक्ति का समर्थन किया है या धर्म-ग्रन्थों को निरर्थक सिद्ध किया है, क्योंकि वेद-पाठी पंडितों से उन्हें जो कहना है वह इस प्रकार है—

> वेद पढ्याँ का यहु फल पाडे सब घटि देखै रामा ।
> जन्म मरन थे तौ तू छूटे सुफल हूँहि सब कामा ।। क०ग्रं०, पद ३६ ।
> पडितो प्रीछजो रे भाई आप टल्यै भव पार । अ०वा०, पद २१ ।
> गुजा रत्न अेक कां गणै ? अखा गण्या विना शु भणै[1] ? छ० ७५६ ।

और कुरान का पाठ करने वाले काजियो से कबीर कहते है—

> काजी कौन कतेब बषानै,
> पढत पढ़त केते दिन बीते गति एकै नही जानै ।
> छाड़ि कतेव राम कहि काजी खून करत हो भारी ।
> पकरी टेक कबीर भगति की काजी रहे झष मारी ।। क०ग्रं०, पद ५९ ।

स्पष्ट है कि सर्वात्मवादी दृष्टि अथवा प्रभु की भक्ति की प्राप्ति के शुभ हेतु से किये जाने पर, न उन्हें ब्राह्मण के वेद-पाठ से विरोध है न काजी के कुरान-पाठ से । तदुपरान्त आलोच्य कवियो की मान्यता है कि इन ग्रन्थों के रचयिता कर्तापन के और अध्येता विद्वत्ता के अहंभाव से या तो युक्त होते हैं या उसे प्राप्त होते है । जबकि संत लोग अहंकार से रहित होते है । परिणामस्वरूप इनके कर्ता व अध्येता इनके लाभ से वचित होते हैं और सत लाभान्वित—ठीक वैसे ही जैसे रेती मे पडी चीनी को हाथी नही उठा पाता किन्तु चीटी उठा लेती है ।[2] अत. उनके अनुसार पडित व मुल्ला—ग्रन्थो के रचयिता—इस खेती के मजदूर है और संत फल के भोक्ता ।[3]

इस प्रकार इन ग्रन्थों से लाभान्वित होने की बात जब उन्होने स्वयं ही स्वीकार की हो तो उनके द्वारा इनकी निन्दा, या अनुपयोगिता के प्रतिपादन का प्रश्न ही नही उठता । अत. कहा जा सकता है कि संतो की जिन उक्तियो मे 'वेद-कतेब' की निन्दा का आभास होता है उनका मुख्य लक्ष्य ब्रह्म की निस्सीमता का प्रतिपादन करना, उनके रचयिताओं व अध्येताओं को अहभाव से दूर रहने की सलाह देना एवं उनकी रचना तथा बार-बार के अध्ययन को ही धर्म-सर्वस्व न मान लेने का उपदेश देना आदि हैं ।

---

१. और दे०, अ० वा०, पद २१, २४,५०, छप्पा १६०, संतप्रिया, क० ६०-६१ तथा सोरठा १६६-६७ ।

२. पाने पोथे लखिया हरि ज्यम वेलुमां खाड वीसरी ।
ते संते खाधी कीडी थई अने वंचक समूधी वही ।।
ते माटे ते तेवाना तेवा रह्या अखा संत पारंगत थया ।। छ० १९१ ।

३. क० ग्रं०, चाणक कौ अंग, सा० ९, पृ० २८ एवं अ० र०, ज्ञानी कौ अंग, सा० ९, पृ० ३४० ।

धर्म-गुरु

'धर्म-गुरु' से यहाँ लेखक का आशय उन गण्यमान्य व्यक्तियों से है कि जो स्वयं के धर्म के आदर्श पालक, प्रचारक एवं समर्थक आदि होने या माने जाने के कारण अनुयायियों के श्रद्धा-पात्र और धार्मिक अनुष्ठानो मे अग्रगण्य होते है। अधिकाश हिन्दुओं मे ब्राह्मण, कि जिन्हे पडित, पाडे, पुजारी एवं पुरोहित आदि भी कहा जाता है, और मुसलमानो मे काजी, मुल्ला, दरवेश, मुर्शिद, पीर, फकीर एवं शेख आदि धर्म-गुरुओं के रूप मे मान्य होते है। धर्म-क्षेत्र मे अथवा साम्प्रदायिक विषयों मे प्रजा का नेतृत्व इन्ही का होता है। अत कबीर एवं अखा आदि संतो ने अपना मुख्य निशाना इन्ही को बनाया है। पारस्परिक भेद-भाव एवं द्वेष-भाव की प्रेरक संकीर्ण साम्प्रदायिकता के आग्रह को त्याग कर सर्वव्यापी, अनाम, अरूप, एक परमात्मा की भक्ति के सही मार्ग को ग्रहण करने के लिए समझाने के अपने प्रयत्न मे आलोच्य कवियों ने कही तो इन्हे ललकारा है–

कौन मरै कहु पडित जना सो समझाइ कहौ हम सना ॥ क०ग्रं०, पद ४५।
पडित जाण कही अे मर्म अणजाण्ये शु साधन धर्म ? ॥ छ० ५२१।
मुला करि ल्यौ न्याव खुदाई, इहि विधि जीव का भरम न जाई ॥
क०ग्रं०, पद ६२।

कही फटकारा है—

पाडे कौन कुमति तोहि लागी, तू राम न जपहि अभागी ॥ क०ग्रं०, पद ३९
मीया तुम्ह सों बोल्या बणि नही आवै ॥ क०ग्रं०, पद २५५।

तो कही समझाया भी है—

सो कछु विचारहु पंडित लोई, जाके रूप न रेख वरण न कोई ॥
क०ग्रं०, पद ३७।
कहै कबीर सुनि पडित गुनी, रूप मुवा सब देखै दुनी ॥ वही, पद ४५।
पडित प्रीछ जो रे भाई, आप टल्ये भव पार ॥ अ०वा०, पद २१।

अन्त मे इनके आदर्श रूप क्या होने चाहिए ? एतत्संबधी कुछ निजी मन्तव्यो के विधान भी इन कवियो ने किये है; जिनके अनुसार—

सो ब्रह्मा जो ब्रह्म विचारै सो जोगी जग सूझै ॥ क०ग्रं०, पद १५७।
ब्राह्मण ते जे ब्रह्म जाणे अने ब्रह्म देखी ब्रह्म ध्याय ॥ अ० वा०, पद २१।
काजी सो जो काया विचारै तेल दीया मै बाती जारै ॥ क० ग्रं०, रमैणी,
पृ० १५६।
आप विचारै सोहि आलिम दर्वेश भी दानेशमंद सही ॥[1] अ०र०, झू० ७४।

---

१. और दे०, क०ग्रं०, पद ३३०, अ०र०झू० ७४, कजा कौ अंग, सा० १२, पृ० ३२७।

सारांश यह है कि पंडित हो या ज्ञानी, मुल्ला हो या काजी, यदि वह अभेद का उपासक और पोषक है तो वन्दनीय है[1], अन्यथा निन्दनीय है। साथ ही यह कि इन धर्म-गुरुओं के प्रति कटु-सत्य से युक्त जैसी वेधक उक्तियाँ कबीर की रचनाओं मे हैं; अखा की रचनाओं मे अपेक्षाकृत रूप में कम है।

**धर्म-स्थान**

हिन्दुओं मे मंदिर और मुसलमानों मे मस्जिद पवित्र देव-स्थान या धार्मिक स्थान माने जाते है। प्रथम पूर्व दिशा को तो द्वितीय पश्चिम को वंदनीय मानते है। कबीर एवं अखा ने इन भ्रामक मान्यताओं का प्रत्याख्यान किया है—

इनकै काजी मुलां पीर पैकंबर रोजा पछिम निमाजा।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा ग्यारसि गंग दिवाजा॥
तुरक मसीति देहुरी हिन्दू दहुँठा रांम खुदाई।
जहाँ मसीति देहुरा नांही तहां काकी ठकुराई॥ क० ग्रं०, पद ५८।
कोई पूरब नमे वया और एक दस है ज खाली? अ०र०, झू० ७५।
पूछ्या पूरब पच्छिम के नम नारे को वो भी कहे हम नाहि पेखा॥
वही, झूलना—१३।

कहना न होगा कि किसी विशिष्ट स्थान या दिशा मे ही परमात्मा की स्थिति मानने का अर्थ अन्य स्थानों व दिशाओं को उससे रिक्त मानना है। कबीर एवं अखा ने परमात्मा को सर्व-व्यापी माना है। अतः उपर्युक्त मान्यताएँ सैद्धान्तिक दृष्टि से असगत अथवा अतार्किक ही नहो है, व्यवहार मे साम्प्रदायिकता की पोषक भी है। संभवतः इन्ही कारणों से परमात्मा के नाम पर मानवता के बीच खड़ी की जानेवाली इन दीवारो का समर्थन उन्होंने नही किया है।

**तीर्थ-स्थान**

परमात्मा के अवतार अथवा पैगम्बरों के जीवन से संबंधित स्थान ही प्राय तीर्थ-स्थान माने जाते है। एक या दूसरे रूप मे इनकी स्वीकृति प्रत्येक धर्म एवं देश मे पाई जाती है। राष्ट्र के सामाजिक, सास्कृतिक एवं धार्मिक जीवन मे इनके महत्व का प्रतिपादन डा० मदनगोपाल गुप्त ने विस्तारपूर्वक किया है।[2] कबीर एवं अखा की रचनाओ में हिन्दुओ के तीर्थो की संख्या 'अड़सठ' होने का उल्लेख है[3] किन्तु मथुरा, अवध, गोकुल, वृन्दावन, प्रयाग, जगन्नाथ एवं द्वारिका आदि के ही नामो का उल्लेख मुख्य रूप से किया गया है। मुसलमानों के तीर्थो के रूप मे मक्का व मदीना सर्वविदित है, कबीर ने इन्हें 'काबा' भी कहा है। इनकी यात्रा 'हज्ज' कही जाती है।

---

१. कालचक्र का मरदै मान ता भुलनां कूँ सदा सलाम॥ क०ग्रं०, पद ३३०।
२. दे०, भारतीय साहित्य और संस्कृति, पृ० १८३-८७।
३. क०ग्रं०, पद २७७, अ०वा०, पद १५।

साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार स्वर्ग या पुण्य की प्राप्ति अथवा पापों से मुक्ति तीर्थयात्रा का फल माना जाता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति जीवन में कम से कम एक बार तीर्थ-यात्रा करना सौभाग्यपूर्ण मानता है। कबीर एवं अखा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, परमात्मा की प्राप्ति घर मे ही मानते हैं, स्वर्गादिक में भी उनका विश्वास नही है। अतः एतत्संबंधी अपनी प्रतिक्रिया मे सर्वप्रथम तो उन्होंने तीर्थ-यात्रा को व्यर्थ का श्रम माना है—

मथुरा जावै द्वारिका जावै जावै जगनाथ।
साध की संगति हरि भगति बिन कछू न आवै हाथ ॥

क०ग्र०, साध कौ अंग, सा० ३।

हज्ज तीरथ हजार हुवे ऐन अखंड जिस घर आया।
इन बीने फिरते बहुत मुवे कहां? किंनु? किस ठौर पाया ॥ अ०र०, छ्ू० २५
सेष सबूरी बहिरा क्या हज कावै जाई।
जिनकी दिल स्याबति नही तिनकौ कहा खुदाई ॥

क०ग्रं०, सांच कौ अंग, सा० ११।

किन्तु समाज मे इनके प्रति लोगों की अतिशय-रुचि अथवा महत्व के प्रचलन को लक्ष्य मे रखकर ही शायद उन्होने इनके दो विकल्प भी प्रस्तुत किये हैं। प्रथम तो उन्होने तीर्थ-यात्रा से प्राप्त फल से सत्संग व गुरु-सेवा से प्राप्त होनेवाले फल को अधिक अर्थपूर्ण बताया है—

कहै कबीर मैं खरा उदास तीरथ बड़े के हरि के दास ॥ क०ग्रं०, पद २७।
सकल तीरथ सदगुरु ने चरणे पाप ताप टली जाय ॥ अ०वा०, पद ५१।

दूसरे समस्त तीर्थो की स्थिति काया के अन्तर्गत बताई है। अर्थात् षट्चक्रों मे देवताओं के जो पीठ-स्थान माने गये है वे ही सच्चे तीर्थ है—

काया मध्ये कोटि तीरथ काया मध्ये कासी।
उलटि पवन पटचक्र निवासी तीरथराज गंग तट वासी ॥[1] क० ग्रं० १७१।
सत्तरि कावे इक दिल भीतरि जे करि जानै कोई ॥ वही, पद २५५।
तन तीरथ तु आतम देव, सदा सनातन जाणे भेव ॥ छ० ४०५।

तीर्थो के जल से स्नान करने पर पवित्रता की प्राप्ति की, विशेषकर हिन्दुओं की, मान्यता को ये कवि निरर्थक ही मानते है। प्रथम तो उनकी मान्यता है कि तीर्थ-जल से किया गया बाह्य स्नान केवल तन के मैल को ही धो सकता है मन के मैल को नही, और पवित्रता मन की ही होनी चाहिए तन की नही।[2] दूसरे अपनी तर्कपूर्ण शैली में वे

१. और दे०, क० ग्र०, पद ६१, भ्रम बिधौंसण कौ अंग, सा० १०, छप्पा ४०४।
२. दृष्टव्य, क०ग्रं०, पद २७७ एवं अ०वा० पद १५।

कहते है कि यदि जल स्नान से ही भक्ति, मुक्ति या पुण्य, अथवा स्वर्गादिक की प्राप्ति संभव होती तो गंगा मे रहनेवाले-मेढक, मछली आदि जलचरों को भी इनकी प्राप्ति होनी चाहिए थी, किन्तु ऐसा नही होता।[1] इस प्रकार जहाँ एक ओर उन्होंने वाह्य तीर्थ-स्नान की अनुपयोगिता सिद्ध की है, वहाँ दूसरी ओर कायागत तीर्थों के जल मे स्नान करने का अनुमोदन भी किया है—

गंग जमुन उर अतरै सहज सुंनि ल्यौ घाट।
तहाँ कबीरै मठ रच्या मुनि जनि जोवे बाट॥[2] क०ग्रं०, लै कौ अंग,सा० ३।
आतमा तीरथे न्हाव रे मानवी ! तीरथराज अेवुं वेद वचने॥
अं०अ०वा०, गुज० भजन २९।

इससे स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों ने तीर्थ-यात्रा एवं तीर्थ-स्नान संबंधी, भेद-भाव को वढ़ानेवाली, वाह्य क्रियाओं को निरर्थक बताकर उनके अन्तस्साधना के अनुरूप रूप के अपनाने पर जोर दिया है।

**आराध्यदेव**

विविध संप्रदायों के देवी-देवताओं और अपने इष्ट ब्रह्म के मध्य आलोच्य कवियों द्वारा स्वीकृत कार्य-कारण के सम्बन्ध का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। अतः यहाँ हिन्दू और मुसलमानो के इष्टदेवों के विशेष संदर्भ मे इतना उल्लेख्य है कि इनकी रचनाओं मे हिन्दुओं में 'स्वीकृत' तैंतीस कोटि की देवसंख्या[3], कुल-देवताओं की उपासना[4], शिव, शक्ति, ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश, शेष, हनुमान्, सरस्वती आदि का सामान्य, किन्तु विष्णु,राम व कृष्ण का विशेष, उल्लेख हुआ है। तदुपरान्त अखा ने हिन्दुओं मे पशु, वृक्ष एवं पत्थरों की पूजा के प्रचलन का भी उल्लेख किया है—(छ० २८८)। दोनों ही कवियों ने हिन्दुओं की इस बहुदेवोपासना को अज्ञान-जन्य बताया है—

बावा पेड़ छाड़ि सब डाली लागे मूंढे जंत अभागे।
+ + +
देवलि जाऊँ तो देवी देखौं तीरथि जाऊँ तो पाणी।
ओछी बुद्धि अगोचर वाणी नही परम गति जांणी॥[5] क०ग्रं०, पद १९७।
अे अखा वडुं उतपात घणां परमेश्वर अे क्यानी वात। छ० ६२९।

---

१. द्रष्टव्य, क० ग्रं०, पद ३४५, ३४६ एवं अ० र०, खलज्ञानी कौ अंग, सा० १, पृ० ३०२, अ०वा०, पद १६।
२. और दे०, वही, पद ३९१।
३. दे०, क०ग्रं०, पद १ अनुभवविंदु—२३।
४. दे०, वही, पद ३८० अनुभवविंदु—२१।
५. और दे०, वही, पद १९८, छप्पा ४०८, ३८५।

और इन सबके स्थान पर एक की उपासना को विधेय ठहराया है—

> एक जनम कै कारणै कत पूजौ देव सहसौ रे।
> काहे न पूजो रामजी जाकौ भगत महेसौ रे॥ क०ग्रं०, पद १२७।
> शिवने सदा उपास अज इच्छा राखे सदा।
> विष्णु धरे विश्वास सरवातीत स्वामी खरो॥ सो० २३७।

इस्लाम मे भी एक ही इष्टदेव स्वीकृत है। किन्तु आलोच्य कवियो का ब्रह्म इस्लाम के खुदा या अल्लाह से भिन्न है। अल्लाह सातवें आसमान मे अर्श के सिंहासन पर विराजमान न्यायी शासक है, जब कि इनका स्वामी घट-घट व्यापी है।[1] यह हम अन्यत्र कह चुके है कि आलोच्य कवियो ने देव-लोकों एवं देवताओं को सृष्टि के अन्तर्गत माना है। अतः जिस प्रकार हिन्दुओं के देवता अथवा राम-कृष्ण आदि द्वैतभाव के पोपक नामरूपात्मक दैवी अस्तित्व माने गये है वैसे ही उन्होंने इस्लाम के खुदा को भी माना है।[2] अखा ने हिन्दुओ के राम व मुसलमानो के अल्लाह को स्पष्टतः साम्प्रदायिक कलह का कारण भी बताया है—(दे०, छ० ३०४)। सब मिलाकर उन्हें पूछना यह है कि जब राम व खुदा और हिन्दू व मुसलमान नही थे तब कौन था?

> जब नही होते राम खुदाई, साखा मूल आदि नही भाई।
> जब नही होते तुरक न हिन्दू, मा का उदर पिता का व्यदू॥
> क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८१।

और कहना यह है कि—

> हिन्दू तुरक का कर्ता एकै ता गति लखी न जाई॥ क०ग्रं०, पद ५८।
> कहै कबीर चेतहु रे भौदू, बोलनहारा तुरक न हिन्दू॥ वही, पद ५६।
> कहै कबीर यह मुलना झूठा, राम रहीम सबनि मैं दीठा॥ वही, पद ६०।
> नाहि हरो हिन्दू अखा नाही मीरा मुसलमान।
> बिच खेचा ताणी मत करो पण पीउ का नही पहचान॥
> अ०र०, तपास अंग, सा० ३।

इस प्रकार उन्होंने राम-रहीम के कारणभूत, सर्वान्तर्यामी, आत्मतत्व को उपास्य ठहराकर साम्प्रदायिक धारणाओं को निर्मूल करने का प्रयत्न किया है।

---

१. मुसलमान कहै एक खुदाइ कबीर को स्वामी घटि घटि रह्यौ समाइ॥
क०ग्रं०, पद ३३०।

२. हिन्दू मूये राम कहि मुसलमान खुदाइ।
कहै कबीर सो जीवता दुहु मैं कदे न जाइ॥ क०ग्रं०, मध कौ अंग, सा० ७।
अलह पाक तू नापाक क्यूं अब दूसर नाही कोइ॥ वही, पद २५७।

परलोक

'परलोक'-सम्बन्धी धार्मिक धारणा का आधार मृत्यु के पश्चात् के जीवन मे विश्वास होता है और इसके अन्तर्गत प्राय: दो लोकों की कल्पना की जाती है—(१) सुखद और (२) दुःखद । प्रथम मे पुण्यात्मा अपने पुण्यों के बदले सुख भोगते है तो द्वितीय मे दुष्टात्मा अपने पापो को लिए दण्डित होते है । हिन्दू धर्म मे इन्हे क्रमश स्वर्ग व नरक तो इस्लाम मे जन्नत व जहन्नुम अथवा बिहिश्त व दोजख कहा जाता है । कबीर एवं अखा ने सर्व-प्रथम तो, मृत्यूपरान्त ही दिखाई देनेवाले स्वर्ग के अस्तित्व को शंकास्पद माना है—

उहा न दोजग भिस्त मुकामा, इहा ही रांम इहा रहिमाना ।।क०ग्रं०,पद ६१
चलन चलन सब को कहत है ना जानौं बैकुठ कहाँ है ।
जोजन एक प्रमिति नही जानै, वातनि ही वैकुठ बखानै ।।

\+ + +

कहे सुनें कैसै पतिअइये जब लग तहाँ आप नही जइये ।। क०ग्रं०, पद २४ ।
जीवता नर कलपी कहे परलोक की बात बनाय ।
पण मुआ कोई न कहे अखा सुख दुख पण्डित राय ।।[१]

अ०र०, संसै परिहार अंग, सा० १ ।

दूसरे इसमें विश्वास करने वालों का उन्होने उपहास किया है ।[२] जो ठीक भी है, क्योकि जिसे इष्टदेव से अभेद स्थापित करने वाली मुक्ति मे विश्वास हो वह द्वैत भाव के पोषक स्वर्ग को क्यो मानेगा ?[३] फिर यदि कहो उन्होने इनके अस्तित्व को स्वीकार किया भी है तो इहलोक की तरह ही इनको भी अनित्य सृष्टि का एक अंग माना है ।[४] उल्लेख्य यह है कि कबीर ने 'साध की संगति' को सच्चा वैकुण्ठ और 'आत्म-ज्ञान' को सच्ची भिस्त बताया है ।[५]

इस प्रकार इन संतो ने साम्प्रदायिक आस्थाओं पर आश्रित स्वर्गादिक-विषयक धारणाओ का एक ओर सैद्धांतिक खण्डन किया है दूसरी ओर इनके व्यावहारिक, सर्वोप-लब्ध एवं सर्वोपयोगी रूप का विधान भी किया है ।

मन्त्र

प्राय. प्रत्येक धार्मिक संप्रदाय मे कोई एक वाक्य अथवा वाक्याश मूल-मन्त्र के रूप मे मान्य होता है, जिसके विधिवत् किये गये सतत जप से परलोक के सुधरने अथवा

१. और दे०, सतप्रिया, कवित्त ३६-३७ ।

२. सरग के पथि जात सब लोई, सिर धरि पोट न पहुँच्या कोई ।। क०ग्रं०,पद २३९ ।

३. दे०, क०ग्रं०, पद ५२, अ०अ०वा०, गुजराती भजन ४५, पृ० ७२ ।

४. दे०; गु०शि०सं० ३,३९-४० एवं अ०वा०, पद ६८ ।

५. द्र०, क०ग्रं०, पद २४ एवं २५५ ।

पवित्रता प्राप्त होने आदि की दृढ-आस्था सम्बन्धी संप्रदाय के अनुयायियों में होती है। हिन्दुओं का गायत्री-मन्त्र और मुसलमानों का कलमा ऐसे ही मन्त्र कहे जा सकते है। सांप्रदायिकता के पोषक इस तत्व को भी आलोच्य कवियो ने निरर्थक कहा है—

गायत्री जुग चारि पढाई पूछौ जाइ कुमति किनि पाई ॥

क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८२।

जिनि कलमा कलि माहि पठावा कुदरति खोजि तिन्हूँ नही पावा ॥

वही, वही, पृ० १८१।

जैन कर्मनी सदा दे सीख जवन माने कलमे शरीख ॥

अखा साहु वांधे बाकरी पण को न जुओ हरि ने पाछो फरी ॥ छ० ३८७।

कबीर ने 'गुरु-मुख' होने को—( दत्तचित्त होकर गुरु के उपदेश को ग्रहण करने को)—ही सच्चा कलमा कहा है।[1] तदुपरान्त दोनों कवियों ने राम-नाम को सच्चा मंत्र कहा है—

र रा म मां दोइ आखिर सारा, कहै कबीर तिहूँ लोक पियारा।

क०ग्रं०, पद २७९।

जपौ राम ज्यूँ अंति उबारै, ठाढ़ी बाँह कबीर पुकारै ॥ क०ग्रं०, पद १२८।

राम तारक मंत्र जे ते न अखेगीतानो भाव ॥ अखेगीता—क० ४०।

कहना न होगा कि उनका 'राम' सर्वान्तर्यामी आत्मा का वाचक है अतः सभी प्रकार की साम्प्रदायिक भावनाओं से सर्वथा मुक्त है—(दे०, क०ग्रं०, पद ५६-५७)।

**व्रत**

हिन्दू एवं मुसलमान दोनों संप्रदायों मे कतिपय तिथियो, वारों एवं महीनों को व्रतादिक संयमों का पालन करके, शेष दिनों से कही अधिक धार्मिक महत्व दिया जाता है। हिन्दुओं के सोम, मंगल, गुरु, एकादशी, अमावस, पूर्णिमा, श्रावण एवं अधिकमास के; और मुसलमानों के रोजा, रमजान या मुहर्रम आदि के; व्रत इसी प्रकार के कहे जा सकते है। कबीर ने अन्य साम्प्रदायिक कर्मों एवं धारणाओं के समान इन्हे भी निरर्थक घोषित किया है—

ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबीसो काजी महरम जांन।

ग्यारह मास जुदे क्यूँ कीये एकहि माहि समान ॥ क०ग्रं०, पद २५९।

रोजा करे निवाज गुजारै कलमै भिसत न होई ॥ वही, पद २५५।

अखा ने बारह महीनों को एक समान बताते हुए, किसी को अधिक तो किसी को कम महत्व देने की मान्यता को अज्ञानजन्य एव भ्रामक माना है क्योंकि परमात्मा तो बारहो महीने सदा समान ही रहता है—(अ०वा०, पद ७)। दोनों कवियों द्वारा रचित

१. गुर मुखि कलमा ग्यान मुखि छुरी हुई हलाल पचू पुरी ॥ क०ग्रं०, पद २५६।

सात वार[1], पन्द्रह तिथियों[2] एवं बारह-मास[3]-विषयक रचनाओं में सभी वार, तिथि एवं महीनों के समान महत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार उन्होने न केवल व्रतादिक का खण्डन किया है वरन् देशकालातीत परमात्मा की भक्ति या ज्ञानादिक की प्राप्ति के लिए सभी दिनों के समान महत्व का प्रतिपादन भी किया है।

### पशु-बलि

कबीर एवं अखा के समय तक ब्राह्मणों का याज्ञिक कर्म और उसमे आचरित हिंसा अथवा बलि-प्रथा प्रायः लुप्त हो चुकी थी, फिर भी यत्र-तत्र इसका प्रचलन पाया जाता हो तो आश्चर्य नही। क्योंकि दोनों ही कवियों ने ऐसी हिंसा की निन्दा की है।[4] इतना अवश्य है कि उन दिनों पशु-बलि हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग न रह गई थी, अतः एतद्विषयक उल्लेख इन कवियों की रचनाओं मे विशेप नही है। मुसलमानो मे 'ईद' आदि त्यौहारों पर हिंसा का प्रचलन यथावत् था। अत. आलोच्य कवियों, विशेपकर कबीर, की रचनाओं मे इनके द्वारा की जानेवाली मुर्गी, बकरा एवं गाय की हत्या के विस्तृत उल्लेख है, और उनमे उनकी कड़े शब्दों मे निन्दा की गई है—

> कुकडी मारै बकरी मारै हक हक हक करि बोलै।
> सबै जीव साईं के प्यारे उबरहुगे किस बोलै ॥ क०ग्रं०, पद ६२।
> गाफिल गरब करै अधिकाई, स्वारथ अरथि बधै ए गाई।
> \+ + +
> लहुरै थकै दुहि पीया खीरो ताका अहमक भकै सरीरो ॥
> बे अकली अकलि न जांनई भूलै फिरै ए लोइ ॥ क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८२।

कबीर ने इन हिंसात्मक धार्मिक कार्यो को जिह्वा के स्वादवश किये गये कार्य माना है और इसके आचरणकर्ता को भगवान् के दरबार का खूनी एवं नरकगामी कहा है—

> जोरी कीयां जुलम है मागै न्याव खुदाइ।
> खालिक दरि खूनी खडा मार मुहे मुहि खाइ ॥ क०ग्रं०,साच कौ अंग,सा० ९
> खांहि हलाल हराम निवारैं भिस्तु तिनहु कौ होई।
> पंच तत्त का मरम न जानै दोजगि पड़िहै सोई ॥ वही, पद १०२।

---

१. दे०, क०ग्रं०, पद ३६२ तथा अ०अ०वा०, अखाजीना सात वार।

२. दे०, 'अखो अेक स्वाध्याय' मे प्रकाशित अखाकृत 'तिथि', क० ग्रं०, पद २५० एवं परि०, पद १३४।

३. दे०,अ०अ०वा०, 'अखाजीना बार मास'। कबीर-ग्रंथावली मे 'बारह-मासा' नही है किन्तु 'द्विपदी रमैणी' मे ग्रीष्म, वसंत एवं शीत ऋतुओं का वर्णन है।

४. द्र०, क०ग्रं०, पद ३९ तथा छप्पा ५७२।

दोनो ही कवियो ने इस्लाम धर्म के शास्त्रानुमोदित मास भक्षण ( हलाल अथवा बिसमिल) के मानसिक रूप को विकल्पात्मक अथवा आदर्श रूप मे प्रस्तुत किया है—

गुर मुखि करि कलमा ग्यान मुखि छुरी हुई हलाल पंचू पुरी ।[1]

+ + + काम क्रोध दोऊ बिसमल कीन्हा ।।[2]

अखा गेबी राम की कला अलौकिक साल ।
हाथ पड्या हूँ ना कहे हरदम केहे हु हलाल ।।[3]

यह हम देख चुके है कि कबीर ने जैनों के पूजा के लिए फूल पत्तों के तोड़ने को भी उनके द्वारा अज्ञान मे आचरित हिंसा कहा है। इस सबसे आलोच्य कवियो की अहिंसा-संबंधी व्यापक दृष्टि अथवा सर्वात्मवादी दृष्टि का परिचय मिलता है।

**माला-जाप**

माला के मनको के सहारे इष्ट-देव के नाम अथवा मत्र का सतत-जप करने की प्रथा हिन्दू व मुसलमान दोनों मे स्वीकृत है, अन्तर केवल इष्ट-देव के नाम, मनकों को संख्या एवं माला के उल्टे या सीधे फेरने को विधि मे है। कबीर ने माला व तसबो पर राम व रहीम का जप करने वाले–दोनों की निन्दा को है—

राम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई ।
कहै कबीर चेतहु रे भौदू, बोलनहारा तुरक न हिन्दू ।। क०ग्रं०, पद ५६ ।

कबीर ग्रथावली मे 'भेष कौ अग' का तो मुख्य प्रतिपाद्य ही माला की व्यर्थता सिद्ध करना है। अखा ने तसबी का उल्लेख यद्यपि नही किया, फिर भी इस विषय मे उनकी मान्यता मे कोई अन्तर नही है। दोनो ही कवि मानते है कि जब तक मन बाह्य विषयों के चिन्तन से मुक्त न हो माला फेरना सर्वथा निरर्थक है—

कबीर माला काठ की कहि समझावै तोहि ।
मन न फिरावै आपणा कहा फिरावै मोहि ।। क०ग्रं०, भेष कौ अंग, सा० ५
करमा माला मुख कहे हरि मन बेपार के नारी खरी ।
अखा भजनी आकाशे रहे ज्यां मन बुध्य चित अहकार नो ले ।। छ० ७५५ ।

कबीर ने काष्ठ-माला के स्थान पर मन की माला फेरने को अधिक उपयोगी बताया है।[4]

**अन्य-कर्म**

हिन्दू व मुसलमानो के ऊपर निर्दिष्ट प्रायः सभी कर्म ऐसे है कि जिनका एक या दूसरा रूप दोनो धर्मो मे स्वीकृत है। यहाँ कुछ ऐसे कर्मों के विषयो मे आलोच्य कवियों

१ क०ग्रं०, पद २५६ । २. वही, पद ६० ।
३ अ०र०, गैबी अग. सा० ३, पृ० ३६५ ।
४. मन माला कौ फेरता जग उजियारा सोइ ।।क०ग्र०, भेष कौ अंग, सा० ३ ।

के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना अभीष्ट है कि जो किसी एक ही संप्रदाय मे स्वीकृत हैं दूसरे मे नही। इन कर्मो मे मुसलमानो की नमाज, हिन्दुओ की मूर्तिपूजा, तीर्थ-स्नान, कथा-श्रवण, भजन-कीर्तन आदि का समावेश किया जा सकता है। इनमे से हिन्दुओं के तीर्थ-स्थान का संक्षिप्त उल्लेख तीर्थ-यात्रा के सदर्भ मे ही कर दिया गया है अतः यहाँ शेष को ही प्रस्तुत किया जायगा।

**नमाज**

इस्लाम धर्म के अनुयायियो के लिए दिन मे पांच बार नमाज पढने का विधान है। कबीर ने नमाज को 'बदगी' और नमाज पढते समय मुल्ला के चिल्लाने को 'बाँग देना' कहा है। उल्लेख्य यह है कि उन्होने नमाज को झूठ या असत्य बताया है और मुल्ला की बाँग को, अन्तर्यामी खुदा को दूर, गूंगा, बहिरा आदि समझने का सूचक मानकर, उसकी सूझ-बूझ का उपहास किया है—

यहु सब झूठा बदिगी बरियाँ पच निवाज ॥ क०ग्रं०, साँच कौ अंग, सा० ५।
मुल्लां कहा पुकारे दूरि राम रहीम रह्या भरिपूरि।
यहु तौ अलह गूँगा नाही देखै खलक दुनी दिल मांही ॥ क०ग्रं०, पद ६०।

और उन्होने तन-मस्जिद मे मन द्वारा किये गये हरि-स्मरण को ही सच्ची नमाज कहा है—

पढ़ि लै काजी बग निवाजा एक मसीति दसौ दरवाजा। क०ग्रं०, पद ६१।
हरि गुन गाइ बंग मै दीन्हा, काम क्रोध दोऊ विसमल कीन्हा ॥वही,पद६०।

**मूर्ति-पूजा**

हिन्दू व मुसलमानो के इतिहास-प्रसिद्ध विग्रह, कि जिसका उल्लेख आलोच्य कवियों ने भी किया है[1], का एक मुख्य कारण हिन्दुओ की मूर्ति-पूजा या 'बुतपरस्ती' भी था। कबीर ने हिन्दू मदिरो मे शालग्राम, ठाकुर, गोविंद एवं शक्ति आदिक देवी-देवताओं की प्रस्तर-प्रतिमाओं की पूजा का उल्लेख किया है[2], और इनकी पूजा को सजीव द्वारा निर्जीव की पूजा कहा है। उनका कथन है कि यदि ये मूर्तियाँ सजीव होती तो सर्वप्रथम तो उन लोगो का ही भक्षण कर जाती जिन्होने इनकी छाती पर पैर रखकर टाँकी व हथौड़ो के प्रहारो द्वारा इन्हे गढ़ा है। इनकी पूजा मे 'लाडू लावण लापसी' आदि जो सामग्री चढाई जाती है उसमें से एक क्षार मूर्ति के मुख से लगाकर शेष को पुजारी हड़प कर जाता है—(दे०, क०ग्रं०, पद १९८)। अखा की उक्तियो से ज्ञात होता है कि ये

---

१. हिन्दू तुरक दोऊ रह तूटी फूटी अरु कनराई ॥ क०ग्रं०, पद ५८।
आपे आपमा उठी वला अेक कहे राम ने अेक कहे अला।
कहै अखो उपजाव्यो कलौ ज्यम किलाकले वाल रमे अेकलो ॥ छ० ३०४।

२. दे०, क०ग्रं०, साँच कौ अंग, सा० १४, पद १९७, १९८ एवं रमैणी, पृ० १८६।

मूर्तियाँ काष्ठ, मिट्टी, पत्थर एवं (पीतल, लोह, आदि) धातुओं की होती थी।[1]

दोनो ही कवियो ने मूर्ति-पूजा को माया या पंचभूत का व्यापार कहा है—

अंजन पाती अजन देव, अजन की करै अजन सेव ॥ क०ग्रं०, पद ३३६ ।

देव-देवी पंचभूतना पंचभूत पूजे सोय ।

सामग्री पण पंचभूतनी पंचभूत बिना नही होय॥ अ०वा०, पद १४ ।

जड मूर्तियों के पुजारियों को दुर्गति होने का उल्लेख भी उन्होने किया है—

पाहण केरा पूतला करि पूजै करतार ।

इही भरोसै जे रहे ते बूडे काली धार ॥ क०ग्रं०, अग २३, सा० १ ।

कोटि वरस प्रतिमा पूजजे, ज्ञानी मूर्तियाँ पामेश वजे ॥ छ० ७६ ।

इनके स्थान पर चैतन्य अथवा सर्व-व्यापी आत्मतत्व की पूजा का समर्थन दोनों कवियों ने किया है—

कौन विचारि करत हौ पूजा, आतम राम अवर नही दूजा ॥क०ग्र०,पद१३५

जेती देखौ आतमा तेता सालिगराम ॥ क०ग्रं०, अग २३, सा० ५ ।

+ + +

जड़ थी चैतन्य मूर्ति भली पण ज्ञानी मूर्ति सर्वे उपली ॥ छ० ७५ ।

जड़ मूर्ति बोले नही चैतन कहे तुज सेवा सही ॥ छ० ७४ ।

यह हम अन्यत्र देख चुके है कि चैतन्य की यह पूजा भी पदार्थ-पूजा न होकर भाव-प्रेम की पूजा है ।

**कथा-श्रवण**

जिन शूद्रों एवं स्त्रियो के लिए श्रुति अगोचर थी, उन्हे महाभारत ( पंचमवेद ), रामायण एवं श्रीमद्भागवत आदि पुराणो के श्रवण की छूट यह मानकर दी गई थी कि इनमे प्रतिपादित सगुण भगवान् के अवतारो की लीलाओ के श्रवण से ही स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति संभव है ।[2] इस अध-विश्वास के कारण इस प्रवृत्ति का इतना प्रसार हुआ कि कालान्तर मे वह एक बाह्याचार मात्र बन गई । कबीर की रचनाओ मे धर्म-ग्रंथो के पठन-पाठन, श्रवण एवं पर-उपदेश की आलोचना की गई है, जिसमे से ग्रंथ-श्रवण एवं परोपदेश-विषयक उनकी कुछ उक्तियों को हम चाहे तो उनके कथा-श्रवण विषयक दृष्टिकोण का भी आधार बना सकते है । अपनी एक उक्ति मे उन्होंने वेद-पुराण को पढने, गुनने एवं सुनने को अहकार का पोषक (क० ग्रं०, पद २६२) तो दूसरी मे सुने हुए ज्ञान के आधार पर किये गये उपदेश को बंधन का कारण (क०ग्रं०,चाणक कौ अग,सा० १४)

१. दे०, अ०वा०, पद १४ व छप्पा ७४४।

२. दे०, श्रीमद्भागवत १।४।२५, माहात्म्य ६।६ एवं वाल्मीकि रामायण १।३७-३८ महात्म्यम् : १।३५-३६ ।

बताया है, और तीसरी उक्ति मे उपदेशक को दूसरों के माल को रखने की चिन्ता में स्वयं का सब कुछ खो बैठने वाला कहा है ।[1]

अखा ने कथा-श्रवण से संबंधित-आख्यानों एवं वक्ता व श्रोता आदि-सभी तत्वों की विस्तृत एवं कटु आलोचना की है । उनके अनुसार सर्वप्रथम तो व्यास (वक्ता) द्वारा कही जानेवाली कथाएँ दत्त (शायद दत्तात्रेय) एवं भरत ( भरत-व्यास ) की जूठन है—(छ० ६५१); दूसरे इन ग्रंथों मे जो कथाएँ है, वे मृतकों की गाथाएँ है, अजन्मा परमात्मा, जो वास्तव मे उपास्य है, को कथा ही जब इनमे नही है तो उनसे वक्ता या श्रोता के भवरोग का निवारण संभव ही कैसे हो सकता है—(छ० २६८, ६४६) ? फिर जब वक्ता व श्रोता दोनों लोभी व लालची अथवा अज्ञानी और अंध-विश्वासी हो तो कथाओ के कथन व श्रवण से आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का उनका प्रयत्न बिम्बी को पकड़ने—(छ० २७०), चित्र-दीप से अंधकार को दूर करने—(छ० २९२), फटे हुए कोप ( चर्स ) से ऊँडे कूए से जल निकालने—(छ० ६३७), आदि के जैसा ही अर्थहीन होगा । जैसे वेश्या अपनी पुत्री को कन्यादान मे न देकर धनोपार्जन का माध्यम बनाती है वैसे ही व्यास अपनी विद्या को अधिकारी को दान मे न देकर धन कमाने का माध्यम बनाता है—(छ० ६३८) । अत. वेश्या की बेटी व व्यास की विद्या की गति एक जैसी है । व्यास की यह कथा स्वयं के पेट-भरने की व्यथा मात्र है— छ० ६५०, अ०वा०, पद २१) । इस कथा को सुनते-सुनते श्रोता के कान ही क्यों न फूट जायँ उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती—(छ० ६२८) ।

दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि दक्षिणा के लालच से मुक्त, निस्पृह एवं अनुभवी शुकदेव जैसा वक्ता हो और राजा परीक्षित् जैसा संनिष्ठ श्रोता हो तो कथा उपयोगी हो सकती है—(छ० ६५०) । इससे स्पष्ट है कि इन कवियो का विरोध मुख्य रूप से तो वक्ता व श्रोता के अनधिकारी होने व ब्राह्मणों द्वारा धार्मिक कार्यो को जीविकोपार्जन का माध्यम बनाने मे है ।

कबीर की अपेक्षा अखा की रचनाओं मे कथा-श्रवण की जो विस्तृत आलोचना मिलती है उसका कारण यह प्रतीत होता है कि कबीर के समय मे इस प्रवृत्ति का प्रचलन व महत्व उतना न रहा होगा जितना कि श्री वल्लभाचार्य के प्रयत्नों से अखा के समय मे श्रीमद्भागवत की कथा का हो गया था ।

**भजन-कीर्तन**

गायन-वादन से युक्त हरि-नाम की धुन को ही सामान्यत. भजन अथवा कीर्तन कहा जाता है । कबीर एवं अखा ने इस कीर्तन को निरर्थक माना है ।[2]

---

१. रासि पराई राषतां खोया घर का खेत ।
औरौं कौं प्रबोधतां मुख मै पड़िया रेत ।। क०ग्रं०, चाणक कौ अंग, सा० १५ ।

२. द्र०, क०ग्रं०, अग १८, साखी ४ तथा छप्पा ७५५, ६६४ ।

किन्तु दूसरी ओर जैसा कि हम अन्यत्र देख चुके है, हरि के गुणगान और नाम-स्मरण को दोनो कवियो ने स्वीकार किया है। इस अन्तर्विरोध का सैद्धातिक कारण यही है कि सगुण भक्ति मे, जैसा कि अजामिल, गणिका, गजराज व शवरी आदि के आख्यानो से सिद्ध है, ज्ञान को आवश्यक नही माना गया। भगवान् को भी अहैतुकी कृपा करने वाला माना गया है। जबकि इन कवियों के मान्यतानुसार जिस प्रकार भोजन कहने मे क्षुधा व पानी कहने से तृषा की शाति, अथवा सूर्य, चन्द्र व अग्नि कहने से अधकार का निवारण, सभव नही वैसे ही मर्म अथवा रहस्य को समझे विना ही राम-नाम के रटते रहने से कार्य सिद्धि संभव नही।[1] इस प्रकार उनका 'नाम' इतना सरल व सस्ता नही है कि अज्ञान, उपेक्षा, अनख, आलस आदि मे भी स्मरण किया जा सके[2] और उनका राम भी इतना नादान नही है कि जिसे गायन-वादन से प्रसन्न किया जा सके—

पडित वाद बदंते झूठा।
राम कह्या दुनिया गति पावै षाड कह्या मुख मीठा॥ क०ग्र०, पद ४०।
राम नही जु नादान अनुपे राम अहा जु अयान खेलवना।
नाचन गावन ते राम न रीझत राम वही पाहांन मेलवना॥[3]

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि आत्म-ज्ञान को भक्ति का आवश्यक अंग मानने और आत्म-देव की अन्तर्मुखी साधना को स्वीकार करने के कारण ही उन्होने उक्त भजन-कीर्तन का विरोध किया है, किसी प्रकार के साम्प्रदायिक आग्रह से प्रेरित होकर नही। कहना न होगा कि हिन्दुओ के उपर्युक्त बाह्याचारो मे से अधिकाश का सम्बन्ध सगुण भक्ति से है। अत: यहाँ इन कवियो के एतद्विषयक विचारो का अवलोकन भी आवश्यक है।

**सगुण-भक्ति**

पूर्ववर्ती अध्यायो के विवरण से स्पष्ट है कि कबीर ने स्वय को निर्गुणोपासक बताते हुए सगुण भक्ति के षोडशोपचारो का खण्डन किया है; किन्तु सगुण भक्ति के सिद्धात पक्ष, निर्गुण की अपेक्षा उसके महत्व की न्यूनता एव निर्गुण से उसके सम्बन्ध आदि के विषय मे उन्होने विशेष रूप से प्राय. कुछ नही कहा। जब कि अखा ने सगुण अथवा नवधा भक्ति को वैष्णवो की साधना बताते हुए, चित्त की निर्मलता ( छ० १२६ ), सासारिक विषयो से विरक्ति व प्रभु के प्रति अनुरक्ति एवं ध्येय व ध्याता के अभेद का ज्ञान आदि प्राप्त करने को उसके मुख्य हेतु बताया है—( छ० ५४६-४८ )। सगुण के उपासको के विषय मे उनका कथन है कि वे अवतारो परमात्मा के मोहक स्वरूप एवं

---

१. दे०, वही, पद ४० एव अ०वा०, पद १३१।

२ भायं कुभायं अनख आलस हूँ। नाम जपत मगल दिसि दसहूँ॥
विबसहुँ जासु नाम नर कहही। जनम अनेक रचित अघ दहही॥ तुलसीदास

३ सतप्रिया—क० १०६ और दे०, वही, क० १०७।

उसकी सेवा-पूजा के कर्मकाण्ड में इतने मोहित हो जाते है कि सर्व-व्यापी परमात्मा को भूलकर मोह-व्यापार मे उलझ जाते है। उनकी यह स्थिति ठीक वैसी हो होती है जैसे कोई विस्मृत हुई कण्ठ-मणि (परमात्मा) को पाने के लिए धूल को छानता रहे और अन्त मे काँच के टुकड़े (कर्मकाण्ड) को पाकर ही सन्तुष्ट हो जाय—(छ० १११)।

सगुण भक्ति की उपयोगिता के विषय मे उनका कथन है कि पहले तो इससे आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती ही नही, और यदि किसी को हो भी जाय तो वह अत्यन्त श्रम से हुई अल्प की प्राप्ति है। जैसे पास ही मे पडी हुई वस्तु की प्राप्ति के लिए श्रम अनपेक्षित है वैसे ही आत्मज्ञान के लिए सगुण भक्ति के बाह्याचार अनपेक्षित है—( छ० ११० )। निर्गुण की अपेक्षा वह निश्चय ही मोहक एव मधुर होती है किन्तु जैसे क्षुधा-शांति मे मोतियों का दलिया अन्न के दानों का, और तृषा-शांति मे ईख का रस पानी का, विकल्प नही बन सकता वैसे ही वह निर्गुण का विकल्प नहीं बन सकती।[1] निर्गुण भक्ति यद्यपि नीम-सदृश कटु होती है तथापि भव-रोग के मारक गुणो से युक्त होती है—(छ० ७३०)।

उपर्युक्त विवरण से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते है—एक तो यह कि सगुण व निर्गुण भक्ति मे से किसी एक को ही ज्येष्ठ व श्रेष्ठ सिद्ध करने का विवाद कबीर के समय मे इतना तीव्र व व्यापक न रहा होगा जितना कि अखा के समय मे। दूसरा यह कि जहाँ कबीर भक्ति के व्यवहार पक्ष को अधिक महत्व देते है वहाँ अखा उसके सिद्धात पक्ष को। अब क्योंकि अवतारवाद सगुण भक्ति का एक आधारभूत अंग होता है अतः यहाँ एतत्सम्बन्धी इन कवियो के विचारों से अवगत होना भी प्रासंगिक है।

हम अन्यत्र यह देख चुके है कि इन कवियो ने अवतारों को ब्रह्म नही माना है किन्तु उन्हे उससे सर्वथा पृथक् भी नही माना है। यहाँ उल्लेख्य यह है कि कबीर ने विष्णु के प्रायः सभी प्रमुख अवतारों के जन्ममरणाधीन ससीम रूपों और राग-द्वेप प्रेरित उनकी लौकिक-लीलाओ को बाह्य-व्यापार कहकर उनकी उपेक्षा की है।[2]

अखा ने राम द्वारा प्रजा-जनों और कृष्ण द्वारा स्वजनो को स्वर्ग ले जाने के कार्यो को सामान्यजनो के राग-द्वेष प्रेरित कार्य जैसा ही माना है—( छ० ५७१ )। इतना ही नही, सीता की शोध करने और अहर्निश राम की सेवा मे तत्पर रहने पर भी हनूमान् के मुख का काला ही रह जाना, पांडवों द्वारा कृष्ण का स्वामित्व स्वीकार करने पर भी वनवास का दुःख भोगना और विजयी होने पर भी राज्य को न भोग सकना, राम द्वारा शत्रु के भाई ( विभीषण ) को राजा बनाना, कृष्ण द्वारा जरासंध को मोक्ष और भक्त नृगराज को गिरगिट बनाना, तथा सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र को दुख देना, आदि मे जो

१. दे०, छप्पा-३०५ एवं अ०र० भक्ति विवेक अंग, सा० २, ३, पृ० २२०।
२. द्र०, क०ग्रं०, पद ३३५ एवं रमैणी, पृ० १८४-८५।

अन्तर्विरोध है उसे अपने व्यंग का आधार बनाकर उन्होंने इन अवतारो की सेवा से प्राप्त फल अथवा उनके न्याय का उपहास भी किया है।

उल्लेख्य यह है कि अवतारवाद का एक या दूसरा रूप जैन,बौद्ध, शैव,शाक्त आदि मे भी स्वीकृत था, किन्तु इन कवियो ने विष्णु के अवतारो–विशेषतः राम व कृष्ण–को ही अपनी चर्चा मे मुख्य स्थान दिया है। इससे फलित है कि उन दिनो इन्ही की मान्यता सर्वाधिक प्रचलित थी।

तदुपरांत यह कि अवतारो का जन्म-मरणाधीन होना, शत्रु-मित्र के प्रति न्यूनाधिक राग-द्वेष से युक्त होना, लौकिक जीवन बिताना एवं ससीम आकार मे होना आदि कुछ ऐसी बातें है जिनका उनके ब्रह्मवाद से तो विरोध है ही, साम्प्रदायिक संकीर्णता से निकट का सम्बन्ध भी होता है। संभवतः इन्ही कारणो से उन्हे अवतारो की पूजा अमान्य है। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है इन्होने न केवल अवतारों की भक्तवत्सलता की प्रशंसा की है और एतत्संबंधी उनके कार्यो को ब्रह्म के द्वारा किये गये कार्य माना है, उनके नामो का उपयोग भी ब्रह्म के पर्याय के रूप मे खुलकर किया है। अत. कहा जा सकता है कि उनका महत्व इन्हे स्वीकार्य था, सार्वभौमत्व नही।

### मूल्यांकन

संत-मत से भिन्न धर्म, मत एव साधनाओं के प्रति उपर्युक्त प्रतिक्रिया से प्रतिफलित हुए कबीर एवं अखा के एतत्सबधी दृष्टिकोण को संक्षेप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि—सृष्टि के आदि व अन्त मे अवशिष्ट रहनेवाला चैतन्य-तत्व ही एकमात्र सत्य व नित्य है। वह जैसा है वैसा वही जानता है अन्य नही। अत उसके विषय में जो कुछ कहा गया है वह ठीक वैसा ही नही है। इसलिए व्यक्ति को दार्शनिक मत-मतान्तरों के चक्कर मे अधिक न पडकर, उसके अस्तित्व आदि-विषयक स्वयं की शंकाओं के निवारण के लिए आवश्यक ज्ञान से ही सतुष्ट होकर, उसकी उपासना करनी चाहिए। सृष्टि का निमित्तोपादान कारण होने से नामरूपात्मक दैवी-सत्ताओं का आदिकारण भी वही है। ये नाम-रूपात्मक दैवी-सत्ताएँ न केवल उसके अधीन व अनित्य हैं वरन् साम्प्रदायिक भेद-भाव को पोषक भी है,अतः व्यक्ति को उस एक अव्यक्त को ही अपना आराध्य मानना चाहिए। यद्यपि वह सर्वव्यापी है तथापि व्यक्ति उसे अपने शरीर मे ही प्राप्त कर सकता है। इसलिए बाह्य-शोध को छोड उसे अपने अन्तस्तल मे ही खोजना चाहिए। इस अन्तः-शोध या अन्तस्साधना मे साधक व बाधक मन होता है इसलिए काया-क्लेश व बाह्य-वेश से लक्ष्य की प्राप्ति मे आवश्यक सहायता नही मिल सकती। अतः मन को प्रभावित करने के लिए पूजा, अर्चा, वंदना आदि कर्मो तथा माला-मुद्रा व छापा-तिलक आदि के वेशों के, अन्तस्साधना के अनुकूल, मानसिक रूप को अपनाना चाहिए। किसी विशेष वार, तिथि, मास आदि को महत्व देना और मंदिर-मस्जिद आदि किसी स्थानविशेष या दिशा-

विशेष मे उसकी स्थिति मानना न केवल उस देशकालातीत व दिगतीत को सीमित समझने के अज्ञान का सूचक है वरन् साम्प्रदायिक भेद-भाव का पोषक भी है। पुस्तकीय पांडित्य को ही सर्वस्व न मानकर और विद्वत्ता आदि के अहकार से रहित होकर, धार्मिक पुस्तकों से सर्वात्मभाव या आत्मदृष्टि के लिए आवश्यक अद्वैत का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। धार्मिक कार्यो से ब्राह्मणो व मुल्लाओं का धनोपार्जन और धार्मिक अनुष्ठानों मे हिंसा का प्रचलन सर्वथा निन्द्य व त्याज्य है। विविध साधनाओं एवं सिद्धियो के चक्कर मे न पडकर व्यक्ति को प्रभु का कृपापात्र बनने के लिए शरणागति स्वीकार करके उसकी भक्ति करनी चाहिए।

कहना न होगा कि सांप्रदायिक भेद-भाव एवं राग-द्वेष-जन्य कटुता को समाप्त करने के लिए कबीर एवं अखा के उपर्युक्त विचार जितने उपयुक्त उनके समय मे थे उतने ही आज भी है।

लक्ष्य करने योग्य यह है कि संत-मत से भिन्न धर्म, मत एवं साधनाओं से संबंधित आलोच्य दोनों कवियों के दृष्टिकोण मे कोई तात्विक अन्तर यद्यपि नही है फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नाथपंथियों व इस्लाम के बाह्याचारो, धार्मिक विश्वासो एवं वेश व साधना आदि की जितनी विस्तृत,सटीक व निर्भयतापूर्ण आलोचना कबीर ने की है, उतनी अखा ने नही, और षड्दर्शनों व शून्यवादियों के मत-मतान्तरो तथा वैदिक-धारा के धर्मग्रथों के प्रतिपाद्य विषयो की जो समीक्षा अखा ने की है वह कबीर ने नही। बाह्याचारो का खडन यद्यपि दोनों कवियो ने किया है तथापि उनके मानसिक रूपो के जितने विधान कबीर ने किये है उतने अखा ने नही।

कहना न होगा कि कबीर धार्मिक दृष्टि से सतत संघर्षशील व क्षेत्रीय-भाषाओं मे भक्ति के प्रारंभिक काल के कवि है तो अखा धार्मिक दृष्टि से अपेक्षाकृत शांत व भक्ति के उत्कर्ष-काल के कवि है। संभवतः यही कारण है कि जहाँ प्रथम की दृष्टि मुख्य रूप से धर्म के व्यावहारिक-पक्ष पर केन्द्रित है वहाँ द्वितीय की उसके सैद्धातिक खंडन-मंडन पर।

## सप्तम अध्याय

# समाज-दर्शन

**प्रवेशक**

कबीर एवं अखा की रचनाओं मे जैसी प्रतिक्रिया उनके समकालीन धार्मिक वातावरण के प्रति व्यक्त हुई है वैसी ही सामाजिक वातावरण के प्रति भी। प्रथम का अनुशीलन और उसके आधार पर उनके धार्मिक दृष्टिकोण का अध्ययन पूर्ववर्ती अध्याय मे किया जा चुका है। अत यहाँ अपने समकालीन सामाजिक वातावरण के प्रति उनकी प्रतिक्रिया और उससे प्रतिफलित हुए उनके सामाजिक दृष्टिकोण का अध्ययन किया जायगा। यह हम अन्यत्र कह चुके है कि एक तो उन्होंने कथ्य की स्पष्टता के लिए अपने समकालीन समाज के विविध-क्षेत्रो के दैनन्दिन-जीवन से रूपक व उदाहरण अपनाये है, दूसरे उन क्षेत्रो मे प्रवर्तित विकृतियो का एक सुधारक की दृष्टि से खण्डन किया है। कहना न होगा कि प्रथम से उनके समकालीन समाज की विशेषताओ का तो द्वितीय से उनके द्वारा अभीष्ट समाज अथवा उनके सामाजिक दृष्टिकोण का अनुशीलन किया जा सकता है।

पूर्ववर्ती अध्याय मे लेखक ने कबीर एव अखा की साधना को अन्तर्मुखी या ऐकातिकी साधना कहा है। इससे 'आत्मकल्याण' मे निरत साधको का लोक-कल्याण से संबंध जोडने की बात कुछ असगत प्रतीत हो सकती है। ध्यातव्य यह है कि जहाँ लेखक ने उनकी साधना को अन्तस्साधना या अन्तर्मुखी-साधना कहा है वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है उनकी इस साधना का लक्ष्य सर्वात्म-भाव की प्राप्ति अथवा सर्वभूतान्तर्यामी आत्मा से तादात्म्य या अद्वैत-भाव सिद्ध करना है। कहना न होगा कि 'आत्मवत् सर्वभूतेपु' की भावना ही आत्मवादियो के लोक-कल्याण मे प्रवृत्त होने का मूल-आधार है। जो साधक यह अनुभव करता हो—

> हम सब माहि सकल हम माही, हम तै और दूसरा नाही ॥ क०ग्रं०, पद ३३२
> अे आश्चर्य ते कोने कहुँ जो पोता सरखु सहुने लहुँ ॥ छप्पा ५११।
> ते हुँ जगत जगत मुजमाहे, हुँ निर्गुण गुण नो भंडार ॥ अ०वा०, पद ९।

उसे स्वार्थ और परमार्थ के अद्वैत का ज्ञान कराने की आवश्यकता नही रहती। भाव यह है कि व्यष्टि और समष्टि मे अभेद मानने पर लोक-कल्याण द्वारा ही आत्म-कल्याण सार्थक व पूर्ण होता है। अतः आलोच्य कवियो की आत्म-साधना और लोक-कल्याण में कोई असंगति नही रहती। इस लोक-कल्याण से उनका अभिप्राय किसी साधना-विशेष

द्वारा लोगों का एकमात्र आध्यात्मिक उत्कर्ष-साधन ही नही वरन् उनका सामाजिक उत्कर्ष-साधन भी है—जो हमारे आगे के विवरण से स्पष्ट होता रहेगा।

**व्यक्ति और समाज**

मानव जीवन से संबंधित नैसर्गिक आवश्यकताओं एवं विशिष्टताओं के कारण मनुष्य संगठनात्मक या सामाजिक जीवन को अपनाता आया है। इस सामाजिक जीवन मे व्यक्ति का प्रत्येक कार्य न केवल दूसरे व्यक्तियों से संबंधित रहता है वरन् पारस्परिक प्रभाव से भी युक्त रहता है। इतना ही नही, समाज व्यक्ति तथा उसके व्यवहारों पर नियंत्रण रखता है और आवश्यकतानुसार उसे दण्ड भी देता है। इसलिए दुरखीम के अनुसार 'समाज व्यक्ति से भिन्न सत्ता भी रखता है। उसकी अपनी निजी इच्छा-शक्ति, मस्तिष्क व विचार-शक्ति भी होती है जो व्यक्तियों से भिन्न और परे होती है।'[1]

व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों के विषय मे समाज-शास्त्रियों ने जिन नियमों का प्रतिपादन किया है उनमे से तीन—(१) सावयवी-सिद्धान्त, (२) अणुवादी-सिद्धान्त एवं (३) कृत्यात्मक ( Functional ) सिद्धान्त-उल्लेख्य है। इनमे से, प्लेटो, रूसो एवं स्पेन्सर आदि द्वारा प्रतिपादित प्रथम-सिद्धान्त के अनुसार 'व्यक्ति और समाज में वही संबंध है जो 'सेल' (Cell) और शरीर का होता है। अर्थात् समाज के हितों की रक्षा के लिए व्यक्ति साधन मात्र है। लॉक द्वारा प्रतिपादित द्वितीय सिद्धान्त के अनुसार 'व्यक्ति ने समाज को अपनी भलाई के लिए बनाया है, अतः उसे उसके हितों की रक्षा करनी चाहिए और उसके व्यक्तित्व के विकास को लक्ष्य मे लेकर उसके कार्यो एवं क्रियाओं में बाधा नहीं डालनी चाहिए।' अर्थात् व्यक्ति के विकास के लिए समाज एक साधन मात्र है। कहना न होगा, इन दोनों सिद्धान्तों में कुछ अतिवादी दृष्टिकोण अपना कर व्यक्ति व समाज को एक-दूसरे की विरोधी इकाइयों के रूप में चित्रित किया गया है। कूले द्वारा प्रतिपादित तृतीय सिद्धान्त के अनुसार : "वास्तविक वस्तु मानव जीवन है, जिसका अध्ययन हम व्यक्ति एवं समाज के दृष्टिकोणों से कर सकते हैं। अतः 'समाज और व्यक्ति' दो अलग-अलग इकाइयाँ नही है ये एक ही वस्तु के सामूहिक और वितरित (Distributive) पहलू है।"[2]

इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज अन्यान्योश्रित हैं, एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना करना कठिन है। 'व्यक्तियों की सामूहिकता से ही समाज उत्पन्न होता है। इसलिए समाज के उद्देश्य और हित, व्यक्तियों के हित और उद्देश्यों से भिन्न

१. दे०, डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाजशास्त्र की प्राथमिक धारणाएँ (१९७०ई०) पृ० ८४।

२. विस्तार के लिए द्रष्टव्य, वही, पृ० ४३-४६।

नही होते। सामूहिक उद्देश्यों के कारण ही समाज एक स्वतंत्र इकाई दिखता है। परन्तु ये सामूहिक उद्देश्य व्यक्तियों के उद्देश्य है और सामूहिक नियंत्रणों के द्वारा ही व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। समाज के नियंत्रण में हा वह स्वतन्त्रता पाता है। इस प्रकार समाज और व्यक्ति का संबंध वास्तव मे मनुष्य के सामूहिक और वैयक्तिक व्यवहारों का संबंध है।"[२]

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि समाज का पृथक् अस्तित्व उसके व्यक्तियों के बीच ही रहता है और उन्ही के माध्यम से वह अपने अधिकारों का प्रयोग करता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति को जन्म देता है, उसके पालन-पोषण एवं शिक्षा-दीक्षा आदि की व्यवस्था करता है। श्रम-विभाजन के द्वारा वह उसके अर्थ एवं सुरक्षा-संबंधी प्रश्नों को हल करता है। विवाह आदि के द्वारा वह उसकी काम-वासना की पूर्ति एव वंश-वृद्धि का आयोजन करता है। उसके लिए सदाचार के मानदण्ड प्रस्तुत करते हुए उसे अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का क्षेत्र प्रदान करता है। इस व्यवस्था मे उसके सभी सभ्य लाभान्वित हो सकें इसलिए वह व्यक्ति से अपेक्षा रखता है कि वह सदाचार को अपनाये, अन्य के अधिकारों को छीनने का प्रयत्न न करे और समाज व संस्कृति के दीर्घ जीवन के लिए परंपराओ का पालन करे। किन्तु इसका यह अभिप्राय भी नही है कि सामाजिक परपराओं या उसकी आचार-सहिता का कभी भी और कोई भी उल्लंघन कर ही नही सकता। कहने की आवश्यकता नही कि स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया परम्पराओं एव आचारों का उल्लघन ही दण्डनीय अपराध बनता है। लोक-कल्याण के शुभ हेतु से चिन्तन-शील, या प्रतिभाशाली व्यक्तियो द्वारा अपनाये गये परम्परा-विरोधी व्यवहार समाज के सुधार एवं विकास के कारण बनते देखे जाते हैं और ऐसे स्वतंत्र आचरणवाले व्यक्ति समाज मे यश के भागी बनते है। अत. कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज अविरोधी ही नही वरन् एक-दूसरे के विकास के कारण हैं,इसलिए व्यक्तियों का इतिहास समाज का और समाज का इतिहास व्यक्तियो का इतिहास होता है।

कबीर एवं अखा की ऐकान्तिकी साधना और उनकी लोक-कल्याण की प्रवृत्ति में कोई सैद्धातिक विरोध नही है,यह हम ऊपर देख चुके है। यहाँ इतना स्पष्ट करना अयुक्त न होगा सामाजिक परम्पराओ एवं रीति-रिवाजो आदि की उन्होने जो खण्डनात्मक आलोचना की है वह उनकी परदु.खकातरता एवं लोकोद्धार के उद्देश्य से अनुप्राणित है—

उँनमिवि आई बादली बर्सण लगे अँगार।
उठि कबीरा धाह दे दाझत है संसार॥
दाघ बलीता सब दुखी सुखी न देखौ कोइ।

२. डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाजशास्त्र की प्राथमिक धारणाएँ, पृ० ४७।

जहाँ कबीरा पग धरै तहाँ टुक धीरज होइ॥[1]

राम भक्त साचा अखा सहेज क्रिपाल।

जैसे तारत तूंबडा ऊँच-नीच चाण्डाल ॥[2]

अतः उसमें किसी धर्म या जाति के प्रति राग-द्वेष का प्रश्न ही नही उठता। उन्होंने इसे एक अप्रिय किन्तु समयोचित कर्तव्य के रूप मे ही अपनाया था। शायद इसीलिए समय की गति व उसकी माँग को न परख सकने वाले रूढ़िवादी भक्त व साधक उनकी दृष्टि मे न केवल अज्ञानी वरन् स्वार्थी भी थे—

जाण भगत का नित मरण अणजाणे का राज।

सर अपसर समझै नही पेट भरण सूं काज ॥[3]

नेन खुले ताके रहे जाका हीरदा खोला होय।

अज्ञान घहेरा अखा ताका मीचे दोय ॥[4]

**(ख) मध्ययुगीन समाज का स्वरूप और उसके सुधार की चेतना**

प्रारंभिक अध्यायों मे किये गये समकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के निरूपण से स्पष्ट है कि एकाध अपवाद को छोडकर आलोच्य दोनों कवियों के जीवन-काल मे, न्यूनाधिक मात्रा मे, प्रवर्तित राजनीतिक अस्थिरता व अव्यवस्था, भ्रष्टाचारी तंत्र द्वारा हिन्दू-प्रजा के अमानुषी शोषण एव बलात् धर्म-परिवर्तन आदि के कारण समाज, एक प्रकार से, संक्रमण-काल (Crisis) से गुजर रहा था। शासक-वर्ग उचित व अनुचित साधनों से स्वधर्म के प्रसार को कृतनिश्चय था, शासित-वर्ग आत्मरक्षा मे प्रयत्नशील था। मुसलमान शासकों के अत्याचारों के अतिरिक्त हिन्दुओं की चिन्ता का विषय तत्कालीन समाज-व्यवस्था को कुछ त्रुटियाँ एवं विकृतियाँ भी थो।

यह विदित हो है कि मध्यकालोन समाज-व्यवस्था मे स्मृतियों के वर्णाश्रम का स्थान जाति-प्रथा ले चुकी था। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य अनेक कारणों से जाति-प्रथा, धीरे-धीरे विकसित होकर, जैसा कि पीछे भी संकेत किया गया है, राजपूत-काल तक अस्तित्व मे आ चुकी थी। सामाजिक संगठन की दृष्टि से यह व्यवस्था भी बुरी न थी। भारतीय समाज को एक दोर्घ-जीवी प्रजातंत्रीय-व्यवस्था प्रदान करने मे जाति-प्रथा के योगदान की देशी व विदेशी अनेक विद्वानों ने प्रशंसा की है।[5]

---

१. क०ग्रं०, दया निरवैरता की अंग, सा० २, ३, पृ० ६३।

२. अ०र०, प्रासी अंग, सा० १३, दे०, छप्पा ३७३।

३. क०ग्रं०, साध साषीभूत कौ अंग, सा० ७, पृ० ४०।

४. अ०र०, अधम अंग, सा० ९, पृ० २१३।

५. दे०, कल्याण : धर्माङ्क, श्री वसंतकुमार चट्टोपाध्याय एम० ए० एवं डा० नीरजाकान्त चौधरी के निबन्ध, पृ० २१२ से २३२, तथा डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाज शास्त्र, पृ० २१३-१४।

जाति-प्रथा से सुरक्षा, संगठन, विवाह, व्यवसाय, न्याय एवं पारस्परिक सहायता आदि से संबंधित अनेक लाभ व्यक्तियो को उपलब्ध थे। यद्यपि संकुचित दृष्टिकोण, रूढिवादिता एवं समाज-सुधार मे व्यवधान-विषयक कुछ बुराइयों का पनपना इस व्यवस्था में स्वाभाविक था, किन्तु वे सामाजिक विघटन का कारण प्रायः नही बन सकती थीं, क्योंकि प्रायः सभी पेशेवर-जातियाँ मुख्य रूप से आर्थिक क्षेत्र मे, सवर्णो पर इतनी अवलवित थी कि उनसे पृथक् होने की वात सोचना उनके लिए यदि असंभव नही तो कठिन अवश्य था। कालान्तर मे जव शरीर और भोजन की शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा, अर्थात् जव 'पाकशाला-यज्ञशाला' और 'आहार-आहुति' समझा जाने लगा, तो वाह्य-शुचिता की दृष्टि से जो व्यवसाय जितना अपवित्र माना गया उसे अपनानेवाली जाति उतनी ही निम्न व अपवित्र मानी गई। परिणाम-स्वरूप खान-पान, ऊँच-नीच एवं छुआ-छूत से संबंधित विघटनकारी प्रवृत्तियाँ समाज मे प्रविष्ट हुई। वाद मे एक ओर स्वधर्म का पालन करनेवालों को सभी प्रकार का भय एवं त्रास तथा धर्म-परिवर्तन करने वालों को पद व धन की प्राप्ति का प्रलोभन देकर इस्लाम के प्रचारको ने ऐसी स्थिति का सर्जन किया कि निर्वल मनोवल या धन और प्राणों के लोभियों के लिए स्वधर्म मे स्थिर रहना दूभर हो गया। दूसरी ओर हिन्दू समाज मे न केवल वाहरी लोगों का प्रवेश बन्द था वरन् स्ववश या परवश, जान-बूझकर या अज्ञान मे भी अपवित्र या धर्म-भ्रष्ट हुए लोगों को पुनः स्वीकारने की व्यवस्था तक न थी।[1] उनका अब तक का अनुभव यही था कि धर्म-भ्रष्ट हुआ या वहिष्कृत किया गया व्यक्ति या समुदाय एक अलग जाति तो बना सकता था, समाज से विलग नही हो सकता था। किन्तु आज स्थिति यह थी कि वह न केवल विलग हो सकता था वरन् सदैव के लिए शत्रु भी वन जाता था। हिन्दू से मुसलमान वने सत्ताधारी अनेक व्यक्तियों द्वारा, विदेशियों के समक्ष स्वयं को कट्टर मुसलमान सिद्ध करने के लिए, हिन्दुओं के साथ क्रूरता-पूर्ण बर्ताव करने के उल्लेख इतिहास मे सुरक्षित है।

इस प्रकार मध्ययुगीन सामाजिक संगठन मे हिन्दू व मुसलमान के दो वर्ग, अपने-अपने समाज की श्रेष्ठता के प्रति अंधविश्वासी एवं सकीर्ण मनोवृत्ति से युक्त होने के कारण पारस्परिक असहिष्णुता से ग्रसित संघर्षशील स्थिति मे थे। हिन्दू-समाज संप्रदायों, जातियों एवं उपजातियो के अनेक भेदो मे विभक्त था। मुसलमानों मे भी जाति-भेद एवं वर्ग-भेद पनप रहे थे, फिर भी सामाजिक संगठन जितना उनमे था; हिन्दुओं मे न था। दोनों ही समाजो के लोग भूत-प्रेत, जादू-टोना, ज्योतिष एवं चमत्कारों आदि मे विश्वास रखते थे। नारी की व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रायः समाप्त हो चुकी थी, उसके व्यक्तित्व के विकास के प्रायः सभी मार्ग बन्द थे। उच्चशिक्षा का प्रचार विशेषाधिकार-प्राप्त कुछ

---

१. दे०, आचार्य क्षितिमोहन सेन : संस्कृति संगम, पृ० ८८।

लोगों तक ही सीमित था। धन का महत्व बढता जा रहा था। व्यक्ति की श्रेष्ठता या उच्चता का निर्णय उसके चरित्र से नही वरन् आर्थिक समृद्धि या उच्च जाति में जन्म लेने आदि के आधार पर होने लगा था। जुआ-चोरी, शराव, मांसाहार, छल-कपट, लूट-मार एवं वेश्या-वृत्ति, गुलाम-प्रथा आदि दूषण समाज मे वढने लगे थे। कवीर और अखा को समाज से इन्ही विकृतियों को दूर करने के प्रयत्न करने थे।

इस युग की जिन सुधारवादी प्रवृत्तियों का उल्लेख इस अध्ययन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे किया गया है उनमे से स्मृतिकारों के प्रयत्न केवल परिवर्तित हिन्दुओं को स्वधर्म मे पुन. वापिस लेने की सीमित उपयोगिता ही रखते थे। सूफियों के मानवतावाद मे—'सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा' का अथवा स्वधर्म के प्रचार का, भाव अन्तर्निहित था। परिणामस्वरूप इस दृष्टि से भक्ति-आन्दोलन सर्वाधिक समयानुकूल एवं प्रभावशाली सिद्ध हुआ। भक्ति-आन्दोलन के माध्यम से सुधारवादी सामाजिक क्रान्ति के प्रणेता के रूप में स्वामी रामानन्द का महत्व देश-विदेश के प्रायः सभी विद्वानो ने स्वीकार किया है।"[1] कहा जाता है कि उन्होंने 'भक्ति का द्वार हिंदू-मुसलमान, ब्राह्मण-शूद्र, पुरुष-स्त्री सभी के लिए समान रूप से उन्मुक्त कर दिया जो उस युग की सबसे बडी आवश्यकता थी।[2] फिर भी ध्यातव्य यह है कि 'संप्रदाय-निरपेक्ष' जो भूमिका निर्गुण भक्ति मे थी वह सगुण मे न थी। अतः स्वामी रामानन्द के अधूरे कार्य को कवीरादि उनके निर्गुणिया शिष्यों ने आगे वढाया। कहना न होगा कि इन निर्गुणिया संतो ने उसे जिस उत्साह, ढंग एवं माध्यम, से आगे वढाया वह सर्वाधिक समयानुकूल, सुलभ, सर्वग्राह्य, एवं सर्वोपयोगी था। यह अन्यत्र देखा जा चुका है कि अखा इसी निर्गुण-संत परंपरा मे से थे। अतः उनके और कवीर के प्रयत्नों मे साम्य का होना स्वाभाविक ही कहा जायगा।

लक्ष्य करने योग्य यह है कि आलोच्य कवि न तो इतिहासकार थे, न प्रचलित अर्थ मे समाज-सुधारक। वे मुख्यतः अध्यात्म-साधक एवं साहित्यकार थे, और किसी साहित्यकार के लिए यह आवश्यक नही कि उन्हें—(समकालीन वातावरण के प्रभावों को)—ठीक उनके प्रकृत रूप मे ही ग्रहण करे और उन्हें फिर उसी रूप मे अभिव्यक्ति भी प्रदान कर दे। वह उन्हें प्रायः स्वयं अपने ढंग से ही अपनाने का यत्न करता है, और फिर अपनी प्रतिभा के वल पर उन्हें कोई नया स्वरूप भी दे देता है। साहित्य के अन्तर्गत हमे उसकी इस 'नूतन सृष्टि' की ही उपलब्धि होती है।[3] कहना न होगा कि इस 'नूतन सृष्टि' मे ही

१. विशेष के लिए—द्र०, डा० मदनगोपाल गुप्त : मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ० १८२-८३।

२. द्र०, डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव : रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य, भूमिका, पृ० ३०।

३. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : साहित्य पथ, पृ० १२३।

उसकी समाज-सुधार की चेष्टा अभिव्यक्त होती है। दूसरे, न केवल इसलिए कि कबीर एवं अखा अध्यात्म-साधक थे वरन् इसलिए भी कि तत्कालीन समाज सामान्यत: धर्म-भीरु था, अपने समाज-सुधार में उन्होंने धर्म, या अध्यात्म, का आधार स्वीकार किया है। परिणाम-स्वरूप उनका समकालीन समाज का चित्रण एक इतिहासकार का तथ्य-निरूपण, और उनका समाज-सुधार एक सामान्य समाज-सुधारक के जैसा वाह्य या भौतिक धरातल का सुधार, नही हो सकता।

इन कवियों ने समकालीन-समाज, उसकी विकृतियो एवं सुधार आदि के विषय मे जो कुछ कहा है वह सर्गबद्ध या व्यवस्थित न होकर यत्र-तत्र विकीर्ण रूप मे है। किसी विकृति या रूढि का खण्डन और उसका निराकरण या विकल्प दोनों ही दिये गये है तो किसी का खण्डन मात्र ही किया गया है और उसके विकल्प या निराकरण को लक्षित या अनुमेय ही रहने दिया है। तदुपरान्त सामाजिक जीवन से उन्होंने कथ्य की स्पष्टता के लिए जो रूपक या दृष्टान्त स्वीकार किये हैं उनके आध्यात्मिक अर्थों की भी उपेक्षा नही की जा सकती। इन सब सीमाओ को स्वीकार करके ही उनके सामाजिक दृष्टिकोण का अनुशीलन किया जा सकता है। लक्ष्य करने की बात यह है कि विद्वानो ने कबीर को या तो समाज-निन्दक कह दिया है[1], अथवा उनकी खण्डनात्मक उक्तियों को आधार बनाकर ही उन्हें एक महान् समाज-सुधारक कह दिया है।[2] किसी-किसी ने उनके विचारो में कार्लमार्क्स का 'साम्यवाद', गाँधी का 'ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त' एवं आचार्य विनोवा भावे का 'सर्वोदय' आदि सब कुछ ढूंढ निकाला है।[3] इस प्रकार के सभी मंतव्यों को अतिवादी या असंगत मानकर यहाँ तत्कालीन समाज-व्यवस्था के सदर्भ मे दोनों कवियों के 'समाज-दर्शन' को प्रस्तुत किया जायगा।

**कबीर और अखा का समाज-दर्शन**

पूर्ववर्ती-अध्याय के विवरण से स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज छोटे-मोटे अनेक धार्मिक संप्रदायों में विभक्त था। इन सभी संप्रदायों के सामाजिक एवं सगठनात्मक वैशिष्ट्य पर इन कवियों की रचनाओ से कोई उल्लेखनीय प्रकाश नही पड़ता। उन्होंने अपने सुधार-वादी प्रयत्नों का मुख्य लक्ष्य हिन्दू व मुसलमान—इन दो संप्रदायो को ही बनाया है। इससे यह अनुमान असंगत न होगा कि हिन्दुओ और मुसलमानो के धार्मिक संप्रदायों का सामाजिक जीवन क्रमश भारतीय एवं इस्लामी परम्पराओ के अनुरूप ही रहा होगा।

---

१. द्रष्टव्य—अयोध्यासिंह उपाध्याय : 'कबीर वचनावली' का 'मुखबंध'।

२. द्रष्टव्य—डा० सरनामसिंह : कबीर एक विवेचन, व डा० रामजीलाल सहायक : 'कबीर-दर्शन' तथा महात्मा कबीर और महात्मा गाँधी के विचारो का तुलनात्मक अध्ययन।

३. द्रष्टव्य—डा० प्रह्लाद मौर्य : कबीर का सामाजिक दर्शन।

अब क्योंकि इन कवियों की रचनाओं मे उक्त दोनों संप्रदायों में प्रचलित संन्यस्त एवं गृहस्थ जीवन-पद्धतियो के उपरान्त हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था से संबधित जाति-प्रथा अथवा कार्य-विभाजन, नीति एवं दण्ड-व्यवस्था, पारिवारिक-जीवन, दोनों संप्रदायों के संस्कार, अंध-विश्वास, एवं सामाजिक-विकृतियों आदि के उल्लेख हुए हैं, अतः यहाँ इनके सामाजिक-दृष्टिकोण का अध्ययन इन्ही विषयों से संबधित शोर्षकों के अन्तर्गत किया जायगा।

## (१, संन्यस्त-जीवन

भारतीय-अध्यात्म मे अनासक्ति व वैराग्य का प्रेरक एक प्रमुख स्वर सदैव से ही रहा है। अतः जैन, बौद्ध, शैव-शाक्त, वैष्णव, सिद्ध, नाथ, अघोरी आदि सभी संप्रदायो से संबंधित, सैकड़ों या हजारों मे नही वरन् लाखां की संख्या मे संन्यासियों का एक वर्ग सदैव से रहता आया है।[१] बौद्धों की संघीय-व्यवस्था के आधार पर आचार्य शंकर ने वैदिक परम्परा के संन्यासियों को जो संगठनात्मक व्यवस्था प्रदान की थी, वह इतिहास-प्रसिद्ध है। ज्ञान, योग एवं काया-शोध के प्रायः सभी साधक संन्यस्त जीवन बिताते थे। पूर्ववर्ती अध्याय मे जिन जोगी, जती, तपसी, संन्यासी, लुचित, मुंडित, मौनि, जटाधर एवं पीर, फकीर, दरवेश आदि का उल्लेख हुआ है वे प्रायः संन्यासियों के ही विभिन्न वर्ग थे।

कबीर एवं अखा की रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इनमे कुछ संन्यासी जंगलो व गुफाओं मे, एकान्त-वास करते थे और कंद-मूल-फल आदि का सेवन करते थे।[२] किन्तु अधिकांश मठों मे रहते थे और भिक्षा-वृत्ति अपनाते थे।[३] सासारिक माया-मोह के क्षीण होने पर आत्मोद्धार के लिए संन्यास ग्रहण करनेवाले इनमें कम ही होते थे, अधिकांश तो स्वयं के निष्फल दाम्पत्य-जीवन, गृह-क्लेश एवं सासारिक दायित्वों के निर्वाह मे असमर्थ होने से निराश हुए व्यक्ति ही होते थे।[४] इनकी वासनाएँ अशांत रहती थी; अतः अवसर पाकर नयी पत्नियो के साथ फिर से घर बसा लिया करते थे। समाज ऐसे भ्रष्ट सन्यासियों को स्वीकार न करता था।[५] अतः उनकी स्थिति 'धोबी का

---

१. मुगल-युग के फ्रेन्च-यात्री टेवर्नियर ने लिखा है कि इस देश मे आठ लाख मुस्लिम फकीर और बारह लाख हिन्दू साधु हैं, जो भिक्षा द्वारा निर्वाह करते है।—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारत का इतिहास, पृ० ४२५।

२. द्र०, क०ग्रं०, संजोवनी कौ अंग, सा० २ एवं पद ३००।

३. द्र०, वही, उपदेश कौ अंग, सा० ५, पृ० ४४, पद २९०, पृ० १३९, पद १८७।

४. द्र०, छप्पा १९५, ६५७।

५. यः प्रवज्य गृहात् पूर्व त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः॥ भागवत ७।१५।३६।

कुत्ता न घर का न घाट का' जैसी होती थी—(छप्पा ६५६)। जो इस प्रकार भ्रष्ट होने से बचे रहते थे, सच्चे गुरु के अभाव मे, उनकी भी शिक्षा अधूरी रहती थी। परिणाम-स्वरूप भिक्षा के लिए उन्हें दर-दर भटकना पडता था।[1] पुत्र-कलत्र को ये यद्यपि त्याग देते थे, किन्तु शिष्यो के प्रति वैसी ही ममता रखते थे।[2] इतना ही नही, चमत्कारों से चकित, अथवा सिद्धि के प्रलोभनों से मोहित, करके अपने शिष्यों की संख्या मे अभिवृद्धि करते रहते थे—(क० ग्रं०, पद १३३ व छप्पा ३८५, ४५५)। लोगों की अन्धश्रद्धा अथवा अज्ञान का लाभ लेकर उन्हे ठगने मे भी न चूकते थे।[3]

राग-द्वेष-जन्य खण्डन-मण्डन की इनकी प्रवृत्ति का उल्लेख पूर्ववर्ती अध्याय मे किया जा चुका है। उल्लेख्य यह है कि इन समस्त क्षतियों के होते हुए भी सामान्य-जन-समुदाय मे इनका आदर होता था—

> कबीर कलि खोटी भई मुनियर मिलै न कोइ।
> लालच लोभी मसकरा तिनहूँ आदर होइ॥ क० ग्रं०, चाणक कौ अंग, सा० ८।

> के आलस के क्रोधे थयो, वाटे वेप पहेरीने गयो।
> नही वौलावी वेठ न साहे, भगत भगत लोक सहु गाये॥ छ० १९५।

इन कवियो ने सर्वप्रथम तो संन्यास को निरुपयोगी सिद्ध किया है। इस विषय में उनका पहला तर्क यह है कि जब परमात्मा घट मे ही प्राप्त है तो घर और वन उसकी प्राप्ति मे सहायक या बाधक नही हो सकते—

> हिरदा भीतरि हरि बसै तू ताही सौ ल्यौ लाइ॥ क० ग्रं०, भ्रमविधौ० अग, सा० ११।

> अखा राम नथी घरे के बने ज्यॉं मले त्या पोता कने॥ छप्पा ६१५।

दूसरा यह कि संन्यास का मुख्य हेतु सासारिक माया-मोह से वीतराग होना ही हो सकता है, और वीतराग होना विषय-वस्तुओं के वाह्य त्याग से नही वरन् मन से संबधित होता है।[4] इसलिए यदि मन पर अधिकार है तो सन्यास व्यर्थ है और यदि नही है तो भी व्यर्थ है, क्योकि—

---

१. क०ग्रं०, गुरुदेव कौ अग, सा० २७।
२. वही, चाणक कौ अंग, सा० ४ तथा छप्पा ६४४।
३. वही, असाध कौ अंग, सा० २, अ० र०, कपटि कौ अंग, सा० ३, चानक कौ अंग, सा० ६।
४ सब विधि सहजै पाइये जे मन जोगी होइ॥ क०ग्रं०, भेष कौ अंग, सा० १७।
मन जीत्या जग जीतिये जौ विषिया रहै उदास॥ वही, पद २००।
जो उलझा तो मन अखा सुलझा तौ मन का भेद॥ अ०र०, महाकला अंग, सा० ७।

जे बैरागी आस पियासी, तिनकी माया कदे न नासी ॥ क०ग्रं०, पद १४६।

बनह बसे का कीजिये जे मन नहीं तजै विकार ॥ वही, पद ३००।

मन व इंद्रियों के स्ववश न होने पर प्रवृत्ति को त्याग कर निवृत्ति के वरण को अखा ने वेश्या को पत्नी बनाने जैसा ही माना है, क्योंकि अवसर मिलने पर वह वही करेगी जो पहले करती थी—(छप्पा ५९७)।

तीसरा यह कि जन्म, जरा, रोग एवं मृत्यु विषयक जो व्याधाएँ गृहस्थ मे हैं वे संन्यास मे भी है—(क०ग्रं०, पद ७९)। जीवन-निर्वाह से संबंधित चिन्ताएँ यदि गृहस्थ मे हैं तो संन्यासी को भी भिक्षा की चिन्ता (क०ग्रं०, उपदेश अंग, सा० ४४) रहती ही है। अन्त मे यह कि विषय-वस्तुओं का त्याग उनके प्रति राग-द्वेष का द्योतक होता है, जो माया ही है—( छप्पा ६२४ )। द्वेप-भाव से प्रेरित वैराग्य को अखा ने अस्थायी एवं निष्फल कहा है।[1] उल्लेख्य यह है कि आवेश मे आकर किये गये गृह-त्याग को महाभारतकार ने ( शा० पर्व १२।९ ); और कर्म-त्याग को गीताकार ( १८।७ ) ने; तामस त्याग बताकर निरर्थक एवं निन्दनीय कहा है। इतना ही नही, यदि हृदय का काषाय—रागद्वेष—दूर न हुआ हो तो संन्यास को पेट पालने का धंधा (शा० प० १८।३२-३४) कहकर उसकी कटु निन्दा भी की है। संभव है,आलोच्य कवियों के संन्यास-संबंधी मंतव्य इसी परम्परा से प्रभावित रहे हो।

तदुपरान्त इन कवियों ने स्वयं को श्रेष्ठ समझने के, संन्यासियों के, अहंभाव की निन्दा की है—

बहुत गरब गरबे सन्यासी ब्रह्मचरित छुटी नही पासी ॥ क०ग्रं०, पद १८२।

सन्यासी माते अहमेव तपा जु माते तप कै भेव।

ए अभिमान सब मन के काम ए अभिमांन नही रहो ठाम॥(क०ग्रं०,पद३८७)

वैरागी कहे जूठा वेय साचों संसार मूकी र्‌हेय ॥

अेणे द्वेषे हरि कहीये रही गयो अखा अहंकार आगल थयो ॥ छप्पा ४५५।

वंचक साधु-संन्यासियो के मायाजाल से सामान्य-जनों को बचते रहने का भी उपदेश दिया है। किन्तु सच्चे महात्माओं के प्रति अपनी प्रगाढ-श्रद्धा व्यक्त की है, और उनके आतिथ्य सत्कार का समर्थन किया है—

जिहि घटि रांम रहे भरपूरि ताकी मैं चरनन की धूरि ॥ क०ग्रं०,पद १२४।

जिहि घर साध न पूजिये हरि की सेवा नाहि।

ते घर मड़हट सारषे भूत बसै तिन मांहि ॥ क०ग्रं०, अंग ३०, सा० ३।

जाण न थईश नर नामों थई नमजे सदा।

तो ज मलशे संत अखा आतम पामवा ॥ सोरठा—२१।

---

१. दे०, छप्पा ५१ एवं २४-२७, १९५, ६५६।

संन्यासियों की कष्ट-साध्य साधनाओं एवं वेषादिक को भ्रामक कहने, और उन्हें साम्प्रदायिक सकीर्णता से परे-अद्वैत की भक्ति करने के इन कवियो द्वारा दिये गये उपदेश, का उल्लेख पूर्ववर्ती अध्याय मे किया जा चुका है। अतः यहाँ कहा जा सकता है कि इन कवियों के अनुसार भक्ति के लिए प्रथम तो वैराग्य आवश्यक ही नही है, यदि आवश्यक समझा ही गया हो तो केवल अधिकारी व्यक्ति को ही इसे स्वीकारना चाहिए। अनधिकारी व्यक्ति संन्यास लेकर स्वयं तो 'यतो भ्रष्ट स्ततो भ्रष्ट.' होता ही है, समाज के लिए भी भार-रूप होता है। सामाजिको को चाहिए कि वे सच्चे महात्माओं का आदर-सत्कार करे किन्तु वेषधारी-वचकों से सावधान रहें।[1]

### (२) गृहस्थ-जीवन

स्मृतियों की वर्णाश्रमी-व्यवस्था मे गृहस्थाश्रम का महत्व अनेक दृष्टियो से प्रतिपादित किया गया है। एक तो यह शेष तीनों—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास—आश्रमो का मूल एवं पालक व रक्षक होता है[2], इसलिए इसे उनकी प्राणवायु कहा गया है।[3] दूसरे धर्मानुसार अर्थ व काम का उपभोग करते हुए भी स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्ति केवल इसी आश्रम मे स्वीकार की गई है।[4] तीसरे गृहस्थ न केवल स्वयं स्वावलम्बी होता है वरन् स्व-आश्रितो, अपाहिजों, अतिथियों, संकटग्रस्तो एवं अन्य जीव-जन्तुओं का आश्रय भी होता है।[5] चौथे वश-परंपरा या सतति का अविच्छिन्न प्रवाह जारी रखकर पितृ-ऋण से उऋण इसी आश्रय मे हुआ जा सकता है। अत स्मृतियों एव महाभारत आदि ग्रथो मे इसे शेष सभी आश्रमो से ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ कहा गया है।

कबीर एव अखा की रचनाओ मे—धन, दारा, सुत, नेह, गेह, बन्धु-बाधव आदि गृहस्थ के सभी अंगो एव उपकरणो को अनित्य, भ्रामक एवं सुख-शान्ति से रहित कहा गया है—

> दारा सुत गेह नेह संपति अधिकाई।
> या मैं कछू नाहि तेरौ काल अवधि आई॥ क०ग्रं०, पद ३२०।
> धन दारा सुत पशु पिता-माता विविध व्यापार।
> अखा जे आनन्द पामशे ते मधु चाटे खड्ग-धार॥अ०र०, साखी ३, पृ० ३५३

व्यक्ति जब तक स्वजनों के पालन-पोषण, अथवा गृहस्थी के विषयानन्द को ही परमानन्द या अपना ध्येय समझकर संसार मे आसक्त रहेगा तब तक वह ईश्वर में अनुरक्त नही हो

१. द्रष्टव्य, क०ग्रं०, असाध कौ अंग, सा० ३, अ० र०, अधम अंग, सा० १७।
२. द्र०, मनुस्मृतिः ६।८७-९०, ३।७८ एवं वसिष्ठ स्मृति २३१।
३. द्र०, मनु ३।७७।
४. द्र०, शा० प० १२३।७-८; श्रीमद्भागवत ७।१५।
५. द्र०, मनु० ३।८०, ३।७२ एवं वसिष्ठ स्मृति २३३।

सकता ।[1] अतः जैसा कि हमारे आगे के विवरण से स्पष्ट होता रहेगा, यह कहना असंगत न होगा कि इन कवियों की वैराग्य-प्रेरक उक्तियों का मुख्य लक्ष्य अतिशय वासनाओं से पीड़ित ऐसे व्यक्ति ही रहे होंगे कि जिनकी दृष्टि में—

> नाथ अधिक नही नार तें धन आगे धर्म नीच ।
> मत आगे सत्य ना कछु जे कले विषे की कीच ॥ अ०र०, लंपट अंग, सा० ७, पृ० २३४ ।
>
> कामी कदे न हरि भजै जपै न कैसौ जाप ।
> राम कह्या थै जलि मरै को पूरबिला पाप ॥ क०ग्रं०, कामीनर को अंग, सा० २२ ।

क्योंकि अपनी एक उक्ति मे कबीर ने स्वयं को ही कर्ता (भगवान्) मान बैठनेवाले दंभी व दुराचारी ज्ञानी (या संन्यासी) से ईश्वर से डरकर सदाचार का पालन करनेवाले संसारी (गृहस्थ) को श्रेष्ठ बताया है ।[2] अखा ने पाखंडी संन्यासियों से गृहस्थ का सुख भोगने की स्पष्ट सूचना दी है ।[3] दोनो कवियों ने संन्यास को अनावश्यक माना है, यह हम देख चुके हैं, आगे के विवरण से भी इस विषय पर प्रकाश पडता रहेगा, अत यहाँ यह कहा जा सकता है कि इन कवियों ने गृहस्थी के त्याग का समर्थन नही किया है ।

उल्लेख्य यह है कि कबीर एवं अखा के समय तक 'आश्रम-व्यवस्था' मे जो भी परिवर्तन स्वीकार किये गये उनका सर्वाधिक प्रभाव शेष तोन आश्रमों पर ही पडा, गृहस्थी का संगठन व संचालय प्रायः परंपरानुसारी ही बना रहा । गृहस्थाश्रमी के लिए अर्थ, धर्म व काम की अभिवृद्धि करनेवाली[4] स्मृतिकारों की इस व्यवस्था मे व्यक्ति के लिए वर्ण (या जाति) के अनुसार व्यवसाय अपनाकर नीतियुक्त व्यवहार से अर्जित व संगृहीत धन, व विहित-विवाह पद्धति से प्राप्त पत्नी के साथ संयमित रूप से काम के उपभोग का अनुमोदन किया गया है, तथा पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से उऋण होने पर स्वर्ग अथवा मोक्ष की प्राप्ति का विधान किया गया है । इस प्रकार गृहस्थ-जीवन की प्रवृत्तियों अथवा कार्यों मे—विवाह, संतानोत्पत्ति, पारिवारिकजीवन, पारिवारिक जोवन मे स्त्रीकृत

---

१. कांमी राम न भावई भावै विषै विकारी रे ॥ क०ग्रं०, पद ३९८ ।
   अखा मले जो अंगनी तो पड्या रहे रघुनाथ॥ अ०र०. साखो ४, पृ० २३४ ।
२. द्र०, क०ग्रं०, कामी नर कौ अग, साखी २६, २७ ।
३. मूक पाखंड भोगव भामिनी नही तो काम सर्यु रहेशे ज काले ॥ अ०वा०, पद ८३ ।
४. यत्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति, ७१ ।
   गृहस्थाश्रमसमं नास्ति यदि भार्या वशानुगा ।
   तया धर्मार्थकामानां त्रिवर्गफलमश्नुते ॥ दक्षस्मृतिः ४।१२, द्रष्टव्य म० भा० शां०प० १२।१८ ।

कार्य विभाजन, देवों व पितरों का तर्पण तथा अतिथि-सत्कार आदि को विशेष महत्व दिया गया है। इनमे से देव व पितरों का तर्पण तथा अतिथि-सत्कार हिन्दू-संस्कृति के वैशिष्ट्य कहे जा सकते हैं, शेष सभी आज के समाज-शास्त्रियों को भी ज्यों का त्यों मान्य है।[1] अतः यहाँ इन कवियो के गृहस्थ-जीवन-सम्बन्धी विचारों को आगे इन्ही शीर्षकों के अन्तर्गत परखा जायगा।

विवाह

'विवाह' को गृहस्थ जीवन की आधार-शिला, सामाजिक व्यवस्था का एक अंग एवं सास्कृतिक-संस्कार आदि कहा जा सकता है। एक या दूसरी विधि द्वारा इसके एक या दूसरे प्रकार की स्वीकृति प्रत्येक समाज मे पाई जाती है। मनुस्मृति (३।२१) मे विधि के आधार पर इसके ब्राह्म, दैव, आर्ष आदि—आठ और वर्ण या जाति भेद से स्वजातीय, विजातीय (मनु० ३।२१) तथा अनुलोभ एव प्रतिलोम आदि भेदो के उल्लेख है।

कबीर एवं अखा वर्ण व जाति आदि के कृत्रिम भेदों मे न मानते थे, संभवतः इसी लिए उनकी रचनाओ मे इसके किसी भेदोपभेद का निर्देश नही है। कबीर की एक उक्ति (क०ग्रं०, पद २२६) मे विवाह के अवसर पर मण्डप-छाने, लग्न-पत्रिका लिखे जाने, सखी-सहेलियो के मगल-गान करने, दुल्हन पर हल्दी चढाने, भाँवरि—(सप्तपदी) फिरने, गठ-बंधन करने, सिंदूर से माँग भरने एव चौक पूरे जाने आदि का तो एक अन्य उक्ति (क०ग्रं०, पद १) मे मगलाचार, बारात एवं वेद-मन्त्रोच्चार आदि का उल्लेख हुआ है। अखा की एक उक्ति (झूलना १०२) मे इस्लामी विवाह-पद्धति 'निकाह' का उल्लेख है। इन सभी संदर्भो से हिन्दू व मुसलमानों मे स्वीकृत विवाह-विधियों का ही परिचय मिलता है, आलोच्य कवियों के एतद्विषयक निजी दृष्टिकोण पर कोई प्रकाश नही पड़ता।

जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है विवाह सामाजिक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग होता है। उसकी विधि की भिन्नता से समाज-रचना मे कोई स्थायी फेर नही पड़ता। सम्भवतः यही कारण है कि इस विषय में आलोच्य कवियो की कोई प्रतिक्रिया नहीं देखी जाती।

(ख) संतति

विवाह द्वारा सर्जित दाम्पत्य अथवा कुटुम्ब का मुख्य हेतु काम-वासना की पूर्ति की व्यवस्था करना नही वरन् समाजोपयोगी सुसस्कृत संतति की अभिवृद्धि को संभव बनाना है। काम-वासना की पूर्ति तो इसके बिना भी सम्भव है, किन्तु सुसंस्कृत संतान की उत्पत्ति कुटुम्ब के बाहर पहले तो सम्भव ही नही और यदि आधुनिक शिशु-कल्याण-केन्द्रों (Child Welfare Centres) मे सम्भव भी हो तो वह इतनी अपूर्ण या त्रुटिपूर्ण होती है कि उनमे बच्चों का समुचित विकास सम्भव नही हो पाता।[2] कुटुम्ब न केवल बच्चों

१ द्रष्टव्य, डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाजशास्त्र, अध्याय १५ व १६।

२. वही, पृ० २२६-२९।

को जन्म देता है वरन् स्नेह, सुरक्षा एवं आत्म-संतोष के वातावरण मे उनका पालन-पोषण भी करता है। उसे भाषा, संस्कृति, परंपरागत रीति-रिवाजों एवं उद्योग आदि का समुचित ज्ञान कराता है। कौटुम्बिक जीवन में, उसमे सहकारिता, नम्रता, कर्तव्य-पालन, पारस्परिक सद्भाव आदि सम्बन्धी ऐसे गुणों का विकास होता है जो उसके सामाजिक एवं सास्कृतिक जीवन के मूलभूत अंग बनते हैं। अतः कहा जा सकता है कि विवाहित-दम्पति से उत्पन्न सन्तान का जो महत्व परम्परा से स्वीकृत है[1], आज भी उसका कोई विकल्प नही है।

कहने की आवश्यकता नही कि जीवन के प्रति आलोच्य कवियों का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था, अत ईश्वर का ज्ञाता अथवा भक्त व्यक्ति ही उनको दृष्टि से मनुष्य कहे जाने के योग्य था। शेष की गणना वे पशुओ मे ही करते है।[2] अतः कबीर के अनुसार कुल वही प्रशंसनीय है कि जिसमे भगवद्भक्तों का प्रादुर्भाव होता हो, और सुंदरी वह धन्य है जो वैष्णव (भक्त) पुत्रों को जन्म देती हो—

कबीर कुल तौ सो भला जिहि कुल उपजै दास।
जिहि कुल दास न ऊपजै सो कुल आक पलास।। क० ग्रं०, साध महिमा कौ अंग, सा० ८।

कबीर धनि ते सुंदरी जिनि जाया वैसनों पूत।
राम सुमरि निरभै हुवा सब जग गया अपूत।। वही, सा० ७।

सच भी है, क्योंकि राम-भक्ति से शून्य रावण के एक लाख पुत्रों व सवा लाख पौत्रों ने सर्वनाश के सिवाय और क्या किया?

इक लष पूत सवा लष नाती ता रावन घरि दिया न बाती।।क०ग्रं०,पद९८।

अतः कहा जा सकता है कि 'प्रभु-भक्त' संतानों को ही उन्होंने आदर्श-रूप माना है और धार्मिक संस्कारों से युक्त ऐसी ही संतति की अभिवृद्धि को वांछनीय माना है। उनकी यह मान्यता 'वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि' की प्रसिद्ध उक्ति के सानुरूप है। अखा की रचनाओं मे इस विषय पर आवश्यक प्रकाश नही पड़ता।

### (ग) पारिवारिक जीवन

परिवार अथवा कुटुम्ब का सगठन यौनिक अथवा रक्त-सम्बन्धों से होता है। विवाह इसका मूलाधार होता है और सामान्यतः पति-पत्नी व उनकी संतति को एक कुटुम्ब माना जाता है। किन्तु भारतीय समाज मे सम्मिलित परिवारों का विशेष महत्व रहा है।

---

१. लोकोत्तर सुखं पुण्यं तपोदान समुद्भवम्।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।। रघुवंश १।६९।
द्रष्टव्य—मनु० ६।२५-३७, ३।३७-३८।

२. द्रष्टव्य—क०ग्रं०, पद १२५, अ०र०, अथ सहेज अंग, सा० १९, पृ० ३५५।

सम्मलित परिवार में दो-तीन पीढियो के व्यक्ति सम्मिलित रूप से रहते हैं। सबसे बडा व्यक्ति ही घर का मुखिया होता है। नर-नारी, वृद्ध-युवान एवं लडके-लडकियो के मध्य कार्य का विभाजन स्वीकृत रहता है, भोजन-व्यवस्था एवं संपत्ति सम्मिलित रहती है। प्राय. प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे पर अवलम्बित होता है, इसलिए संगठन बना रहता है।[1] भारत के मुसलमानो की कौटुम्बिक-व्यवस्था हिन्दुओं जैसी ही होती है।

पारिवारिक संबंधो में से अखा की रचनाओ मे माता-पिता, पुत्र, पति-पत्नी एवं बन्धु-बांधवों का उल्लेख हुआ है।[2] कबीर की रचनाओं मे इनके अलावा देवर-जेठ, सास-ससुर, ननद-देवरान-जेठानो (क० ग्रं०, पद २२९-३०) आदि का उल्लेख हुआ है। कबीर ने इन सभी सबंधों का उपयोग आध्यात्मिक रूपकों मे किया है,इसलिए तत्कालीन पारिवारिक जीवन एव एतद्विपयक उनके विचारो पर आवश्यक प्रकाश तो नही पड़ता, फिर भी कुछ उक्तियो से तत्कालीन सम्मिलित परिवारों के स्वरूप, नव-वधुओं पर सास की और नवयुवको पर पिता या वृद्ध-पुरुप की आज्ञा के प्रचलन, नव-वधुओं पर उनकी ननदो एवं जेष्ठ-पुरुपो के कुछ विशेपाधिकारो आदि का परिचय अवश्य मिलता है।[3] उल्लेख्य यह है कि सास-ससुर एव देवर-जेठ आदि कुटुम्बी-जनों का मान रखने वाली नव-वधुओ को श्रेष्ठ, कुलीन या संस्कारो माना जाता था। ऐसी नववधू कुटुम्बीजनों को तो भली लगती थी, किन्तु स्वार्थी पतियो को अप्रिय (क० ग्रं०, पद २२९) लगती थी। परिजनो की उपेक्षा कर एकमात्र उन्ही को चाहनेवाली पत्नियाँ उन्हे प्रिय लगती थी—

अबकी घरनि धरी जा दिन थै पीय सु बांन बन्यू रे ।।क०ग्रं०, पद २२९।

देवर भरम ससुर सगि तजि करि हरि पीव तहाँ गई।

बाँह पकरि करि कृपा-कीन्हो आप समीप लई ।। क०ग्रं०, पद ३०४।

युवकों की इस स्वार्थी वृत्ति के कारण गृह-क्लेश अथवा परिवार का विघटन (क० ग्रं०, पद १२८, २३८, ८९) आवश्यक बनता था।

कुटुम्ब के परिपालन के लिए आवश्यक धनोपार्जन का मुख्य उत्तरदायित्व युवकों पर होता था। राम-भक्ति अथवा साधु-सगति मे पड़कर यदि युवक अपने इस उत्तरदायित्व से उदासीन होने लगता तो वह माता-पिता की चिन्ता का कारण बनता था।[4] अर्थ-कष्ट की विवशता के कारण द्विरागमन के पश्चात् ही युवक परदेश चले जाते और कुछ कमाकर लाने की चिन्ता करते थे। परदेश मे रहते समय अन्य स्त्रियों से संबंध हो जाता, जो पत्नियो के मानसिक क्लेश का कारण बनता था। इधर परिवार मे देवर से हँस-बोल

---

१. द्रष्टव्य—डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाजशास्त्र, पृ० २३५।

२. द्रष्टव्य—'अखाजीना' कक्का, अ०अ०वा०, पृ० १-२।

३. द्र०, क०ग्रं०, पद २२८, २३०, ३५७।

४. द्र०, क०ग्रं०, पद २१।

सकने की स्वतंत्रता के कारण देवर-भावज में मधुर-भाव जागना स्वाभाविक था। उसकी चरम परिणति अवैध यौन संबंध मे होती।[1] डा० रामखेलावन पाण्डे के इस कथन की पुष्टि कबीर की निम्नाकित उक्तियों मे भी होती प्रतीत होती है—

मैं सासने पीव गौहनि आई।
साईं संगि साध नही पूगी गयौ जोवन सुपिना की नाईं॥ क० ग्रं० पद २२६।
घर कौ खरच खबरि नही भेजी आप न कीया फेरा॥ वही, पद २३८।
+ + देवर कै विरह जरौ हो दयाल॥ वही, पद २३०।

शायद ऐसे ही कारणों से दाम्पत्य जीवन मे इस प्रकार के आश्वासनों की आवश्यकता पडती होगी—

कबीर प्रीतडी तौ तुझ सौ बहु गुणियाले कंत।
जे हंसि बोलौ और सौ तौ नील रँगाऊँ दंत॥
क०ग्रं०नि०, पतिव्रता कौ अंग, सा० १।
नां हौ देखौ और कूं ना तुझ देखन देउँ॥ वही, सा० २।

अखा की रचनाओं मे भी 'दाम-चाम' हेतु परदेश मे ही आयु व्यतीत करने वाले पुरुषो[2] तथा प्रिय को समर्पित अपने शरीर को जार की सेवा मे प्रस्तुत करने वाली कुलटाओ[3] के उल्लेख है। उपर्युक्त सभी उल्लेखो से स्पष्ट है कि नव-परणीत युवक-युवतियों के पारस्परिक अतिशय आकर्षण के कारण, अथवा युवकों के अर्थोपार्जन से उदासीन होने पर पारिवारिक जीवन मे क्लेश अथवा विघटन आवश्यक बनता था और पति-पत्नी के अधिक समय के बिछोह के कारण कुछ यौन-सम्बन्धो विषयक विकृतियाँ पनपने लगती थी।

जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है आलोच्य कवियों ने प्राय: सभी पारिवारिक सम्बन्धो को अनित्य, मिथ्या स्वार्थाश्रित एवं दु खद बतलाया है।[4] किन्तु उनके इस दोष-दर्शन का मुख्य लक्ष्य ऐसे लोगों को सुधारना है कि जो परिवार-पालन को ही अपने जीवन का ध्येय बना बैठे हो और एतदर्थ नीति-अनीति के भेद को ही भुला देते हों :—

कुटुम्ब कारणि पाप कमावै तू जांणै घर मेरा।[5] क०ग्रं०, पद १०२।
भजि गोविंद भूलि जिनि जाहु मनिसा जनम कौ एही लाहु॥ वही, पद ३४८।
साभल शीख प्राणी जो घर धन्धा मे भूलयो जो।

---

१ द्रष्टव्य-'पाटल' सन्त साहित्य विशेषांक, पृ० ५८-६० 'सामाजिक पृष्ठभूमि' लेख।
२. अ०र० आसा कौ अंग सा० ७।
३. अ०र० दुर्मति अंग, सा० १, नोष्ट ज्ञान कौ अंग, सा० ३।
४. द्रष्टव्य, क०ग्रं०, पद ८९, ९५,२३८,३१५, ३७४; अ०र०, संसारी अंग, सा० ५, अ०अ०वा०, पृ० २।
५. और दे०, क०ग्रं०, चितावणी कौ अंग, सा० ३३, पद २३९, २४४।

दारा सुतने देखी जो पापे पेट ज भरतो जो ।। अ०वा०, पद १२८ ।

हरि भजि हेते रे अन्ध अभागिया रे ।। वही, पद १२६ ।

क्योंकि अपने भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति के लिए इन कवियों ने जिन कौटुम्बिक सम्बन्धों को माध्यम के रूप मे अपनाया है उनमे न केवल सन्तति के प्रति माता के ममत्व, वात्सल्य, क्षमा एवं संवेदनशील व्यवहार[1], पिता के संरक्षणत्व व क्षमा भाव[2] तथा पति के प्रति पत्नी की ऐकान्तिकी निष्ठा व प्रेम[3] आदि का आधार ग्रहण किया गया है, वरन् माता-पिता के प्रति पुत्र की नम्रता, विनय, विवेक, आदर-मिश्रित भय तथा पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य व प्रेम भाव आदि को भी व्यंजित किया गया है ।[4] कहना न होगा कि ये सभी गुण कौटुम्बिक व्यवहारो के आदर्श भी है । सम्भव है कि इन कवियों द्वारा इनका यही रूप स्वीकृत व समर्थित भी रहा हो ।

### (घ) कार्य-विभाजन

जैसा कि पहले संकेत किया गया है, नर-नारी, युवा-वृद्ध एवं पुत्र व पुत्रियो के मध्य कार्य का विभाजन पारिवारिक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग होता है । कबीर एवं अखा की रचनाओं मे उनके पैतृक-व्यवसायो, हाट-बाजार एवं वस्तुओं के क्रय-विक्रय से संबंधित जो रूपक अपनाये गये है उनसे स्पष्ट है कि पैतृक-व्यवसाय से अर्थोपार्जन, हाट-बाजार का क्रय-विक्रय एवं लेन-देन आदि पुरुषो के कार्य थे । जीविकोपार्जन का उत्तर-दायित्व मुख्यतः युवकों का होता था । कबीर की रचनाओ मे स्त्रियो के कूएँ से पानी भरने ( क० ग्रं०, पद १४० ) एवं सास द्वारा बहू को कातने का आदेश देने (वही, पद २२८) आदि के उल्लेख है, जिनके आधार पर यह अनुमान असंगत न होगा कि शिशु-पालन एवं गृह-कार्य से निवृत्त होने पर स्त्रियाँ अपने गृह-उद्योग मे भी हाथ बटाती थी । कबीर एवं अखा ने अपने पैतृक-व्यवसाय अपनाये थे । अतः कहा जा सकता है कि प्राथमिक शिक्षा को पूर्ण करके अथवा उसके बिना ही लड़के पैतृक-व्यवसाय को सीखने या उसमे सहायता करने लगते थे । लड़कियाँ गृह-कार्य में हाथ बटाती और वृद्ध व अपाहिज बच्चों की, अथवा अन्य सामान्य, देख-रेख करते होगे । आलोच्य कवियों द्वारा इस व्यवस्था मे किसी उल्लेखनीय सुधार का प्रस्ताव किया गया नही देखा जाता । इससे प्रकट है कि दोनो कवियो की रचनाओं मे समाज-जीवन के इस पक्ष के आशिक रूप का आकलन मात्र हुआ है,जिससे"एतद्विषयक उनके निजी दृष्टिकोण पर कोई प्रकाश नही पड़ता ।

---

१. द्र०, क०ग्रं०,पद १११, अ०र०, दुनियाँ अंग,सा० २२,२४,पृ० ३०६, छप्पा ३४४।
२. द्र०, वही, पद ३५७, अ०र०, भोरी भक्ति अंग, सा० ३, चि०वि०सं० ३२१-२४।
३. द्र०; वही, पद ११७, अ०र०, जकड़ी १० ।
४. द्र०, वही, नि० पतिव्रता को अंग, सा० १७, पद १३९; अ० वा०, पद ९४, छप्पा ७२८ ।

### (ङ) गृहस्थ के कर्तव्य-कर्म

गृहस्थ के कर्तव्यों को सुविधा की दृष्टि से मुख्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) स्वजनों के प्रति और (२) पितरों तथा अन्यों के प्रति। इनमें से प्रथम की न्यूनाधिक व्यंजना पूर्ववर्ती पृष्ठों मे दिये गये सतति एवं पारिवारिक जीवन-विषयक विवरण मे हो चुकी है अतः उनका पृथक् विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक नही है। द्वितीय के अन्तर्गत मुख्य रूप से श्राद्ध, अतिथि-सत्कार एवं दान का समावेश किया जाता है।[1] अतः आगे आलोच्य कवियो के एतत्संबंधी विचारो का ही निरूपण किया जायगा।

#### श्राद्ध

'पितृ-ऋण' से उऋण कराने में पुत्र के महत्व का उल्लेख हो चुका है। पितरो के उद्धार हेतु पुत्र का मुख्य कार्य उनका तर्पण अथवा श्राद्ध करना माना गया है। मनु ने इस तर्पण को 'पितृयज्ञ' के नाम से गृहस्थों के पाँच यज्ञों मे गिनाया है।[2] इस श्राद्ध कर्म में ब्राह्मणों को भोजन व दान दक्षिणा[3] आदि के साथ काग-भोजन एवं गौ-ग्रास आदि का प्रचलन देखा जाता है। कबीर ने इसे एक लोकाचार बताते हुए कहा है कि जीवित पितरों को तो डंडा मारते है, अपशब्द सुनाते है, पेट-भर आहार भी नही देते और मर जाने पर उनके भस्म को डालने गंगा व पिण्डदान के लिए प्रयाग तक जाते है। समझ मे नही आता कि जिस अन्न को कौआ खाता है उससे स्वर्गस्थ पितृ कैसे तुष्ट हो जाते है?[4] भाव स्पष्ट है कि प्रेत-पूजा संबधी इस कार्य को उन्होने अतार्किक एवं अनावश्यक माना है—और मृत्यु के बाद पितरों के प्रति दर्शाये गये प्रेम-भाव को उनके जीवन-काल में ही दर्शाने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। अखा भी प्रेत-पूजा के विरोधी है किन्तु इस विषय से संबंधित कोई विशेष उक्ति उनकी रचनाओ मे नही देखी गई।

#### अतिथि-सत्कार

जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो उसे अतिथि या अभ्यागत कहते है। गृहस्थ-जीवन मे अतिथि-सत्कार का माहात्म्य परम्परा से स्वीकृत रहा है। 'अतिथिदेवो भव' की सुप्रसिद्ध उक्ति के अनुसार वह देवतुल्य पूज्य माना गया है। अतिथि-सत्कार को मनुस्मृति (३।७०) मे 'नर-यज्ञ' के नाम से अभिहित कराकर गृहस्थ के पाँच यज्ञों मे स्थान दिया गया है, और उसे धन, यश, आयु एवं स्वर्ग (मनु० ३।१०६) का देने वाला कहा गया है।

---

१. श्राद्धकर्मातिथेयं च दानमस्तेयमार्जवम्।
प्रजनं स्वेपु दारेपु तथा चैवानसूयता॥ मनु० (१०।६४)।

२. पित्रयज्ञस्तु तर्पणम्॥ मनु० ३।७०।

३. द्र०, मनुस्मृति ३।१२३-१५०।

४. क०ग्रं०, पद ३५६।

कबीर ग्रंथावली की एक उक्ति मे उस घडी एवं मुहूर्त को धन्य कहा गया है जिसमे हरि के जनों ने घर मे पदार्पण किया हो।[1] परमात्मा-रूपी अतिथि का स्वागत षट्रस व्यंजनो एवं भक्ति भाव से करने का निर्देश भी किया ( दे०, क० ग्रं०, निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग, सा० १८, पृ० १५ ) है। साथ ही जिस घर मे साधु-सन्तों की पूजा या सत्कार न हो उसे श्मशान-सदृश उजाड़ एवं भूतो का वास कहा गया है।[2] उनके इन कथनों से स्पष्ट है कि उन्होंने गृहस्थ के इस कर्तव्य का अनुमोदन पूर्णरूपण किया है। अखा की रचनाओं मे एतद्विषयक कोई उल्लेख नही है।

**दान**

भारतीय परम्परा मे दान की महिमा अत्यन्त प्राचीन काल से ही पाई जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद् (५।२) मे देव, असुर एवं मनुष्य को प्रजापति ने क्रमशः दमन, दया एवं दान का उपदेश दिया है। धर्म के जो चार पाद (दया, दान, तपस्या एवं पवित्रता) माने जाते हैं; उनमे से एक दान भी है। 'दानमेकं कलौयुगे'[3] की उक्ति के अनुसार कलि-युग का एकमात्र धर्म दान ही स्वीकार किया गया है। कबीर ग्रंथावली मे दाता के आदर्श रूप मे परोपकारी वृक्ष का उल्लेख है।[4] कंजूस या कृपण के धन की निन्दा की गई है, और गृहस्थ को 'उदार-चित्त' होने (क०ग्रं०, उपदेश अंग, सा० ६) का उपदेश दिया गया है। अखा ने भी 'हरि-हेतु' किये गये धन के व्यय को सिर से (पापो के) भार उतार कर मुक्त होने का उपाय कहा है—

> धन तन माया उपरये खरचत पोहोचत लाहो।
> जो खरचे हरि हेतु कु सो सिर ते उतारत दायो॥[6]

इसलिए यह कहना असगत न होगा कि आलोच्य कवियो ने गृहस्थ के लिए दान का अनुमोदन किया है। ध्यान रहे कि स्वर्गादिक की प्राप्ति के रूप मे दान का जो धार्मिक महत्व पुराणो मे कहा गया है उससे वे सहमत नही, किन्तु इसके सामाजिक महत्व को उन्होंने मान्य रखा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कबीर और अखा ने न तो संन्यास लेकर दर-दर भटकने का समर्थन किया है; न पुत्र-कलत्र एवं कंचन आदि को ही जीवन का ध्येय बना

---

१. धनि सो घरी महूरत्य दिना जब ग्रिह आये हरि के जनाँ॥ क० ग्रं०, पद ३९५।

२. दे०, वही, साध महिमा कौ अंग, सा० ३, पृ० ४१।

३. दे०, मनु० १।८६, पराशर स्मृति १।२३, लिंगपुराण १।३९, भविष्य पुराण १।२।११९।

४. दे०, क०ग्रं०, सजीवनि कौ अंग, सा० ७, पृ० ६०।

५. दे०, वही, पद ९९, पृ० ९२।

६ अ०र०, चानक कौ अंग, सा० ८, पृ० ३२२।

लेने वाले गृहस्थ का। उनके अनुसार भक्ति के लिए आवश्यक अनासक्ति की प्राप्ति वस्तु-त्याग से नही वरन् वासना-त्याग से ही सम्भव है। अतः आवश्यकता घर व वन में से किसी के त्याग व ग्रहण की नही वरन् अपने ध्येय (प्रभु-प्राप्ति) के प्रति सतत-जागृत व प्रयत्नशील रहने की है :—

कहै कबीर जाग्या ही चाहिये क्या गृह क्या बैराग रे ॥ क०ग्रं०, पद ३५० ।
तज्या भज्या विण ते योगेश अखा जे माने उपदेश ॥ छप्पा ५० ।

अन्यथा आसक्तियो से ग्रसित व्यक्ति वन मे बसकर भी गृहस्थ ही रहता है जब कि वीतराग घर मे रहकर भी वैरागी ही होता है।[1] कर्तापन के अहंभाव से शून्य व्यक्ति (छप्पा ८३) अनासक्त भाव से चाहे दरी (गुफा) का सेवन करे चाहे सुन्दरी (छ० ४३) का, चाहे भीख माँगे, चाहे राज्य भोगे (छ० १२२) वह एतज्जन्य दुःख-सुख का भोक्ता नही होता, ठीक वैसे ही जैसे कि पञ्चामृत से हाथ बिना खाये ही लिम्पायमान हो जाते है और जिह्वा खाकर भी निर्लिप्त ही रहती है—(छ० ६२१)। सारांश यह है कि गृहस्थ और संन्यास—दोनो ही अपने आप मे पूर्ण और सत्य मार्ग है। आवश्यक यह है कि संन्यासी को अपरिग्रही और गृहस्थ को उदार-हृदय होना चाहिए। जो इसके विपरीत आचरण करता है, अर्थात् संन्यासी होकर परिग्रही होता है और गृहस्थ होकर अनुदार होता है, वह कर्म और धर्म दोनों से पतित होता है :—

बैरागी बिरकत भला गिरही चित्त उदार।
दुहु चूका रीता पडै ताकूं वार न पार ॥ क०ग्रं०, उपदेश अंग, सा० ६ ।
अखा सूझ वीणा ने हाण, राज्ये भीखे न टले ताण ॥ छ० १२२ ।
ऐसे नर कुं फिटकार अखो केहे कर्म और धर्म दोउ थे ज्युं टरचो ॥[2]
राम खड़ता केनो मल्यो घेळो ने घर सुख थी टल्यो ॥ छ० ८३ ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इन कवियो ने संन्यास को केवल अधिकारी व्यक्तियों के ही योग्य माना है। सामान्यजनो के लिए उन्होंने निवृत्तिमय-प्रवृत्ति के मध्यम मार्ग का समर्थन किया है। यद्यपि घर और वन मे समत्व का अनुभव करने वाले 'विरले' ही होते है फिर भी दोनो ही की दृष्टि से यही एकमात्र उत्तम मार्ग है :—

घर वन तत समि जिनि किया ते विरला संसार ॥
\+ + +
मन जीत्या जग जीतिये जौ विषया रहै उदासा ॥
क०ग्रं०, पद ३००, द्रष्टव्य, पद ७९ ।

---

१. इक वैरागी ग्रिह मे एक ग्रही मे वैरागी ॥ क०ग्रं०, वेसास कौ अंग, सा० २० ।
२. सन्तप्रिया ५८, द्रष्टव्य, छप्पा ३५८-५९ ।

देश न छोड्या भेष न छोड्या नही छोड्या संसारा।
सूता नर निद्रा से जाग्या मिट गया स्वप्ना सारा ॥ अ०वा०, पद १२० ।
हरिने तुं प्रीछे ले पेर पछे फर वहार के वेसी रहे घेर ॥
छप्पा ८५, द्रष्टव्य, छ० ५० ।

### (३) सामाजिक व्यवस्था

प्रसिद्ध समाजशास्त्री गिडिग्ज के अनुसार समाज स्वय एक संघ है, संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है जिसमे सहयोगी व्यक्ति परस्पर आवद्ध है।[१] तो मैकाइवर के अनुसार—'समाज विधाओं और लोक-रीतियों के अधिकार और पारस्परिक सहायता की, विभिन्न समुदायों और वर्गो की और मानवीय व्यवहारों के नियंत्रण और स्वतत्रता की अवस्था है। इस नित्य परिवर्तित जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और सदैव परिवर्तनशील है[२]। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि सामान्य उद्देश्यो या हितों की प्राप्ति या सुरक्षा के लिए सगठित मानव-समुदाय ही समाज है। उल्लेख्य यह है कि सामाजिक व्यवस्था को सबंधित मानव-समुदाय के धार्मिक विश्वास, जीवनादर्श. सभ्यता का स्तर, औद्योगिक विकास एवं अर्थ-व्यवस्था का स्वरूप आदि अनेक तत्व प्रभावित करते हैं। शायद इसोलिए प्रत्येक समाज की व्यवस्था में रीति-नीति एवं आचार-विचार विषयक न्यूनाधिक भेद पाये जाते हैं। फिर भी प्रत्येक समाज की व्यवस्था मे सामान्य रूप से श्रम-विभाजन, नीति-निर्धारण एवं नियंत्रणों का एक या दूसरा रूप अवश्य स्वीकृत रहता है। भारतीय समाज-व्यवस्था का मूलाधार स्मृतियाँ रही है। मध्ययुग मे इस व्यवस्था मे पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे फिर भी उसका आतरिक स्वरूप प्रायः वही था। अत. यहाँ उसी भूमिका के आधार पर आलोच्य कवियों के एतद्विषयक विचारों का विश्लेषण किया जायगा।

#### (क) श्रम विभाजन

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था का लक्ष्य सामूहिक हितों की प्राप्ति एव सुरक्षा होता है। अव क्योंकि एक तो व्यक्ति अपने लिए आवश्यक सभी वस्तुओ का निर्माण या उत्पादन नही कर सकता, दूसरे सभी की शारीरिक क्षमता, मानसिक स्तर, रुचि एव स्वभाव आदि मे भिन्नत्व पाया जाता है। अतः सामाजिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता इस भिन्नत्व मे इस प्रकार की एकता स्थापित करने की होती है कि प्रत्येक व्यक्ति या समूह अपनी क्षमता, योग्यता एवं रुचि के अनुसार कार्य करता हुआ अपने व्यक्तित्व के पृथक्त्व को रखकर भी सामूहिक हितो की प्राप्ति मे

१. डा० राजेश्वरप्रसाद अर्ग्रल : समाजशास्त्र की प्राथमिक धारणाएँ, पृ० ८६ पर से उद्धृत।

२. वही, पृ० ८५ से उद्धृत।

सहायक बना रहे। यह एकता व्यक्तियों में उनकी क्षमता, योग्यता, रुचि एवं स्वभाव आदि के आधार पर श्रम-विभाजन से ही संभव है। स्मृतिकारों की वर्णाश्रमी व्यवस्था का मूलाधार यह श्रम-विभाजन ही था। आश्रम-व्यवस्था का लक्ष्य व्यक्ति को एक चतुः-सूत्रीय जीवन-पद्धति प्रदान करना था तो वर्ण-व्यवस्था का सामाजिक स्तर पर श्रम-विभाजन की स्थायी व्यवस्था करना। पाश्चात्य चिन्तक प्लेटो ने समाज-व्यवस्था के अन्त-र्गत-बुद्धिजीवी (Intelligentia), नागरिक (Civilians), रक्षक-दल (Military)एवं सेवक (Servants जिन चार वर्गों को स्वीकार किया है, एवं कार्लमार्क्स ने भी श्रम-विभाजन के अन्तर्गत जिन चार वर्गों को स्वीकार किया है, उनमे और स्मृतिकारों के वर्णो मे मूलभूत अन्तर प्रथम के जाति व द्वितीय के योग्यता पर आधारित होने का ही कहा जा सकता है।

यह हम पहले से ही कह आये है कि कबीर एवं अखा के समय मे आश्रम-व्यवस्था लुप्त हो चुकी थी और वर्ण-व्यवस्था जाति-व्यवस्था मे बदल चुकी थी। किन्तु ध्यान रहे कि जाति-प्रथा वर्ण-व्यवस्था का परिवर्तित या संशोधित रूप थी, अतः इसमे स्वीकृत कार्य-विभाजन मूलत. वही रहा जो वर्ण-व्यवस्था मे था। अखा की एक उक्ति (अखेगीता ४) मे चारों आश्रमों का नामोल्लेख है और उन्हे माया-पुत्र अथवा भ्रामक कहा गया है। कबीर ने आश्रमों का कोई उल्लेख नही किया। अतः इस विषय में दोनों मे से किसी कवि ने कोई विशेष मत व्यक्त नही किया है। वर्ण-व्यवस्था को उन्होंने यद्यपि आदर की दृष्टि से नही देखा है और एक सच्चे साधक को इससे ऊपर उठने का उपदेश दिया है—

मैं तैं तजै अपमारग चारि बरन उपरांति चढै। क०ग्रं०, पद १८३।
वर्णाश्रम कौ भार वहे रंच न खोजे राम ॥
जौ हालर की लाकड़ी भार वहत वेकाम ॥अ०र०,देहदरसी कौ अंग,सा० १०

तथापि इसका यह अभिप्राय नही है कि उन्होंने वर्ण या जाति व्यवस्था के मूल-भूत सिद्धान्त—श्रम-विभाजन को ही अमान्य ठहराया है। यह हमारे आगे के विवरण से स्पष्ट होता रहेगा कि उन्होंने किसी भी व्यवसाय को निम्न, हेय या त्याज्य नही माना। एतद्विषयक उनके दृष्टिकोण के सम्यक् ज्ञान के लिए समकालोन ब्राह्मण, वैश्यादि जातियों के विषय में उनके दृष्टिकोण का अनुशीलन आवश्यक है।

पूर्ववर्ती अध्याय मे यह देखा जा चुका है कि ब्राह्मणों द्वारा धार्मिक कार्यो को धनो-पार्जन का माध्यम बनाने का विरोध करते हुए आलोच्य कवियों ने—'सो पंडित पद बूझै', 'सो ब्रह्मा जो ब्रह्म विचारे' एवं 'ब्राह्मण ते जे ब्रह्म विचारै' आदि उक्तियों मे ब्रह्म-ज्ञानियों को सच्चा ब्राह्मण कहा है। ध्यातव्य यह है कि मनुस्मृति ( २।१५७-५८ ) मे ज्ञान-शून्य ब्राह्मण को नाम ही का ब्राह्मण, वास्तव मे ( २।१६८ ) शूद्र कहा गया है, और भोजन के लिए ब्रह्मत्व की दुहाई देनेवाले को ( ३।१०९ ) वाताशी (वमन-भक्षी)

कहा गया है। गीता ( १८।४२ ) मे शम, दम, शौच, तप, क्षान्ति, आर्जव, आस्तिक्य, ज्ञान-विज्ञान को ब्रह्मकर्म अथवा ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्म कहा गया है।[1] कहना न होगा कि ब्रह्म-ज्ञानियों को ही सच्चा ब्राह्मण मानने की आलोच्य कवियों की अवधारणा इससे बहुत भिन्न नही है। अत. लेखक डा० मदनगोपाल गुप्त के इस निष्कर्ष से सहमत है कि, 'उन्होने (संतो ने) वर्ण-व्यवस्था से संबंधित ब्राह्मण वर्ग की मूल-भावना पर नही प्रत्युत उसकी तात्कालिक विकृति को ही अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया है।'[2]

कबीर की एक उक्ति ( क० ग्रं०, अष्टपदी रमैणी, पृ० १८२ ) के अनुसार क्षत्रिय, क्षात्र-धर्म के नाम पर; जीव-हिंसा करके अपने बंधनों में वृद्धि करते हैं। जीव-हिंसा द्वारा जीव का प्रतिपालन करते हुए वे स्वयं का अहित करते हैं। उन्हे चाहिए कि काम-क्रोधादि अपने पाँच विकारों एवं सब कर्मों को त्याग कर प्रभु की भक्ति करें। सच्चा क्षत्रिय वही है जो अपने विकार-समूह एवं पचेन्द्रियों की विषय-वासना से युद्ध करता है और गुरु-प्रदत्त ज्ञान-खड्ग से कामदेव-राजा का वध करता है।

'राज-जयी' के स्थान पर क्षत्रियों को 'काम-जयी' बनने के कबीर के उपर्युक्त उपदेश का रहस्य यह प्रतीत होता है कि तुर्क व अफगानो के शासन-काल में उन्हें सेना मे उचित स्थान न मिलता था। यह हम कह चुके है कि क्षत्रियों के एक वर्ग ने खेती अपना ली थी, किन्तु अभी भी एक वर्ग ऐसा था कि जिसने लूट-मार को ही अपनी जीविका बना लिया था। गुजरात के कोली एवं गरासिया ऐसे ही व्यवसायी लुटेरे थे, जो लूट के लोभ से किसी भी राजद्रोही की सेना मे शामिल हो जाते थे।[3] अखा ने ऐसे चोरों के गांव के गाँव होने का उल्लेख करते हुए चोरी को 'रोज़गार' बताया है।[4] कबीर के देश-काल में भी ऐसी क्षत्रिय जातियाँ अवश्य रही होंगी। संभव है, कबीर का उपर्युक्त उपदेश ऐसे ही क्षत्रियो के प्रति रहा हो। क्योंकि अन्यत्र उन्होने एक राजपूत का शौर्य से युक्त होना परमावश्यक माना है—

रज बिन कैसो रजपूत ग्यांन बिना फोकट अवधूत ॥ क०ग्रं०, पद १२६।

स्वामी के लिए अपने प्राणो को बलिदान करनेवाले शूर-वीरो की प्रशंसा दोनो ही कवियो ने मुक्त कठ से की है।[5] अतः कहा जा सकता है कि कबीर ने क्षत्रियों द्वारा स्वार्थ-वश की जानेवाली हिंसा का विरोध किया है; क्षात्र-धर्म का नही।

---

१. तुलनीय : धारणा हि द्विजत्वेन वृत्तमेव न संशय. ॥ म०भा०, वनपर्व ३१२।१०८।

२. मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० २२०।

३. दे०, मजमूदार : गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ९७५।

४. ज्यूं सरोतर जगल भला बुरा चोर का गाम ॥ अ०र०, अथ कुमति अंग, सा० २१।
चोर चाडाल कुमति नही सो तो है रोजगार ॥ वही, वही, सा० ८।

५. द्र०, क०ग्रं०, सूरातन कौ अंग, तथा अ०र०, सूरमा अंग।

वैश्यों के लिए इन कवियों की रचनाओ में 'शाह', 'बाणियाँ' एवं व्यौपारी आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अखा ने पंसारियों के लिए गाँधी शब्द का प्रयोग किया है—

कबीर पूंजी शाह की तू जिनि खोवै ष्वारा। क०ग्रं०, सांच कौ अंग, सा० २

सांई मेरा बांणियाँ सहजि करै व्यापार॥ वही, समृथाई कौ अंग, सा० ८

अखा गाँधी जीव है सव औषध वाके पास॥ अ०र०, उपदेश अंग, सा० २९

वैश्यों से संबंधित इनकी उक्तियों से स्पष्ट है कि व्याज पर रकम उधार देना और वस्तुओं का क्रय-विक्रय उनके मुख्य व्यवसाय थे। इससे यह फलित होता है कि स्मृतियों की वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त अपने व्यवसायों मे से खेती और पशु-पालन को छोडकर उन्होंने एकमात्र व्यापार को अपना लिया था। समाज के अन्य वर्गो से यह वर्ग कही अधिक समृद्ध, चोरों से भयभीत, व्यवहार मे कंजूस, किन्तु धार्मिक-कार्यो मे दान देनेवाला था। उल्लेख्य यह है कि निरामिष भोजन व अहिंसा को अपनाने तथा समृद्ध होने आदि कारणों से वर्ण-व्यवस्था की अपेक्षा इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ गई थी। व्यापार मे इनकी दृष्टि मुख्यतः लाभ पर रहती थी अतः ये कपटाचार भी अपनाते थे—

खोट कपटि करि बहु धन जोरयो ले धरती में गाड्यौ॥ क०ग्रं०, पद ९२।

लाहा देखि कहा गरबाना। (पद ३६७)

लाहे कारनि रे सब मूल हिरांना॥ क०ग्रं०, पद २३४, द्रष्टव्य, पद १०८।

कबीर ने इन्हें नीतियुक्त व्यापार से लाभ कमाने की सलाह दी है—

चौखौ बनज व्यौपार करीजे,

आइनै दिसावरि रे रांम जपि लाहौ लीजै॥ क०ग्रं०, पद २३४।

अखा की रचनाओं मे ऐसा कोई संदेश नही देखा गया।

आलोच्य कवियों की रचनाओं मे शूद्रों से संबधित अनेक उक्तियाँ हैं[१], इतना ही नही नामदेव-दर्जी, कबीर-जुलाहा, रैदास-कुर्मी, दादू-धुनियाँ, आदि संतों ने अपनी ज़ाति को 'नीची जाति', 'ओछी-जाति', 'हूँमने हारूँ', 'हीन-जाति' एवं स्वयं के विषय मे 'हम तौ जाति कमीना' आदि कहा है। उनकी ऐसी सभी उक्तियों से आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से शूद्रों—शिल्पी एव कर्मी जातियों—की शोचनीय एवं दयनीय स्थिति का पता चलता है। किन्तु ध्यान रहे कि स्वयं को हीन, नीच या ओछी जाति का बताने मे उन्होने अपनी-अपनी जाति के प्रति तत्कालीन लोक-दृष्टि को ही व्यक्त किया है; आत्म-ग्लानि को नही, क्योंकि एक तो प्राय सभी संतों ने अपने-अपने व्यवसायों के साधनात्मक रूप आत्मगौरव के साथ अपनाये हैं। दूसरे कुछ अन्य उक्तियों मे भी उनका जातिगत गौरव का भाव व्यक्त हुआ देखा जाता है—

१. एक जोति थें सब उतपना कौन बाम्हन कौन सूदा॥ क०ग्रं०, पद ५७।

आभड छोत अंत्यज घरे जणी अने ब्राह्मण वैष्णव कीधा घणी॥ छप्पा ९।

तू बाभन मै कासी का जुलाहा चीन्हि न मोर गियाँना ।। क०ग्रं०, पद २५०।
जाति जुलाहा मति को धीर हरषि हरषि गुंण रमैं कबीर।। वही, पद १२४।
ब्रह्मदरिया मे विरला झीलै कोई अखा रे सोनारा ।। अ०वा०, पद ५२ ।

स्पष्ट है कि उन्हें अपनी जाति एवं व्यवसाय के प्रति कोई असंतोष अथवा ग्लानि का भाव न था । समाज के सामूहिक हितों की प्राप्ति के लिए स्वीकृत श्रम-विभाजन के मूलभूत सिद्धान्त से भी उनका कोई विरोध न था । किन्तु इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने में स्वीकृत हुई जाति-प्रथा की तत्कालीन विकृतियों से इनका घोर विरोध था, जिसका उल्लेख यथा-स्थान आगे किया जायगा । अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक संगठन या श्रम-विभाजन मे वे सतुलित दृष्टिकोण रखते हैं, जिसे उनकी विशुद्ध समाज-शास्त्रीय चेतना की अपेक्षा आध्यात्मिक चेतना विशेष रूप से प्रभावित करती है ।

(ख) नीति

व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति और समाज के पारस्परिक व्यवहार में, दोनो के हितो की रक्षा के लिए आवश्यक समझे गये नियमों को ही नीति कहा जाता है । समाज या प्रजा की धारणा—व्यवस्था,वृद्धि एव विकास—के लिए निर्धारित इन नियमो को महाभारतकार ने धर्म कहा है ।[1] स्मृतियों मे भी व्यक्ति के शिष्ट-आचारों को धर्म-संज्ञा दी गई है ।[2] लोकमान्य तिलक के एतद्विषयक निष्कर्ष के अनुसार 'क्या संस्कृत, क्या प्राकृत सभी ग्रंथो मे धर्म शब्द का प्रयोग उन सब नीति-नियमों के लिए किया गया है जो समाज की धारणा के लिए शिष्ट-जनो द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से बनाये गये हैं ।[3] अतः कहना न होगा कि सदाचार-विषयक जिन नियमों को स्मृतियों मे धर्म कहा गया है समाजशास्त्र मे उन्हें नीति कहा जाता है । उल्लेख्य यह है कि नीति का निर्धारण संबधित समाज की सभ्यता व संस्कृति के विकास-स्तर, श्रम-विभाजन, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था एवं आदर्श-जीवन के प्रति दृष्टिकोण आदि के अनुरूप होता है । यही कारण है कि प्रत्येक समाज मे एतद्विषयक अवधारणाओं मे पर्याप्त वैविध्य पाया जाता है ।

कबीर एव अखा की नीति-विषयक अवधारणा को उसके सही रूप मे समझने के लिए यह अविस्मरणीय है कि वे किसी विशिष्ट धार्मिक मान्यता के आधार पर सगठित समाज-व्यवस्था के अनुमोदक न होकर सर्वात्मवादी थे । अतः विचार-क्षेत्र में स्वीकृत अद्वैत के अनुरूप व्यवहार ही उनके द्वारा स्वीकृत आदर्श आचरण हो सकता है । जिसके

१. धारणाद् धर्ममित्याहु: धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद् धारणायुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।। शांतिपर्व, १०९।११ ।
२. आचारः परमो धर्मः ।(मनु० १।१०८),आचारप्रभवो धर्मः ।(अनु० पर्व १०४।१५७(
३. दे०, गीतारहस्य, पृ० ६९ ।

अंतर्गत 'स्व' और 'पर' तथा स्वार्थ और परार्थ में अभेद स्वीकृत होने से 'सर्वभूतहितेरतः' एवं 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' की नीति ही आदर्श नीति का स्थान ले सकती है। यही कारण है कि जहाँ सामान्य नीति 'दूसरों का अहित न करने' की निषेधाज्ञा ही देती है वहाँ कबीर एवं अखा द्वारा समर्थित नीति स्वार्थ को त्यागकर पर-हित-साधना मे सुख के अनुभव का विधान करती है—

कबीर आप ठगाइये और न ठगिये कोइ।
आप ठग्या सुख ऊपजै और ठग्या दुख होइ।। क० ग्रं०, निंद्या कौ अंग, सा० ८, पृ० ६८।

हरीजन परहित आचरै तापर हरि अनुकूल।। अ० र०, दुनियाँ अज्ञान अंग, सा० २५।

+ + +

चेहेन वैन उपदेश कर जगत का दरद गमाये।। वही, प्रेम प्रीछ कौ अंग, सा० १४।

सामान्य नीति के अन्तर्गत जितना महत्व व्यक्ति को आचार-शुद्धि को दिया जाता है उतना विचार-शुद्धि को नहीं। अर्थात् हीन विचार रखकर भी यदि व्यक्ति, किन्हीं कारणों से, दुष्कृत्यों से दूर रहता है तो उसे अनैतिक नही कहा जायगा। किन्तु कबीर एवं अखा द्वारा समर्थित नीति के अनुसार व्यक्ति के आचार एवं विचार दोनों की शुद्धता या सामंजस्य पर आश्रित व्यवहार को ही आदर्श रूप माना गया है—

जैसी मुख तैं नीकसै तैसी चाले चाल।
पारब्रह्म नेड़ा रहै पल मैं करै निहाल।। क०ग्रं०, चितावणि कौ अंग, सा० २।
सो हरिजन साचा अखा भीतर तैसा वहार।
जे वाहर-भीतर न्यारा वले सो कवहू न पावै पार।। अ०र०, कपटि कौ अंग, सा० १, पृ० ३१५।

तदुपरान्त जहाँ धर्मशास्त्रों मे व्यक्ति के जन्म, जाति या वर्ण, कुल, अधिकार एवं शिक्षा-दीक्षा आदि के आधार पर आचार-विषयक कुछ भेद-भाव भी पाया जाता है, वहाँ संत-मत में, सर्व-भूतों मे एक ही सत्ता की व्याप्ति मान्य होने से, इस भेद-भाव के लिए स्थान नहीं रहता। राजा हो या प्रजा, धनी हो या निर्धन, पंडित हो या मूर्ख, ब्राह्मण हो या शूद्र, सभी के लिए एक ही नीति का विधान है। साम्प्रदायिक आधार पर भी वे किसी को श्रेष्ठ या निकृष्ट नही मानते। वैष्णवों के प्रति कुछ विशेष सम्मान रखते हुए भी कबीर ने निधड़क रूप से यह भी कह दिया है कि—

संसारी सापत भला कंवारी कै भाई।
दुराचारी वैस्नौं बुरा हरिजन तहां न जाई।। क० ग्रं०, चित कपटी कौ अंग, सा० २।

सो हिन्दू सो मुसलमान जिसका दुरसत रहै ईमान ।। वही, पद ३५५ ।

दोनों संतो की मान्यता है कि व्यक्ति को कपटाचार त्याग देना चाहिए, दूसरों का अहित कभी न करना चाहिए, सत्य का सरल मार्ग अपनाकर प्रभु को विस्मृत न होने देना चाहिए—

सायर उतरौ पंथ सवारौ बुरा न किसी का करणां ।
कहै कबीर सुनहु रे सतो जवाब खसम कू भरणा ।। क० ग्रं०, पद १०२ ।
साईं सेती साच चलि औरा सू सुध भाइ ।
भावै लंबे केस करि भावै घुरडि मुडाइ ।। वही, भेष को अंग, सा० ११।
ज्ञान तणो छे सत्य उपदेश त्या ता जूठु न रहे शेष ।
साची कथणी कथता जाय, उदर अर्थे करे अन्याय ।
कहे अखो अेवु शु भण्यु गुजाताप वानर तापणु ।।

छ० ६०. द्र०, छ० ६८३ ।

कहना न होगा कि नीति-विषयक आलोच्य कवियों की उपर्युक्त धारणा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास मे उपयोगी होने के साथ-साथ समाजोपयोगी भी है । भेद-भाव-शून्य समाज-व्यवस्था की परिकल्पना उसमे स्पष्टतः अन्तर्निहित है, किन्तु ध्यान रहे कि उनका यह समता का सिद्धान्त सर्वात्मवादी आस्तिकता, सतोष एवं त्याग पर आधारित है, नास्तिकता, धन के अभाव अथवा असमान वितरण के असंतोष पर नही । अतः उसकी सफलता 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' या 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की अनुभूति पर आश्रित है, वर्ग-संघर्ष हिंसात्मक-क्रान्ति या साम्यवादी अर्थव्यवस्था पर नही ।

**सामाजिक-नियंत्रण**

जैसा कि अन्यत्र संकेत किया गया है, सामूहिक विकास और पारस्परिक हितों की रक्षा के लिए समाज व्यक्ति के आचार-विचारों को नियंत्रित करता है । नीति-नियम, रीति-रिवाज, शिक्षा, लोक-निन्दा, लोक-प्रशंसा एवं परम्पराओं आदि के माध्यम से समाज व्यक्ति पर नियंत्रण लादता है । समाज जितना आदिम अवस्था मे और सीमित होता है व्यक्ति पर उसका नियंत्रण उतना ही सुदृढ होता है । विस्तृत, सभ्य एवं जटिल समाज मे परम्पराएँ विधि का रूप ग्रहण करती रहती है और सामाजिक बहिष्कार एवं लोकनिन्दा आदि का स्थान राज-दण्ड लेता रहता है । राजकीय दण्ड-व्यवस्था का उल्लेख आगे यथा-स्थान किया जायगा यहाँ इतना उल्लेख्य है कि आलोच्य कवियों की रचनाओं मे कौटुम्बिक सबधों; धार्मिक रूढियों, सामाजिक परम्पराओ, लोकनिन्दा, लोक-प्रशंसा, उपहास, व्यंग, शिक्षा एवं नीति-नियमो से संबधित जो उल्लेख है उनसे न केवल तत्कालीन समाज में स्वीकृत नियंत्रणों पर, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, प्रकाश पड़ता है वरन् यह भी सिद्ध होता है कि इन ( सामाजिक ) नियंत्रणों का क्षेत्र बड़ा व्यापक और

रूप वैविध्यपूर्ण होता है। इनका प्रारंभ कौटुम्बिक जीवन से ही हो जाता है और जीवन-पर्यन्त रहता है।

आलोच्य कवियो ने साम्प्रदायिक धारणाओं, रीति-रिवाजों, रूढियों, बाह्याचारों आदि का जो विरोध किया है उससे स्पष्ट है कि मानव समुदाय मे भेद-भाव या संकुचित दृष्टिकोण के पोषक; संप्रदाय, जाति एवं वर्ग द्वारा लादे गये नियंत्रणों को उन्होने अनावश्यक या हानिकारक माना है। दूसरे उन्होंने कामी, कायर, कपूत, कंजूस, कुबुद्धि, मांसाहारी, जुआरी, शराबी एवं वेश्याओ आदि की निन्दा की है और सती, शूर, ज्ञानी, भक्त एवं संत आदि की प्रशंसा की है। इससे स्पष्ट है कि सामान्य हित और व्यक्तिगत चारित्र्य विषयक सामाजिक नियंत्रणों से उनका कोई विरोध न था।

### नारी के प्रति दृष्टिकोण

नारी समाज का एक अविभाज्य अंग है, अतः प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था मे उसका एक निश्चित स्थान या कार्यक्षेत्र होता है। कबीर एवं अखा ने नारी को बुद्धि-विवेक, ज्ञान, भक्ति, सुखशांति एवं स्वास्थ्य आदि की हर्ता, निर्लज्ज, नागिन, नरक का कुण्ड, विष-फल, अग्नि की ज्वाला आदि कहा है और उससे बचते रहने का निर्देश किया है।[1] नारी-विषयक उनकी ये उक्तियाँ परिमाण मे अधिक होने के कारण विद्वानों की एक धारणा यह देखी जाती है कि—स्त्रीजाति को इन संतो द्वारा हानि पहुँचती है।[2] अथवा यह कि 'सुख साधन की सामग्री के रूप मे स्त्री को देखने वाला कबीर-युग स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करने में असमर्थ है।[3] किन्तु तथ्य यह है कि—'जेती औरत मरदां कहिये सब मे रूप तुम्हारा' व 'ज्यां जेवो त्यां तेवो नारायण नर-नार' आदि उक्तियो मे उन्होंने नर-नारी दोनों मे एक ही आत्म-तत्व की व्याप्ति मानी है। फिर जितनी कटु निन्दा उन्होंने वासना-ग्रस्त नारी की की है उतनी ही कामी-पुरुषों या लंपटों की भी की है। अतः यह नही कहा जा सकता कि नारी का महत्व उन्हे अस्वीकृत था या उसके प्रति कोई द्वेष-भाव था। तदुपरान्त यह कि उनकी रचनाओं मे नारी की एकमात्र निन्दा ही सब कुछ नही है, उसके जीवन के अन्य पहलुओं का भी उद्घाटन हुआ है। कबीर की निम्नांकित उक्तियों मे पुत्री व बहिन के प्रति समुचित आदर व स्नेह व्यक्त हुआ है—

> लहुरी धीइ सब कुल खोयौ तब ढिग बैठन पाई।
> कहै कबीर भाग बपुरी कौ किलि किलि सबै चुकाई॥ क० ग्रं०, पद २१।
> बलि जांउ ताकी जिनि तुम्ह पठई एक माइ एक बहना॥ वही, पद २७०।

तदुपरान्त 'नणद सहेली गरब गहेली—(वही,पद २३०) उक्ति मे भावज पर ननद

---

१. द्र०, क०ग्रं०, कामी नर कौ अंग, सा० १-२४, अखानी वाणी, पद ५७।
२. डा० बडथ्वाल : हिन्दी काव्य मे निर्गुण संप्रदाय, पृ० ३०५।
३. डा० रवीन्द्रकुमार सेठ : तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० १९५।

का विशेषधिकार ध्वनित है। अतः यह कहना असंगत न होगा कि 'पितृ-गृह' का नारी का जीवन न संतों द्वारा निन्दित है और न सामाजिक स्तर पर उपेक्षित या अपमानित।

अखा की एक उक्ति मे विरहिन द्वारा पत्र पढे जाने का उल्लेख है।[1] इससे स्पष्ट है कि लडकियों के लिए प्रारभिक शिक्षा की न्यूनाधिक व्यवस्था अवश्य थी। किन्तु इतना भी सत्य है कि यह व्यवस्था अपर्याप्त होने से सर्व-सुलभ न थी। कुछ परिवारों एवं जातियों मे लडकियों की बाल-हत्या का प्रचलन, शासकवर्ग द्वारा उनका अपहरण, कुमारावस्था मे ही किसी की वासना का शिकार हो जाना[2], वेश्या-वृत्ति का प्रचलन एवं मीना बाजारो मे उनका क्रय-विक्रय आदि तत्कालीन नारी-जीवन की कुछ विकृतियाँ थी। किन्तु इनमे से अन्तिम दो का सबंध शहरी जीवन से था और शेष अपवाद रूप ही थी, सर्व-सामान्य नही। इसलिए एकमात्र इन्ही के आधार पर इस विषय में कोई निश्चित मत बना लेना ठीक नही।

एक सामाजिक परिवार की 'नववधू' के रूप मे आवश्यक सुख-स्नेह एवं सम्मान आदि प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम तो उसमें चारित्रिक दृढ़ता का होना आवश्यक समझा जाता था। साज-शृगार या रूप-सौन्दर्य से नही किन्तु पातिव्रत धर्म का पालन कर वह पति का हृदय जीत सकती थी—

जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी, कैसे ही रहौ सो पियहि पियारी ॥[3]

क०ग्रं०, पद १३९।

पतिव्रता ते जे पियुने भजे अनायासे अवरने तजे।
तेना वस्त्र साध्यां जेम तेम तेनी बरोबरी वेश्या करशे केम ? छप्पा ७२८।
अखा पतिव्रता कुरूपणी हो पण मोटो गुण माहे पतिव्रत जोय ॥

परिवार के अन्य छोटे-बडे सभी सदस्यो के प्रति आवश्यक सम्मान व सेवा का व्यवहार कर वह उनके हृदय मे अपना स्थान बना सकती थी—

पहली नारि सदा कुलवंती सासू सुसरा मानै।
देवर जेठ सबनि की प्यारी पिय को मरम न जानै ॥ क० ग्र०, पद २२९।
ज्यम कुलवधू परने नव भजे त्यम साधवी ता ते नापजे।
आप छराडे पोता तणु त्यम कंथमान होये ता घणु।
सुभक्तनी ता अेवी रीत नम्रपणे अखा छे जोत ॥ छ० ४५७।

भक्ति-भाव या धार्मिक सस्कारो से युक्त जीवन-व्यवहार को अपना कर और ऐसी ही सतानों की माता बनकर वह सबका सम्मान प्राप्त कर सकती थी—

---

१. कंथ विछोही कागद बांचे वचन सुणे और मन मे राजे ॥ अ०र०, जकड़ी ३१।
२ द्र०, क०ग्रं०, पद २३१, भेप को अंग, सा० २४, तथा छप्पा १२, २८९।
३. द्र०, वही, भेप को अंग,सा० २३,पद १३६, अ०र०,भोरी भक्ति अंग, सा० २१।

क्यूं नृपनारी नींदये क्यूं पनिहारी कौ मान ।
वा मांग संवारै पीव कौ वा नित उठि सुमिरै राम ।।
कबीर धनि ते सुदरी जिनि जाया बैसनौ पूत ।।[१]

स्पष्ट है कि 'वा (नित) मांग संवारै पीव कौ' संतों की नारी निन्दा का मुख्य कारण है, और उसका मुख्य निशान संभवत: ऐसी ही नारियाँ है—

भोलै भूली खसम कै बहुत किया बिभचार ।।[२]
आधा अंग देखाये लोका भोग बिना रहे भूखी रे ।। अ०र०, जकड़ी ३२ ।
ज्यूं कुल्टा कंथ कूं तजै चाहत निशिदिन जार ।।[३]

ऐसी नारियाँ न केवल स्वयं को वरन् संबधित पुरुषों को भी हरि-भक्ति से विमुख बनाती है । अत: कथित निन्दा के बाद या उसके माध्यम से इन्हें उनसे जो कुछ कहना है वह संभवत: यही कि—

कहत कबीर सुहाग सुंदरी हरि भजि ह्वै है निस्तारा ।। क०ग्रं०, पद १०६ ।
और गुनह हरि बकससी कांमी डाल न मूल ।। वही, कामी नर कौ अंग, सा० १७
सो दुनियाँ को भावै भारी, जिस्को तो शाह सेंथी बातां ।। जकडी ३७ ।

यह हम अन्यत्र देख चुके है कि उसका कार्य-क्षेत्र गृह-कार्य तक सीमित था । माता एवं सास के रूप मे अपने पुत्रों, पुत्र-वधुओं आदि पर उसे कुछ वर्चस्व प्राप्त था । जीवन-निर्वाह के लिए वह अपने निकटतम संबंधी—पिता, पति, पुत्र, भाई—पुरुष पर निर्भर थी—(द्र०, क०ग्रं०, पद २१, २२) अथवा यों कहिए कि उसके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व पुरुष का था । पतिव्रता-पत्नी का दुखी रहना उसके पति के लिए लज्जास्पद माना जाता था—

पतिव्रता नागी रहै तों उसही पुरिष कौ लाज ।।[४]

सती-प्रथा प्रचलित थी । सदाचार और एकनिष्ठ प्रेम के समर्थक इन कवियो ने उसका विरोध न करके उसे प्रशंसनीय माना है ।[५] पर्दा या घूंघट के प्रचलन का उल्लेख दोनों कवियों ने किया है—(क०ग्रं०, पद २१७; अ०वा०, पद ५७) । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि—'मुद्रा पहर्या जोग न होई, घूंघट काढ्या सती न होई' उक्ति मे कबीर ने इस प्रथा को आवश्यक नही माना है । कबीर एवं अखा की रचनाओ मे उपलब्ध अन्य संदर्भों[६]

१. क०ग्रं०, साध महिमा कौ अंग, साखी—६, ७ ।
२. क०ग्रं०, पीव पिछांवण कौ अंग, सा० ३ ।
३. अ०र०, नीष्ट ज्ञान कौ अंग, सा० ३ ।
४. क०ग्रं०, निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग, सा० १७ ।
५. द्र०, क०ग्रं०, सूरातन कौ अग, सा० ३६, अ०र०, भरूंसा अंग, सा० ९ ।
६. द्र०, वही, पद १२५, २८४-८५; अ०र०, जकड़ी २५, ३१, ३७, संतप्रिया, क० २९।

के आधार पर कहा जा सकता है कि बंध्या, व्यभिचारिणी, विधवा एवं विरहिन होना नारी जीवन के अभिशाप या उसके दुःखी होने के मुख्य कारण थे।

ऊपर के विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज और संतों की दृष्टि मे भी, पतिव्रता, संयमी, सस्कारी, एवं सहन-शील व कर्तव्य-परायण नारियाँ प्रशसनीय व वंदनीय थी, तो कुलटा, वेश्या, विलासिनी व कर्कशा निन्दनीय थी। अतः लेखक डा० मदनगोपाल गुप्त के इस विचार से सहमत है कि नारी-निन्दा के माध्यम से संतों ने नारी के प्रति अतिशय आसक्ति का जो विरोध किया है वह—'भारतीय संस्कृति की भावना से ही नही प्रत्युत सामाजिक जीवन को सुखी तथा संतुलित रखने वाले सर्व-व्यापक तथ्य के रूप मे भी स्वीकार किया जा सकता है।'[1]

## सामाजिक संस्कार

प्रत्येक समाज मे 'संस्कार' के नाम से कुछ ऐसी क्रियाएँ या विधियाँ स्वीकृत होती हैं जिनके करने या अपनाने पर ही कोई व्यक्ति संबंधित समाज का स्थायी सदस्य बनता है। मनुस्मृति (अध्याय २) मे गर्भाधान से लेकर दाह-संस्कार तक के हिन्दुओ के सोलह संस्कारों का विधान है। इस्लाम में भी एकाधिक सस्कारो की स्वीकृति पाई जाती है। उल्लेख्य यह है कि इन संस्कारों मे से कुछ तो सामाजिक व्यवस्था के अग होते है जैसे विवाह एवं दाह या दफन आदि, और कुछ साम्प्रदायिक वैशिष्ट्य के द्योतक होते है जैसे—उपनयन एवं खतना आदि। मध्यकालीन जाति-व्यवस्था में हिन्दू-समाज मे वर्ण-व्यवस्था के संस्कारों का महत्व अत्यन्त सीमित हो गया था। संभवत यही कारण है कि कबीर एवं अखा की रचनाओं मे हिन्दुओं के विवाह, उपनयन, दाह तथा इस्लाम के निकाह, दफन, व खतना का ही उल्लेख मुख्य रूप से हुआ है।

विवाह-विषयक पूर्ववर्ती विवरण में यह देखा जा चुका है कि उसे सामाजिक-व्यवस्था का एक अग मानकर आलोच्य कवियों ने उसकी कोई आलोचना नही की है। यहाँ इतना उल्लेख्य है कि हिन्दुओं के दाह-संस्कार एव मुसलमानों के दफन-विषयक उल्लेखों मे दोनों कवियों ने उनका उपयोग जीवन की अनित्यता सिद्ध करने के लिए किया है[2], उनकी विधि एवं औचित्य-अनौचित्य विषयक कोई आलोचना नही की है। किन्तु साम्प्रदायिक वैशिष्ट्य के द्योतक द्विजो के उपनयन और मुसलमानों के 'खतना' या सुन्नत की कबीर ने कटु-आलोचना की है—

> जौ पै करता वरण विचारै तौ जनमत तीनि डाडि किन सारै।
> जे तूं बामन बभनी जाया तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया॥
> जे तू तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतरि खतनां क्यूं न कराया॥क०ग्रं०, पद४१

---

१. मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० २०१।
द्र०, भारतीय साहित्य और संस्कृति, संत काव्य मे कामिनी और कंचन—लेख।
२. दे०, क०ग्रं०, चितावणी कौ अंग,सा० १६,पद ३११,३१४,२९५,छप्पा ६४७-४८।

'खतना' कराने वालों की उक्त आलोचना से कबीर को शायद संतोष नही हुआ, अंतः स्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं—

जौ षुदाइ तुरक मोहि करता तौ आपै कटि किन जाई।
हौं तौ तुरक किया करि सुंनति औरति सौ का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै आधा हिन्दू रहिये॥ क० ग्रं०, पद ५९।

इस आलोचना के पीछे उनका लक्ष्य इन दोनों को इतना भली-भाँति समझाना ही है कि :—

कृतिम सुनित्य और जनेऊ, हिन्दू तुरक न जानै भेऊ।
मन मुसले की जुगति न जानैं, मति भूलै द्वै दीन बखानै॥
(क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८१)

इससे स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक अंग के रूप मे स्वीकृत विधि, क्रिया या संस्कार का विरोध न करके उन्होने साम्प्रदायिक भावना या संकुचित दृष्टि के पोपक संस्कारों का ही विरोध किया है।

**शिक्षा-व्यवस्था**

आलोच्य कवियों की रचनाओं मे एतद्विषयक उल्लेख पर्याप्त मात्रा मे नहीं है। कबीर की एक उक्ति से लक्षित है कि तत्कालीन शालाओं मे छोटे-छोटे बच्चों को सामूहिक रूप मे लकडी की पट्टियों पर अक्षर-ज्ञान कराया जाता था—

प्रह्लाद पधारे पढन साल, संग सखा लीयें बहुत बाल॥
मोहि कहा पढावै आल जाल, मेरी पाटी मैं लिख दे श्रीगोपाल॥
(क०ग्रं०, पद ३७९)।

तथा कबीर ने गुरु से ज्ञान प्राप्त करने का और अखा ने गुरु ब्रह्मानन्द के चरणों मे बैठ कर पढ़ने का उल्लेख किया है :—

कहै कबीर कृपा भई गुर ग्यान कह्या समझाइ॥[1] क०ग्रं०, पद ३००।
ब्रह्मानन्द चरणे अखो भणे अखेराम ज कहीआ॥ अ०वा०, पद ९०।

इन दोनों ही उद्धरणो से दो शिक्षा-पद्धतियो के अस्तित्व का परिचय मिलता है। प्रथम शालाओ के अन्तर्गत सामूहिक रूप से प्रादेशिक भाषा एवं हिसाब-किताब का सामान्य ज्ञान दिया जाता था। द्वितीय के अन्तर्गत गुरुओ द्वारा अपने आश्रम, मठ एवं कुटीर आदि पर, अपने शिष्यों को दार्शनिक मतवादों एवं साधना आदि का ज्ञान दिया जाता था।

दोनों ही कवियों ने संस्कृत-ग्रंथों के पठन-पाठन एवं उनके अनुवाद आदि का सम्बन्ध ब्राह्मणो से जोड़ा है—

---

१. और दे०, क०ग्रं०, पद १८८ एवं काल कौ अंग, सा० १२।

वेद पढंता ब्राह्मण मारा सेवा करता स्वामी ।
अरथ करतां मिसर पछाड्या तूंर फिरै मैमंती ।। क०ग्र०, पद १८७ ।
पढै पढावे वेद व्याकरना धर्म कर्म अधिकारी ।। अ०वा०, पद ५० ।
जो तुम्ह पडित आगम जाणौ विद्या व्याकरणां ।
तंत्र मंत्र सब औषधि जाणौ अंति तऊ मरणां ।। क०ग्रं०, पद २४८ ।
प्राये प्रपंच आल पंपाल पंडित तेना गूथ्या जाल ।
श्लोक सुभाषित मीठी वाण, तेणे मोह्या कवि अजाण ।। छ० १६३ ।

इससे स्पष्ट है कि संस्कृत-भाषा, दर्शन, व्याकरण एवं वैद्यक आदि की उच्च शिक्षा पर ब्राह्मणो का आधिपत्य था । पढने-लिखने का विशेष सम्बन्ध इन कवियों ने ब्राह्मणों के अतिरिक्त, जैन, काजी एवं कायस्थों से भी जोडा है ।[1] इससे प्रकट है कि पढने-लिखने मे उन दिनों ये ही जातियाँ अग्रगण्य थी । उच्च-शिक्षा मे प्रयुक्त सामग्री के रूप में लेखनी, कागज, स्याही एवं दवात आदि का उल्लेख दोनों ही की रचनाओं में हुआ है । यह हम अन्यत्र देख चुके हैं कि इन्होने पुस्तकीय पाडित्य का विरोध किया है और गुरु-प्रदत्त ज्ञान की सर्वत्र प्रशंसा की है । इससे फलित होता है कि इन कवियों ने व्यक्ति की शिक्षा मे आध्यात्मिक ज्ञान का होना आवश्यक माना है, उसके अभाव में उसकी शिक्षा को अपूर्ण या अनुपयोगी माना है ।

**(७) सामाजिक-विकृतियाँ**

पूर्ववर्ती विवरण से स्पष्ट है कि कबीर एवं अखा-कालीन समाज मे श्रम-विभाजन का आधार जाति-प्रथा बन चुकी थी । व्यक्ति के व्यवसाय एवं वर्ग का निश्चय उसकी क्षमता, योग्यता एवं रुचि-भेद से नही, वरन् जन्म के आधार पर होता था । वंश, विवाह, व्यवसाय एवं स्थलान्तर आदि के कारण हिन्दुओं की जातियो एवं उपजातियो की संख्या में इतनी वृद्धि हुई कि परम्परागत चार वर्ण किसी एक जाति या वर्ग के नही वरन् उप-जातियों के समूह बन गये थे ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण ( ब्रह्म खण्ड-अध्याय दश ) मे माली, लुहार, शंखकार, कुविन्द, कुम्हार, कसेरा, बढई, चित्रकार एवं सुनार—इन नौ शिल्पियों को शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न कहा गया है ।[2] अलबरूनी ने मोची, बाघरो, माछीमार, धोबी, कोरी, तेली और धूर्त-विद्या के जानकारों को अस्पृश्यों मे गिनाया है ।[3] 'विमल प्रबंध' (गुजराती रचना सन्

१. द्रष्टव्य, क०ग्रं०, साच कौ अंग, सा० ३-४, पद ५९; अ०र० भोरी भक्ति अंग, सा० २० ।

२. द्र०, हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० १५ ।

३. द्र०, साहित्यकार अखो ( प्रथम सं० ) अखा भक्त अने अस्पृश्यता 'लेख' : डा० मजूमदार, पृ० १८६ ।

१५०९ ई० ) में हिन्दुओं के अठारह वर्ण गिनाये है, जिनमे से चार तो परम्परागत ही है, शेष चौदह में कंदोई (हलवाई), काछी, कुम्हार, माछीमार, मदनियां, सुनार, भिई-सांडत, तंबोली और सुनार—'नौ नारु' तथा गांछा, छीपा, लुहार, मोची, चर्मकार—'पंच कारु' गिनाये गये हैं। डा० मंजुलाल मजुमदार के अनुसार 'नौ नारु' व 'पच कारु' शूद्र वर्ण से ही व्युत्पन्न हुए हैं। 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' (गुजराती रचना सवत् १४८७ वि०) मे माछी, भील, कोली, वाघरी, खाटकी (खटीक या कसाई), मद्यप ( कलाल ), घाची (तेली), बाबरी, मेर एवं डुब आदि जातियों को 'पाप-कुल' कहा गया है।[1] इन संदर्भों से स्पष्ट है कि उन दिनों प्रायः सभी व्यवसायी या कर्मी व शिलपी जातियाँ 'शूद्र' मानी जाती थीं।

ध्यातव्य यह है कि शूद्रों के मुख्य दो वर्ग थे (१) शूद्र और (२) अति-शूद्र या अन्त्यज या पंचम-वर्ण। प्रथम के साथ सवर्णो का रोटी-बेटी का व्यवहार यद्यपि न था किन्तु वे अस्पृश्य न थे। छूत या अस्पृश्यता का व्यवहार मुख्यतः अन्त्यजों के ही साथ था। तदुपरान्त म्लेच्छ-विधर्मी या विदेशी और चाडाल-प्रतिलोम विवाहों से व्युत्पन्न प्रजा तथा श्वपच, पतित एवं मृतप आदि जातियाँ अस्पृश्य मानी गई। पाणिनि[2] एवं मनु[3] द्वारा जिन शूद्रों को गाम से बाहर बसने का विधान किया गया है वे ये ही लोग रहे होंगे।

कबीर की रचनाओं मे इनके लिए 'सुद्र', 'सूदा' व 'म्लेच्छ' तो अखा की रचनाओं में 'चांडाल', 'श्वपच' एवं 'शूद्र' आदि शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं।[4] यह हम कह चुके हैं कि भारतीय मनीषियों ने सुसंगठित समाज की कल्पना एक 'विराट्-पुरुष' के रूप मे की थी और उसमे स्वीकृत—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—चार वर्ण उसके चार अग—क्रमशः मुख, भुजा, जंघा एवं चरण माने गये थे। इस मान्यता को स्वीकार करनेवालों के लिए स्पृश्यास्पृश्य की मान्यता कितनी मूर्खतापूर्ण हो सकती है, इसका भान अखा की निम्नांकित उक्ति कराती है—

> भूत पंच तणो संसार मूरख वहे ते वरण-अहंकार।
> अे तो भात चलावा वर्णावर्ण, को मस्तक, हस्त, कटि, चर्ण।
> ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ने शूद्र, अे तो हरिनो पिंड अखा कोण क्षुद्र ॥ छ० २३२।

दोनों कवियों की मान्यता है कि जब सब मे व्याप्त आत्मा एक है,और शरीर रचना के तत्व एक है—अथवा जब उसका पिता (परमात्मा) और माता (प्रकृति) एक ही हैं—

१. द्र०, साहित्यकार अखो, पृ० १८६-८७।
२. शूद्राणामनिर्वासितानाम् (पाणिनि—सूत्र २।४।१०)।
३. चांडालश्वपचानां वहिर्ग्रामापरिश्रयः ॥ मनुस्मृति।
४. द्र०, क० ग्रं०, पद १८२, ५७ व रमैणी, पृ० १८५; अ० र०, पृ० १, छप्पा ९; ३७०, २३२।

तो जन्म के आधार पर किसी की जाति निश्चित करना, और ब्राह्मण, शूद्र, ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान आदि के भेद खडे करना, न केवल कृत्रिम है वरन् असगत, अतार्किक एवं हानिकारक भी है।[१] यदि परमात्मा को यह वर्ण-भेद मान्य होता तो वह जन्म के साथ ही (व्यक्ति के माथे पर एक, दो, तीन लकीरें नही बना देता ? (क०ग्रं०,पद ४१)। कबीर के अनुसार ब्रह्मा ने केवल दो ही जातियाँ बनाई है—(१) नर और (२) नारी—( क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८३ ) । किन्तु यह भेद भी बाह्य या शारीरिक ही है, आत्म दृष्टि से देखने पर यह भी नही रहता—

जेती औरति मरदा कहिये सब मे रूप तुम्हारा ॥ क० ग्रं०, पद २५९ ।

ज्याँ जेत्रो त्याँ तेवो नारायण नर-नार ॥ अखेगीता क० ११ ।

जैसे गायों का भिन्नत्व उनके बाह्य रूप-रंग से ही जाना जा सकता है दूध से नही, वैसे ही सृष्टि का भिन्नत्व उसके नाम-रूप तक ही है आत्म रूप मे नही—( क० ग्रं०, रमैणी, पृ० १८३, अ० वा०, पद ६) । फिर जब श्वान, श्वपच, गौ, ब्राह्मण मे एक ही परमात्मा की व्याप्ति स्वीकृत हो, और यह भी मान्य हो कि ऊंच मे उसकी मात्रा दुगुनी नही है और नीच का पिंड उससे रिक्त नही है—अर्थात् सबमे उसकी समान व्याप्ति है—( छप्पा ३७०—७१ ), तब ब्राह्मण व चाडाल अथवा ऊंच व नीच का भेद करना कितना असंगत लगता है, समझा जा सकता है । तदुपरान्त प्रभु—की प्राप्ति में इस भेद-भाव का कोई महत्व नही होता, क्योकि प्रभु तो उसे प्राप्त होता है जो उसे सच्ची भावना से चाहता है:—

है हरि भजन को परवांन,  
नीच पावै ऊंच पदवी बाजते नीसान ।  
अधम भील अजाति गनिका चढे जात बिवान ॥

क०ग्रं०, पद ३०१, दे०, पद ३२० ।

अखा हरि जो मलनारा थाय, तो न गणे नीच ऊंच रंक राय ॥ छ० ११९ ।  
कुल अधिकारी अध्ययन चातुरी पाप मूर्खता न जुए हरि ॥

+ + +

त्यम ऊंच नीच न गणे नारायण अखा अेम खरारे जाण[२] ॥ छ० १२० ।

इस प्रकार इन कवियो ने ब्राह्मण व चाडाल आदि के भेद-भाव का सैद्धातिक खंडन तो किया ही है, कही-कही ब्राह्मणो को आड़े हाथों भी लिया है:—

---

१. द्र०, क० ग्रं०, पद ५७, ५१, अष्टपदी रमैणी एवं चौपदी तथा छप्पा ३६६, ३६८, अ०वा०, पद ९२ व ३३ ।

२. जात्य ऊंची हरि ना मिले अनुभव ऊंच हरि भाये ।  
जौ लोह मे मुख देखिये अखा कचन मे न दिखाये ॥  
अ० र०, अनुभव अंग, सा० १, पृ० ३१६ ।

जे तूं बाभन बभनी जाया तौ आन वाट ह्वै काहे न आया ॥ क०ग्रं०, पद ४१।

हमारे कैसै लोहू तुम्हारे कैसे दूध,

तुम्ह कैसै ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद ॥ वही, 'ख' प्रति-पद ४२।

वर्णाश्रम शुं वलगे अंध ? जाण अे मायाना वंध।

+ + +

हाडचर्म का देखें भूर ? अखा ब्रह्म रह्यो भरपूर ॥ छ० ४१४।

शुचिता पालन की कलई-खोलते हुए कवि कहते हैं कि गाय का दूध वस्तुतः उसके रुधिर से वनता है और बछड़े के लिए होता है, किन्तु बछड़े को निर्दयता से दूर करके पांडे जी उसका दूध पी जाते है। मृत गाय को दोष लगाते हैं, या अपवित्र मानते हैं, किन्तु उसी के चमड़े से वनी वस्तुओं को घर में रखने व चमड़े की मसक का पानी पीने में दोष नही मानते। यद्यपि पवन और पानी सर्वत्र एक ही है किन्तु उन्ही से तैयार की गई अपनी रसोई को वे पृथक् या पवित्र मानते है। मिट्टी से मिट्टी (चौका व चूल्हा) को लीप-पोत लेने पर उसे पवित्र कहते है। उनके ये सब आचार पाखण्डपूर्ण और भ्रामक हैं।[1] अखा की दृष्टि मे यह स्पष्ट अन्याय, अथवा विडंबनापूर्ण है कि हाथी के हाड़ को पहनने वाली सौभाग्यवती नित्य स्नान कर नवीन चौका देती है–(अ०वा०,पद३३), और उसमे कोई छूत नही मानी जाती। सब मिलाकर उनकी मान्यता यह है कि ऊँचे कुल या जाति मे जन्म लेने और शुचिता आदि के बाह्याचारों या पाखण्डों के आचरण से प्राप्त वड़प्पन निरुपयोगी व भ्रामक होता है। वस्तुतः बड़ा वही है जिसके हृदय मे राम बसता है और नीच वही है जो भक्ति-भाव से रहित है।[2]–

नही को ऊंचा नही को नीचा जाका प्यंड ताही का सीचा।

कहै कबीर मधिम नही कोई, सो मधिम जा मुख रांम न होई॥

क०ग्रं०, पद ४१।

घने तने को मोटा कुले को विद्या को खांडा वले।

अे मोटम सघली जाये टली ज्यम आतशबाजी पलके बली॥ छप्पा ८९।

अखा तेहने मोटा वदे जेने राम रमे छे रदे॥ छ ८८।

'शूद्र' विषयक तत्कालीन उपर्युक्त मान्यता से स्पष्ट है कि कबीर और अखा की गणना भी इसी वर्ग मे हुई होगी। उल्लेख्य है कि भक्ति को अपना लेने के कारण उनके सम्मान में हुई अभिवृद्धि के उल्लेख दोनों की रचनाओं मे मिलते हैं:–

कवीर अब तो ऐसा भैया निरमोलिक निज नाऊं।

पहले काच कवीर था फिरता ठांवे ठावुं॥ क०ग्रं० उपजणि को अंग सा० ८।

---

१. द्रष्टव्य, क०ग्रं०, चौपदी रमैणी, पृ० १८५-८६।

२. द्रष्टव्यः अ०र०, समदृष्टि अंग, सा० १-५, पृ० २०६।

कहत कबीर मोहि भगति उमाहा, कृत करणी जाति भयो जुलाहा ।।

वही : पद ७१ ।

खरा मोका लोह पारस परसे सोन भया अखा सुनारा ।। अ०वा०,पद १२० ।

अे जे सो तेसो हे हरिजन सोनारा, कीयो हे ज्यूं नीर बंधनकुं । संतप्रिया २८ ।

इससे स्पष्ट है कि भक्ति को अपना लेने पर निम्न जातियों के व्यक्ति भी समाज में सम्मान के पात्र हो जाते थे। अतः कहा जा सकता है कि भक्ति-आन्दोलन के व्यापक प्रसार और कबीरादि संतों के प्रयत्नों से शूद्रों के प्रति लोगों का दृष्टिकोण उदार बनता जा रहा था, क्योकि भक्ति-आन्दोलन द्वारा सामाजिक जीवन-क्षेत्र मे यह धारणा प्रतिष्ठित होने लगी थी कि केवल गुण, कर्म, सदाचार एवं भक्ति-भाव द्वारा ही कोई मनुष्य ऊँचा पद प्राप्त कर सकता है, तथा इसी से पतित-पावन ईश्वर प्रसन्न हो सकता है।[1]

उल्लेख्य यह है कि दोनों ही कवियों की रचनाओ मे चोरी, जुआ, शराब, वेश्या-वृत्ति, लूट-मार, रिश्वत, छल-कपट एवं खुशामद आदि सामाजिक दूषणों की न्यूनाधिक निन्दा की गई है *किन्तु तत्कालीन गुलाम-प्रथा के विषय मे सुधारवादी दृष्टि से प्रायः कुछ* नहीं कहा गया ।

## (क) अंध-विश्वास

तत्कालीन समाज मे लोक-जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक प्रकार के अंध-विश्वास प्रचलित थे । जिनमे से आलोच्य कवियों की रचनाओं में भूत-प्रेत के अस्तित्व, ज्योतिष के नव-ग्रहों की कुदृष्टि, शकुन-अपशकुन, तंत्र-मंत्र, रसायन-विद्या एवं अंजन-विद्या आदि विषयक विश्वासों का उल्लेख हुआ है । कबीर की रचनाओं मे भूत-प्रेत एवं डाकिनी आदि विषयक जो उक्तियाँ[2] हैं उनसे उनके भयानक रूप एवं उनके अस्तित्व मे लोक-विश्वास का ही ज्ञान होता है । किन्तु अखा की उक्तियो मे भूत के लगने पर दूर न होने, भूत की दोस्ती प्राणों के लिए घातक होने, अंधेरी रात्रि मे अन्य वस्तु को प्रेत मानकर यात्रियों के भयभीत होने[3] आदि के उल्लेखो के साथ यह स्पष्टतः कहा गया है कि प्रेत दुर्बल-चित्त के व्यक्ति को ही खाता है धैर्यवान् तो सकुशल निकल जाता है—

अखा प्रेत ज्यम बीहाने खाय पण धीरजवान ते कुशली जाय ।। छ० ११५ ।

इतना ही नही भूत-प्रेतादि के अस्तित्व मे विश्वास करने की मनुष्य की अद्भुत सूझ-बूझ को दाद देते हुए वे कहते है कि पशु-पक्षी, ही नही, चौरासी लाख योनियों मे से मनुष्य ही ऐसा एक अद्भुत प्राणी है कि मृत्यु के बाद उसकी अवगति होती है और वह भूत बनता है—

---

१. डा० मदनगोपाल गुप्त: मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० १८२ ।

२. द्र०, क०ग्रं०, माया कौ अग,सा० २१, साध महिमा कौ अंग,सा० ३ एवं पद२४१।

३. द्र०, अ०र०, झूलना ९८, वही, संसारी अंग, सा० ९, संतप्रिया ९७ ।

'पशु मूओ को भूत न थाय, माणस अखा अवगत्य कहेवाय ॥ छप्पा ५६१ ।

लख चौरासी सब मरे कोई न होवे भूत ।

मनुष्य जात कू सब लग्या जो जानपणा अद्भुत ॥[1]

इस प्रकार उन्होंने इस अंध-विश्वास को मानसिक दुर्बलता अथवा वुद्धि के दिवालियेपन का द्योतक मान कर इसका खण्डन किया है ।

ज्योतिष शास्त्र मे निरूपित ग्रह, नक्षत्र एवं राशि आदि के उदय-अस्त एवं सानुकूल-प्रतिकूल होने से मानव-जीवन या व्यक्ति के भाग्य के प्रभावित होते रहने मे इस देश के लोगो का विश्वास अत्यन्त प्राचीन काल से ही रहता आया है । कबीर ने भव-बंधन से मुक्त कराने मे एतद्विषयक विश्वासों को निरर्थक कहा है ।[2] ग्रह एवं नक्षत्रों से संबंधित अखा की अनेक उक्तियाँ है, जिनसे उनके ज्योतिष-ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु यहाँ इतना ही उल्लेख्य है कि एक तो उनकी दृष्टि से ये ग्रह-बिचारे स्वयं परवश होने के कारण हरि-भक्तों का कुछ नही बिगाड़ सकते । दूसरे सूर्य भ्रमित रहता है, चन्द्रमा क्षयी है, राहु के घड़ ही नही हैं, शुक्र एकाक्ष हैं, शनि लूला है और बृहस्पति तो अपनी पत्नी ही खो बैठा है । अतः वे विचारे स्वयं ही अपनी-अपनी विपत्ति से दुःखी है तो हमारा कर ही क्या सकते हैं ? फिर ग्रहों का भी ग्रह (भगवान्) जब हृदय मे विराजित हो तो इनके प्रति दीन-वाणी का प्रयोग ( छप्पा २०२ ) कौन करे ? स्पष्ट है कि उन्होंने ग्रहों आदि विषयक विश्वासों को अंध-विश्वास मानकर उनका खण्डन किया है ।

रसेश्वर दर्शन के अनुसार पारा व गंधक की रासायनिक प्रक्रिया द्वारा एक ऐसा रसायन तैयार किया जा सकता है कि जिसके सेवन से मनुष्य नीरोग होता है और ताँवा, पीतल आदि धातुओं से स्वर्ण बनाया जा सकता है । इस रसायनी-विद्या का उल्लेख दोनों कवियों ने किया है—

सबै रसांइण मै किया हरि सा और न कोइ ।

तिल इक घट संचरै तौ सब तन कंचन होइ॥ क०ग्रं०,रस कौ अंग, सा० ८।

जब पारा पूरा मुआ तब गई चपलता चेहेन ।

तब आगले के अंग कुं करत अरोगी ऐन ॥ अ० र०, राम रसिया अंग, सा० १४ ।

कबीर ने राम-रसायन के समक्ष सभी रसायनों को हेय कहा है, किन्तु अखा ने गंधक व पारे से निर्मित उपर्युक्त रसायन से आरोग्य की प्राप्ति की अनेक उक्तियों में प्रशंसा की है ।[3] ताँवा आदि धातुओं मे से स्वर्ण बना सकने की ऋद्धि प्राप्त रसायन को

---

१. अ०र०, चित्त विकार अग, सा० १२, पृ० ३३२ ।

२. नवग्रिह बांमण भणता रासी, तिनहूँ न काटी जम की पासी ॥ क०ग्रं०, पद १४२ ।

३. द्र०, चित्त विचार संवाद २१०-१२ एवं झू० ७८ ।

'वड़ा' और ऐसा न कर सकने वाले रसायनी को भाग्यहीन कहा है।[1] साथ ही उनका कथन है कि सच्चे रसायनी किसी को नही मिलते, धूर्त धन को लेकर पलायित हो जाते हैं—

जेम रसायनी केने नव मले अने धूर्त वित्ते लईने पले ॥ छप्पा ४४७ ।

इससे स्पष्ट है कि दोनो कवियों ने आरोग्य-प्राप्ति के लिए इस रसायन को एक औपध के रूप मे तो सराहा है, किन्तु इससे स्वर्ण वनाने की संभावना को ठग विद्या या अंध-विश्वास माना है, और इसके लोभ मे पड़कर गाँठ का धन भी खो वैठने के प्रति सावधान किया है।

अखा ने अंजन-विद्या (अखेगीता कड़वक १६)का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार आँख मे एक विशेष अजन आँजने पर धरती मे गड़ा हुआ धन का दिखाई देना संभव माना जाता है। इसके अतिरिक्त अखा की रचनाओ मे मृत-संजीवनी विद्या (अ० वा०, पद ४), इन्द्रजाल—विद्या (अखेगीता क० ६) के भी उल्लेख है। जिससे स्पष्ट है कि लोग ऐसी विद्याओ मे विश्वास करते थे। शकुन एवं अपशकुन का विचार भी किया जाता था—

दखिन कूँट जब सुनहाँ भूँका तब हम सुगन विचारा ॥ क०ग्रं०, पद २० ।
उड़ि कागा रे उन देस जाइबा, जासू मेरा मन चित लागा ॥ वही,पद ३७६
ज्यूँ उल्लूक का बोलना हुकमी फिकर कराय ॥ अ०र०,कुमति अग,सा० ३०।

सर्प-दंश एवं भूत आदि का उपचार तत्र-मंत्र द्वारा किया जाता था जिसके निष्फल जाने पर व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी—

विरह भुवगम तन वसै मंत्र न लागै कोइ ॥ क०ग्रं०, विरह कौ अग,सा० १८
मणि मंत्र मेली ओषधि मृत्यु पाम्यो वहु करतां विधि ।
सर्प मंत्र औपध उपचार जाग्ये अखा टल्यो संसार ॥ छ० ६७ ।

**कवीर एवं अखा का अभिप्रेत समाज**

पूर्ववर्ती विवरण से स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों द्वारा सूचित सुधारों का सम्बन्ध समाज-व्यवस्था मे परिवर्तन लाने से उतना नही है जितना कि व्यक्ति के आचार-विचारों मे सुधार लाने से है। अतः कहा जा सकता है कि व्यक्ति को उन्होंने समाज-व्यवस्था की प्राथमिक इकाई माना है, और व्यक्ति-सुधार से समाज-सुधार का आदर्श अपनाया है। उनके मान्यतानुसार संन्यास व गृहस्थ-जीवन यापन की दो पद्धतियाँ है। यद्यपि दोनों ही अपने आप पूर्ण व निर्दोष है किन्तु संन्यास केवल अधिकारियों के लिए ही उचित व उपयोगी है जबकि गृहस्थ सर्व-सुलभ व सुगम है। व्यक्ति की शिक्षा मे आध्यात्मिक या धार्मिक ज्ञान का होना परमावश्यक है। संन्यासी हो या गृहस्थ, आत्म-साधक हो या भक्त, समाज और सामाजिक संबंधों के प्रति अपने-अपने कर्तव्यों का पालन सबको करना चाहिए। यदि वह आत्म-साधक है तो सर्वभूतान्तर्यामी आत्मा के अद्वैत या अभेद के

1. द्र०, अ०र०, अनभे अंग, सा० २ तथा लंपट अंग, सा० ११ ।

आधार पर स्वार्थ व परमार्थ एवं आत्मोद्धार व लोकोद्धार में भी अभेद मानकर अपने सिद्धान्तों को सार्थक व साधना को पूर्ण बनाना चाहिए, यदि गृहस्थ है तो उसे अपने सामाजिक दायित्वों को निभाना चाहिए। इस प्रकार समाज के विकास मे प्रत्येक का योगदान आवश्यक हैं।

गृहस्थ को अपने पारिवारिक दायित्वों को निभाते हुए संस्कारी प्रजा की अभिवृद्धि करनी चाहिए। कंचन व कामिनी के व्यामोह अथवा स्वजनो की ममता मे पड़कर उसे न तो अनीति का आचरण करना चाहिए, न हरि-भक्ति से विमुख ही होना चाहिए। कौटुम्बिक व्यवस्था मे जो कार्य जिसके भाग मे आये अथवा जो जिस कार्य के योग्य हो वह उसे निष्ठा व धैर्यपूर्वक करे। पारस्परिक संबंधों में बड़े छोटों के साथ स्नेह, सौहार्द, ममत्व एवं क्षमा का तो छोटे बड़ों के साथ नम्रता, विवेक, शिष्टता एवं सम्मान का व्यवहार करें। वृद्धों, अशक्तों एवं अपाहिजों के प्रति उसी प्रेम का व्यवहार अपेक्षित है जो उनके मरने के बाद दर्शाया जाता है। अतिथि-सत्कार एवं दान आदि गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य है। गृहस्थ-जीवन की सुख-शांति, समृद्धि एवं संस्कारी संतान की उत्पत्ति आदि की दृष्टि से नारी का सच्चरित्र, उदार, सहनशील, भक्ति-भाव व धार्मिक संस्कारों से युक्त होना आवश्यक है।

सामूहिक विकास एवं व्यक्तिगत सुविधा आदि की दृष्टि से श्रम-विभाजन समाज-व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। किन्तु ध्यान रहे कि जो अपने ज्ञान से समाज की सेवा करता है वह ब्राह्मण है, जो अपने शौर्य से देश व धर्म की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है, जो विशिष्ट ऋतु और देश के उत्पादन को सब समय और सर्वत्र उपलब्ध कराकर समाज की सेवा करता है वह वैश्य है, और जो अपनी क्षमता, कौशल या योग्यता आदि से समाजोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करता है अथवा अन्य रूप मे समाज की सेवा करता है वह शूद्र है। अर्थात् अपनी-अपनी योग्यता, क्षमता, कौशल, रुचि एवं स्वभाव आदि के अनुरूप सभी वर्गो या वर्णो जातियो व व्यक्तियो का प्रमुख धर्म या कर्तव्य, समाज-सेवा है। एकमात्र जन्म के आधार पर ब्राह्मण व शूद्र एवं हिन्दू व मुसलमान आदि के भेद मान लेना न केवल नैसर्गिक नियमों के विरुद्ध व अतार्किक है वरन् मानव-समाज के हितो को हानिकर्ता भी है।

सामान्य हितों की रक्षा करनेवाले नियंत्रणों एवं नीति-नियमों का पालन किसी बाह्य दबाव या दण्ड के भय से नही वरन् आत्मीयता के विस्तार, त्याग की भावना, परहित की कामना तथा ईश्वरीय न्याय को ध्यान मे रखकर करना चाहिए। क्योंकि पारस्परिक व्यवहारों का नियमन इस प्रकार जितना सरल, सुगम एवं प्रामाणिक ढंग से हो सकता है अन्य उपायो से नहीं।

समाज मे व्यक्ति के महत्व या प्रतिष्ठा आदि के विषय में उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार वृक्ष की पहचान उसके फलों से होती है व्यक्ति की पहचान उसके कार्यों से

होती है । अतः जन्म, जाति या आर्थिक समृद्धि आदि के आधार पर नही वरन् अपने शुभाशुभ कर्म, स्वभाव एवं व्यवहार आदि के आधार पर ही वह ऊँच-नीच एवं पवित्र-, अपवित्र आदि हो सकता है। जन्मादि के आधार पर हो ऊँचा बनना मिथ्याभिमान है, जो उसके पतन का कारण हो सकता है, क्योंकि भगवान् गर्व-प्रहारी और दीनबंधु है ।

तुलनात्मक दृष्टि से इतना ही कहा जा सकता है कि पारिवारिक-सम्बन्ध गृहस्थ के कर्तव्य, श्रम-विभाजन से व्युत्पन्न वर्ग या जाति और नारी-जीवन विषयक कबीर की उक्तियाँ संख्या मे जितनी अधिक और विचार जितने स्पष्ट है उतने अखा के नही । वीत-राग गृहस्थ जीवन के समर्थन एवं भूत-प्रेत, ज्योतिष, रसायन आदि के अन्ध-विश्वासों के खण्डन से सम्बन्धित अखा की उक्तियाँ जितनी सैद्धांतिक और स्पष्ट है उतनी कबीर की नही । जन्म के आधार पर जाति एवं तदनुसार ऊँच-नीच या ब्राह्मण-शूद्र के निर्णय, संस्कारो से हिन्दू व मुसलमान आदि सम्प्रदायो के सर्जन एवं शुचिता-पालन आदि पर कबीर के व्यंग जितने सचोट, तीक्ष्ण व वेधक हैं उतने अखा के नही । किन्तु इन सबसे उनकी विचारधारा मे कोई मूलभूत अन्तर नहीं आ पाया है ।

समाज-सुधारक के रूप मे आलोच्य दोनों कवियों का मूल्याकन करते हुए कहा जा सकता है कि उन्होने मुख्यत. तत्कालीन समाज की विकृतियों या क्षतियो के परिष्कार का प्रयत्न किया है; कोई विकल्पात्मक नवीन व्यवस्था प्रस्तुत करने का नही । इससे स्पष्ट है उनका विरोध विकृतियों से है; समाज-व्यवस्था के मूलभूत सिद्धातों से नही । दूसरे उनके द्वारा सूचित सुधारो का आधार कोई भौतिकवादी व्यवस्था न होकर जीवन के प्रति उनकी आध्यात्मिक दृष्टि है, अत' आधुनिक साम्यवाद, प्रगतिवाद एवं समाजवाद जैसे किसी वाद की शोध उसमे अप्रासगिक ही कही जायगी । तीसरे यह कि उन्होंने अपना ध्यान मुख्य रूप से हिन्दू-समाज-व्यवस्था पर ही केन्द्रित किया है। इस्लाम की जिन एक-दो बातों का उल्लेख हुआ है वह प्रासंगिक ही है । इस्लाम धर्म के बाह्याचारो मे सुधार लाने के प्रति वे जितने प्रयत्नशील दिखाई देते है उतने समाज-सुधार के प्रति नही । जिन विद्वानों ने कबीर को हिन्दू व मुसलमान, दोनो समाजो का सुधारक माना है उन्होने इस्लाम धर्म के बाह्याचारो के उनके खण्डन को ही समाज-सुधार भी मान लिया है।[1] तथ्य सम्भवत यही है कि श्रम-विभाजन की निश्चित व्यवस्था के अभाव मे मुसलमानों मे वर्ग-भेद प्रायः नही था । हिन्दुओ के सम्पर्क से उनमे जो वर्गभेद पनप रहा था वह भी इतना विघटनकारी न था जितना कि हिन्दुओ का । अतः उनकी समाज-व्यवस्था सन्तों की चिन्ता का विषय प्रायः नही थी ।

---

१. द्रष्टव्य, डा० सरनामसिंह कबीर एक विवेचन, पृ० १८० व ३०२-३०५ ।
डा० त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० ३३२-४० ।
डा० प्रह्लाद मौर्य : कबीर का सामाजिक दर्शन ।

## अष्टम अध्याय

# इतर जीवन-पक्षों के प्रति दृष्टिकोण

पूर्ववर्ती अध्यायगत विवरण से स्पष्ट है कि किसी निश्चित सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत-धर्म, अर्थ व काम आदि से संबंधित-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा हितों की रक्षा होने पर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का जो विकास व सुख-समृद्धि की वृद्धि करता है, उसी के आधार पर समाज अपना सामूहिक विकास करता है। उल्लेखनीय यह है कि अपने सदस्यो की अर्थादि से संबंधित, उक्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज उनमे से प्रत्येक के विषय मे एक या दूसरी व्यवस्था स्वीकार करता है,—जो उसके द्वारा स्वीकृत आदर्शो के सानुकूल होती है। समाज-द्वारा स्वीकृत इस व्यवस्था से जहाँ एक ओर पारस्परिक हितों की रक्षा होती है वहाँ दूसरी ओर इसकी सफलता के लिए कुछ नैतिक या मानवीय मूल्यों के पोषण की भी अपेक्षा की जाती है। कहना न होगा ये नैतिक या मानवीय-मूल्य परम्पराओं द्वारा प्रस्थापित होते हैं और संबंधित समाज की धार्मिक एवं सास्कृतिक चेतना के निदर्शक होते है। कबीर और अखा के धर्म एवं काम विषयक विचारों का अवलोकन पूर्ववर्ती अध्यायो मे विभिन्न शीर्षको के अंतर्गत किया जा चुका है, अतः यहाँ जीवन के इतर-पक्षों—आर्थिक, राजनीतिक, वैयक्तिक, सास्कृतिक एवं साहित्यिक से सबंधित उनके दृष्टिकोण का अनुशीलन किया जायगा।

### आर्थिक दृष्टिकोण

जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ की पूर्ति तथा उसे सुखी व समृद्ध बनाने वाले सभी पार्थिव-साधनों का समावेश अर्थ के अंतर्गत किया जाता है। अतः किसी भी समाज-व्यवस्था मे उसकी उपेक्षा सभव नही होती। अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत वस्तुओं के उत्पादन, वितरण एव उपभोग विषयक नियमो द्वारा अर्थ का नियमन किया जाता है। इस अर्थ-नियमन से संबंधित विचारों को आर्थिक दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है। कबीर एवं अखा प्रचलित अर्थ के अर्थशास्त्री न थे, अत. एतद्विषयक किसी शास्त्रीय विवेचन की अपेक्षा उनसे नही की जा सकती। उनके आर्थिक दृष्टिकोण का अनुशीलन उनकी रचनाओं मे उपलब्ध तत्कालीन उत्पादन के साधनों की स्थिति, आर्थिक-जीवन, धन के प्रति लोगो के सामान्य दृष्टिकोण, आदि से संबंधित उल्लेखों और एतद्विषयक उनकी प्रतिक्रिया के आधार पर ही किया जा सकता है। उस समय खेती, व्यापार, गृह-उद्योग एवं सरकारी नौकरियाँ—अर्थोपार्जन के मुख्य साधन थे। अतः यहाँ सर्वप्रथम इन कवियों की रचनाओं के आधार पर इनकी स्थिति व तत्कालीन-आर्थिक जीवन का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है।

खेती

आलोच्य कवियों का खेती से यद्यपि सीधा संबंध न रहा होगा किन्तु अपने लौकिक व्यवहार मे वे इससे सर्वथा अनभिज्ञ भी न रहे होंगे। उनकी रचनाओं मे खेतों की जुताई (अ० वा०, पद १५२), बुवाई (वही, पद १५१ एवं क०ग्रं०, बेसास कौ अंग, सा० ४), रखवाली[1] आदि के उपरान्त खलिहान मे अनाज व भूसा के पृथक्करण (क०ग्रं०,पद१४), कटे हुए खेतों से सीला बीनने व राशि के घर आ जाने पर ही श्रम को सार्थक मानने (क० ग्रं०, पद २१६) आदि विषयक अनेक उल्लेख मिलते है। इन सभी संदर्भों के आधार पर निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

(१) मुख्य रूप से कच्चे कुएँ, तालाब, नदी एवं वर्षा सिंचाई के साधन थे।[2] किन्तु कुओं से सीमित भूमि की सिंचाई ही संभव थी, नदी के जल एवं ऊँचे जल-स्तर का उपयोग ढेकुली द्वारा काछी-माली द्वारा की जानेवाली साग सब्जी व फूलों की खेती तक ही संभव था, तालाब अच्छी वर्षा होने पर ही काम आ सकते थे अतः सामान्यतः खेती वर्षा पर निर्भर थी।

(२) अतिवृष्टि व अनावृष्टि—(क० ग्रं०, पद बेसास कौ अंग, सा० ४)—दुष्काल का कारण बनती थी, खडी फसल मे पशु-पक्षी हानि पहुँचाते थे।[3]

(३) राज्य की ओर से प्रोत्साहन मिलना तो दूर रहा,लगान विभाग के कर्मचारियो के अमानुषी अत्याचारों से तंग आकर किसान गाँव छोडकर भाग जाया करते थे—(क०ग्रं०, पद २२२)।

(४) खेती किसी जाति-विशेष का व्यवसाय न रह गई थी, गाँवो मे रहने वाली देश की अधिकाश जनता खेती अथवा उससे सबधित व्यवसायों पर निर्भर थी। एकाध अपवाद को छोडकर किसानों के पास एक फसल से दूसरी फसल के छह महीनों के लिए आवश्यक अनाज का संग्रह न रहता था—(अखेगीता क० ८)। किसान जमीन के मालिक न होकर, लगान पर उसे जोतने के अधिकारी मात्र होते थे अतः उनकी स्थिति मजदूरों से अधिक अच्छी न होती होगी।

कबीर एवं अखा की एतद्विषयक उक्तियों मे अच्छी फसल उगाने, खेतो के चारों ओर काँटों की जड और मध्य मे मनुष्याकृति का 'बिजूका' खड़ा करके पशुओं से तथा ऊँचे मचान से 'गोफन' द्वारा मिट्टी के ढेले फेंककर पक्षियो से फसल की रक्षा करने जैसे

---

१. द्र०, क० ग्रं०, अंग १६, सा० २६, पद २१६, ३५३, ३६६; अ० वा०, पद १५१ सोरठा—६४।

२. द्र०, क०ग्रं०, पद २१४, २१६, लै कौ अंग, सा० ३, रस कौ अंग, सा० ७। उपजणि कौ अंग, सा० ५, विरह कौ अंग, सा० २४ तथा छप्पा २९१, ६३७।

३. क०ग्रं०, माया कौ अंग, सा० २६, पद ३९६; अ०वा०, पद १५१, सो० ६४।

कुछ ऐसे अप्रत्यक्ष सुझाव अवश्य है[१]; कि जिनका उपयोग तत्कालीन किसान करते ही थे। तदुपरान्त किसानों की दरिद्रता व सरकारी कर्मचारियों द्वारा उनके उत्पीड़न आदि के प्रति उन्होने अपनी सवेदना भी व्यक्त की है किन्तु खेती की पद्धति या व्यवस्था-विषयक उनका कोई विशिष्ट मन्तव्य प्रायः नही देखा जाता।

**जातिगत-व्यवसाय**

यह हम अन्यत्र देख ही चुके है कि मध्ययुग मे जातिगत-व्यवसाय व्यवस्था प्रचलित थी। कबीर एवं अखा की रचनाओं मे कोली ( जुलाहा ), सुनार, लुहार, सिकलीघर, धीवर, तेली, कुंभार, कहार, माली, कलाल, मल्लाह, खटिक, तंबोली, रंगरेज, दरजी, चर्मकार, बढ़ई एवं धुनियाँ आदि जातिगत व्यवसायों एव रसायणी जादूगर, नट, मदारी, गारुडी, कसाई एवं चित्रकार आदि अन्य व्यवसायी लोगों के उल्लेख मिलते हैं। एतत्-सम्बन्धी सभी उल्लेखो के आधार पर निम्नाकित निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

(१) अधिकाश व्यवसाय वंशानुगत होते थे, अतः लोग इनमे आसानी से कुशलता प्राप्त कर सकते थे।[२]

(२) कुछ व्यवसायो को हिन्दू व मुसलमान दोनों संप्रदायों के लोग करते थे, जो जाति-सूचक अलग-अलग अभिधानों से जाने जाते थे। जैसे—कोली-जुलाहा, काछी-कुजडा, छीपा-रंगरेज इत्यादि।

(३) यद्यपि वर्ण-व्यवस्था अस्तित्व मे न थी फिर भी मंदिरों की सेवा-पूजा-पाठ ब्राह्मणों के[३], और व्यापार वैश्यों के[४] व्यवसाय माने जाते थे; सेना मे क्षत्रियों को प्राथमिकता दी जाती थी।[५]

(४) समुद्र एवं 'मानसरोवर' से गोता-खोर मोती निकालते थे[६], हीरा एवं स्वर्ण खानो से निकाले जाते थे।[७]

(५) अखा की रचनाओं मे पानी के जहाज, नाव, एवं 'खेवा' आदि के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि गुजरात मे इनके निर्माण की भी व्यवस्था थी।[८] तदुपरान्त

---

१. द्र०, क०ग्रं०, चितावणी कौ अंग, सा० १५, पद ३९६; अ०वा०, पद १५१।
२. द्र०, क०ग्र०, पद १०, १७, १०९, परचा कौ अंग, सा० ४७; अ०र०, झू० ९६।
३. द्र०, वही, पद २६४; अ०वा०, पद।
४. द्र०, वही, पद २३४, १०३।
५ द्र०, वही, ३८९।
६. द्र०, वही, परचा कौ अंग, सा० ८, ३४, ३९; अ०वा०, पद १४७, ८४।
७. द्र०, छप्पा ४७८, ५४४।
८. द्र०, अ० वा०, पद ७५, अ०र०, अथ सहज अग, सा० १४, अथ उदय केवल अंग, सा० १४।

अखा की रचनाओं में बन्दूक (छप्पा २५, सोरठा १०५), वीड़ी-धूमपान (अनुभव-विंदु २३, अ०र०, आसा की अंग, सा० ११), काँच एवं शीशा-(दर्पण के पीछे लगाने का मसाला), काँच के दर्पण (अखेगीता, क० १२, अ० वा०, पद १०९), चश्मा (छप्पा ७०, सोरठा १६९, अखेगीता क० १५), आतशबाजी (अ०र०, झू० २१, जकड़ी २३) आदि विपयक ऐसे उल्लेख है जो कबीर की रचनाओ मे नही है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी ये सभी वस्तुएँ मुगल-काल मे प्रचलित हुई सिद्ध होती है। अतः इनसे संबंधित उद्योग अखा के समय मे ही रहे होगे।

(६) स्वर्णकार लोग स्वर्ण मे रांगा जैसी सस्ती धातु मिलाकर ग्राहको को ठगने का प्रयत्न करते थे।[1]

(७) अधिक लाभदायी व्यवसायों मे पूँजी की आवश्यकता होती थी अत. वे धनी व्यापारियों के हाथों मे होते थे।

(८) वैधक, सुनारी एवं मूल्यवान वस्त्र तैयार करने जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर शेप व्यवसाय प्राय. जीविकोपार्जन के साधन मात्र होते थे। क्योंकि उनमे व्यवसायी की तो व्यक्तिगत-कुशलता या परिश्रम ही लगता था ओर मजदूरी की दरें उन दिनो वहुत नीची होती थी, दूसरे प्रत्येक व्यवसाय का कर भी भरना पड़ता था।

(९) श्रमिको एवं कारीगरो को अधिकारी वर्ग द्वारा बेगार के लिए पकड़ लिया जाता था।[2]

(१०) पेट-पूर्ति हेतु कुछ नर-नारियों को दास-दासियों के रूप मे जीवन व्यतीत करना पड़ता था, जिनका क्रय-विक्रय भी हो सकता था।[3]

कवीर एवं अखा ने उपर्युक्त व्यवसायों एवं व्यवसायियों की गति-विधियों का उपयोग, यद्यपि विचार व साधना विषयक, स्वयं के कथनों की स्पष्टता के लिए किया है, फिर भी इनसे जहाँ एक ओर अपने समकालीन परिवेश के प्रति उनकी जागरूकता पर प्रकाश पड़ता है वहाँ दूसरी ओर समाज के सभी वर्गो के प्रति उनकी सहानुभूति भी व्यक्त होती है। तदुपरान्त यह कि कवीर ने अपने स्वामी की प्रसन्नता के लिए कोई सा भी कर्म सहर्ष स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की है—

अवध रांम सबै करम करिहूँ, सहज समाधि न जम थैं डरिहूँ ॥
कुभरा ह्वै करि वासन घरिहूँ, धोवी ह्वै मल धोऊँ।

---

१. द्र०, अ०र०, क्रमजड अंग, सा० ६, पृ० २१८।

२. द्र०, क०ग्रं०, पद ११०, २८८; अ०र०, प्रासी अंग, सा० ४, छप्पा ८४, १९५।

३. द्र०, वही, चाणक को अंग, सा० ४, पद ११३; अ०र०, भजन २६। जकड़ी २३, छप्पा ३६।

चमरा ह्वै करि रंगौ अघोरी, जाति पाँति कुल खोऊँ ॥
+ + +
कहि कबीर भौ सागर तरिहूँ, आप तिरूँ वप तारूँ ॥क०ग्रं०,पद ३८९

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने न तो किसी व्यवसाय को निम्न या हेय माना है और न इस आधार पर किसी व्यक्ति को नीच या ऊँच ही माना है । अतः कोई भी व्यवसाय उनकी दृष्टि मे अपवित्र व त्याज्य नही है । जो जिस कार्य को करता है उसी के रूप में अपनी प्रभु-सेवा को ढालकर देखे तो वह अपवित्र कार्य भी पवित्र ही प्रतीत होने लगेगा । उल्लेख्य यह है कि अप्रत्यक्ष रूप से कबीर ने तत्कालीन बुनकरों से महीन सूत कात कर महँगे कपडे बुनने[1] और अखा ने स्वर्णकारों से स्वर्ण की शुद्धता एवं नाप-तौल आदि के विषय मे ईमानदारी से बरतने की सलाह दी है ।[2] भाव यह है कि 'जैसा अन्न वैसा मन' की उक्ति के अनुसार उन्होंने जीविका-शुद्धि को व्यक्ति की आचार-शुद्धि का प्रेरक माना है ।

**व्यापार**

आलोच्य कवियों की व्यापार विषयक उक्तियो मे, न्यूनाधिक रूप से, स्वदेशी एवं विदेशी—दोनो ही प्रकार के व्यापार के उल्लेख है । विदेशी व्यापार छोटी-मोटी नावों द्वारा समुद्री-मार्ग से किया जाता था[3], अत. एतद्विषयक उल्लेख अखा की रचनाओं में कबीर की अपेक्षा अधिक है । किन-किन देशों से किन-किन वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था ? इसका इन कवियों ने कोई सकेत नही किया है । अखा की एक उक्ति से इतना ही ज्ञात होता है कि उन दिनो लका से स्वर्ण का आयात होता था ।[4] विदेशी व्यापार यद्यपि अधिक लाभकारक होता था तथापि मार्ग की कठिनाइयों एवं धार्मिक कारणों से स्वदेशी व्यापार ही अधिक अच्छा समझा जाता था ।[5]

स्वदेशी व्यापार मे व्यापारियो के मुख्य दो भेद—छोटे व्यापारी व बड़े व्यापारी थे । बडे व्यापारी शहरो या कस्बो मे रहते थे,और मूल्यवान् वस्तुओ का व्यापार करते थे ।[6] दैनिक-उपभोग की वस्तुओं का थोक-व्यापार भी इन्ही के हाथो मे होता था । एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल का हेर-फेर बैलगाडियों द्वारा किया जाता था ।[7] इनकी मुख्य

---

१. द्र०, क०ग्रं०, चितावणी कौ अंग, सा० ५८, पद १३ ।

२. द्र०, अ०र०, क्रमजड अंग, सा० ५ व ६, छप्पा ३७२ एवं चि०वि०सं० २६५ ।

३. ज्यूं नीर विषै नौका रहे तो बहे कोटि मण भार।।अ०र०,अथ सहज अंग,सा० १४।
नौका तें खेवा वडा आठु दिशा वहात ॥ अ०र०, अथ उदय कैवल्य अग, सा० १४।

४. के लंका ते आइयाँ के हुवा लोह का हेम ॥ अ० र०, राम रसिया अंग, सा० २४ ।

५. द्र०, क०ग्रं०, पद २३४ तथा छप्पा १३६ ।

६. द्र०, वही, पारिख कौ अग, सा० ३, सूरातन कौ अंग, सा० २८, पद २९१ ।
तथा अ०र०, राम परीक्षा अंग, सा० ७, ९, ११, १२, १५, १७ ।

७. द्र०, क०ग्रं०, पद २५४, ३८३; अ०वा०, पद ६०, छप्पा १७७ ।

समस्या यह थी कि मार्ग असुरक्षित होने के कारण (क० ग्रं०, पद ३८३) माल का हेर-फेर सरलता से न हो सकता था।

छोटे व्यापारी गाँवों मे बनजी-फिरते थे, गाँवों के साप्ताहिक या पाक्षिक हाट-बाजारों मे अपनी दुकानें लगाते थे। अत. उन्हे 'वणजारा', 'वाणियाँ' अथवा बनियाँ आदि कहा जाता था। इनकी एक मुख्य समस्या आवश्यक पूँजी के अभाव की थी। अतः बड़े व्यापारियों से ब्याज पर उधार रकम लेकर इन्हे अपना काम चलाना पड़ता था। ग्राम्य-जनता की उपयोगी वस्तुओं के इनके व्यापार मे शायद अधिक लाभ न होता था; और पूंजी को सवाया करने वाला ब्याज बढ़ता ही रहता था। अतः इनका व्यापार ठप्प भी हो जाया करता था—

मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज, मूल घटै सिर बधै व्याज ॥क०ग्रं०,पद३८३।
कहा भयौ व्यौपार तुम्हारे कलतर बढे सवाया ॥
वडै बौहरे साँठो दीन्हों कलतर काढ्यौ खोटे ॥ क० ग्र०, पद १०८।
वाते व्याज चढो गयुं मूलगे थी डूल्या ॥ अ० वा०, पद ४४।
हटवाडा मे सर्वे वस्तु हारीयो रे ॥ वही, पद १२६।

इनकी दूसरी समस्या 'जकात' अथवा भारी करो से संबंधित थी। पुराने अथवा बड़े व्यापारी तो अपनो व्यक्तिगत पहुँच आदि के आधार पर राज-कर्मचारियों को बहुत दाद न देते थे—( क०ग्रं०, पद २५४ ), किन्तु नये अथवा छोटे व्यापारियो को उनके कारण इतनी हानि उठानी पडती थी कि व्यापार ही बन्द कर देना पड़ता था—

तीनि जगाती करत रारि, चल्यौ है बनिजवा वनज झारि ॥
वनिज खुटानौ पूँगो टूटि, षाडू दह दिसि गयौ फूटि ॥ क०ग्रं०,पद ३८३।

इन कवियो ने अपने समकालीन व्यापारियो के प्रति, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, मुख्यत. दो-तीन बातें कही है। एक तो यह कि नीति-युक्त व्यापार से जो लाभ होता हो वही सच्चा लाभ है, अतः लोभ मे पडकर नीति का त्याग न करना चाहिए—

चौखौ वनज व्यौपार करीजै, आइनै दिसावरि रे राम जपि लाहौ लीजै।
(क०ग्र०, पद २३४)।

दूसरे यह है कि समय-सूचकता से काम लेकर महँगी अथवा लाभ-प्रद वस्तुओ का व्यापार भी साथ-साथ करते रहना चाहिए—

तब काहे भूली बनजारे, अब आयौ चाहै संगि हमारे।
जब हम बनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजी खारी ॥
जब हम बनजी परमल-कस्तूरी, तब तुम काहे बनजो कूरी ॥
अमृत छाड़ि हलाहल खाया, लाभ-लाभ करि मूल गँवाया ॥[१]

१. क०ग्रं०, पद २९१।

गुनातित वनजे अखा हाथ न बहावे खाक ॥[1]

तीसरे यह कि लाभ होने पर गर्व करनेवाला और लाभ के लोभ मे मूल को खो बैठने वाला—दोनों ही मूर्ख है ।[2] नीति का व्यापार करने पर यदि अधिक न कमा सके किन्तु मूल की रक्षा भर कर सके तो वह भी सफल व्यापारी माना जायगा :—

चोखौ बनिज व्यौपार करीजै ।
सकल दुनी मैं लोभ पियारा मूल ज राखै रे सोई बनिजारा ॥[3]
राम रत्न का पारखू मुद्दल खात न खोट ॥[4]

स्पष्ट है कि कबीर एवं अखा की उपर्युक्त उक्तियाँ यद्यपि अध्यात्म से सम्बन्धित हैं, फिर भी एक तो तत्कालीन व्यापार-विषयक ऐतिहासिक तथ्यों के सानुरूप है, दूसरे उनके द्वारा प्रस्तुत सुझाव व्यापारियों के लिए आदर्श रूप अवश्य हो सकते है ।

## सरकारी नौकरियाँ

कबीर की एक उक्ति (क०ग्रं०, पद २२२) मे लगान वसूल करने वाले कर्मचारियों के रूप मे 'कायस्थ' एवं 'महेतो' का जो उल्लेख है उससे सिद्ध है कि तत्कालीन शासन मे लगान-विभाग के निम्न-स्तर के कर्मचारियो मे हिन्दुओं को रखा जाता था । न्याय एवं सेना आदि के उच्च पदाधिकारियो के रूप मे मुसलमान ही रखे जाते थे ।

उपर्युक्त समस्त विवरण से स्पष्ट है कि देश मे धन-धान्य एवं व्यवसाय आदि की कमी यद्यपि न थी, तथापि बड़े-बडे व्यापारियों एवं अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले अनुचित शोषण के कारण समाज आर्थिक दृष्टि से—धनी व निर्धन के दो वर्गों मे विभक्त हो गया था । धनी वर्ग मे बडे-बडे व्यापारियों के अतिरिक्त राजा, राणा, राव, छत्रपति (क०ग्रं०, पद ८५, ९९), मीर, मलिक (वही, पद १२२) एवं सैनिक पदाधिकारी मुख्य रूप से, तो गाँव का ठाकुर (अ०र०, साखी २०, पृ० २५६), बड़े-बडे मन्दिरो के महन्त एवं काजी-मुल्ला (क०ग्र०, पद २५७) आदि गौण रूप से परिगणित होते थे । ये लोग सोनो के तारो से जडित 'त्रापड', कसीदे से भरे 'दुमास' रेशम, मखमल आदि के जडाऊ वस्त्र[5] एवं रत्नजडित आभूषण[6] पहनते थे । तथा आलीशान मकानों (महलो) मे राग-

१. अ०र०, राम परीक्षा अग, सा० ८ और दे०, सा० ९, १२, १५ ।
२. द्र०, क०ग्र०, पद २९१, ३६७ व २३५ ।
३. क०ग्रं०, पद २३४ ।
४. अ०र०, राम परीक्षा अंग, सा० १२ ।
५. द्र०, छप्पा ८३, १७१, १७३ एवं अ०र० झूलणा-९०, क०ग्रं०. पद १३, २७०, चितावणी कौ अंग, सा० ५८ ।
६. द्र०, क०ग्रं०, पद ३७८, रमैणी, पृ० १७३, गु०शि०सं० ३।२७, संतप्रिया-४९ ।

रंग से युक्त, वैभवपूर्ण-विलासी जीवन व्यतीत करते थे।[1] लाखों-करोड़ों की धन-राशि संचित करते थे।[2] दूसरी ओर गरीब-वर्ग मुख्यतः गाँवों मे, मिट्टी के बने कच्चे, जर्जरित, टूटे-फूटे छान-छप्परों वाले मकानों मे (क०ग्रं०, पद १६, २२) रहता था, और फटे-पुराने चीथड़ो जैसे वस्त्र पहनता था, तथा अनेक व्याधियो से (वही, पद १०५) घिरा रहता था।

धन के उक्त असमान वितरण से शोषण पनप रहा था, अतः धन के बल पर धनी अधिक धनी व निर्धन अधिक निर्धन बनते जा रहे थे :—

अखा धनवंत पुरुषने धन वडे वाधे धन ॥[3]

आर्थिक सम्पन्नता सामाजिक प्रतिष्ठा का एक मुख्य कारण बन चुकी थी :—

जौ निर्धन सरधन कै जाई, आगे बैठा पीठ फिराई।
जौ सरधन निर्धन कै जाई, दीया आदर लिया बुलाई ॥[4]
ललोपतो माहाराज सु आदर दुनीया दाम ॥[5]

धन के प्रति लोगों मे अतिशय लोभ पनप रहा था। अत लोग धनोपार्जन मे न केवल तन-मन के कष्टो की अवगणना करते थे, वरन् छल-कपट का आश्रय भी लेते थे और अनुदार होकर उसका संग्रह करते थे :—

काहे कूँ माया दुख करि जोरी ॥ क०ग्रं०, पद १००।
खोट कपटि करि यहु धन जोर्‌यो लै धरती मै गाड्यौ ॥ वही, पद ९२।

सब मिलाकर यह कि धन का अभाव व्यक्ति के जीवन को दुखी बनाता था तो उसकी अति उसे विलासी, दम्भी, स्वार्थी एवं प्रभु-भक्ति से विमुख करती थी।[6]

कबीर एवं अखा आदि सन्त इस स्थिति से चिन्तित और इसमें स्थायी सुधार के इच्छुक थे, किन्तु ऐसा वे परिस्थितियो को बदलकर नही वरन् धन के प्रति लोगों में प्रवर्तित अतिशय लोभ को कम करके ही कर सकते थे। साथ ही यह कि उनके आर्थिक दृष्टिकोण का जहाँ एक ओर व्यावहारिक होना आवश्यक था वहाँ दूसरी ओर उनकी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि के सानुकूल होना भी उतना ही आवश्यक था। सम्भवत इसी

१. द्र०, क०ग्रं०, चितावणी कौ अंग, सा० २, ४, १९, १०, पद ८५ काल कौ अंग, सा० १८ तथा सन्तप्रिया ४९, ५१।
२. क०ग्रं०, चितावणी कौ अंग, सा० ३७।
३. अखाजी नी साखियो : अथ कुगुरु अंग, सा० ५, पृ० १०।
४. क०ग्रं०, परि०, पद १३०।
५. अ०र० हंस परीक्षा अंग, सा० ११।
६. द्र०, क०ग्रं०, पद १०५, ९९, ४०० तथा अ०र० लंपट अंग, सा० ७, नंदीक अंग, सा० २।

लिए उन्होने धन-वैभव की अनित्यता और उसके संग्रहकर्ता के अन्ततः हाथ लगने वाली निराशा को प्रकाश मे लाने का प्रयत्न किया है :—

जिन धन सच्या सो पछितानां साथी चलि गये हम भो जाना ॥

क०ग्रं०, पद ३६७ ।

अनेक जतनि करि गाडि दुराई, काहूँ साँची काहू खाई ॥ वही, पद १०१ ।

कहै कबीर सुनहुँ रे सन्तौ धन माया कछू संगि न गया ॥ वही, पद ४०१ ।

धन तन हय हस्ति सेवक जात सवे गेव यु घन छाई ॥[१]

दूसरे उन्होने इस अनित्य पार्थिव-सम्पत्ति के स्थान पर, मृत्यु के बाद भी साथ ही रहने वाले राम-नाम की सम्पत्ति के उपार्जन एवं संग्रह पर जोर दिया है :—

कबोर मो घन सचिये जो आगे कू होय। क०ग्र०, माया कौ अंग, सा० १३ ।

सो धन मेरे हरि का नाउँ, गाँठि न बाँधौ बेचि न खाउँ ॥ वही,पद ३३३ ।

अखा आतुर को मिले राम रतन भण्डार ॥ अ० र०, साखी ८, पृ० २८३ ।

तीसरे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, सन्तोष को महत्व देकर इन कवियो ने व्यक्ति के धनी व निर्धन या सुखी व दु खी होने को जितना भाव-जगत् से सम्बन्धित माना है उतना वस्तु-जगत् से नही। संभवत इसीलिए कबीर के आर्थिक दृष्टिकोण के विषय मे एक मन्तव्य यह पाया जाता है कि— कबीर मूलतः संन्यासी थे। उनकी रुचि समाज की व्यवस्था मे अथवा संसार के भौतिक पक्ष मे अत्यल्प थी।'[२] यह ग्राह्य है कि आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि अपनाने के कारण उन्होने भौतिक सुख-समृद्धि मे निमग्न रहने का समर्थन नही किया है किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उन्होने हरि-भक्ति और जीविकोपार्जन मे कोई विरोध माना है—

कबीर जे धधै तौ धूलि बिन धंधै धूलै नही।
ते नर बिनठे मूलि जिनि धधै मैं धाया नही ॥[३]
स्वाभाविक होय जेटले तेटले रहे निवृत्ति सुख भोगवे भले।[४]

दोनों ही कवियों ने भिक्षा-वृत्ति को निन्दनीय माना है—

मागण मरण समान है बिरला बंचै कोइ।
कहै कबीर रघुनाथ सूँ मति र मँगावै मोहि ॥[५]

१. सतप्रिया, कवित्त–५१ ।

२. डा० रवीन्द्रकुमार सेठ . तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तु० अध्ययन, पृ० ११७ ।

३. क०ग्रं०, निष्कर्मी पतिव्रता कौ अंग, सा० २१ ।

४. चि०वि०सं० ३४० ।

५. क०ग्रं०, वेसास कौ अंग, सा० १५ ।

अखा हरी का भावता मागत नही मतलुक।
मागे थे मनुआ मुयां हांस गई सब सुक॥[1]

इतना ही नही, यदि खाने-खर्चने या उदार जीवन व्यतीत करने पर भी कुछ बचता हो तो ऐसे संग्रह से भी कबीर का कोई विरोध प्रतीत नही होता—

जैसी उपजै पेड़ सूं तैसी निबहैं ओरि।
पैका पैका जोड़ता जुडिसी लाष करोडि॥ क०ग्रं०, उपदेश अंग, सा० ७।

फिर जिन सिद्धान्तों का व्यक्ति ने अपने जीवन मे पालन किया हो, उनके प्रति उसके विश्वास में सदेह को स्थान नही रहता। यह हम देख चुके हैं कि कबीर ने जीवन में अपने व्यवसाय का त्याग नही किया था। अत. कहा जा सकता है कि आलोच्य दोनों कवियों ने स्वार्जित धन से जीवन निर्वाह का समर्थन किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित धन की असारता का लक्ष्य लोगों की तत्संबंधी अतिशय-आसक्ति, अविवेकी संग्रह एवं भक्ति-विमुख विलासी-जीवन को हतोत्साहित करना ही रहा होगा, लोगों को संन्यासी बनाना नही। लेखक डा० मदनगोपाल गुप्त के इस निष्कर्ष से सहमत है कि, हिन्दुओं के संगृहीत धन का अपहरण करके तत्कालीन शासक व सैनिक विलासी जीवन व्यतीत करते थे। धन की निन्दा द्वारा अनासक्ति का प्रचार करके संत लोग शासितों को संतोष और शासकों को दया-धर्म का उपदेश देना चाहते थे। उनके द्वारा की गई धन की निन्दा में भौतिक जीवन की यथार्थता को उपेक्षित नही रखा गया है।[2]

निष्कर्ष यह है कि आलोच्य कवियों ने भौतिक संपत्ति को जीवन-निर्वाह का साधन और आध्यात्मिक संपत्ति—शील, संतोष, दया, दान आदि सद्‌गुणो को जीवन का साध्य माना है। उनके ये विचार 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' एवं 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' आदि उक्तियो द्वारा समर्थित भारतीय अध्यात्मवादी परंपरा के सानुरूप एवं 'अपरिग्रह' की भावना के पोषक हैं। गांधी जी का 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त भी मूलत. 'अपरिग्रह' पर ही आश्रित है किन्तु उसमे जो वैकल्पिक व्यवस्था है, इन संतों के आर्थिक दृष्टिकोण मे उसका अभाव है।

तुलनात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अपने आर्थिक परिवेश के प्रति जो जागरूकता और शोषितों व पीड़ितों के प्रति जो संवेदना कबीर की रचनाओं मे देखी जाती है वह अखा को रचनाओ मे नही। दोनों ही कवियों के आर्थिक दृष्टिकोण में कोई मूल-भूत अन्तर यद्यपि नही है फिर भी आर्थिक जीवन के व्यवहार पक्ष को जो महत्व कबीर की रचनाओ मे मिला है वह अखा की रचनाओं मे नही। व्यक्तिगत आचार-विचार की शुद्धि के लिए जीविका-शुद्धि का समर्थन दोनों संतों ने किया है।

---

१. अ०र०, हरिजन अंग, सा० ५, पृ० २५४।
२. द्र०, भारतीय साहित्य और संस्कृति, पृ० ९६-१०८।

## राजनीतिक दृष्टिकोण

आलोच्य कवियों की राजनीतिक परिस्थितियों का जो निरूपण पूर्ववर्ती पृष्ठों मे किया गया है उससे स्पष्ट है कि उस समय देश के अधिकाश भागो पर मुसलमानों का शासन था। जिसकी स्थिरता सैनिक शक्ति द्वारा प्रजा ( विशेषकर हिन्दू प्रजा ) के दमन और आर्थिक शोषण पर निर्भर थी—उसके सहयोग पर नही। प्रजा का असन्तोष राजद्रोह समझा जाता था और उसे निर्दयता मे दबा दिया जाता था। दूसरे इन कवियों में से कोई भी राजाश्रित दरबारी कवि या इतिहासकार न था। विचार-स्वातन्त्र्य और राज-दरबार से संबंध-दोनों ही के अभाव मे किसी व्यवस्थित राजनीतिक दृष्टिकोण की आशा उनसे नही की जा सकती थी। ऐसी स्थिति मे अपने कथन की स्पष्टता के लिए तत्कालीन राजनीतिक वातावरण से उन्होंने जो सामग्री ग्रहण की है, और उसके प्रति जो प्रतिक्रिया व्यक्त की है, उसी के आधार पर उनके राजनीतिक दृष्टिकोण का अनुशीलन किया जायगा। जिसके अन्तर्गत राजा, प्रशासन, न्यायतन्त्र एव युद्ध आदि विषयक उनके विचारो का समावेश किया गया है।

### (१) राजा या शासक

कबीर एव अखा की रचनाओं मे तत्कालीन शासनाध्यक्षों के लिए—राजा, राणा, राव, छत्रपति, भूपति, पाटवी, महाराज, सुलितान एवं पादशाह आदि शब्द प्रयुक्त हुए है।[1] इससे स्पष्ट है कि उस समय हिन्दू व मुसलमान, दोनों हो सम्प्रदायो के छोटे-मोटे अनेक राजा राज्य करते थे। अखा ने छोटे-मोटे अनेक लोकपालो पर एक अधिपति की सत्ता का उल्लेख किया है--(छ० ५५०-५१), जिससे तत्कालीन मुगल-शासन का संकेत भी ग्रहण किया जा सकता है।

उल्लेखनीय यह है कि इन राजा-महाराजाओं की सत्ता उनकी सैनिक शक्ति पर ही निर्भर करती थी। इसलिए इनके द्वारा प्रजा के धन का व्यय मुख्य रूप से दो विषयों पर किया जाता था—(१) स्वयं के वैभवयुक्त विलासी जीवन पर[2], जिसका संकेत अन्यत्र भी हो चुका है, और (२) आत्म-रक्षा के लिए बडी-बडी सेनाओ के निर्वाह, हाथी, घोड़ा, बैल, एवं वाहनों के संग्रह, और महल, बावड़ी तथा किलो के निर्माण आदि पर।[3] दूसरे यह कि ये लोग स्वभाव से हठीले, दंभी व गर्वीले होते थे।[4] इनके दर-बारों मे निष्ठावान् सेवकों की कमी होती थी, फिर सच्ची बात को इनसे कहने का साहस

---

१. द्रष्टव्य, क०ग्रं०, पद ८५, १००, ३१६; अ०वा०, पद ६, चि०वि०सं० ३३१।
२. द्रष्टव्य' क०ग्रं०, पद २४८, २९९, संत प्रिया-क० ४९।
३ द्रष्टव्य' क०ग्रं०, पद ८५,१००, २३८, ३१९, ३५९, चितावणी को अंग १९, काल को अंग, सा० १८; अखगीता १९, सन्त प्रिया-५१, छप्पा १९३।
४. द्रष्टव्य-क०ग्रं० पद, ४००, अ०र० भजन २३, आसा को अंग सा० ३।

भी न होता था। परिणाम-स्वरूप स्वार्थी व चापलूस-लोगों से ये घिरे रहते थे—

राजा दुवारां यौ फिरै ज्यूं हरिहाई गाइ ॥ क०ग्रं०, चाणक अंग, सा० ६।

असन बसन के कारणे सेवे राज रु द्वारा।

रोचक बोध बोधे अखा ताका कहा इतबार। अ०र० वीरंग अंग, सा० ११।

राज सबदु अन्याय के ताहां जी ! जी ! कहेता जाय।

झूठा ने साचो कहे अने सांचु करे मिथ्याय ॥ वही, आसा को अंग, सा० ६।

सच को झूठ और झूठ को सच कहने वाले इन्हीं अविश्वसनीय लोगों के परामर्श से राज-काज चलता था। परिणाम-स्वरूप वे प्रजा के साथ न्याय न कर सकते थे, जिससे प्रजा दुःखी रहती थी।—

जेम कोय म्होटो महाराज अंध थको करतो होय राज ॥

तेनी प्रजा होय महादुःखी चक्षुहीन जेहनो से मुखी।

नेत्र विना ते न्याय केम करे मत्रीनुं गमतु आचरे ॥[1]

कबीर की एक उक्ति में राज्यों की अस्थिरता का[2], तो अखा की एक उक्ति में उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियमों के अभाव का[3] संकेत है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन कवियों ने अपने समकालीन राजाओं या शासनाध्यक्षों को विलासी, अपव्ययी, दंभी आदि ही नहीं वरन् प्रजा के रंजन—सुख समृद्धि की अभिवृद्धि—के अपने कर्तव्य से विमुख हुए भी चित्रित किया है।

कहना न होगा कि आलोच्य कवियों की रचनाओं मे धन-वैभव एवं भोग-विलास की अनित्यता और स्तुति-निन्दा तथा अभिमान आदि के त्याग विषयक जो उपदेश भरे पडे है वे उपर्युक्त परिस्थिति व व्यक्ति के जितने अनुरूप व उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं उतने अन्य के लिए नही। इसके अतिरिक्त दोनो कवियों ने प्रजा के दुःख से अवगत, क्षमाशील एवं उसके दुःख-सुख मे समभागी होने वाले राजा की प्रशंसा की है—

जन की पीर हो,

राजा राम भल जांनैं कहूँ काहि को मानै। क०ग्रं०, पद २८६।

राजानुं जेम शहर ज अेक, प्रजा जूजवो वर्ण विवेक।

दंभी होय ते रह्या चउभडे तेनुं नाम ते खरडे पडे।

सर्वेने भलतो थई जाय, अखा आखुं शहरे तेना गुण गाय ॥ छप्पा ६८८।

अतः कहा जा सकता है कि उन्होने प्रजा के हित-चिंतक, कर्तव्यनिष्ठ एवं न्यायी शासक को आदर्श रूप माना है। कबीर ने तो राजा व प्रजा को मूलतः एक ही बताकर

---

१. चि०वि० सं० २३१-३२ और दे०, अ०र०, भजन-६।

२. दिवस चारि की पातसाही ज्यू वनि हरियल पात ॥ क०ग्रं०, पद ४००।

३. पाट बेसे सो पाटवी कूल न देखे कोए ॥ अ०र०, राम रसिया अंग, सा० २३।

शासक व शासित के कृत्रिम-भेद को ही अमान्य ठहराया है।[1] राजनीतिक दृष्टि से देखने पर उनका यह विचार अपने समय से बहुत आगे का विचार है, ऐसे ही विचार उन्हें क्रांतिकारि या युगद्रष्टा कहे जाने के आधार कहे जा सकते हैं।

**प्रशासन-तन्त्र**

इन कवियों की रचनाओ मे एतद्विषयक प्राप्त उल्लेखों के आधार पर, कहा जा सकता है कि राजा के पश्चात् सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति उसका मंत्री या वजीर होता था, जो राज-काज मे अपनी सलाह-सूचना द्वारा उसकी सहायता करता था। राजा के अयोग्य होने पर वह उससे अपने धारणानुसार कार्य करा सकता था।

बुरो दीवान दादि नहि लागै इक बांधे इक मारे हो राम ॥क०ग्रं०,पद २२२।
जिस नगरी का राजा नढंगा सर्वे लोक चले 'आप' रंगा।
राजा सदाये रहे अबूधा वजीर स्वतन्त्र न चाले सूधा ॥ अ०र० भजन ६।

इसके अतिरिक्त इनकी रचनाओं मे तत्कालीन प्रशासन मे सेना, न्याय, लगान एवं जकात आदि विभागों से सम्बन्धित-सलार ( क०ग्रं०, ३३९ ), काजी ( वही, पद ३६५ छप्पा ३०७), मीर, मुकदम, सेर, दिवान (वही, पद १०६), नेवगी, ठाकुर, कायस्थ, महतो, ( वही, पद २२२) जकाती, नायक (वही, पद ३३३) एवं कोटवाल (वही, पद ८०,३४०) आदि के उल्लेख मिलते है। इनमे से कोटवाल शहर का मुख्य प्रशासनिक अधिकारी होता था,और उसका कार्य शहर मे कानून व व्यवस्था बनाए रखना होता था।

ग्रामीण प्रशासनिक व्यवस्था मे निम्नतर स्तर का व्यक्ति गाँव का ठाकुर या मुखिया होता था जो जमीन की नाप-तौल एवं लगान वसूली मे 'कायस्थ' व 'महतो' आदि सरकारी कर्मचारियों की सहायता करता था। लगान वसूली मे इनके द्वारा किसानों पर किये जाने वाले अन्याय व अत्याचार का चित्र कबीर की इस उक्ति में द्रष्टव्य है—

गाइ कु ठाकुर खेत कु नेपै काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेति पसारे सब मिलि मोको मारै हो राम।
खोटो महतौ विकट बलाही सिर कसदम का पारै।
बुरो दिवांन दादि नहि लागै इक बाधे इक मारै हो राम॥
पाच किसान भाजि गये है जीव घर बाध्यो पारी हो राम॥ क ग्रं. पद २२२।

अखा की एक उक्ति (छ० २१५) मे सभा-मध्य बैठकर न्याय करने वाले किसी पढ़े-लिखे पंच की सूझ-बूझ पर व्यंग्य किया गया है, जिससे तत्कालीन पंचायतों के अस्तित्व का संकेत ग्रहण किया जा सकता है। कहना न होगा कि ये पंचायतें गाँवों मे होती थी और अपने क्षेत्र के न्याय व प्रशासन आदि मामलों मे बड़ी प्रभावशाली होती थी। मुसलमानों के शासन मे न्याय, सुरक्षा एवं प्रशासन आदि की दृष्टि से उपेक्षित गाँव इन

१. ऊंकार आदि है मूला राजा परजा एकहि मूला ॥ क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १८५।

पंचायतों के कारण ही अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने मे सफल हो सके थे ।

उपर्युक्त उक्तियों मे कबीर ने सरकारी कर्मचारियों द्वारा आचरित अन्याय व अत्याचार का जो भण्डाफोड किया है उससे उनकी निर्भय-प्रकृति,अन्याय के प्रति असहिष्णुता, पीडितों के प्रति सहानुभूति एवं समकालीन परिवेश के प्रति जागरूकता आदि पर प्रकाश पड़ता है । साथ ही यह कि उन्होंने तत्कालीन व्यवस्था की अपेक्षा व्यक्तियों को अधिक दोषी माना है ।

**न्याय एवं दण्ड व्यवस्था**

ग्राम्य क्षेत्र के छोटे-मोटे मामलों का निपटारा तो उपर्युक्त ग्राम-पंचायतों द्वारा ही कर दिया जाता था, गंभीर मामलों का न्याय, राज्य की ओर से नियुक्त, काजी करता था—जो मौत की सजा (कज़ा) तक दे सकता था । जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, इस युग मे कोई लिखित दण्ड-विधान न था, कुरान का शब्द-प्रमाण न्याय मे भी मान्य था । अतः विशेष रूप से हिन्दू व मुसलमान के झगड़े मे न्याय द्वितीय का पक्षपात करता था । कबीर एवं अखा दोनों ने तत्कालीन काजियों के न्याय की भर्त्सना की है—

> कहा अपराध संत हौ कीन्हा बाधि पोट कुंजर कूँ दीन्हा ।
> कुंजर पोट वहु वंदन करे, अजहूँ न सूझै काजी अंधरै ।। क०ग्रं०,पद ३६५।
> चोर तुम्हारा तुम्हारी आज्ञा मुसियत नगर तुम्हारा ।
> इनके गुनह हमह का पकारौ का अपराध हमारा ।। वही, पद २९२ ।
> कजा सो साची अखा कजा करे तहकीक ।। अ०र०, कजा कौ अंग, सा० ३।
> ए चीत क्या कजा करे वजा एन की ओर ।। वही, वही, सा० ८ ।

दण्ड के रूप में, कबीर की रचनाओं मे, अपराधी के हाथ-पैर जंजीरों से बाँध कर उसे नदी मे वहा देने, खूनी-हाथी के आगे डाल देने, पेड पर उलटे मुँह लटका देने[1] आदि के,तो अखा की रचनाओ मे भाकसी मे और कारावास मे डाल देने[2] के उल्लेख हुए है ।

उक्त पक्षपात-पूर्ण न्याय एवं कठोर दण्ड-व्यवस्था के प्रति कबीर का आक्रोश अधिक स्पष्ट रूप मे व्यक्त हुआ है ।[3] अत. कहा जा सकता है कि कर्मानुसार दण्ड व पुरस्कार उन्हे मान्य था किन्तु न्याय के नाम पर अन्याय व अत्याचार उनकी दृष्टि से निन्दनीय था ।

**युद्ध-पद्धति**

कबीर एवं अखा की रचनाओं मे साधक को एक शूर-वीर-योद्धा और उसकी योग-साधना को काया-गढ पर किये गये विजय-अभियान के रूप मे चित्रित किया गया है । परिणाम-स्वरूप उनकी एतत्संबंधी उक्तियों से तत्कालीन युद्ध-पद्धति, युद्ध मे प्रयुक्त होने

१. द्र०, क०ग्रं०, पद ३४१, ३६५ तथा चितावणी कौ अंग, सा० २८ ।
२. द्र०, अ०वा०, पद १५, अ०र०, झू० १९ ।
३. द्र०, क०ग्रं०, पद ३६५, २९२ एवं ३४१ ।

वाले हथियार, वाहन, किलों के टूटने पर शहर में प्रवेश करके वहाँ की प्रजा को बुरी तरह लूटने, वहाँ के राजा को बन्दी बनाने आदि बातों पर पर्याप्त प्रकाश पडता है।[1] उल्लेखनीय यह है कि तत्कालीन युद्ध-रत राणा एवं पातिशाह आदि अपने-अपने योद्धाओं को स्वामी-हेतु प्राणोत्सर्ग करने पर स्वर्ग या जन्नत को प्राप्ति का उपदेश देकर अपने हितों की रक्षा करते रहते थे। कबीर एवं अखा ने स्वामी का अर्थ 'अविनाशी ब्रह्म' करके उसी बात को अपने ढंग से कहा है—

सूरा तबही परषिये लडे धनो के हेतु।
पुरिजा पुरिजा ह्वे पडै तऊ न छाडे खेत॥ क० ग्रं०, अंग ४५, सा० ९।
मरत्ये त्या सहुये को मरे पण शूर ते जे स्वामी अर्थ करे॥ छप्पा २६३।
के त्रूटे के अडे नलाड अखा हरि अर्थे हैयूं काढ॥ छप्पा २६२।

और काम-क्रोधादि पाँच-पैदलों को मारकर मन को जीतने वाले को सच्चा युद्ध-वीर कहा है।[2] कबीर के अनुसार सच्चा सुल्तान वह है, जो बाह्य युद्धों को छोड़कर, काम-क्रोधादि से आंतरिक युद्ध लड़कर मन को पराजित कर अविचल-राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है—

सो सुलितान जुद्धै सुर तानै बाहरि जाता भीतरि आनैं।
गगन मडल मै लसकर करै सो सुलितान छत्र सिर धरै॥[3]
दास कबीर चढ़े गढ ऊपर राज दियौ अविनासी॥ क०ग्रं०, पद ३५९।
जे रण जुध मे राता रहे अखा सो अजब गत्य पाये॥[4]

युद्ध और योद्धाओं की, आलोच्य कवियों की, उपर्युक्त व्याख्याओं के आधार पर कहा जा सकता है कि धार्मिक-विद्वेष, धन के अपहरण और भूमि-विस्तार के लोभ आदि से प्रेरित, आए-दिन होनेवाले तत्कालीन युद्धों को उन्होंने अनावश्यक माना है और संबंधित व्यक्तियों को इनसे विरत होने का उपदेश दिया है।

कबीर एवं अखा के राजनीतिक दृष्टिकोण का मूल्याकन करते हुए कहा जा सकता है कि राजा व प्रजा अथवा शासक और शासित के संबध नैसर्गिक या ईश्वरीय न होकर कृत्रिम है। प्रथम का कार्य द्वितीय के हितों की रक्षा व उसकी सुख-समृद्धि मे अभिवृद्धि करना है। इस कर्तव्य से उदासीन अथवा प्रजा का शोषण करके स्वयं विलासी-जीवन

---

१. द्र०, वही, पद ३५९, ३५०, ३१९, सूरातन कौ अंग, तथा अ० वा०, पद १२०, अ०र० सूर्‌यमा अग, झू० १०१, भजन ६।
२. द्र०, क०ग्र०, सूरातन कौ अंग, सा० ३ व ७।
३. क०ग्र०, पद ३३० और दे०, पद ३५९।
४. अ० र०, अथ ज्ञान कौ अग, सा० ५, द्र०, सुर्‌यमा अग, सा० ७, अ० वा०, पद १३२, छप्पा २७८।

व्यतीत करनेवाला शासक न केवल लोक-निन्दा का पात्र बनता है वरन् रावण की तरह ही उसका समूल नष्ट हो जाना भी निश्चित है। प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा प्रजा के साथ किये जाने वाले अत्याचार सर्वथा निन्दनीय है। कर्मानुसार दण्ड व पुरस्कार की व्यवस्था तो आवश्यक है किन्तु साम्प्रदायिक आग्रह से न्याय की आड़ मे किया जानेवाला अन्याय गर्हित है। व्यक्तिगत स्वार्थ, अहंकार एवं धार्मिक-विद्वेष के कारण होनेवाले दिन-प्रति-दिन के संघर्ष सर्वथा अवाछनीय है। राजा-प्रजा, शूर-सुलतान सभी को अपनी आसुरी मनोवृत्तियों को आत्म-संयम द्वारा नियंत्रित करके आत्मोद्धार का प्रयत्न करना चाहिए।

तुलनात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि न्याय, उत्पीड़न, सैनिक अभियानों से संबंधित उक्तियाँ कबीर की रचनाओं मे अधिक और स्पष्ट है; जबकि राजाओ के स्वभाव, अधिकार एवं दरबारी व्यवहार आदि विषयक उक्तियाँ अखा की रचनाओं मे अधिक और स्पष्ट है। दोनो के राजनीतिक दृष्टिकोण में तात्विक अन्तर यद्यपि नही है फिर भी अन्याय व शोषण के प्रति जो तीव्र प्रतिक्रिया एवं शोषित व पीड़ितों के प्रति जो संवेदना कबीर की रचनाओं मे है अखा की रचनाओ मे नही है।

**वैयक्तिक जीवन के प्रति दृष्टिकोण**

पूर्ववर्ती अध्यायो के विवरण से स्पष्ट है कि आलोच्य कवियों का ज्ञान व साधना क्रमशः आत्म-ज्ञान एवं आत्म-साधना है और उनके सुधारवादी प्रयत्नों का प्राथमिक लक्ष्य व्यक्ति है। अतः कहा जा सकता है कि उनकी आध्यात्मिक एवं सामाजिक–दोनों विचारधाराओं, का केन्द्र-बिन्दु वैयक्तिक जीवन है। इन कवियों के अनुसार योगी, ज्ञानी, भक्त, संन्यासी एवं गृहस्थ के रूप मे एक व्यक्ति के आचार-विचारों का जो आदर्श रूप होना चाहिए उसका न्यूनाधिक उल्लेख प्रसंगानुसार पूर्ववर्ती पृष्ठों मे हो चुका है। अतः यहाँ वैयक्तिक-जीवन विषयक उनके ऐसे ही विचारों का निरूपण किया जायगा जिनका समुचित उल्लेख अन्यत्र नही हो पाया है।

यह एक मानी हुई बात है कि व्यक्ति सुख चाहता है और दुःखो को दूर करना चाहता है। ये सुख-दुःख क्या है? इसका विस्तृत व प्रामाणिक विवेचन बालगंगाधर तिलक ने किया है।[1] अतः यहाँ इतना उल्लेख ही पर्याप्त होगा कि व्यक्ति के दुःख-सुख उसकी तृष्णाओ से सम्बन्धित होते है। तृष्णा की तुष्टि अथवा क्षय को सुख और उसकी अतृप्ति या विद्यमानता को दुःख कहा जा सकता है। ध्यातव्य यह है कि मानव जीवन मे तृप्ति केवल शारीरिक ही न होकर मानसिक भी होती है। अतः उसके सुख-दुःख के मुख्य दो स्तर-(१) शारीरिक और (२) मानसिक होते है। विषय-वस्तुओं के उपयोग द्वारा तृष्णा की प्राप्ति को शारीरिक सुख और तृष्णा के अभाव या क्षय को मानसिक

१. द्र०, गीता रहस्य, पाँचवाँ प्रकरण।

सुख की संज्ञा दी जा सकती है। अब क्योंकि व्यक्ति की शक्ति व सामर्थ्य सीमित होती है और इच्छा-आकांक्षा अनन्त और अमर होती है[1] क्योंकि वह भोगे हुए सुखों को भी बार-बार भोगना चाहता है, इसलिए वस्तु-भोग से न केवल तुष्टि असम्भव है, वरन् यह भी कि उसके ऐसे सभी प्रयत्नों का परिणाम सदैव दुःखमय ही होता है—

जे सुख करत होत दुख तेई कहत न कछु बनि आवै।
कुंजर ज्यूं कस्तूरी का मृग आपै आप बँधावै॥ क०ग्रं०, पद २६६।
त्रिष्णा सीची ना बुझै दिन-दिन बढती जाय॥क०ग्रं०,माया को अंग,सा० १५।
आस्या पूरी नही कबे जे परवत सागर खाय।
अखा मोह बीन नीगले ऐसी बडी बलाय॥ अ०र०, अधम अंग, सा० १५।
सुख को साज मिलावे मन तु दुःख चले दस डग आगे॥अ०वा०, पद १२१।

ऐसी स्थिति मे मनुष्य के सुखी होने का एकमात्र उपाय मानसिक या आध्यात्मिक तुष्टि है। यह मानसिक तुष्टि, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, तृष्णा के क्षय से ही सम्भव होती है। 'तृष्णा-क्षय' के मुख्य दो उपाय हैं—(१) दमन और (२) सन्तोष। दमन या चित्त-वृत्ति-निरोध न केवल असामान्य है, क्लेशपूर्ण या कष्टदायक भी होता है। कबीर एवं अखा ने इसका विरोध किया है—

कहै कबीर कछू आन न कीजै राम नाम जपि लाहा लीजै। क०ग्रं०, पद ।
देह दमन भूंडानुं [illegible]र्म तेने मूरख जाणो माड्यो धर्म।
पीडे पिंड पेटने काज काया कसी जाते महाराज॥ छ० १८१।
हुँ हसतो रमतो हरिमा मलयो अखा जाणो ते वलणे वलो। छ० २४४।
अे सुख मारग मेली ने सठ काया कलेश करे कां हठ॥ छ० २४५।

इस प्रकार सन्तोष ही सुखी होने की एकमात्र चाभी सिद्ध होता है। किन्तु ध्यान रहे कि सन्तोष व्यक्ति का स्वभाव-सिद्ध गुण नही है। तृष्णाओं का बलात् दमन यद्यपि उसमे नही होता, किन्तु उनको सीमित करने मे सहायक संयम का अभाव भी नही होता। आलोच्य कवियों ने व्यक्ति के आहार-विहार के संयमन का समर्थन किया है, यह हम उनकी योग-साधना मे स्वीकृत यम-नियम के अन्तर्गत देख चुके हैं। दूसरे यह कि सन्तोष की अभिवृद्धि, व्यक्ति की नही, परमात्मा की सामर्थ्य में अटल विश्वास रखने से ही होती है—

साई सूं सब होत है बंदै थै कुछ नाहि।
राई थै परवत करै परवत राई माहि॥ क०ग्रं०, समुथाई कौ अंग, सा० १२।

---

१. माया मुई न मन मुवा मरि मरि गया शरीर।
आशा तृष्णा ना मुई यौं कहि गया कबीर॥ क०ग्रं०, माया कौ अंग, सा० १२।
आशा अदावत नही अखा ज्युं अदावत नही आग्य।
बनखण्ड कुं दहन करे तो भी भुख्या जाई जाग्य॥ अ०र०, अधम अंग, सा० १४।

जे कछु करे सो हरि करे नर का किया न होय।
नर का किया होवे अखा! तो कबहु न मरे कोय॥

अ०र०, अथ सहज अंग, सा० १२।

परमात्मा की सामर्थ्य मे इस अटल विश्वास से व्यक्ति एक ओर चिन्ता व भय से मुक्त[1] हो सकता है, दूसरी ओर दुःख-सुख दोनो मे अविचलित भी रह सकता है, क्योकि परमात्मा प्रदत्त होने से वे उसे ग्राह्य बनते है—

संपति देखि न हरषिये बिपति देपि न रोइ।
ज्यूं संपति त्यूं बिपति है करना करै सु होइ॥ क०ग्रं०, पद १२१।
दरिद्र न दखे न सुखनुं मान ज्यारे पाम्युं मूल निधान॥ छ० ५२०।

तीसरे जब उसे यह दृढ विश्वास हो जाय कि 'हानि-लाभ, जीवन-मरण, जस-अपजस विधि हाथ' है और व्यक्ति के प्रयत्नों से विधि के लेख को नही मिटाया जा सकता[2] तो वह यही विचारेगा—

मनह मनोर्थ छाडि दे तेरा किया न होइ।
पांणी मैं घीव नीकसै तौ रूखा खाय न कोय॥

क०ग्रं०, मन कौ अंग, सा० २९।

आये हो रहे अणछता करणहार किरतार।
जाका किया सब होत है सो पिड चलावण हार॥

अ०र०, सर्वांग अग, सा० १२।

ध्यान रहे कि सुख-दुःख की अनुभूति मे मन का महत्व सर्वाधिक होता है, क्योकि मानसिक सुखो से तो उसका सीधा सम्बन्ध होता ही है, शारीरिक सुखों मे भी मन इन्द्रियों के साथ रहता है—अन्यमनस्क होने पर इन्द्रियाँ अपना सामान्य व्यापार कर ही नही सकती। अब उपर्युक्त विचारो व समझाने-बुझाने से मन यदि यथास्थिति से संतुष्ट हो जाय और अधिक सुखों की प्राप्ति के अपने मनोरथों को त्याग कर इधर-उधर भटकना छोड़ दे तो वह व्यक्ति की सुख-शाति मे बाधक न रहकर सहायक हो जायगा, क्योंकि तन का सुखी मन का दुःखी भी हो सकता है किन्तु मन का सुखी तन का भी सुखी होता है।[3] शांत-चित्त या आशा-तृष्णा के भ्रामक मोह-जाल से मुक्त व्यक्ति सुख-

---

१. कबीर का तूं चितवै का तेरा च्यंता होइ।
अण च्यंता हरिजी करै जो तोहि च्यंत न होइ॥ क०ग्रं०, वेसास कौ अंग, सा० ६।
कबीर तू काहे डरे सिर पर हरि का हाथ। वही, सा० १२।

२. जाकौ जेता निरमया ताकौ तेता होइ।
रती घटै न तिल बढै जौ सिर कूटै कोइ॥ क०ग्रं०, वही, सा० ८।

३. मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥ भर्तृहरि।

दुख का भोक्ता न रहकर द्रष्टा हो जाता है।[1] उसे ही आप्तकाम या पूर्णकाम कहा जाता है :—

दुखिया मूवा दुख कों सुखिया सुख कौ झूरि।
सदा अनन्दी राम के जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ॥

क०ग्रं०, मधि कौ अंग, सा० ८।

सद्विचारे आशा जाय अण आयासे अखा वस्तु थाय ॥ छप्पा ४८८।
सूझे दुखनुं सुख नीमडे सूझ विना ज्यां त्यां आथडे ॥ छप्पा १२१।

सद्विचार व सन्तोष से प्राप्त इस मानसिक या आध्यात्मिक सुख को भारतीय चिन्तकों ने विशेष महत्व दिया है। गीता (१८।३७) में इसे आत्मबुद्धि-प्रसाद से उत्पन्न सात्विक सुख कहा गया है। 'यह सुख आत्मवश है, इसकी प्राप्ति किसी बाह्य वस्तु पर अवलंबित नहीं है और इसकी प्राप्ति के लिए दूसरों के सुख को न्यून करने की भी आवश्यकता नहीं है।'[2] यह सुख प्रत्येक के लिए सुलभ व नित्य होता है।

यह हम अन्यत्र भी देख चुके हैं कि कबीर एवं अखा ने जीवन से पलायन का समर्थन नहीं किया है। अतः उन्होंने संतोष, ईश्वर की सामर्थ्य और भाग्य आदि के विषय में ऊपर जो कुछ कहा है उसका अर्थ कर्म-त्याग या निराशावाद नहीं, वरन् व्यक्ति को असंतोष व एतज्जन्य अशांति से बचकर यथास्थिति में सुख-शांति का जीवन-व्यतीत करने का उपदेश देना है—

चलौ विचारी रहौ संभारी कहता हूँ ज पुकारी ॥ क०ग्रं०, पद १३४।
सांई सेती साच चलि औरां सूं सुध भाइ।
भावै लवे केस करि भावै घुरड़ि मुडाइ ॥ वही, भेष कौ अंग, सा० ११।
दाम चाम सब सहज के सहज हुआ परिवार।
अखा समजे सो सुखी नहीं तो पिट पुकार ॥ अ०र०, साखी १८, पृ० ३५५।
राज करे के रमनी रमे के ओढत मृगछाल।
ज्यूं रहे त्यु सेहेज्य मा सो साहेब का लाल ॥ अ०र०, लालन कौ अंग, सा० १९

वैयक्तिक जीवन का अन्य महत्वपूर्ण पक्ष व्यक्ति का चरित्रवान् होना होता है, और परिशुद्ध आचार-विचारों वाला व्यक्ति हो चरित्रवान् कहा जाता है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में निरूपित सामाजिक-नियत्रण, नीति-नियम, विधि-विधान, शिक्षा एवं दण्ड-व्यवस्था आदि सभी का अंतिम लक्ष्य व्यक्ति को सहृदय, उदार, सहनशील एवं सच्चरित्र बनाना और

---

'चाह मिटी चिंता गई मनुआं बेपरवाह।
जिन को और न चाहिये वे ही साहंसाह ॥

१. दुख सुख काले आवे जाय पण सुलझ्यो ते घणी न थाय ॥ छ० १२२।
२. बालगंगाधर तिलक गीता रहस्य, पृ० ११७।

उसके व्यवहार को समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शों के अनुरूप ढालना होता है। किन्तु इन बाह्य साधनों की अपनी अनेक सीमाएँ होती है। एक तो ऐसे अनेक दुर्व्यसन, दुर्गुण एवं दुष्कृत्य व्यक्ति मे हो सकते है जिनसे दूसरों के हितों को भारी हानि न पहुँचती हो, अथवा उसने अपराध इस तरह छिप कर किया हो कि उसके अतिरिक्त कोई जानता ही न हो—दोनों हो स्थितियो मे उसे दण्डित नही किया जा सकता। दूसरे अनीति के आचरण से होने वाला लाभ, दण्ड की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण भी हो सकता है। तीसरे शारीरिक व आर्थिक दण्ड एवं लोकनिन्दा आदि ऐसी बातें है जो समय बीतने पर विस्मृत हो जाती हैं; अतः उस पर स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकतीं। भाव यह है कि इन बाह्य साधनो द्वारा व्यक्ति के बाह्य आचरण को मर्यादित करने मे जितनी सफलता मिल सकती है उतनी उसके विचारों को परिष्कृत करने मे नही, और जब तक उसके विचार परिष्कृत न हो तब तक उसका सदाचारी होना परिस्थितयो की विवशता ही है।

बाह्य नियंत्रणो की उक्त सीमाओ व व्यक्ति-चरित्र की विशिष्टता आदि को लक्ष्य मे रखकर ही शायद भारतीय चिन्तकों ने प्रायश्चित्त का विधान किया था। कहने की आवश्यकता नही कि प्रायश्चित्त द्वारा व्यक्ति अज्ञान, आवेश व अधकार में किये गये अपने व्यक्ताव्यक्त-मनसा-वाचा-कर्मणा सभी अपराधों के लिए उचित दण्ड का विधान स्वयं ही करता है। बाहर से लादे गये दण्ड की अपेक्षा स्वस्वीकृत दण्ड व आत्मसुधारणा के दृढ-संकल्प से व्यक्ति के चरित्र मे स्थायी सुधार होने की संभावना मे संदेह को स्थान नहीं रहता।

कबीर एवं अखा ने प्रायश्चित्त के परम्परागत, या स्मृतियो मे स्वीकृत, रूप को नही अपनाया है, किन्तु व्यक्ति के लिए अपने अवगुणो का सतत अवलोकन करते रहने का विधान उन्होने किया है।[1]

अपने अवगुणो के अवलोकन में व्यक्ति से कोई भूल न हो या इस ओर से वह उदासीन न हो जाय, शायद इसीलिए कबीर ने अपने निन्दक के प्रति इस प्रकार का व्यवहार करने का उपदेश दिया है—

> न्यंदक दूर न कीजिये दीजै आदर मांन।
> निरमल तन मन सब करै बकि बकि आंनहि आन॥[2]
> न्यंदक मेरे माई बाप जन्म जन्म के काटे पाप॥ क० ग्रं०, पद ३४२।

अन्य के अवगुण देखने या पर-निन्दा करने का निषेध भी दोनो कवियों ने किया है।[3] कहना न होगा कि छिद्रान्वेषण को त्यागकर आत्म-दोषों के अवलोकन एवं श्रवण

---

१. क०ग्र०, रमैणी, पृ० १७८, पद १६१ तथा छप्पा ६८९, ७०९।

२. क०ग्रं०, निंद्या कौ अंग, सा० ४।

३. क०ग्रं०, निंद्या कौ अग, सा० ६ तथा अ०र०, दुनियाँ अज्ञान अंग, सा० २६, २७, द्र०, छप्पा ४५, २७२।

से व्यक्ति के चरित्र मे जो स्थायी सुधार सभव है वह अन्य उपायो से नही। ऐसे व्यक्ति के चरित्र मे दभ के स्थान पर दीनता और आत्म-गोपन के स्थान पर आत्म-ज्ञापन का विकास हो जाता है, जिससे उसकी वाणी व वर्तन की विषमता दूर होती है और अन्त-र्वाह्य-शुचिता प्राप्त हो जाती है।

वैयक्तिक चरित्र का एक दुर्वल पक्ष यह है कि नीति व अनीति के अंतर को जानते तो प्राय सभी लोग है, किन्तु सानुकूल अवसर और तात्कालिक लाभ के वशीभूत होकर भले-भले अनीति का आचरण कर वैठते है। वैयक्तिक चरित्र की इस दुर्वलता को ध्यान मे रखकर ही शायद, कवीर एवं अखा आदि संतों ने ससार के विषय-भोगों की ही नही, मानव-जीवन की भी अनित्यता और अनिश्चितता पर विशेष जोर दिया है।[1] क्योंकि मृत्यु का सतत स्मरण करने और उसे सन्निकट आयी जानकर व्यक्ति पर—पीड़न, असत्य-भाषण, सग्रह, शोषण आदि वहुत सी बुराइयो से निश्चय ही दूर रहना चाहेगा।

अतः कहा जा सकता है कि व्यक्ति को सतोष द्वारा सुखी और आत्मशोध द्वारा सदा-चारी बनाने के जिन उपायों का निर्देश आलोच्य कवियो ने किया है,वे किसी सांप्रदायिक मताग्रह से प्रेरित न होकर शुद्ध मनोवैज्ञानिक है, और उनका अपनाया जाना किसी वाह्य साधनागत-सुविधा पर अवलबित न होकर स्व-आश्रित है। अतः उनके सर्व-सुलभ, सर्व-ग्राह्य एवं उपयोगी होने मे संदेह को स्थान नही।

तुलनात्मक दृष्टि से आलोच्य दोनों कवियो के एतद्विषयक विचारों में कोई अन्तर या वैशिष्ट्य नही है, तो भी अपने निन्दक के प्रति जिस सद्व्यवहार एवं आदर-भाव का उल्लेख कवीर ने किया है वह अखा की रचनाओं मे नही है।

## सांस्कृतिक दृष्टिकोण

आलोच्य कवियों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को समझने से पूर्व 'संस्कृति' विषयक अवधारणा का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है। 'संस्कृति'-विषयक भारतीय और 'कल्चर' विषयक पाश्चात्य विद्वानों की अवधारणाओं का विस्तृत विवेचन डा० मदनगोपाल गुप्त[2] के शोध-प्रबंध मे किया गया है। उसके आधार पर यहाँ संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि मानव-जीवन के मुख्य दो पहलू है—(१) पार्थिव और (२) अपार्थिव। मनुष्य इन दोनों ही पहलुओ को सुन्दर, समुन्नत एवं समृद्ध करने मे प्रयत्नशील रहता आया है। उसके इन प्रयत्नों द्वारा साधी गई प्रथम से संबंधित प्रगति या विकास को सभ्यता, तो द्वितीय से सम्बन्धित को संस्कृति कहते है। डा० भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों मे सभ्यता और संस्कृति मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा और विजय के परिणाम है, जिनमें से प्रथम आदिम बनैली स्थिति से सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति का नाम है

१. द्र०, क०ग्रं०, चितावणी कौ अंग, अ०र०, हेरान अंग।

२. द्र०, मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, प्रथम अध्याय।

और द्वितीय उसी प्रगति की सत्य, शिव और रुचिर परम्परा का।[1] डा० प्रसन्नकुमार आचार्य के अनुसार संस्कृति और सभ्यता दोनों ही मानव विकास के दो पहलू हैं, एक उसकी अंतश्चेतना, सौन्दर्यानुभूति एवं आनन्दोल्लास आदि आभ्यंतरिक तत्वो से संबंधित है, तो दूसरा उसकी स्थूल तथा भौतिक सामग्री के संयोजन और उनके लिए आवश्यक संगठित प्रयत्नों की ओर सकेत करता है। दूसरे शब्दों मे संस्कृति का संबंध मानव की आतरिक परिष्कृति तथा चेतना से है और वह उसके विचार, विश्वास, रुचि, कला तथा आदर्शो की दुनियाँ है, तो सभ्यता सामाजिक उत्कृष्टता की ओर अग्रसर होने की स्थिति है, जिसका लक्ष्य मनुष्य को उत्तरोत्तर सुखी तथा समृद्ध बनाना है और उसके अन्तर्गत भौतिक उन्नति, व्यापार और औद्योगिक विकास, सामाजिक स्वतंत्रता और राजनैतिक प्रगति का भी समावेश होता है।[2]

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से भी स्पष्ट है सभ्यता और संस्कृति परस्पर असंबद्ध नहीं होती। अतएव समाजशास्त्री या तो सभ्यता को संस्कृति के अन्तर्गत मानते है या उसमे साधन व साध्य का सम्बन्ध मानते है।[3] डा० सत्यव्रत विद्यालंकार के अनुसार साधन की उपयोगिता तथा कार्यक्षमता को परख कर उसका मूल्यांकन किया जाता है परन्तु साध्य का मूल्यांकन नही होता, प्रत्युत उसकी दृष्टि से उन साधनों का यह मूल्याकन किया जा सकता है कि वे उक्त लक्ष्य (या साध्य) के कहाँ तक अनुकूल है।[4] डा० मदनगोपाल गुप्त के मतानुसार—'उपयोगिता का कार्यक्षमता के मापदण्ड के अनुसार विचार करते समय हमारा दृष्टिकोण शुद्ध भौतिक या सभ्यतागत प्रगति का ही होगा, किन्तु जब नैतिक तथा सामाजिक मूल्य तथा तज्जन्य आदर्शो के विचार से हम उक्त (रेल, मोटर, वायुयान, तोप, बन्दूक, अणुबम आदि सभ्यता के) उपकरणो के समष्टिगत महत्व पर विचार करेंगे तब हमारा दृष्टिकोण सांस्कृतिक कहा जायगा।'[5] भाव स्पष्ट है कि व्यावहारिक उपयोगिता या कार्यक्षमता के आधार पर किसी वस्तु का मूल्यांकन करना भौतिक दृष्टिकोण है और सांस्कृतिक अवधारणाओ द्वारा निर्धारित आदर्शों या जीवन-मूल्यो के आधार पर मूल्याकन करना सांस्कृतिक दृष्टिकोण है।

प्रत्येक संस्कृति मे कुछ ऐसे विशिष्ट आदर्श स्वीकृत रहते है जो उसे अन्य से पृथक् सिद्ध करते है और जिनका परिपूर्ण करना उसका मुख्य लक्ष्य होता है। व्यक्ति अपने सास्कृतिक वातावरण से सर्वाधिक रूप से प्रभावित होता है।[6] उसका रहन-सहन

---

१. सास्कृतिक भारत, पृ० १२, यहाँ म०हि०का०भा०सं०, पृ० ३९ से।
२. भारतीय सस्कृति एवं सभ्यता : पूर्वाभास, पृ० ३, यहाँ वही, पृ० ३६, ३९ से।
३ द्र०, डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाजशास्त्र की प्राथमिक धारणाएँ, पृ० २५०।
४. समाजशास्त्र के मूल तत्व, पृ० २३१-३२, यहाँ वही, पृ० ४२ से।
५. मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति, पृ० ४२।
६. द्र०, डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाजशास्त्र की प्राथमिक धारणाएँ, पृ० २४५।

ही नहीं उसके विचार व दर्शन भी उसी के अनुरूप होते है। कहना न होगा कि जड-चेतन गुण-दोषमय अखंड ब्रह्माण्ड मे एक ही आत्मतत्व की व्याप्ति की अनुभूति से संबधित 'अध्यात्म-दृष्टि' भारतीय संस्कृति की एक ऐसी ही विशेषता है जो उसे अन्य संस्कृतियों से पृथक् भी सिद्ध करती है और जिसकी साध प्रत्येक भारतीय के मन मे विद्यमान रहती है। इस ब्रह्मात्मैक्यानुभूति को जीवन का लक्ष्य बना लेने पर भौतिक दृष्टि एक आवश्यक साधना से अधिक महत्व नही रखती। कबीर एवं अखा के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी दृष्टिकोण का जो अवलोकन पूर्ववर्ती अध्यायों मे किया गया है उससे स्पष्ट है कि उसमे उनकी सर्वात्मवादी आध्यात्मिक दृष्टि सर्वत्र विद्यमान है। कहना न होगा कि उनकी यह आध्यात्मिक दृष्टि न केवल सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अभिन्न है वरन् पूर्णतः भारतीय परम्परानुसारी भी है।

सभ्यता और संस्कृति दोनों ही मे यद्यपि अर्जित या सीखे हुए व्यवहार होते है, तथापि सभ्यता का सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजिक-जीवन व बाह्य आचरण से होता है। यही कारण है कि एक सभ्यता के उपयोगी उपकरण दूसरी सभ्यता मे सरलता से अपना लिये जाते है—जैसे कि पाश्चात्य सभ्यता के वस्त्र, प्रसाधन, फर्नीचर, आवागमन एवं संदेश-व्यवहार आदि के साधन भारत सहित अन्य देशों मे भी स्वीकृत हो चुके है। संस्कृति मे सामूहिक व्यवहारो के साथ व्यक्तिगत व्यवहार भी होते है। वह मूलतः मनुष्य की आतरिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है और उसके स्वरूप का सृजन उसके निर्माताओं द्वारा होता है।[1] उसमे स्वीकृत विचार आदर्श, व्यवहार, विश्वास आदि व्यक्ति के स्वभाव ही बन जाते है। ऑडम के अनुसार—'मानव समाज का सबसे उच्च लक्षण होने के नाते संस्कृति न केवल वह है जिसके लिए मनुष्य जिन्दा रहता है या अपना जीवन बलिदान करता है वरन् वह उन सबका फल है जिसके लिए अनादि काल से मनुष्य जिन्दा रहता आया है और जिसके लिए अपने जीवन का बलिदान किया है।'[2] स्पष्ट है कि सभ्यता हमारी परिवर्तन-शीलता की द्योतक है तो संस्कृति हमारे परम्परा-पालन की। यही कारण है कि एक संस्कृति मे दूसरी संस्कृति के उन्ही उपकरणो का समावेश हो सकता है जो उसकी परम्पराओ के अविरोधी हो—वह भी अत्यन्त धीमी गति से। कबीर एवं अखा दोनो के समय देश मे दो संस्कृतियों का घर्षण, न्यूनाधिक मात्रा मे चल रहा था। यद्यपि जैसा कि अनेक विद्वानों ने प्रतिपादित किया है[3], ज्योतिष, आयुर्वेद, भाषा-साहित्य, संगीत, वास्तु-कला, वस्त्रालंकार आदि विषयक सभ्यता व संस्कृति के

---

१. द्र०, डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाजशास्त्र की प्राथमिक धारणाएँ, पृ० २५१।
२. द्र०, वही, वही, पृ० २४५-४६।
३. द्र०,डा० मदनगोपाल गुप्त मध्यकालीन हिंदी काव्य में भारतीय संस्कृति,पृ० १४७-९०; द्र०, डा० ताराचंद : इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर।

उपकरणों के आदान-प्रदान की प्रक्रिया इस युग मे सीमित वर्ग मे पनप रही थी, किन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र बहुत कुछ उपेक्षित ही रहा। इस देश के सांस्कृतिक वातावरण को प्रभावित करने मे संत-महात्माओं का जो योगदान परम्परा से रहता आया हैं वह सर्व-विदित है। कहना न होगा कि कबीर एवं अखा आदि संत इसी परम्परा के जागरूक संत थे। सतत संघर्षशील दोनों संस्कृतियों की पारम्परिक कटुता को न्यून करने मे उनके दृष्टिकोण का जो महत्त्व है, इस अनुशीलन के पूर्ववर्ती अध्यायों के विवरण से उसका अनुमान सहज ही हो सकता है।

तदुपरान्त उल्लेखनीय यह है कि सभ्यता और संस्कृति दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करती है। संस्कृति सभ्यता की वस्तुओं को रंजित करती है और सभ्यता सस्कृति के स्वरूप को गढ़ती है।[1] ध्यातव्य यह है कि संस्कृति यद्यपि सतत परिवर्तनशील होती है किन्तु उसमे उन्नति व अवनति दोनों की संभावना रहती है, जबकि सभ्यता केवल उन्नति ही करती है—उसकी उन्नति या विकास कुछ समय के लिए स्थगित तो हो सकता है किन्तु उसमे अवनति को स्थान नही। अब यदि सभ्यता सतत विकसित होती रहे और संस्कृति मे तदनुरूप विकास या परिवर्तन न हुआ हो तो उसका पीछे रह जाना अवश्यम्भावी होता है—नई व पुरानी पीढ़ियों के विचार-भेद मे इस स्थिति का अनुभव किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे इन दोनों की विसवादिता को दूर करने अथवा सहवासी दो संस्कृतियो के भिन्नत्व को न्यून करनेवाली कोई सामान्य भूमिका तैयार करने के लिए सम्बधित संस्कृति अथवा संस्कृतियो की परम्परागत मान्यताओं की नई व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है। यह हम देख चुके है कि इन कवियों ने, विशेषकर कबीर ने, न केवल मंत्र, माला, मुद्रा, तिलक, तीर्थ, हज्ज, हलाल एवं नमाज आदि की नवीन व्याख्याएँ की हैं वरन् हिन्दू-मुसलमान तथा राम व अल्लाह आदि को भी नवीन अर्थ प्रदान किये है। उनकी इस प्रवृत्ति को तत्कालीन सांस्कृतिक वातावरण के सानुकूल कहा जा सकता है।

डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार सांस्कृतिक दृष्टिकोण से लिखा गया काव्य जीवनदृष्टि प्रदान करने वाला सोद्देश्य काव्य होता है। हम उसके द्वारा बिना भोगे जीवन के अवाछनीय पक्ष से अवगत हो जाते है और उससे बचकर शुभ मंगलमय पक्ष का वरण करते है।[2] कहना न होगा कि कबीर एवं अखा आदि संतों के काव्य से हमे अशुभ कार्यो और अशोभनीय व्यवहारो से बचने की शिक्षा मिलती है, अतः उनके काव्य को सांस्कृतिक काव्य और उनके एतद्विषयक दृष्टिकोण को सांस्कृतिक दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

---

१. डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल : समाजशास्त्र की प्राथमिक धारणाएँ, पृ० २५२।
२. मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति : आमुख, पृ० ६।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर एवं अखा द्वारा समर्थित जीवन-दृष्टि भारतीय परम्परा के सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अनुप्राणित है और एतद्विषयक उनके विचारों में कोई अन्तर नहीं है। विद्वानों ने प्रायः इन दोनों कवियों को युगद्रष्टा स्वीकार किया है, हमारा पूर्ववर्ती विवेचन भी उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष को उजागर करता है। अतः कहा जा सकता है कि कबीर और अखा भारतीय संस्कृति की चेतनाधारा को गतिशील बनानेवाले, अपने युगीन एव क्षेत्रीय परिवेश में, सांस्कृतिक युगपुरुष थे।

## साहित्यिक-दृष्टिकोण

किसी कवि के साहित्यिक अथवा काव्य-विषयक दृष्टिकोण के अनुशीलन के मुख्य दो आधार हो सकते हैं। ( १ ) उसका स्वरचित काव्य और ( २ ) उससे भिन्न प्रयोजन एवं काव्यादर्शों पर रचे गये काव्य के प्रति उसकी प्रतिक्रिया। कबीरकालीन साहित्यिक पृष्ठभूमि के निरूपण में हम यह देख चुके हैं कि, हिन्दी-भाषा में, उनके समक्ष मुख्यतः दो प्रकार का काव्य था—( १ ) नाथ व सिद्धों की बानियाँ और ( २ ) वीरगाथाकाल का रासो काव्य। इनमें से प्रथम के प्रयोजन एवं काव्यादर्श तो प्रायः वे ही हैं जो संत-काव्य के हैं, किन्तु द्वितीय से उनका कोई मेल बैठता नहीं दिखाई देता। कहने की आवश्यकता नहीं कि वीरगाथाकालीन-काव्य में आश्रयदाता की प्रशस्ति, शृङ्गार-निरूपण एवं शौर्य-वर्णन मुख्य होता था और उसके मूल में कवि का प्रयोजन आश्रयदाता को प्रसन्न करके यश, मान-प्रतिष्ठा, एव धन-धान्य की प्राप्ति होता था। संभवतः इसी प्रकार के कवि-कर्म को कबीर ने हिन्दुओं की देव ( मूर्ति ) पूजा एव मुसलमानों की हज-यात्रा आदि के सदृश निस्सार बताया है—

> देव पूजि पूजि हिन्दू मूये, तुरक मूये हज जाई।
> जटा-बाँधि योगी मूये, इनमें किनहूँ न पाई॥
> कवि कबीने कविता मूये, कापडी केदारौ जाई॥ क० ग्रं०, पद ३१७।

सगुण-भक्ति काव्य हिन्दी में यद्यपि अभी नहीं लिखा गया था किन्तु पंडितों द्वारा उसके प्रचार का अभियान अवश्य चलाया जा रहा था। कबीर ने पंडितों के इस लीला-गान को भी आदर की दृष्टि से नहीं देखा है—

> सोचि विचारि सब जग देखा निरगुण कोई न बतावै।
> कहै कबीर गुणी अरु पंडित मिलि लीला जस गावै॥ क०ग्रं०, पद १८६।

साथ ही उक्त कवियों को उन्होंने दंभी ( क०ग्रं०, पद १३३ ) कहा है।

अखा के जीवन-काल में हिन्दी में रीति-काल चल रहा था और केशवदास की 'कविप्रिया' एवं 'रसिकप्रिया' पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुकी थी। संत सुन्दरदास 'रसिकप्रिया' को व्यक्तियों का 'जीवन-ख्वार' करनेवाली रचना घोषित कर उसके प्रति अपनी तीव्र

प्रतिक्रिया व्यक्त कर चुके थे।[1] जिससे प्रकट है कि शृङ्गारी-काव्य संत-समाज में समादृत होने की वस्तु न था। जैसा कि प्रसिद्ध है केशवदास ने 'कविप्रिया' की रचना बाल-कवियों एवं नारियों को कविता करने की शिक्षा देने व उसके लिए आवश्यक पिङ्गल-शास्त्र का ज्ञान कराने के लिए[2] तो 'रसिकप्रिया' की रचना अपने आश्रयदाता के आदेशानुसार रसिकों के मनोरंजन के लिए की थी।[3] अखा ने 'संतप्रिया' के रचना-उद्देश्य एवं लक्षित-पाठकों के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है वह निम्नांकित है—

देवता न देवी आराध्य, पिङ्गल न व्याकर्ण साध्य।

\+ \+ \+

नांही को रीझवे काज्य जैसे वृषा धन गाज ॥ संतप्रिया ११९।

संतप्रिया संत कु' रुचे वड़ आशे शिव रूप। वही दोहा ५।

संतप्रिया सुखवर्धनी जाके हिरदे हेत ॥ वही दोहा ४।

संतप्रिया के नामकरण एवं उसके रचना, उद्देश्य आदि विषयक इन उक्तियो में केशवदास की उक्त रचनाओं की प्रतिक्रिया पर्याप्तरूप से स्पष्ट है।

गुजराती भाषा मे उस समय पुष्टिमार्गीय सगुण-लीला गायक कवियों का प्रभाव सर्वाधिक था। ये लोग महाभारत एवं भागवत आदि के पौराणिक आख्यानो का गुजराती मे पद्यानुवाद किया करते थे। इनमे से प्रेमानन्द एवं उनकी भजन-मण्डली उस समय सर्वाधिक लोकप्रिय थी। सम्भवतः इसी भजन-मण्डली के गायकों के रूप-सौंदर्य, सुरीले-कण्ठ एवं तालवद्ध गायन-वादन को गंधर्वों व वेश्याओं के कार्य-व्यापार सदृश वताते हुए अखा ने कहा है कि प्रेमानन्द तो सत्य व नित्य होता है, जो अनित्य है वह तो अल्पानंद ही है और किसी अल्पानंदी का स्वयं को प्रेमानंदी कहना, वंध्या द्वारा अपनी गोद में पुत्र होने की धारणा करने जैसा भ्रामक है—( छप्पा ७२४-२७ )।

संस्कृत की प्राकृत (गुजराती) करके काव्य-रचना करने वाले इन कवियों को अखा ने श्लोक-सुभाषित से युक्त पंडितों की मीठी वाणी पर मुग्ध हुए अज्ञानी—(छ० १६८), रागद्वेष की पूंजी से युक्त व्यापारी–(छ० १६६), ईर्ष्यालु (अ०र०, असंत अंग, सा० ७) आदि, और इनके काव्य को चर्चित का चर्वण ( छ० १६६-७० ), कथित का कथन (छ० ६५३), दत्त-भरत ( व्यास ) का झूठन ( छ० ७१६ ), मृतकों का गान (अ०र०,

---

१. द्रष्टव्यः सुन्दर-विलासः नारी निन्दा को अंग, छन्द ५-६।

२. समुझैं वाला बालकन वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी क्षमियहु कवि अपराध ॥ कविप्रिया ३, १।

३. सव सुख दै करि यो कह्यो रसिकप्रिया करि देहु।

\+ \+ \+

रसिकन को रसिकप्रिया कीन्ही केशवदास ॥ रसिकप्रिया १।१२, १५।

राम परीक्षा अंग, सा० ३ ) एवं यश के लोभ से गूँथा गया शब्द-जाल ( छप्पा १६५, व अ०अ०वा०, गुज० भजन ३६) आदि बताते हुए एक लज्जास्पद कार्य कहा है।

अपने समकालीन इतर-काव्यों के प्रति आलोच्य कवियों की उपर्युक्त प्रतिक्रिया से स्पष्ट है कि, किसी नाम-रूपात्मक सत्ता—व्यक्ति या देव—को प्रसन्न करके लाभान्वित होना उनके काव्य का प्रयोजन नहीं हो सकता; और विषय-वासनाओं को उत्तेजित करने वाला कोई विषय उनके काव्य का वर्ण्य-विषय नहीं हो सकता। इस पार्श्वभूमिका के आधार पर आगे आलोच्य कवियों के काव्य के प्रयोजन, वर्ण्य-विषय एवं काव्य-स्वरूप आदि पर विचार करके उनके एतद्विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया जायगा।

**काव्य-प्रयोजन**

व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति का, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष,कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, कवि-कर्म भी इसका अपवाद नहीं होता। ध्यातव्य यह है कि कवि स्वरचित काव्य के जिस प्रयोजन का निर्देश करता है और जिन काव्यादर्शों को वह अपनाता है वे उसके एतद्विषयक दृष्टिकोण के द्योतक होते हैं। अतः आलोच्य कवियों के काव्य-विषयक दृष्टि-कोण का अध्ययन स्वचरित काव्य के प्रयोजन, वर्ण्य-विषय एवं काव्यादर्शों की सूचक उनकी उक्तियों के आधार पर किया जा सकता है। इस विषय में सर्वप्रथम तो उल्लेख्य यह है कि जिस आत्म-कल्याण को उन्होंने जीवन का लक्ष्य माना है उसके लिए कवि-कर्म को उन्होंने न तो आवश्यक माना है, न यथेष्ट—

कवि कवीने कविता मूये कापड़ी केदारौ जाई ॥ क०ग्रं०, पद ३१७।
पद गाये मन हरपिया साखी कह्या आनन्द।
तो तन नाव न जाणियां गल मे पड़िया फंद ॥ वही, अंग १८, सा० ४।
कवतें गातें हरि मिलै तो भांड डूंम तरी जाय ॥
अ०र०, लक्षणहीण अंग, सा० ५।

फिर भी उन्हें कवि-कर्म में प्रवृत्त होना पड़ा है, यह तथ्य है। इस विचार-विरुद्ध प्रवृत्ति का औचित्य उन्होंने एक तो यह कहकर सिद्ध किया है—

हरिजी यहै विचारिया सारवी कही कबीर।
भौ सागर में जीव है जे कोई पकड़े तीर ॥ क०ग्रं०, उपदेश अंग, सा० १।
मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि काहूँ कूं समझाइ ॥ वही, पद ३१८।
अंतरजामीअे जे कह्यु ते अखे कीधो विवेक ॥ गु०शि०म० ४।८५।

दूसरे यह—

कहत सुनत सुख ऊपजै अरु परमारथ होय ॥ क०ग्रं०, रमैणी, पृ० १७५।
अविरल धारा भल चली मो मुख निजधर बात।

न्हाहाल होवे सो ही नर अखा जे हि ए बोलकु चहात ॥[1]

साथ ही काव्य-रचना मे स्वानुभूत-तथ्यों की अभिव्यक्ति को सुखद या महत्वपूर्ण बताते हुए[2] उन्होने स्वरचित-काव्य को 'आत्मा-रोदन' या स्वयं की भावाभिव्यक्ति कहा है—

गावण ही मै रोज है रोवण ही मैं राग ॥ क०ग्रं०, अंग ३५, सा० २० ।
रोते देखिये नैन कु पण रोम रोम रोवे मोय ।
गाता देखीये गान सा निसदिन मो मन रोय ॥अ०र०,विरही अंग,सा० १८।

उपर्युक्त उक्तियों से स्पष्ट है कि कवि-कर्म मे वे स्वेच्छा अथवा किसी महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर नही वरन् दैवी-आज्ञा के पालन-विषयक स्वयं के कर्तव्य पालन के लिए प्रवृत्त हुए। ऐसी स्थिति मे कवि स्वयं कर्ता न होकर ईश्वरेच्छा को कार्यान्वित करने मे निमित्त मात्र बनता है।[3] अतः उसके स्वयं के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, काव्य-कौशल, कीर्ति एवं प्रेम संपादन आदि उसके काव्य के प्रयोजन नही हो सकते।[4] दूसरे यह कि जिन स्वानुभूत तथ्यों का निरूपण, और जिस स्वानुभूति की अभिव्यक्ति उन्हें अभिप्रेत है वह जीवोद्धारक होकर भी आत्म-सुख-प्रदायक हैं। अतः जीवोद्धार के प्रयोजन वाला होने पर भी उनका काव्य 'स्वान्तः सुखाय' कहा जा सकता है।

तदुपरान्त यह कि उन्होंने स्वरचित काव्य को केवल ज्ञानियों या अधिकारी-व्यक्तियों के लिए ही उपयोगी कहा है—

संत मिलै कछु कहिये मिलै असंत मुष्टि करि रहिये ।
ग्यानी सूं बोल्या हितकारी मुरखि सूं बोल्या झषमारी ॥ (क०ग्रं०,पद६७) ।
जाने कोई ज्ञान-राज अखा की कवेश्वरी ॥ संतप्रिया ११९ ।
मूरख ने कांइये नही श्रीफल वानर पास ॥ गु०शि०सं० ४।८३ ।

किन्तु उनकी रचनाओं की व्यापक लोक-प्रियता उनके इस कथन का स्वयं खण्डन करती है। उल्लेख्य यह है कि उन्होंने ज्ञानी और अज्ञानी का भेद व्यक्ति की करनी व

---

१. अ०र०, क्रिया अंग, सा० ९ ।

२. ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तो सुख पावै ॥ क०ग्रं०, पद २१८ ।
पूरण पद पहुँचा बिना अखा सब ऊरली वात ॥अ०र०,साखी ३५,पृ० २७८।
अेम परपंचमां परमेश्वर लहे, अखा देखी चाखी कहे ॥ छप्पा ५३३ ।

३. द्र०, अखेगीता : क० २, ४०; अ०अ०वा०, गुज० भजन १८ ।

४. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम् ॥ आचार्य भामह ।
काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ आचार्य मम्मट ।

कथनी मे साम्य व वैषम्य के आधार पर किया है; विद्वत्ता के आधार पर नहीं। अतः तथ्य यह है कि उनके काव्य में ज्ञानी व अज्ञानी सभी के हितों की बातें है, किन्तु उनके अनुसार आचरण करने वाला उनसे जितना लाभान्वित हो सकता है उतना बातें करने वाला नही। अतः कहा जा सकता है कि दोनों ही कवियों ने स्वानुभूतिपरक, आत्म-ज्ञान के व्यंजक, जीवन-दृष्टि-प्रदायक, स्वान्तः सुखाय काव्य को आदर्श काव्य माना है। इस तरह उन्होंने काव्य को जीवन के लिए माना है।

**वर्ण्य-विषय**

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उन्होने काव्य को जीवन के लिए माना है और स्वरचित काव्य का प्रयोजन भवसागर मे निमग्न जीवों का उद्धार करना घोषित किया है। कहने की आवश्यकता नही कि काव्य के वर्ण्य-विषय उसके प्रयोजन के अनुरूप विषय ही हो सकते है। कबीर एवं अखा ने स्वरचित काव्य के वर्ण्य-विषयों का उल्लेख अपनी निम्नाकित उक्तियों मे किया है—

तुम जिनि जानौं गीत है यहु निज ब्रह्म-विचार।
केवल कहि समझाइयौं आतम साधन सार रे॥ क०ग्रं०, पद ५।
ज्ञान भक्ति वैराग्य पर बोले असो वाणी अमल।
अे भाषा ब्रह्म विचार विधि समझे तो कर जल कमल॥[1]

किन्तु आलोच्य कवियो के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक विचारों तथा भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए उनके द्वारा माध्यम के रूप में स्वीकृत लौकिक श्रृंगार आदि का अवलोकन हम अन्यत्र कर चुके हैं। अतः यह तो नही कहा जा सकता कि जीवन के अध्यात्मेतर—अथवा लौकिक पक्षो को उन्होंने एकदम अस्पृश्य या उपेक्षणीय माना है, फिर भी उनके पीछे उनकी जो आध्यात्मिक दृष्टि अन्तर्निहित है उसे भी भुलाया नही जा सकता। अतः कहा जा सकता है कि मूलतः सर्वात्मवादी-आध्यात्मिक-जीवन दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए उन्होने ब्रह्मज्ञान, आत्म-साधना भक्ति एवं अनासक्ति को स्वरचित काव्य का मुख्य वर्ण्य-विषय बनाया है।

उल्लेखनीय यह है कि विषय-वासनाओ अथवा मनोविकारों को उत्तेजित करने वाले विषयों को अपने काव्य का वर्ण्य-विषय न बनाने की मान्यता उनकी निजी या विशिष्ट मान्यता नही है। धार्मिकों की यह मान्यता बहुत पहले से ही रहती आयी है कि :—

'यस्मिन् शास्त्रे पुराणे च हरिनाम न दृश्यते।
श्रोतव्यं नैव तच्छास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्॥'

**काव्य-स्वरूप**

काव्य के स्वरूप का निर्णय उसके आवश्यक तत्व एवं लक्षण आदि के आधार पर

---

१. अनुभव बिन्दु, छप्पय ३; द्र०, अखेगीता क० ४०, अ०अ०वा०, पृ० ६, ७, ७२।

ही हो सकता है, किन्तु उसके व्यापक, जटिल एवं विकासशील होने के कारण इनका निश्चय सरल नही होता। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों के रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य एवं रस आदिक सम्प्रदायो तथा हिन्दी के वीरगाथा, भक्ति, रीति आदि कालखण्डों के कवियो की एतद्विपयक मान्यताएँ यही सिद्ध करती है कि काव्य के तत्व, लक्षण एवं स्वरूप आदि के विपय मे कोई सर्वदेशीय, सर्वकालीन एवं सर्वमान्य मत न तो था और न हो सकता है। फिर भी चाहे 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहे चाहे 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्द. काव्यम्' कहे, एक वात निश्चित है कि काव्य मे शब्द-(भापा, छन्द, अलंकार आदि) और अर्थ (भाव या विचार) का योग, एक या दूसरे रूप मे, सभी ने स्वीकार है। अन्तर केवल इतना है कि जो अदोप, सगुण, अलंकृत, वक्र व विदग्ध रचना को आदर्श रूप मानते है वे शब्द को महत्व देते है और जो सरसता, प्रेपणीयता एवं प्रभावोत्पादकता आदि से युक्त रचना को आदर्श रूप मानते हैं वे 'अथ' को महत्व देते है।

यह हम अन्यत्र देख चुके है कि कबीर एवं अखा जिस ब्रह्मात्मैक्यानुभूति को व्यक्त करना चाहते है वह गूंगे के गुड़-स्वाद सदृश अवाच्य है, जिस ब्रह्म के स्वरूप का वे निरूपण करना चाहते है वह नि शब्द है और जो वाणी या शब्द उनके पास है वह उन्ही के मतानुसार माया के अन्तर्गत है। अतः उनकी दृष्टि से यह बैखरी-वाणी, उनका हेतु सिद्ध करने मे, न केवल असमर्थ व अनुपयोगी सिद्ध होती है; वरन् अग्राह्य भी। किन्तु विवशता यह है कि अपने भावों व विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्ति के पास वाणी का कोई विकल्प नही है।[1] परिणामस्वरूप वाणी या भाषा उनके लिए एक निर्विकल्प माध्यम तो हो सकती है, साध्य नही। यही कारण है कि न तो उन्होने स्वयं के काव्य का साज-शृंगार किया है न दूसरों की इस प्रवृत्ति को आदर की दृष्टि से देखा है।[2] स्वरचित काव्योक्तियों के तत (तत्व), भेद, अर्थ एवं रहस्य को समझने का आग्रह उनकी रचनाओ मे सर्वत्र देखा जाता है।[3] जैसा कि हम देख चुके है पण्डितों के पाण्डित्य की निन्दा भी उन्होंने मुख्यतः इसी आधार पर की है कि वे अर्थ की अपेक्षा शब्द को अधिक महत्व देते थे।[4] इससे प्रकट है कि उनकी दृष्टि मे शब्द की अपेक्षा अर्थ अधिक महत्व-

---

१. बोलना का कहिये रे भाई बोलत बोलत तत नसाई।
बोलत बोलत बढै विकारा, बिन बोल्या क्यूं होइ विचारा॥ क०ग्रं०, पद ६७।
बोलतां थाय छे बीजुं पण विन बोल्ये क्यम प्रीछे रे॥ गुज० भजन-९।
लेखे लिंग लागे थके वण बोले शुं गाइये॥ अनुभवबिंदु-१९।

२. द्र०, अखेगीता, क० २, अ०र०, अनभे अंग, सा० ४, क०ग्रं०, पद ४९।

३. द्र०, क०ग्रं०, अंग १८, सा० ४, विचार कौ अंग, सा० ६, ७, अ०र०, कुमेति अग, सा० १२ तथा छप्पा ७१६।

४. द्र०, क०ग्रं०, चाणक कौ अंग, सा० ९, पद ३९, २६४; छप्पा ५२४, ७५६।

पूर्ण है। अर्थ को सर्वाधिक महत्व देने के कारण ही सम्भवतः कबीर ने स्वयं के काव्य को काव्य की अपेक्षा ब्रह्मविचार और अखा ने स्वयं को कवि की अपेक्षा ज्ञानी कहे जाने को अधिक उपयुक्त माना है :—

तुम जिनि जानौ गीत हैं यह निज ब्रह्म-विचार। क०ग्रं०, पद ५।
ज्ञानी ने कविता न गणेश, किरण सूर्यना केम वर्णेश ? छ० २२।
अे भापा ब्रह्मविचार विधि समझे तो नर जल कमल ॥
(अनुभव बिंदु, छप्पय-३)।

किन्तु इस सबका यह अभिप्राय भी नही है कि उन्होंने काव्य के कलापक्ष-शब्द को को सर्वथा उपेक्षणीय माना है और वे कवि ही नही है। इस सबका अभिप्राय इतना ही है कि प्रचलित अर्थ मे स्वयं को कवि और स्वयं की रचनाओं को काव्य कहलाने का उनका अपना कोई दावा नही है, और कृत्रिम अथवा प्रयत्न-साध्य कलात्मकता उनकी दृष्टि मे काव्य का आवश्यक लक्षण नही है। भाव की तीव्रता एवं अभिव्यक्ति की अधीरता के परिणामस्वरूप स्वाभाविक तौर से आई कलात्मकता से उनका कोई विरोध नहीं है। इस विषय मे उनकी रचनाओं मे उपलब्ध होने वाली कलात्मकता, जिसका अध्ययन सन्त साहित्य के अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत किया है, स्वत प्रमाण है।

अत' कहा जा सकता है कि आलोच्य दोनों ही सन्तों ने 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितु समर्थः' की भावना से युक्त काव्य को सरस्वती का अपमान और 'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' की दृष्टि से की गई रचनाओं को वाणी का अपव्यय माना है। भाव यह है कि अपने आध्यात्मिक विचार एवं साधना विषयक दृष्टिकोण की तरह वे अपने साहित्यिक दृष्टिकोण मे भी सारग्राही एवं आत्मवादी है, भारवाही एवं अनात्मवादी नही। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दो मे सारांश यह है कि— 'कबीरादि सन्ता के अनुसार आदर्श काव्य वही हो सकता है, जिसमे कविता निरुद्देश्य न की गई हो। उसका विषय राम से रहित न होना चाहिए, और उसमे श्रृङ्गार आदि विषयो की मनोविकार वर्धक एवं विषभरी बातों का समावेश भी न होना चाहिए।[1] एतद्विषयक अखा की उक्तियाँ कबीर की अपेक्षा संख्या मे कही अधिक और स्पष्ट है।

### मूल्यांकन

उपर्युक्त विश्लेषण का मूल्याकन करते हुए कहा जा सकता है कि आलोच्य कवियों ने अपना ध्यान वैकल्पिक व्यवस्था प्रस्तुत करने पर नहीं वरन् तत्कालीन व्यवस्थागत त्रुटियो को दूर करने पर मुख्य रूप से केन्द्रित किया है। अतः अर्थ एवं राजनीति आदि विषयक उनके विचार व्यवस्थित, सतुलित एवं यथेष्ट नही कहे जा सकते। दूसरे उनके उपर्युक्त पक्षो से संबधित विचारो का मूलाधार सर्वातमवादी-दृष्टि का पोषक उनका आध्या-

१. सन्त-काव्य, भूमिका, पृ० ४२।

त्मिक दृष्टिकोण है। इसलिए उनका कोई भी विचार व्यक्तिगत हितों का रक्षक मात्र न रहकर मानवीय-मूल्यों का रक्षक बन गया है। यही कारण है कि अपनी आर्थिक विचार-धारा मे जहाँ एक ओर हरि-भक्ति और जीविकोपार्जन मे कोई विरोध न मानकर उन्होंने भिक्षा-वृत्ति की निन्दा की है वहाँ दूसरी ओर धन की लिप्सा एवं उसके अविवेकी संग्रह की भी निन्दा की है। जहाँ एक ओर धन के अभाव से पीडित व्यक्तियों के प्रति अपनी व्यापक सहानुभूति की है वहाँ दूसरी ओर धनिकों के वैभवयुक्त विलासी जीवन की भी भर्त्सना की है। धन उनकी दृष्टि मे जीवन-निर्वाह एवं पारस्परिक व्यवहार का साधन या माध्यम है, जीवन का लक्ष्य नही। धन के होने या न होने के आधार पर वे किसी को आदर या अनादर का पात्र नहीं मानते। जीविकोपार्जन के लिए किसी भी व्यवसाय को वे अस्पृश्य या अग्राह्य नही मानते। व्यक्ति वही निन्दनीय है जो अनीति का आचरण करता है, व्यवसाय वही अशुद्ध है जिसमे अनीति का आचरण किया जाता है।

अपनी राजनीतिक विचारधारा मे समकालीन कर्तव्य-विमुख एवं विलासी शासना-ध्यक्षों, प्रजा-पीडक कर्मचारियों व न्याय की आड़ मे अन्याय करने वाले काजियों की उन्होने जो निन्दा की है, और युद्धों का जो साधनात्मक अर्थघटन किया है, उस सबसे अन्याय व अत्याचार के प्रति उनकी विद्रोही प्रकृति, अपने परिवेश के प्रति उनकी जाग-रूकता एवं उत्पीडितों के प्रति उनकी सहानुभूति पर प्रकाश अवश्य पड़ता है, किन्तु एतद्विषयक उनके विधेयात्मक विचार जितने सांकेतिक व अनुमेय कहे जा सकते है उतने व्यक्त व स्पष्ट नहीं।

आध्यात्मिक विकास के लिए व्यक्ति को जीवन मे मानसिक शान्ति की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। यह मानसिक शान्ति उसे उसकी तृष्णाओं के क्षय एवं सदाचारी होने पर ही प्राप्त हो सकती है। कबीर एव अखा ने संतोष से सुख-शान्ति एवं आत्म निरीक्षण से सदाचारी बनने के जिन उपायों का निर्देश किया है वे न केवल प्रभावशाली व निर्दोष है; वरन् सर्व-सुलभ एवं सर्व-ग्राह्य भी कहे जा सकते है। ध्यातव्य यह है व्यक्ति का चरित्रवान् होना उसके जीवन अथवा उसके किसी पक्ष-विशेष के लिए ही महत्वपूर्ण नही होता वरन् उसके आर्थिक-सामाजिक आदि समस्त व्यवहारों और स्वयं समाज के लिए भी महत्वपूर्ण होता है।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में निरूपित आलोच्य कवियों का सांस्कृतिक दृष्टिकोण न केवल उनके समकालीन वातावरण के सर्वाधिक उपयोगी था वरन् यही वह जीवन-शक्ति है कि जिसके आधार पर भारतीय संस्कृति आज भी विश्व के समक्ष उन्नतमस्तक होकर जीवित है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भारतीय-परम्पराओं से अनुप्राणित होकर भी वह सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से सर्वथा मुक्त है। अतः उसकी उपयोगिता किसी देश-काल तक सीमित नही।

स्वरचित काव्य द्वारा धर्म-संप्रदाय एवं देश-कालगत संकीर्णता से सर्वथा मुक्त सास्कृतिक विचारधारा का प्रचार व प्रसार करने के उनके प्रयत्नो को लक्ष्य मे रखकर आलोच्य दोनों कवियों को सास्कृतिक युग-पुरुष और उनके काव्य को सांस्कृतिक काव्य कहा जाय तो वह सर्वथा उचित ही होगा।

पूर्ववर्ती पृष्ठों मे निरूपित आलोच्य कवियों के आर्थिक एवं राजनीतिक आदि विचारों के सम्बन्ध मे तुलनात्मक दृष्टि से सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि एतद्विषयक उनके विचारों मे कोई मूलभूत अन्तर नही है। यदि एक विषय, विचार व व्यवहार के सम्बन्ध मे एक की उक्तियाँ संख्या मे अधिक और विचार स्पष्ट है तो दूसरे के सम्बन्ध मे दूसरे के, और इस प्रकार वे एक-दूसरे के पूरक सिद्ध होते रहे है। कहने की आवश्यकता नही कि उनका यह विचार-साम्य देश की सदियों पुरानी सास्कृतिक एकता का प्रमाण है।

## उपसंहार

युगीन परिप्रेक्ष्य मे किये गये कबीर एवं अखा की विचारधारा के इस विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि जीवन-काल, जाति, धर्म, व्यवसाय, भाषा, शिक्षा-दीक्षा एवं आर्थिक-स्थिति के भिन्न होने पर भी दोनों कवियो के आध्यात्मिक एवं सामाजिक विचारों मे कही अभेद है, कही साम्य है, तो कही वैशिष्ट्यसूचक अन्तर, किन्तु विरोध प्रायः कही नही देखा जाता। दोनों संतों के विचारों में जो अभेद या ऐक्य है वह मुख्यत उनके एक ही परम्परा से संबंधित होने के कारण है। यह हम देख चुके है कि अखा किसी काशी-निवासी सन्त ब्रह्मानन्द के शिष्य थे, जो स्वयं संभवत. दादू के शिष्य जगजीवनदास के शिष्य थे। तदुपरान्त उनकी स्वयं की तथा उनके प्रमुख शिष्य लालदास की आत्म-व्यजक उक्तियाँ तथा उनके द्वारा प्रयुक्त-रूप, भाषा, छन्द व उनके काव्य के वर्ण्य-विषय आदि भी यही सिद्ध करते है कि वे कबीर से प्रारंभ हुई सन्तों की देश-व्यापी नक्षत्र-माला मे से पश्चिम दिशा के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे।

इन दोनो कवियों के विचारों एवं भावो मे जो साम्य पाया जाता है उसका एक कारण तो उपर्युक्त ही हो सकता है, दूसरा, उनके वैयक्तिक एव सामूहिक जीवन-विषयक परिवेशो मे प्रवर्तित साम्य भी हो सकता था। उनके व्यक्तिगत जीवन से सबधित परिवेशो से स्पष्ट है कि दोनो ही व्यवसायी वर्ग के व्यक्ति थे, तत्कालीन व्यवस्थानुसार दोनों ही की गणना निम्न वर्ग एवं वर्ण के व्यक्तियो मे ही हुई होगी, संपत्ति के अभाव के कारण हो या सतति व स्वजनो के, इतना स्पष्ट है कि दोनो ही का पारिवारिक जीवन सुखी न रहा होगा। संभवतः दोनों ही को एक या दूसरे कारण से, राज-कोप का भाजन बनना पडा था। निकटस्थ व्यक्तियो के अविश्वास तथा उच्च-वर्णो तथा अधिकारियो के अनादर का भाजन, न्यूनाधिक मात्रा मे, दोनो को बनना पड़ा होगा। उनके समग्र

परिवेश अर्थात् उनकी समसामयिक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक आदि स्थितियों, मे भी साम्य का अभाव था।

इनके विचारो मे वैशिष्ट्यसूचक जो अन्तर पाया जाता है वह मुख्यतः उनके व्यक्तिगत एवं सामूहिक जीवन के परिवेशों के पार्थक्य के कारण है। दोनो के व्यक्तित्व मे सरलता से लक्षित होनेवाला अन्तर उनकी शिक्षा-दीक्षा या अध्ययन विषयक है। कबीर की अपेक्षा अखा की शिक्षा-दीक्षा या अध्ययन निश्चय ही कुछ अधिक था, तदुपरान्त स्वामी ब्रह्मानन्द के सांनिध्य मे उन्होने संस्कृत के कुछ प्रमुख धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों का श्रवण किया था, जबकि कबीर का ज्ञान मुख्यत. श्रुत एवं अनुभवजन्य ही था। इस व्यक्तित्वगत वैशिष्ट्य के कारण अखा मे एक ओर तो स्वमत को शास्त्र-प्रमाण से पुष्ट करने की प्रवृत्ति देखी जाती है, दूसरी ओर इतर दार्शनिक मतों के सिद्धान्तो के खण्डन-मण्डन की। कबीर की विचारधारा इन दोनों ही बातो से प्राय' मुक्त है। यहाँ लक्ष्य करने योग्य यह है कि इस व्यक्तित्वगत वैशिष्ट्य से कबीर एवं अखा के विचारों मे, मुख्यतः दार्शनिक विचारों मे, जो अन्तर आया है वह प्रायः चिन्तन की बारीकी, व्यवस्था, विस्तार एवं तर्क-बद्धता विषयक ही है, अतः उससे उनके मूलभूत ऐक्य अथवा साम्य पर कोई घातक प्रभाव नही पड़ पाया है। इतना ही नही अखा के इस व्यक्तित्वगत वैशिष्ट्य से कबीर द्वारा व्यक्त अथवा समर्थित विचारो मे अपेक्षित प्रौढता, विरोधाभासी उक्तियों व धारणाओं मे अविरोध की स्थापक तार्किकता, या अन्विति एवं व्यवस्था आ गई है, जिसे चाहे तो संत-मत के प्रति अखा का योगदान भी कह सकते है। इन कवियो के अध्ययन विषयक न्यूनाधिक्य का प्रभाव उनके काव्य-माध्यमों मे भी लक्षित होता है। अखा के काव्य में हिन्दी व गुजराती के अतिरिक्त फारसी, पंजाबी और संस्कृत की शब्दावली का भी प्रयोग पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। कबीर की अपेक्षा उनके काव्य-रूपों व छन्दो मे भी वैविध्य पाया जाता है।

व्यक्तिगत जीवन से संबंधित परिवेश के अन्तर का प्रभाव मुख्यत' उनकी काव्योक्तियों पर पडा है विचारधारा विषयक अन्तर या वैशिष्ट्य तो इतना ही दर्शाया जा सकता है कि कर्मी या व्यवसायी लोगों की आर्थिक विपन्नता, उनके व्यवसायों की कठिनाइयाँ आदि की सूचक तथा उनकी स्थिति व शोषण आदि के प्रति जितनी सहानुभूति कबीर की उक्तियों मे पाई जाती है उतनी अखा की उक्तियों मे नही। इसका सभाव्य कारण यह है कि निम्नस्तर की जातियो से जितना निकट का सम्बन्ध कबीर जुलाहे का रहा होगा उतना अखा सुनार का नही।

सामूहिक अथवा सामाजिक-जीवन विषयक दोनों कवियों के परिवेशो के पार्थक्य और एतज्जन्य उनके विचार वैशिष्ट्य के विषय मे कहा जा सकता है कि अखा की अपेक्षा कबीर का 'जीवन-काल' राजनीतिक दृष्टि से अस्थिर, निर्बल व अशान्त, आर्थिक दृष्टि से

प्रशासन द्वारा शोषित, उत्पीडित व विपन्न, धार्मिक दृष्टि से पारस्परिक असहिष्णुताजन्य विद्वेप से युक्त था। सामाजिक दृष्टि से अखा का 'जीवन-काल' कबीर की अपेक्षा विलासिता की ओर अधिक झुका हुआ था। परिणाम-स्वरूप प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा किसानो, व्यापारियो व अन्य प्रजाजनो के उत्पीडन व शोपण, राजाओं की आक्रामक नीतियो, व प्रजा की लूट-खसोट, न्याय की आड मे आचरित अन्याय, धर्मगुरुओं के संकुचित दृष्टिकोण आदि के प्रति कबीर का प्रतिकारक स्वर जितना तीक्ष्ण, वेधक एवं क्षोभयुक्त है उतना अखा का नही, और अखा के काव्य मे शृंगार विशेपतः सयोग शृंगार को जो महत्व दिया गया है कबीर के काव्य में नही। ध्यातव्य यह है कि उनके सामूहिक जीवन-विषयक परिवेशों के पार्थक्य से प्रभावित उनके विचारो का यह अंतर भी मुख्यतः विस्तार एवं प्रतिक्रिया की तीव्रता विपयक ही है विरोध का पोपक नही।

आलोच्य कवियो के आध्यात्मिक चिन्तन को प्रभावित करने वाली देश की दार्शनिक पृष्ठभूमि यद्यपि पर्याप्त विकसित व वैविध्यपूर्ण थी तथापि अपने इस रूप में वह एक ओर सामान्य जनो की पहुँच से परे थी, दूसरी ओर साम्प्रदायिक संकीर्ण मनोवृत्तियों की पोषक या विघटनकारी थी। अतः आवश्यकता न केवल इसके अन्तर्विग्रह के शमन की थी वरन् एक ऐसी भूमिका के सर्जन की भी थी जिस पर हिन्दू व मुसलमान भी अपने साम्प्रदायिक विद्वेष को यदि भूल न सकें तो कम से कम एक दूसरे के प्रति सहिष्णु तो बन सकें। इस अपेक्षित भूमिका के लिए आवश्यक सभी तत्व उक्त पृष्ठभूमि मे विद्यमान थे, आवश्यकता उनके समयानुसार परिमार्जन व संयोजन की थी। पूर्वज होने के नाते यह दायित्व कबीर का था, जिसे उन्होंने मुख्य रूप से तीन उपायों के माध्यम से पूर्ण करने का प्रयत्न किया है—(१) विविध दार्शनिक मतों से अविरोधी तत्वों का संकलन, (२) असंगत या विरोधाभासी तत्वों की नवीन व्याख्या और (३) अनुपयोगी तत्वों का खण्डन। उनकी इस सार-ग्रहण की प्रवृत्ति एवं ब्रह्म मे सर्व-कारणत्व के आरोपण से आराध्य को एक ऐसा स्वरूप मिल गया है कि जो एक व अभेद होकर भी अनेक, निराकार होकर भी साकार, तटस्थ, कूटस्थ, द्रष्टा होकर भी स्रष्टा, हर्ता, भर्ता आदि है और साथ ही क्षमा, दया, औदार्य आदि गुणों से युक्त भी है। राम, कृष्ण, मुरारी, गोविन्द, विष्णु, शून्य, सहज, शब्द, अल्लाह, खुदा आदि कोई भी नाम उसे दिया जा सकता है, सद्धर्म के सूचक या पोपक, इनमे से किसी के भी, गुण-धर्मो अथवा कार्य-व्यापारों का आरोपण उसमे किया जा सकता है, किन्तु किसी का भी विशिष्ट रूप उसे नही दिया जा सकता। उस अनादि एवं असीम को सीमावद्ध करने वाला कोई भी रूप उनके खण्डन का और उसके उपासक उनके उपहास का विषय है। यदि उसे शब्द,शून्य, कूटस्थ आदि कहने और क्षमा, दया आदि गुणो से युक्त मानने मे कोई विरोध या असगति भासित होती है तो उसे नवीन व्याख्याओ द्वारा दूर किया गया है।

भेद मे अभेद और विरोध मे अविरोध स्थापित करने के लिए सार-ग्रहण आदि जिन उपायों को उन्होंने अपने दार्शनिक चिन्तन मे अपनाया है अपनी साधना-पद्धति मे भी उन्ही का आश्रय ग्रहण किया है। यही कारण है कि उनका ज्ञान अतार्किक न होकर भी किसी निश्चित तर्क-पद्धति का कायल नही है, नित्यानित्य विवेक का पोपक होकर भी संन्यास का समर्थक नही है, सर्वथा नवीन या परम्पराओ से विच्छिन्न न होकर भी पुस्तक प्रामाण्य पर आश्रित नही है, और आवश्यक होकर भी पर्याप्त नहो है। उनका योग भो शारीरिक क्रियाओं की कष्टप्रद साधना होने की अपेक्षा मानसिक अधिक है। उसके यम-नियम आत्म-संयम के द्योतक है, आसन, बंध, मुद्रा आदि जितने मानसिक है उतने बाह्य नही है, प्रत्याहार चित्त-वृत्तियो को ईश्वरोन्मुखी बनाने का ही अपर नाम है, ध्यान–तैल-धारावत् अखण्ड-भाव-प्रवाह का द्योतक है तो समाधि सहज समाधि या सहज की रहनी का। सगुण की वस्तु-पूजा को भाव-प्रेम की पूजा के रूप मे अपना लेने मे भी कोई असगति नही मानी गई है। उनके द्वारा समर्थित निष्काम कर्मयोग का भी न ज्ञान से विरोध है न किसी अन्य मान्यता से। और इस प्रकार उन्होंने न केवल इन साधनाओ के परम्परागत न्यूनाधिक विरोध को दूर किया है वरन् उन्हे भक्ति के अग भी बना दिया है। ऐसी स्थिति मे उनकी विचारधारा एवं साधना को किसी निश्चित परम्परा से यद्यपि नही जोडा जा सकता तथापि उन्हें परम्पराओं से विच्छिन्न सर्वथा कोई नवीन वस्तु भी नही कहा जा सकता। अत. यह कहना असंगत न होगा कि कबीर को मौलिकता विचारो की नवीनता मे नहीं वरन् उनके वैविध्य मे युगानुरूप सामजस्य की स्थापना के प्रयत्न मे है।

यहाँ इतना उल्लेख भी अप्रासंगिक न होगा कि प्रायः प्रत्येक देश, जाति, एवं धर्म के इतिहास मे कुछ ऐसे अवसर आते है जब उनकी परम्परागत मान्यताएँ अथवा परम्पराएं अपनी उपयोगिता खो चुकी होती है। ऐसी स्थिति मे उन्हे दृढ़ता से पकड़े रहना न केवल उस देश या जाति के सास्कृतिक विकास मे बाधक होता है वरन् उसके अस्तित्व के लिए ही घातक सिद्ध हो सकता है; और उनमे समयोचित परिवर्तन स्वीकार कर लेना अथवा उनका युगानुकूल संस्कार कर लेना उसके लिए जीवन-दायक सिद्ध होता है। जिस सस्कृति मे युगानुसारी परिवर्तन स्वीकार करने की जितनी अधिक क्षमता होती है वह उतनी ही दीर्घजीवी होती है। भारतीय संस्कृति के दीर्घजीवी होने का रहस्य यही है कि उसमे ऐसे संतुलन, समन्वय या सस्कारो को अपना लेने की अद्भुत क्षमता पाई जाती है। ध्यातव्य यह है कि इस प्रकार के संतुलन अथवा समन्वय सबंधित देश या जाति की सास्कृतिक परपराओ एव जीवनगत अनुभवों के आधार पर किये जाने पर ही ग्राह्य एवं समाज की अपेक्षा आकाक्षाओ के अनुरूप भविष्य के निर्माण मे उपयोगी, हो सकते है। अतः उक्त प्रकार के संतुलन या समन्वय की पोषक रचनाओं का जहाँ एक ओर ऐतिहासिक एवं सास्कृतिक महत्व होता है वहाँ दूसरी ओर वे हमारी

पथ-प्रदर्शक भी होती हैं। इसलिए सांसारिक विषयों से सबंधित रचनाओं की अपेक्षा वे अधिक स्थायी लोकप्रिय एवं प्रभावशाली होती है। कबीर एवं अखा आदि संतो की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। काव्य-प्रवीणों की रचनाओ की अपेक्षा उनकी अनगढ वाणी के व्यापक प्रचार व प्रभावशाली होने का रहस्य यही है। यह हम देख चुके है कि कबीर भारतीय संस्कृति के संक्रमणकाल की देन थे और उन्होने परस्पर विरोधी मतो में समन्वय की स्थापना का प्रयत्न किया था। भारतीय परम्परा मे ऐसे संतुलन या समन्वय के स्थापन को युग-परिवर्तन और उसके संस्थापक को युग-प्रवर्तक कहा जाता है। ध्यातव्य यह है कि इस संतुलन मे सम्बन्धित देश की सांस्कृतिक परम्पराओ को लक्ष्य में रखकर भी जितना व्यापक दृष्टिकोण अपनाया जाता है, उसका मूल्य, उतना ही अधिक होता है। यह हम देख चुके है कि संत-मत भारतीय परम्परानुसारी होने पर भी देश-काल, जाति-धर्म आदि विषयक सभी प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्तियों से सर्वथा मुक्त है। उसका सार्वभौमिक एवं सर्वकालीन होना ही देशी व विदेशी विद्वानो द्वारा की गई उसकी प्रशस्ति व व्यापक लोकप्रियता का मुख्य कारण है।

कबीर एवं अखा ने अपने-अपने जीवन-काल के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, वैयक्तिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रो की जिन विकृतियों का खण्डन और उनके जिन विकल्पो का विधान, किया है, उनके प्रकाश में यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी आध्यात्मिक एवं सामाजिक विचारधारा युगीन परिप्रेक्ष्य की प्रतिक्रिया रूप है। किन्तु ध्यान रहे कि उनके समस्त विचारों का मूलाधार सर्वात्मवादी दृष्टि है, जिसके कारण उनका महत्त्व जैसा कि ऊपर कहा गया है किसी देश-काल, जाति-धर्म आदि तक सीमित न होकर सर्व-कालीन एवं सार्वभौमिक है। अपने समकालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिवेश की विकृतियो का इन कवियों ने जो खण्डन किया है उससे उनके निष्कपट, निर्द्वन्द्व, निर्भीक एवं परोपकारी व्यक्तित्व-विषयक साम्य पर प्रकाश पडता है। इस व्यक्तिगत साम्य के कारण ही अखा गुजरात के कबीर कहे गये है जो सर्वथा उचित है।

तदुपरान्त यह कि अपने समाज एवं अर्थादि विषयक विचारों में जिन विकृतियो का उन्होंने खण्डन किया है उन सभी की विकल्पात्मक व्यवस्था के विधान नही किये, अतः एतद्विषयक उनके दृष्टिकोण को प्रायः एकांगी या खण्डनात्मक बताकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। किन्तु तथ्य यही प्रतीत होता है कि इन कवियो का लक्ष्य विकृतियों को दूर करना अथवा उनके प्रति लोक-जागृति लाना ही था, क्योकि एक तो तत्कालीन रूढ़ि-चुस्त समाज मे व्यवस्था-विषयक विकल्पों का सरलता से स्वीकार्य होना संभव न था। दूसरे कोई भी व्यवस्था अपने आप मे इतनी दोषपूर्ण नही होती जितने कि उसे कार्यान्वित करनेवाले व्यक्ति। यदि व्यक्ति का आचरण शुद्ध नही है तो अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था भी इष्ट लक्ष्य को प्राप्त नही करा सकती। संभवतः यही कारण है कि उन्होने जितना महत्त्व

व्यक्ति के चारित्रिक सुधार को दिया है उतना व्यवस्थागत विकल्पों के विधान को नही। ध्यान रहे कि उनके द्वारा सूचित वैयक्तिक चरित्र-सुधार का सम्बन्ध सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रो से है। अत कहा जा सकता है कि जिस क्राति के वे पुरस्कर्ता थे, वह भौतिक या वाह्य न होकर वैचारिक थी और उसका लक्ष्य परिस्थितियो को नही किन्तु तत्कालीन विकृत दृष्टिकोणो को बदलना था। लोकरुचि को परिष्कृत करने मे धार्मिक गुरुओ का जो महत्त्व इस देश मे रहता आया है वह प्रमाण की अपेक्षा नही रखता। कबीर एवं अखा ने व्यवहार-जगत् विषयक अपने विचारो मे आध्यात्मिकता का जो आधार ग्रहण किया है वह परम्परानुसारी तो है ही महत्त्वपूर्ण भी है। क्योकि भौतिक समृद्धि को ही जीवन का लक्ष्य बना लेने पर व्यक्ति व समाज का सास्कृतिक विकास अवरुद्ध होता है।

आलोच्य कवियों के प्रभाव के विषय मे इतना उल्लेख ही पर्याप्त होगा कि संत-मत के मुख्य प्रणेता होने के नाते कबीर ने देसव्यापी संत-साहित्य पर तो अपनी अमिट छाप छोड़ी ही है, सगुणोपासक भी उनके प्रभाव से सर्वथा अछूते नही रहे है। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथठाकुर विरचित 'गीताजलि' मे उनके विचारो की छाया प्रतिबिंबित है, हिन्दी के प्रगतिवादो साहित्य से उनका विचार-साम्य है। गाधीजी के राम, उनके राम से अभिन्न है। गाधीजी के अन्त्योदय एव ट्रष्टीशिप विषयक विचारों से उनका विचार-साम्य है। देश की धर्मनिरपेक्ष राजनीति व अस्पश्यता-निवारण आदि कबीर के विचारो को कार्यान्वित करने के प्रयत्न कहे जा सकते है। गुजरात प्रान्त की जनता, व गुजराती साहित्य पर अखा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। गुजरात प्रान्तीय सत-साहित्य मे संत-शिरामणि के रूप मे अखा का स्थान अद्यापि सुरक्षित है। गुजरात के वाहर उनका प्रभाव प्रायः नहीवत् ही देखा जाता है, किन्तु इस प्रभावगत वैपम्य के मुख्य कारण कबीर की रचनाओ के व्यापक व गम्भीर अध्ययन, उनका प्रचार, उनके नाम पर व्यवस्थित पंथ का प्रचलन और उनका आदि संत होना आदि है, प्रतिभा का न्यूनाधिक्य नही।

यह हम देख चुके है कि कबीर की अपेक्षा अखा का दार्शनिक चिन्तन कही अधिक स्पष्ट, व्यवस्थित, तर्कसगत, शास्त्रीय आधार की ओर उन्मुख एवं शंकराद्वैत से प्रभावित है। अखा के समकालीन दादूपंथी सुन्दरदास ( छोटे ) की स्थिति भी लगभग यही है और इन दोनों मे से किसी के नाम पर पंथ की स्थापना नही हुई है। दूसरी ओर संत नानक, कबीर एवं दादू आदि के नाम पर पंथों की स्थापना उसी युग मे हो चुकी थी। इससे फलित होता है कि अखा के समय तक कबीर द्वारा प्रवर्तित 'संत-मत' एक ओर तो पंथाई आकार लेकर संकुचित होता जा रहा था दूसरी ओर अपने विचारों के लिए शास्त्राय-आधार की शोध मे भटक गया था। इन दोनों ही रूपों मे वह अपने मूल-स्वरूप

को खोता जा रहा था। संभवतः यही कारण है कि कबीर की भावनाजन्य सरलता, प्रेषणीयता एवं अनुभवजन्य व्यावहारिकता के स्थान पर अखा में सिद्धान्तों का आग्रह, चिन्तन की शुष्कता एवं गम्भीरता कही अधिक है। पुस्तकीय-ज्ञान व प्रमाण की निन्दा करते हुए भी उन्होने स्वयं के विचारों को श्रुति-स्मृति के अनुरूप होने की घोषणा अनेक स्थानों पर की है, और उनके प्रमाण भी स्वीकार किये है।

आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक गुरु की शोध मे अखा के गोकुल एवं काशी जाने, हिन्दी भाषा में काव्य-रचना करने, गुजरात मे पुष्टिमार्ग व रामानन्द, एव कबीर पंथ के व्यापक प्रचार से तथा गुजरात के संतो व भक्तों द्वारा हिन्दी भाषा मे रचे गये प्रचुर साहित्य आदि से न केवल गुजरात व उत्तरप्रदेश के साहित्यिक व सास्कृतिक ऐक्य पर प्रकाश पड़ता है वरन् यह भी प्रकट होता है कि उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक गुजरात मे हिन्दी को वही सास्कृतिक महत्त्व प्राप्त था जो कभी संस्कृत भाषा का समूचे देश मे रहा था।

इस अनुशीलन मे कबीर के दार्शनिक विचारों को अपेक्षाकृतरूप से अधिक तर्कसंगत बनाने मे लेखक को जितनी सहायता अखा की रचनाओं से मिली है उतनी आलोचनात्मक अध्ययनों से नही, और अखा की साधना तथा उनके धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक आदि विचारो को इतने विस्तार व प्रामाणिक ढग से प्रस्तुत करने में जितनी सहायता कबीर की उक्तियो से मिली है उतनी अन्य साधनो से नही। इस प्रकार इन कवियो का तुलनात्मक अध्ययन एक-दूसरे के विचारों को उचित सदर्भ में समझने मे सहायक हुआ है, इसमे संदेह नही। अतः लेखक—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के उस विचार की सत्यता में अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त करता है जिसमे उन्होंने कबीर, सूर एवं तुलसी आदि के उनकी हिन्दी रचनाओ तक ही सीमित अध्ययनो को घाटे का व्यापार बताते हुए उनकी परम्पराओ के, उनके समकालीन या समकक्ष देश के अन्य कवियो के अध्ययनो की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है।

●

## परिशिष्ट-क

# आधारभूत सामग्री का विश्लेषण

कवीर एवं अखा विषयक इस अध्ययन की आधारभूत सामग्री मुख्यतः दो प्रकार की है—( १ ) अन्तःसाक्ष्य और ( २ ) बहिःसाक्ष्य । प्रथम के अन्तर्गत इन कवियों की प्रामाणिक रचनाओं का तो द्वितीय के अन्तर्गत उनसे सम्बन्धित, अन्य साधनों से उपलब्ध, सामग्री का समावेश किया गया है, जिसमे उनके जीवन-चरित्र विषयक सामग्री मुख्य है । उक्त दोनों ही प्रकार की सामग्री का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

### ( १.) अन्तःसाक्ष्य

कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उसकी रचनाओं में ही होती है, इसलिए उसके व्यक्तित्व के परिचय एवं विचारधारा के अध्ययन का मुख्य आधार उसकी रचनाएँ ही होती हैं । ध्यातव्य यह है कि अध्येता के लिए जहाँ कवि की रचनाओं के अर्थबोध का होना आवश्यक है वहाँ उन रचनाओं की प्रामाणिकता के निश्चय का होना भी आवश्यक है । अतः यहाँ सर्वप्रथम कबीर और अखा के नाम पर प्रचलित रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार करना आवश्यक है । किन्तु उससे पूर्व उल्लेख्य यह है कि किसी भी रचना के प्रामाणिक होने का मुख्य लक्षण उसके रचयिता के जीवनकाल मे ही उसका लिपिबद्ध हो जाना और इस लिपिबद्ध रूप का उसे मान्य होना है । इस तरह किसी कवि की वे ही रचनाएँ प्रामाणिक कही जा सकती है कि जिनको या तो उसने स्वयं लिपिबद्ध किया हो अथवा अन्य से लिपिबद्ध कराकर उसे अपनी स्वीकृति प्रदान की हो । यदि इस प्रकार की कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध ही न होती हो तो उसकी मृत्यु के बाद कम से कम समय मे लिपिबद्ध की गई को ही प्रामाणिक रूप मे स्वीकार किया जा सकता है ।

कबीर एवं अखा की रचनाओं की ऐसी कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नही होती कि जिसे उन्होंने या तो स्वयं लिपिबद्ध किया हो अथवा किसी अन्य से लिपिबद्ध कराकर उसे अपनी स्वीकृति प्रदान की हो । ऐसी स्थिति मे उनकी रचनाओं की उपलब्ध होने वाली हस्तलिखित प्रतियों में से प्राचीनतम को ही उनकी प्रामाणिक रचना स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नही रहता ।

विवेचनगत सुविधा के विचार से आगे कबीर और अखा की रचनाओ की प्रामाणिकता पर विचार करने के साथ-साथ अखा की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया जाएगा ।

( क ) कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ

कबीर की रचनाओं की संख्या निर्धारित करने व उनकी प्रामाणिकता को परखने के प्रयत्न अनेक विद्वानो ने किये है। जिनमे से प्रो० एच० एच० विलसन (स० १९०३)[१] रे. वेस्टकाट (सं० १९६६,[२], मिश्रबन्धु[३], स्वर्गीय रामदास गौड[४] एवं डा० रामकुमार वर्मा[५] आदि के नाम उल्लेखनीय है। नागराप्रचारिणा त्रैमासिक पत्रिका की सं० १९५८ से सं० २००० तक की खोज रिपोर्टो के अनुसार कबीर-कृत रचनाओं की संख्या १३० तक पहुँचती है। इनमे से वास्तव में कबीर-कृत रचनाएँ कौन-कौन सी हो सकती हैं? इस विषय मे डा० एफ० ई० की ( १९३१ )[६] डा० पीताम्बरदत्तबडथ्वाल ( १९३६ ई०)[७], आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (स० १९९८वि०)[८], आचार्य परशुराम चतुर्वेदी[९] एवं डा० सरनामसिंह[१०] इत्यादि ने पर्याप्त चर्चा की है। इस समस्त चर्चा का साराश निम्नाकित है—

( १ ) 'कबीर की वाणी', आदि ग्रंथ मे संकलित 'कबीर वाणी' और 'कबीरबीजक' ये तीन ही ऐसी रचनाएँ है कि जिनके कबीर-कृत होने का प्रश्न विचारणीय है क्योंकि—

( क ) 'कबीर की वाणी' का निर्दिष्ट रचनाकाल सं० १५६१ संदिग्ध होने पर भी इस प्रति की प्राचीनता शंकातीत है।

( ख ) बीजक संदिग्ध रचना होने पर भी कबीर के विचारों का प्रतिनिधित्व करनेवाली प्राचीन कृति है।

( ग ) 'आदि ग्रंथ' मे 'कबीर-वाणी' का वह रूप सुरक्षित है जो स० १६६१ ( आदि ग्रंथ के संकलन के समय ) मे गुरु अर्जुनदेव को कबीर-वाणी के जानकारो ने प्रस्तुत किया और जिसे भाई गुरदास ने गुरुमुखी मे लिपिबद्ध कर लिया। एवं

---

१ द्र०, रिलीजन आफ द हिन्दूज, भाग १, पृ० ७६-७७।
२. द्र०, कबीर एण्ड द कबीर पंथ, पृ० ११२-११४।
३. द्र०, हिन्दी नवरत्न।
४ हिन्दुत्व, पृ० ७३४।
५. द्र०, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, छठवाँ संस्करण, १९७१ ई०, पृ० २४८-२६०।
६. द्र०, कबीर एण्ड हिज फालोअर्स, अध्याय चार।
७. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, परिशिष्ट दो।
८. कबीर ( १९७१ ई० ), प्रस्तावना, पृ० २९-३६।
९. दे०, कबीर साहित्य की परख : ( १९७२ ई० ) कबीर साहब की रचनाएँ, पृ० ८१-९६।
१०. कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त पृ० १२०-२८।

( २ ) डा० पारसनाथ तिवारी का प्रयत्न स्तुत्य है किन्तु उनके द्वारा संपादित "कबीर ग्रंथावली' की प्रामाणिकता असंदिग्ध नही है।

उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर यहाँ 'आदिग्रंथ', 'कबीर-बीजक', 'कबीर जी की वाणी', और 'कबीर-ग्रथावली' सं० डा० पारसनाथ तिवारी, इन चार ग्रथों की प्रामाणिकता का परीक्षण आवश्यक है।

**आदिग्रन्थ**—गुरु अर्जुनदेव द्वारा सं० १६६१ वि० में संपादित सिक्खों के इस धर्म-ग्रंथ मे कबीर के २२५ पद और २२४ साखियाँ संकलित है।

( १ ) 'कबीर वानी' का यह संकलन लिखित या मौखिक या दोनों किस आधार पर किया गया है ? इसका कोई पता नहीं चलता।

( २ ) इसका संपादन कबीर की मृत्यु ( सं० १५७५ वि० ) के पर्याप्त समय के बाद में हुआ है। अत: कुछ प्रक्षिप्त अंशों के होने की संभावना है।

( ३ ) 'भक्तमाल' ( सं० १६४२ वि० ) में कबीर वाणी के साखी, सबदी और रमैणी, तीन रूप बताये गये है। इसमे रमैणी नही है, अतः यह अपूर्ण है। इस प्रकार इसे असंदिग्ध रूप मे प्रामाणिक रचना नही कहा जा सकता। किन्तु कबीर के जीवन से संबंधित कुछ बहुचर्चित उक्तियाँ इसमें है जिनकी चर्चा उनके जीवन-वृत्त के निरूपण में की गई है।

(२) बीजक

बीजक एक प्राचीन कृति है और संप्रदाय का प्रमुख ग्रंथ है। निम्नांकित कारणों से इसे कबीरकृत नही माना जा सकता। ( १ ) इसके कई संस्करण उपलब्ध है और उन मे संकलित—पद, साखी एवं रमैणियों की संख्या एवं क्रम मे पर्याप्त वैषम्य मिलता है। ( २ ) जिन आधारो पर इन संस्करणो का संपादन हुआ है वे प्रायः अनिर्दिष्ट या अप्राप्य है अतः इनकी प्रामाणिकता की परीक्षा नही की जा सकती। ( ३ ) डा० बड़थ्वाल एवं परशुराम चतुर्वेदी इसे स १६६० से पूर्व की रचना स्वीकार नही करते। ( ४ ) जागू दास और भागूदास मे इसके अधिकार के लिए हुए झगड़े, एवं भगवान गोसांई द्वारा इसे चुराकर हिमालय की गुफा मे जा छिपने और वहाँ से एक सिद्ध द्वारा इसके एक भाग को चुराने में सफल होने आदि से संबंधित जनश्रुतियाँ सिद्ध करती हैं कि इसका मूलपाठ आज उपलब्ध नही है। ( ५ ) श्री एच० एच० विल्सन[1] एवं डाह्याभाई घेलाभाई पडित इसे भागूदास की रचना मानते है।[2] इस प्रकार बीजक कबीर की कृति के रूप

१. दे०, रिलीजस सैक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज (द्वि० सं० १९५८ इ०), पृ० ५३।

२. भागोदास जे कबीरनो विश्वासु शिष्य तथा घणो उत्कृष्ट कवि हतो, तेने बिज्जक नामनो ग्रंथ रच्यो छे। कविचरित्र भाग २, पृ० ५०।

मे सदिग्ध रचना ही ठहरती है। अतः इस अध्ययन में इसे आधार रूप में नही स्वीकार किया गया।

(३) कबीर जी की बानी

बाबू श्यामसुन्दर दास ने जिस हस्तलिखित प्रति के आधार पर 'कबीर ग्रंथावली' का संपादन किया है, उसी का मूल-शीर्षक 'कबीर जी की बानी' है। इसकी पुष्पिका की अंतिम डेढ़ पंक्ति मे इसका रचना काल सं० १५६१ दिया गया है। 'ऊपर की पंक्तियों से इस (डेढ पंक्ति) की स्याही गाढ़ी है, लेखनी भिन्न है, अक्षरो की लिखावट भी भिन्न प्रकार की है, ऊपर की पंक्तियों मे 'य', 'व' के नीचे बिन्दियाँ है, इसमे नही, ऊपर की पंक्तियों मे 'दोष' लिखा है इसमे 'दोश' ऊपर की पंक्ति में 'समपूरण' लिखा है, इसमे 'सम्पूर्ण' अत. प्रति को जानबूझकर प्राचीन सिद्ध करने के लिए किसी ने यह पंक्ति बाद मे लिखी है।' इस प्रकार की जो शंका डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं डा० रामकुमार वर्मा ने उपस्थित की है; उसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि 'यह बहुत संभव है कि लिपिकर्ता अंतिम पक्ति लिखना भूल गया हो और थोड़े दिन बाद उसके किसी शिष्य ने उसमे उसका लिपिकाल लिख दिया हो।'[1] इसका संवत् १५६१ बहुत स्पष्ट है। इसके अक्षर भी ऐसे नही जिन्हें ऊपर की पंक्तियों वाले अक्षरो की अपेक्षा बहुत पीछे का कहा जा सके।........इस प्रकार सारी प्रति अपने बाह्य रूप के आधार पर भी नयी नही।[2]..... इसके सिवाय जहाँ तक उस प्रति के पाठ का सम्बन्ध है वह भी बहुत सी अन्य पुरानी प्रतियों के समान है। सं० १८८१ वाली प्रतिलिपि के अतिरिक्त वह जोधपुर लाइब्रेरी की सं० १८३० वाली प्रति से भी भिन्न नही जान पड़ती और डा० बडथ्वाल उसके पाठ को सं० १८१६ की भी एक प्रति से अभिन्न ही ठहराते है।[3] तदुपरान्त आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने, इसके रचना संवत् १५६१ वि० को शंका की दृष्टि से देखते हुए भी, स्वीकार किया है '( मुझे ) इसकी प्राचीनता मे कोई संदेह नही.... ....इसलिए मैंने इस पुस्तक (कबीर) मे इस प्रति को प्रमाण रूप से बराबर व्यवहार किया है।'[4] अतः इसका रचना संवत् १५६१वि० शंकास्पद भले हो,परन्तु इसकी प्राचीनता विद्वज्जन स्वीकृत है।

डा० रामकुमार वर्मा ने भाषा मे पंजाबी शब्दो की अवस्थिति, उलटवासियों की बहुलता, पद संख्या २५७ एव २५८ मे अरबी-फारसी शब्दों का आधिक्य तथा इसकी कुछ उक्तियों का अन्य कवियों के नाम पर मिलना, इन चार कारणों से इसकी प्रामाणि-कता पर शंका की है। डा० वर्मा के ये तर्क निर्बल प्रतीत होते है क्योंकि जहाँ कबीर

१. डा० त्रिगुणायत : कबीर की विचारधारा, पृ० ५१।

२. आ० परशुराम चतुर्वेदी : कबीर साहित्य की परख, पृ० ८८।

३. दे०, हिन्दी काव्य मे निर्गुण संप्रदाय, परि० २, पृ० ३९१।

४. दे०, कबीर (१९७१ ई०), प्रस्तावना, पृ० ३४।

ने अपना सारा जीवन काशी मे विताने[1] की स्वीकारोक्ति दी है वहाँ 'सत्रजग हंडिया चंदिल कंधि चढ़ाइ'[2] भी घोटित किया है। केवल दो पदों मे फारसी शब्दों का आधिक्य उस युग तथा कबीर के मुस्लिम समाज से निकट के सम्पर्क के तथ्य के प्रकाश में अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। उक्ति साम्य सूर व तुलसी के काव्य में भी यत्र-तत्र देखा जाता है, फिर उनके स्वसम्पादित 'सन्त कबीर' के 'राग गउड़ी वावन आखरी-७५' की कुछ उक्तियाँ गोरखबानी में भी मिलती है।[3] उलटवासियों की मात्रा का प्रश्न कवि द्वारा स्वीकृत शैली से सबंधित उसका निजी प्रश्न है। अतः उसे कृति को अप्रामाणिकता का आधार बनाना ठीक नही है।

तदुपरान्त इस कृति मे बुनकरो के धंधे से सम्बन्धित जो रूपक ग्रहण किये गये है वे सन्त-काव्य की शैली के अनुरूप होने से इसे जुलाहे कबीर की रचना सिद्ध करने में सहायक है।

**कबीर ग्रन्थावली** (सं० डा० पारसनाथ तिवारी)

डा० तिवारी द्वारा बड़ी छानबीन के बाद सम्पादित 'कबीर ग्रंथावली' का एक संस्करण सन् १९६१ ई० मे प्रकाशित हुआ है। इसमें दो सौ पद, बीस रमैनी, एक चौतीसी रमैनी और सात सौ चवालीस साखियों को कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ मानकर संकलित किया गया है। इसके सम्पादन-कार्य मे डा० तिवारी इस पूर्व निश्चय के साथ प्रवृत्त हुए है, कि कबीर अनपढ़ थे[4], उनका अधिकांश जीवन काशी में बीता था; अतः उनकी भाषा मे काशी क्षेत्र की अवधी एवं भोजपुरी भाषाओं के प्रयोग का मिलना नितान्त स्वाभाविक है, और अन्य प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव सामान्यतः प्रक्षिप्त रूप में ही माना जा सकता है।[5] इसलिए प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त राजस्थानी, पंजाबी एवं ब्रजभाषा के शब्दों को उन्होने वर्तमान अवधी या भोजपुरी शब्दों में बदलने का प्रयत्न किया है। अतः कहा गया है कि 'तिवारी जी का यह सिद्धान्त प्रचलित

१. सकल जनम सिवपुरी गवाया। मरती वार मगहर उठि आया॥ क० ग्रं०, परि०, पद १०३।

२. क०ग्रं०, विर्कताई कौ अंग, सा० १०, पृ० ४८।

३. दे०, गोरखबानी, पृ० १८।

४. बीजक की इस उक्ति के आधार पर उन्होंने कबीर को अनपढ माना है—

मसि कागद छुओ नहीं कलम गही नही हाथ।
चारिउ जुग को महातम मुखहिं जनाई बात॥

बीजक को कबीरकृत मानें तो भी इस उक्ति में मौखिक या अनुभूत ज्ञान के समक्ष पोथी-ज्ञान की उपेक्षा व्यक्त की गई है, उनके अनपढ होने की स्वीकृति नही है।

५. डा० पा०ना० तिवारी : कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० २४७।

बीजक पर तो लागू होता है, परन्तु ग्रंथावली पर नही, इनकी सम्पादित ग्रंथावली पर भी नही। कबीर के समय मे काशी की बोली का क्या स्वरूप था, इसका निर्णय करने का कोई आधार नही है। आग्रहवश उन्नीसवीं शताब्दी की काशी की बोली को पंद्रहवीं शताब्दी की बोली मानकर कुछ निर्णय करना कहाँ तक उचित है ? यह भी संभावना है कि उस समय 'भोजपुरी' गंगापार-काशी-न पहुँची हो अथवा गाजीपुर और काशी की बोली एक न रही हों।[1]

सम्भवत: इसी कारण आचार्य परशुराम चतुर्वेदी[2] एवं डा० सरनामसिंह[3] प्रभृति विद्वानों ने डा० तिवारी के उक्त सम्पादन की प्रामाणिकता को स्वीकार नही किया है।

अत: उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश मे 'कबीर जी की बानी', जिसका सम्पादन डा० श्यामसुन्दरदास ने 'कबीर ग्रंथावली' के नाम से किया है, ही प्रामाणिकता के सन्निकट कही जा सकती है और इसलिए अध्ययन मे उसी को आधार बनाया गया है।

**(ख) अखा की प्रामाणिक रचनाएँ**

अखा की कृतियों की सख्या, उनके स्वरूप एवं रचना-क्रम आदि को निश्चित करने के प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किये हैं। जिनमे सर्वप्रथम श्री नर्मदाशंकर का स्मरण किया जा सकता है। उन्होने अखा के वेदान्त-ज्ञान के प्रतिपादक ग्रंथों के अनेक होने का उल्लेख अवश्य किया है लेकिन परिचय-अखाकृत-छप्पा और अखेगीता दो का ही दिया है।[4] कालान्तर मे जैसे-जैसे अखा को रचनाएँ उपलब्ध होती गईं या उनकी सूचनाएँ ही मिलती गईं वैसे-वैसे उनको संख्या में अभिवृद्धि होती गई। इस विषय में श्री नर्मदाशकर देवशंकर मेहता[5], श्री कृष्णलाल झवेरी[6], सागर महाराज[7], श्री कन्हैयालाल मुंशी[8], श्री के० का० शास्त्री[9], डा० उमाशंकर जोशी[10], डा० कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह[11], एवं

१. स० डा० नगेन्द्र 'हिन्दो वार्षिकी' ( १९६२ ई० ) : पं० कृष्णशंकर शुक्ल, 'कबीर ग्रंथावली' लेख, पृ० २२९।

२. दे०, कबीर साहित्य की परख, पृ० ६०-६१।

३. डा० सरनाम सिंह ने अन्य भी अनेक शंकाएँ उठाई हैं। विशेष के लिए द्रष्टव्य— कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, पृ० १२४-२८।

४. दे०, जूनुं नर्मगद्य, पृ० ४५८-५९।

५. दे०, अखो, पृ० १७।

६. दे०, गु०सा०मा०सू०स्त०व०मा०सू०स्त०, पृ० ७०।

७. दे०, अप्रसिद्ध अक्षयवाणी : प्रस्तावना, पृ० ५-८।

८. दे०, गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, पृ० २३१।

९. दे०, कविचरित भाग १-२, पृ० ५७०।

१०. दे०, अखानां छप्पा 'कवि जीवन', पृ० २२।

११. दे०, अक्षयरस, 'निवेदन' पृ० १-४।

डा० रमणलाल पाठक[1] के प्रयत्न उल्लेखनीय है। डा० पाठक ने परम्परा से प्राप्त सूचनाओं एवं विभिन्न ग्रंथ-भण्डारों मे उपलब्ध पाण्डुलिपियों की श्रम-साध्य छानबीन के पश्चात् अपने शोध-प्रबंध के पूरे दो अध्यायों में, इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है और उसके परिशिष्टो[2] मे हिन्दी की अप्रकाशित रचना-अमृतकला रमैणी के संकलन के उपरान्त २९ पदों की सूचना और साथ ही गुजराती की अप्रकाशित रचनाएँ-'तिथि', 'विष्णुपद' एवं चतु श्लोकी भागवत, का संकलन और पदों से संबंधित आवश्यक सूचनाएँ दी हैं। अपने इस विस्तृत विवेचन के अन्त मे उन्होंने अखा-रचित हिन्दी की ग्यारह[3] और गुजराती[4] की बाईस रचनाओं को प्रामाणिक माना है। इसमे संदेह नहीं कि डा० पाठक का यह प्रयत्न अखा के अध्येताओं के लिए उपादेय है किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि इसे एकमात्र आधार मानकर चलना तो भ्रामक ही होगा, क्योंकि एक तो वे अभी अखाकृत अन्य रचनाओं एवं पदों के उपलब्ध हो सकने की संभावना में आस्था रखते है[5], दूसरे अपने शोध-प्रबंध[6] की संशोधित गुजराती आवृत्ति के रूप में हाल ही मे प्रकाशित 'अखो ओक स्वाध्याय' नामक कृति मे उन्होने अपनी पहली मान्यताओं या निष्कर्षो मे, सकारण एवं अकारण भी, जो संशोधन स्वीकार किये है उनसे उनकी दोनों कृतियों की—स्थापनाओं मे ऐसा अन्तर्विरोध उत्पन्न हुआ है कि जिसके पुनः संशोधन की आवश्यकता को अस्वीकार नही किया जा सकता। उनके एतद्विषयक सदिग्ध

---

१. दे०, सं० क०अ०जी०उ०हि०र०आ०अ० (अप्रकाशित), पृ० १२३-२६।

२. दे०, वही, परिशिष्ट १, अ० १ आ० १, इ० २, अ० २, आ० २, इ एवं २ ई, पृ० ३७२-९३।

३. हिन्दी रचनाएँ—(१) संतप्रिया, (२) ब्रह्मलीला, (३) एकलक्षरमैणी, (४) अमृतकला रमैणी, (५) जकड़ी, (६) झूलना, (७) कुडलियाँ, (८) धमार, (९) साखियाँ, (१०) पद एवं (११) भजन।

४. गुजराती रचनाएँ—(१) अखेगीता, (२) अनुभव बिन्दु, (३) गुरु-शिष्य संवाद, (४) चित्त-विचार सवाद, (५) अवस्था निरूपण, (६) पंचीकरण, (७) संतनां लक्षण-अथवा कृष्ण-उद्धव संवाद, (८) कैवल्यगीता, (९) जीवन्मुक्ति हुलास, (१०) चतु श्लोकी भागवत, (११) पद, (१२) भजन, (१३) सोरठा, (१४) छप्पा, (१५) तिथि, (१६) सातवार, (१७) कक्का, (१८) बारहमासा, (१९) आरती, (२०) पत्र, (२१) विष्णुपद एवं (२२) साखियाँ।
दे०, सं० अ०जी०उ०हि०कृ०आ०अ० (अप्रकाशित), पृ० १७४।

५. दे० वही, पृ० १२४ एवं अखो ओक स्वाध्याय, पृ० १०५।

६. संतकवि अखा की जीवनी और उनकी हिन्दी कृतियों का आलोचनात्मक अध्ययन—(सन् १९६७ ई०) अप्रकाशित।

एवं परस्पर-विरोधी निष्कर्षो की समीक्षा एक निबन्ध का स्वतंत्र विषय है, यहाँ इतना उल्लेख्य है कि हिन्दी रचनाओं मे से (१) धमार–जो राग–'काफी-धमार' में लिखित फाग-विषयक तीन मुक्तक पदों की रचना है एवं (२) भजन–जो पदों की तरह ही मुक्तक रचनाएँ है—को स्वतंत्र कृतियाँ मानना आवश्यक नही है। उनका समावेश पदों में किया जा सकता है। गुजराती रचनाओं मे भी विष्णुपद एवं भजनों को पदों मे ही समाविष्ट किया जा सकता है। साथ ही पत्र, आरती एवं जीवन्मुक्ति हुलास—जो केवल एक-एक पद मे ही समाहित है,या यो कहिए कि ये संबंधित पदो के वर्ण्य-विषय मात्र है–को भी स्वतत्र कृतियाँ मानने की अपेक्षा पदो मे ही परिगणित किया जा सकता है। 'अखानी वाणी अने मनहर पद' आदि संकलनों मे उन्हें पदो में ही संकलित किया भी गया है। चतु श्लोकी भागवत असंदिग्ध रचना नही है। इस प्रकार लेखक की दृष्टि से अखा की हिन्दी व गुजराती की प्रामाणिक रचनाओ की सूची निम्नाकित है—

( अ ) हिन्दी रचनाएँ–( १ ) सतप्रिया, ( २ ) ब्रह्मलीला, ( ३ ) एकलक्षरमैणी, ( ४ ) जकड़ी, ( ५ ) झूलना, ( ६ ) कुण्डलियाँ, ( ७ ) पद ( धमार एवं भजन सहित ) ( ८ ) साखियाँ एवं ( ९ ) अमृतकला रमैणी।

( आ ) गुजराती रचनाएँ—(१) पचीकरण, ( २ ) अनुभव विन्दु, ( ३ ) चित्त-विचार सवाद, ( ४ ) गुरु शिष्य संवाद, ( ५ ) कैवल्यगीता, ( ६ ) पद ( विष्णुपद, भजन, पत्र, आरतो, जोवन्मुक्ति हुलास आदि सहित ), ( ७ ) सोरठा, ( ८ ) कक्का, ( ९ ) वार-मासा ( बारहमासा ), ( १० ) सात वार, ( ११ ) अवस्थानिरूपण, (१२) अखेगीता, ( १३ ) छप्पा, ( १४ ) तिथि एवं ( १५ ) साखियाँ।

इन सभी रचनाओ का यहाँ पर अपेक्षित संक्षिप्त परिचय निम्नाकित है—

### ( अ ) हिन्दी रचनाएँ : ( १ ) संतप्रिया

अद्यापि प्राप्त जानकारी के अनुसार सतप्रिया दो सर्वांगी एवं अन्वय-व्यतिरेक प्रकरणो की रचना है। इसका प्रथम प्रकरण 'अखानीवाणी' के नाम से प्रकाशित हुए विविध संकलनो मे गुजराती लिपि मे प्रकाशित हो चुका था,[1] और इसी रूप मे यह पूर्ण कृति मानी जाती रही। आचार्य नर्मदाशंकर देवशकर मेहता ने सर्वप्रथम इसके चार प्रकरणों मे पूर्ण होने वाला ग्रंथ होने को सभावना व्यक्त की।[2] अद्यापि प्राप्त हुए इसके दोनों प्रकरणों को देवनागरी लिपि में सर्वप्रथम प्रकाशित करने का श्रेय 'अक्षयरस' (१९६२ ई०) के संपादक कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह को है। 'अक्षयरस' के 'निवेदन' ( पृ० ३ ) में इसकी छद संख्या १३८ कही गई है, जबकि मूल रचना मे क्रमाक १३७ ही दिये गये हैं,

१. दे०, अखानी वाणी : ओरियन्टल छापाखाना–मुंबई. (ई० सन् १८८४)।
दे०, अखानी वाणी अने गंग विनोद.मणिलाल महासुखरामनी कं० मुबई १८९४ई०।
२. दे०, अखो, पृ० ५१-५२।

वस्तुतः इसकी छंद संख्या १३९ होती है क्योंकि क्रम-संख्या १३४ एवं १३६ दो-दो बार प्रयुक्त हुई हैं। डा० रमणलाल पाठक ने इसके छंद क्रमांक २६, ८५, ८६ एवं ९३ को प्रक्षिप्त मानकर इसका पुनः संपादन किया है। कवि की अन्य रचनाओं की तरह इसकी फलश्रुति की सूचक पंक्तियाँ अनुपलब्ध रहने के कारण डा० पाठक इसके अभी अन्य प्रकरणों के होने की संभावना व्यक्त करते हैं।[1] वर्ण्य-विषय के रूप मे इसमें ब्रह्म-स्वरूप निरूपण, अपरोक्ष ज्ञान, ज्ञान का महत्व, गुरु माहात्म्य, मन की सृष्टि, कंचन-कामिनी में आसक्तों की निन्दा, सगुण-निर्गुण का भेदाभेद एवं ज्ञानोपदेश आदि संतों को प्रिय लगने वाले विषय ही स्वीकार किये गये हैं। दोहा, कवित्त एवं सवैया—जिसे कवि ने कवित्त भी कहा है—इसमे प्रयुक्त हुए हैं।

### ब्रह्मलीला

अपने समकालीन सगुण भक्तों के लीला-काव्यों से प्रभावित होकर अखा द्वारा की गई इस ग्रथ की रचना और उन्ही के अनुकरण पर किये गये इसके नामकरण को जिस संभावना का उल्लेख डा० रमणलाल पाठक ने किया है, लेखक उससे सहमत है। इस ग्रंथ मे कुल ८ चोखरे हैं, प्रत्येक चोखरा के मध्य पाँच-पाँच छन्द हैं इस प्रकार कुल मिलाकर ४८ छंदों की यह एक लघु रचना है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य यह है कि माया से संवलित होकर अव्यक्त ब्रह्म ही अनेक नाम-रूपों में व्यक्त हुआ है। वही इस सृष्टि का सर्जन, संचालन एवं विसर्जन आदि करता है। अतः यह सृष्टि ब्रह्म की लीलामात्र है।

अद्वैत दर्शन मे स्वीकृत ब्रह्म, जीव, जगत् एवं माया के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक संबंधों के सैद्धांतिक निरूपण को ही अपना मुख्य प्रतिपाद्य बनाने के कारण विचारों की क्रमबद्धता, स्पष्टता एवं प्रौढता तथा प्रयत्न-लाघव आदिक गुणों का इस रचना मे अच्छा समावेश हुआ है।

### एक लक्ष्य रमणी

'अक्षय रस' मे प्रकाशित यह एक लघु रचना है। इसमे कुल २७ साखियाँ हैं जिन्हे डा० रमणलाल पाठक भ्रमवश कही चौपाई लिख देते हैं तो कहीं पद।[2] यद्यपि कबीर की रमैणियों मे चौपाई छन्द ही प्रयुक्त हुआ है किन्तु यहाँ ऐसा नही है। इसकी प्रथम दस साखियाँ कुछ पाठभेद के साथ साखियों के 'एक साल अंग' में भी पाई जाती है। इसके शीर्षक में प्रयुक्त 'रमणो' शब्द, (जो वास्तव मे तो 'रमैणी' का ही विकृत रूप है) के डा० योगेन्द्र त्रिपाठी एवं डा० उर्वशी सुरती द्वारा ( क्रमशः ) 'एकलक्षवाली सुरता नारी' एवं 'सती-पतिव्रता नारी' जैसे असंगत अर्थ भो किये गये हैं।[3] व्यक्ताव्यक्त में

---

१. दे०, अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १२८।

२. दे०, साहित्यकार अखो : 'अखानी हिन्दी रचनाओ' लेख, पृ० ९८।

३. दे०, अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १००-१०१।

कवि की अद्वैतानुभूति अथवा अभेद दृष्टि का निरूपण ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है; जैसा कि इसकी प्रथम साखी से सिद्ध है—

जगत कहो। जगदीश कहो। माया कहो कोई काल।
पूरण ब्रह्म गाइये ही। द्वैत नहीं कोई काल॥

इसी मुख्य विचार का निरूपण आगे की साखियों में अनेक उदाहरणों द्वारा किया गया है।

**जकड़ी**

जकडी मूलरूप मे लोकगीत रहे होंगे, जिन्हें कालान्तर मे साहित्य मे भी अंगीकार कर लिया गया। भक्ति काव्य मे इन्हे पर्याप्त प्रसिद्धि मिली। जनगोपाल की जकड़ियों का उल्लेख भक्तमाल मे मिलता है—

भक्त कृपा बांछी सदा पद रज राधालाल की।
संसार सकल व्यापक भई जकडी जन गोपाल की॥[1]

आईने अकबरी मे जकडी को गुजरात का देशी गीत कहा गया है।[2] 'हिन्दी-साहित्य कोष' मे इन्हें ब्रजमण्डल मे ग्राम-मण्डलियों द्वारा गाये जाने वाला भजन कहा गया है।[3] अन्य सूचना के अनुसार राजस्थान मे ये प्रयोग लोकगीतो के रूप मे कलगी और तुर्रा के प्रतीकों के साथ गाये जाते हैं।[4] गुजरात में अखा के अतिरिक्त माडण की भी कुछ जकडियाँ उपलब्ध होती है, परन्तु एक तो वे संख्या मे अति अल्प है दूसरे उनकी प्रामाणिकता अभी सिद्ध नही हो सकी है।[5] जकडी के सम्बन्ध मे अद्यापि जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर यह निश्चय करना कठिन है कि सर्वप्रथम इसका प्रयोग किसी सूफी संत ने किया या यह इसी देश के किसी प्रदेश की लोक संस्कृति की देन है। जो हो, अक्षयरस मे अखा की ३९ जकडियाँ संकलित है जो छन्द विधान आदि की दृष्टि से परंपरागत जकडी भजनों से कोई साम्य नहो रखती। जकड़ी संख्या २४, ३२ एवं ३३ को छोडकर शेष सभी मे पाँच चरण है जिनमे से प्रथम दो पंक्ति का, और शेष चार तीन-तीन पक्तियो के हैं। प्रत्येक चरण के अंत में प्रथम पंक्ति दुहराई

१. भक्तमाल : छप्पा, १११।
२. 'दि देशी सोंग्स ऑफ गुजरात', 'आईने अकबरी' ग्लेडविन, अनूदित, पृ० ७३। डा० मदनगोपाल गुप्ता द्वारा 'गुजराती संतों की हिन्दी वाणी', 'अखो', पृ० १२-१३ पर उद्धृत।
३. डा० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्यकोष, पृ० ३०४।
४. दे०, गुजराती संतों की हिन्दी वाणी, 'अखा', पृ० १३।
५. विशेष के लिए द्रष्टव्य : डा० रमणलाल पाठक का 'जकड़ी' निबंध : स्वाध्याय, अंक ३, पृ० १०, १९७५ ई०।

जाती है। क्रमांक २४में विधान तो अन्य जैसा ही है लेकिन कुल तीन चरण है। क्रमांक ३२ एवं ३३ में प्रत्येक चरण मे चार-चार पंक्तियाँ है परन्तु प्रथम मे कुल तोन चरण हैं तो दूसरी मे पूरे पाँच।

वर्ण्य विषय के रूप मे सभी मे जीवात्मा रूपी प्रियतमा—अखा—का परमात्मा रूपी प्रिय—ब्रह्म—से मिलन (दाम्पत्य रूपकों के माध्यम से) व्यक्त किया गया है। आत्मा व परमात्मा के समरस भोग-विलास (१९), लोक लाज का त्याग (३२), अहर्निश प्रिय के साथ खेलना (३७ एवं ३१), पल भर भी प्रिय से विलग न होकर उसी के साथ सुख भोगना (२८), इत्यादि प्रियमिलन के सभी प्रसंगो व मिलन की शर्त एवं तैयारी आदि का निरूपण इनमें किया गया है। यद्यपि इसके पीछे निहित आध्यात्मिक विचारधारा स्पष्ट है। फिर भी कही-कहीं लौकिकता भी उभर आयी है।

**झूलना**

अखाकृत १०९ झूलना सर्वप्रथम अप्रसिद्ध अक्षय वाणी में और बाद मे अक्षय रस में प्रकाशित हुए है। श्री सागर महाराज का विचार है कि काशी को त्याग कर जब अखा पजाव मे गये और वहाँ के भक्त-समुदाय मे रहने लगे थे, तब उन्होने हिन्दी-उर्दू-पंजावी मिश्रित भाषा मे झूलनाओ की रचना की। जिनके अन्तर्गत उन्होने वेदान्त और 'सूफी-इश्क' की एक-वाक्यता का निरूपण किया है।[1] लेखक की राय मे झूलनाओं में वेदान्त दर्शन एवं निर्गुणोपासना को सूफी दर्शन एवं साधना की शब्दावली मे निरूपित किया गया है। जिसमें जीव का अज्ञान वंधन का कारण माना है तो ज्ञान मुक्ति का। अहंकार-शून्य साधक के ईश्वर के प्रति प्रेम एवं विरह को महत्व दिया गया है।

**कुंडलियाँ**

अप्रसिद्ध अक्षयवाणी एवं 'अक्षयरस' मे अखा की हिन्दी एवं गुजराती में कुल २५ कुंडलियाँ प्रकाशित हुई हैं। अपने शोध-प्रबंध ( १९६७ ई० ) एवं अखो अेक स्वाध्याय (१९७६ ई०) में डा० पाठक ने उपर्युक्त २५ कुंडलियो मे से क्रमांक १४, १५ एवं १७ की तीन गुजराती कुंडलियों को कम करके अखाकृत हिन्दी-कुंडलियो की संख्या २२ निश्चित की है। अपनी उपर्युक्त दोनों ही रचनाओ मे उन्होंने फार्वस गुजराती साहित्य सभा वम्वई की 'पाण्डुलिपि' संख्या २६७ मे अखाकृत कुल २३ कुडलियों के होने और उनमे मे भी क्रमांक १, २ एवं २३ की तीन कुडलियो को प्रक्षिप्त होने की बात कही है[2], लेकिन अन्यत्र वे इसी पाण्डुलिपि में २८ कुडलियों के होने और इनमे से अंतिम को छोड़कर तथा शेष मे से ३ गुजराती कुंडलियों को कम करके अखाकृत हिन्दी कुडलियों

१. दे०, अप्रसिद्ध अक्षयवाणी, टीका भाग, पृ० २६९-७०।
२. दे०, सं० अ०जी०उ०हि०कु०आ०अ० (अप्रका०) १९६७ ई०, पृ० १८२-८६। एवं अखो अेक स्वाध्याय (१९७६ ई०), पृ० १०२-१०३।

की संख्या २४ निश्चित करने मे भी कोई संकोच का अनुभव नही करते ।[1] जो हो, लेखक का निवेदन यह है कि प्रकाशित २५ कुडलियों मे तीन नही वरन्, क्रमांक १४, १५,१६ एवं १७की चार कुडलियाँ गुजराती भाषा मे है, अत. अखा की हिन्दी कुडलियों की सख्या २१ है ।

वर्ण्य विपय के रूप में इनमे गुरुमहिमा के साथ सर्वाधिक निरूपण ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का हुआ है, तदुपरान्त अहंकार-त्याग, अज्ञान की निवृत्ति, ईश्वर के प्रति प्रेम, विरह एवं वैराग्य का भी निरूपण हुआ है । इतना और उल्लेखनीय है कि अखाकृत कुंडलियों में पिंगल शास्त्र के नियमो का समुचित पालन नही किया गया है ।[2]

पद

अखाकृत हिन्दी पदों की संख्या निर्धारित करने के लिए डा० रमणलाल पाठक ने निश्चय हा बडा परिश्रम किया है लेकिन इससे न तो वे स्वयं ही कोई निष्कर्ष निकाल सके है और न किसी अन्य के इससे लाभान्वित हो सकने की स्थिति ही उन्होंने रहने दी है । क्योंकि—

(१) एक स्थान पर वे 'अखानी वाणी' मे हिन्दी पदों की संख्या २६ मानते है[3], दूसरे स्थान[4] पर २२, तो तीसरे पर १९ ही रहने देते है ।[5]

(२) कही अप्रसिद्ध अक्षयवाणो मे हिन्दो भजनों की संख्या ३४ दिखाई जाती है[6], तो कही ३२ ।[7]

(३) फार्बस गुजराती साहित्य सभा बम्बई की पाण्डुलिपि संख्या ११८ मे उपलब्ध हिन्दो पदों की संख्या कहीं[8] २० बताते है तो कही[9] ३० ।[10]

(४) अपने शोध प्रबध के परिशिष्टो मे डा० मजूलाल मजूमदार से प्राप्त ३ पद, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद की पाण्डुलिपि संख्या ११६ से

---

१. दे०, साहित्यकार अखो,(१९४९ई०) अखानी हिन्दी रचनाओ,लेख,पृ० १०४-१०५।

२. विशेष के लिए दे०, गुजरात के संतों की हिन्दी वाणी : में 'अखा' लेख—डा० मदनगोपाल गुप्त ।

३. म० अ०जो०उ०हि०वृ०आ०अ० (अप्र०), पृ० १८९ ।

४. 'अखानो हिन्दी रचनाओ' लेख, साहित्यकार अखो, पृ० १०८ ।

५. अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १०५ ।

६ वही, पृ० १०५ ।

७. 'अखानी हिन्दी रचनाओ' लेख, साहित्यकार अखो, पृ० १०८ ।

८-९. वही, संदर्भ देखें ।

१०. दे०, 'अखानी हिन्दी रचनाओ' लेख, सा०अ०,पृ० १०८ एवं अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १०५ ।

४ पद, और पाण्डुलिपि संख्या ७४० से २ पद तथा फार्बस गुजराती साहित्य सभा बम्बई की पाण्डुलिपि संख्या ११८ से २० पदों की प्रथम पक्तियाँ वे उद्धृत करते हैं, तो साहित्यकार अखो मे प्रकाशित अपने लेख 'अखानी हिन्दी रचनाओ' मे गु० व० सो० की पाण्डुलिपि ७४० में ४ पद गिनाते हैं और पाण्डुलिपि ११६का उल्लेख भी नहीं करते तो 'अखो अेक स्वाध्याय' में इन दोनों पाण्डुलिपियों मे से किसी का उल्लेख नही करते और अन्यत्र प्राप्त ५ पद लिखकर ही काम चलाते हैं। ११ पदों की संख्याओं के योग भी अनुमानाश्रित है। जो हो, इस लेखक की राय मे 'अखानी वाणी अने मनहर पद' मे अखा के २६ पद हिन्दी भाषा मे हैं जिनमे अखेगीता के ४ पद भी सम्मिलित हैं, डा० पाठक की सूचना के अनुसार १ पद भजन-विलास का, २९ पद उनके शोध प्रबंध मे दिये गये परिशिष्टों के और अक्षयरस के ३ धमार तथा ३२ भजन इस प्रकार आज तक अखा के ९१ हिन्दी पद तथा भजन प्रकाश में आ चुके हैं।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से इनमें मुख्यतः ज्ञान, भक्ति, वैराग्य एवं योग का निरूपण किया गया है। गौण रूप से इनमें गुरु व ज्ञान का महत्व, गुरु और गोविन्द की एकता, अहंता-त्याग, विरह, सर्वात्मवादी दृष्टि, प्रिय के मिलन पर आनन्दोत्सव, मन, माया, जीव-अज्ञान, ब्रह्म-स्वरूप एवं सत्संग इत्यादि सभी विषयो का निरूपण किया गया है।

**साखियां**

साखियों का प्रचलन निर्गुण भक्ति के साधक संत-समाज तक ही सीमित पाया जाता है। इनमे सिद्ध-पुरुष या गुरु द्वारा साक्षीभूत या अनुभूत ऐसा उपदेश निहित रहता है जिसके मनन से साधक के ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं और वह सासारिकता से मुक्त हो जाता है। कबीर के नाम पर प्रचलित निम्नाकित साखी मे निहित आशय कुछ ऐसा ही है—

साखी आखी ज्ञान की समुझि देखि मन माहिं।
बिनु साखी संसार का झगरा छूटत नाहिं॥

कबीर ने स्वयं की साखियों का लक्ष्य भी भवसागर मे पड़े जीवों को तीर तक पहुँचाना ही स्वीकार किया है—

हरि जी यहै विचारिया साखी कही कबीर।
भौसागर मे जीव हैं जे कोई पकड़े तीर॥

अतः 'साखी' शब्द उसमें प्रयुक्त छन्द का नही प्रयुक्त विषय का निर्देशक है।'[1] निर्गुण-मानवीय विचारधारा के उपदेशों से युक्त दोहों को 'साखी' नाम सर्वप्रथम संभवतः

१. दे०, गुजरात के संतो की हिन्दी वाणी : डा० मदनगोपाल गुप्त का लेख—'अखा', पृ० १५।

कबीर ने दिया था। अखा की साखियाँ एवं उनका अंगों में विभाजन इन्ही निर्गुणियाँ संतों की परम्परा की देने हैं।[१]

जो हो, अखाकृत साखियाँ हिन्दी व गुजराती दोनों भाषाओं मे हैं। इनका प्रथम प्रकाशन श्री केशवलाल ठक्कर द्वारा सपादित 'अखाजी नी साखियो' नाम से सं० २००८ वि० मे हुआ। इस संकलन में अखा की हिन्दी व गुजराती दोनों भाषाओं की १७२६ साखियाँ हैं। अगों की सख्या १०१ दी गई है लेकिन उसमे निर्दिष्ट कुछ अंगो के विभागों को निकाल दिया जाय तो अंगों की संख्या १२३ होती है। इसके वाद 'अखाजीनी साखियो', फार्बस गुजराती साहित्य सभा बम्बई की हस्तप्रति सख्या २६७, ३३१ एवं ३४८ तथा गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी अहमदाबाद की पोथी सख्या २२१६ के आधार पर कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह ने अक्षयरस मे अखा की पन्द्रह सो से कुछ अधिक साखियों का सपादन किया है। प्रथम संपादन का लक्ष्य तो अखा की साखियो को प्रकाशित कर देना मात्र था, अतः जैसी जिस रूप या क्रम से किसी हस्तप्रति मे उपलब्ध हुई छाप दी गई। दूसरे सपादन मे वैज्ञानिक-पद्धति स्वीकार अवश्य की गई है लेकिन इसकी भी अपनी अनेक सीमाएँ हैं। एक तो सभी सखियों के पाठभेद नही दिये गये, दूसरे कुछ साखियाँ भी हिन्दी के नाम पर सकलित कर ली गई है, तीसरे कुछ साखियों की पुनरावृत्ति भी हुई है, चौथे कुछ साखियो को एक अंग से दूसरे मे रख दिया गया है, इत्यादि। उल्लेखनीय यह कि संपादक ने जो पाठ स्वीकार किये है, उनकी अपेक्षा वे कही-कही अधिक उपयुक्त है, जो पाद-टिप्पण मे दिये गये है। ऐसे स्थानों पर इस अध्ययन में पाद-टिप्पण का पाठ स्वीकार किया गया है।

डा० पाठक की सूचना के अनुसार डा० योगीन्द्र त्रिपाठी, वडौदा के पास अखा की कुछ ऐसी साखियाँ है जो अभी तक प्रकाशित नही हुई है और फार्बस गुजराती साहित्य सभा की पोथी संख्या ३३१ मे अखा की १२५ अंगो मे १८५१ साखियाँ है।[२] उनमे से भी कुछ का समावेश उपर्युक्त किसी संकलन में नही हुआ है। इस प्रकार अखा की साखियो के हिन्दी व गुजराती भाषा के आधार पर पृथक्करण एवं वैज्ञानिक ढंग के संपादन की आवश्यकता अद्यापि बनी हुई है। जो हो, इतना और उल्लेखनीय है कि गुजराती मे साखियो की रचना सर्वप्रथम अखा के द्वारा हो मानी जाती है।

**अमृतकला रमैणी**

'एक लक्ष रमैणी' की तरह यह भी २७ साखियो की एक लघु रचना है, जो फार्बस गुजराती साहित्य सभा, बम्बई को पाण्डुलिपि संख्या ३९४मे उपलब्ध है। डा० पाठक ने

१. दे०, गुजरात के संतो की हिन्दी वाणी : डा० मदनगोपाल गुप्त का लेख—'अखा', पृ० १५।

२. दे०, अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १२२।

इसे अपने शोध प्रबंध के परिशिष्ट मे उद्धृत किया है। इसमें प्रयुक्त छन्द को 'चौपाई' अथवा साखी कहने की अपेक्षा पद कहना कहीं अधिक युक्तिमंगत लगता है, क्योकि इसमे प्रथम पक्ति को 'ध्रुपद' लिखा गया है और प्रत्येक दो पंक्तियों के बाद उसे दुहराकर इसे गेय बनाया गया है। तया प्रारभ मे 'श्री गुरुभ्यो नमः अमृत कला रमैणी लिख्यते। सामेरी सर्द।' मे प्रयुक्त सामेरी शब्द मे उसके राग का संकेत भी है।

इसमे वर्ण्य विषय के रूप में ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित होने पर अनुभूत ब्रह्मानन्द को अपनाया गया है। अमृत कला को 'निज पद' नाम से अभिहित किया गया है—

> अमृतकला आनंदघन निजपद जाको नाम।
> ए तो तार्हों की चेतना अमृत कला आराम॥

ज्ञानियों की भाषा मे 'स्वरूप-प्राप्ति', 'आत्म-स्थिति' और योगियों की भाषा में "निर्विकल्प-समाधि' यही संतों का 'निजपद' है जो वर्णनातीत है।

**(आ) गुजराती रचनाएँ**

(१) **पंचीकरण**—'अखानी वाणी' एवं अखाकृत काव्यो भाग १ आदि संकलनों में प्रकाशित चार-चरणी १०२ चौपाइयों की यह एक लघु रचना है। वर्ण्य विषय के रूप में इसमे अव्यक्त या निःशब्द ब्रह्म के व्यक्त रूप ऊँकार या प्रणव से सृष्टि का क्रमिक विकास, सेश्वर साख्य का नित्यानित्य-विवेक, प्रणव-साधन मे स्वीकृत लययोग एव उसके द्वारा अनुभूत ब्रह्म त्मैक्य मुख्य है।

तीन अथवा पांच महाभूतो से सृष्टि रचना के उल्लेख तो उपनिषदो मे भी मिलते है।[1] ब्रह्मसूत्रों (२।३।३, ८ एवं १७) मे इसी परंपरा को मान्य रखा है। गीता (७।४-५) मे अपरा (जड) प्रकृति-पाँच भूत एवं मन, बुद्धि तथा अहंकार एवं परा प्रकृति (चेतन तत्व) द्वारा सृष्टि की रचना कही गई है। सांख्य-दर्शन की तत्व गणना तो प्रसिद्ध ही है। श्रीमद्भागवत (३।२६ एवं ११।२२) मे सेश्वर सांख्य की तत्व मीमासा स्वीकृत हुई है। ये सभी संदर्भ या उल्लेख पंचीकरण के मूल आधार है। किन्तु स्वतंत्र ग्रंथ के रूप मे पचीकरण की रचना सर्वप्रथम आचार्य शंकर द्वारा की गई। इसके पश्चात् वेदातियो या अद्वैतवादी-परंपरा मे, एक या दूसरे रूप मे, पंचीकरण सर्वस्वीकृत बना रहा। अखाकृत पंचीकरण इसी परपरा मे आता है।

(२) **अनुभव बिन्दु**—'अखानी वाणी' एवं अखाकृत काव्यो, भाग १ आदि अनेक संकलनों मे प्रकाशित, छह चरणो ४० चौपाइयो (गुजराती छप्पाओं) की यह एक लघु रचना है। श्री केशवलाल हर्षदलाल ध्रुव (१९३२ ई०), प्रो० रविशंकर जोशी (१९४४ ई०) एवं प्राध्यापक भूपेन्द्र त्रिवेदी (प्रथम बार १९६४ एवं द्वितीय बार १९६९ ई०)

---

१. दे०, छान्दोग्य ६।३-४ मे वर्णित त्रिवित्करण, एवं तैत्ति० उप० २।१।१।

द्वारा इसके स्वतंत्र संपादन भी प्रकाशित किये जा चुके हैं। इसके नामकरण में कवि ने संभवतः उपनिषद्-साहित्य के—'ध्यान बिन्दु', 'नादबिन्दु' एवं 'अमृत बिन्दु' आदि ग्रंथों का अनुसरण किया है।[1]

इसके वर्ण्य विषय के रूप मे कवि ने 'तत्त्वमसि पद', कैवल्य (ब्रह्म), ईश्वर एवं जीव का भेद,ज्ञान, भक्ति एवं वैराग्य, तथा भाषा मे ब्रह्म विचार की विधि आदि के होने का निर्देश (दे०, छ० ३) किया है। ब्रह्मात्मैक्यानुभूति के निरूपण की प्रमुखता के कारण ही शायद इसे 'अनुभव बिन्दु' नाम दिया गया है।

(३) **चित्त विचार-संवाद**—'अखानी वाणी अने मनहर पद' मे प्रकाशित यह चार चरणो ४१३ चौपाइयों की रचना है। काव्य-रूप की दृष्टि से यह एक 'सवाद-काव्य' है। जिसमे मुमुक्षु या प्रश्नकर्ता के रूप मे पिता 'चित्त' है और समाधान-कर्ता के रूप में पुत्र 'विचार' है। कवि की अन्य रचनाओं की अपेक्षा भाषा का पिछडापन, विचारों की विश्रृंखलता एवं अस्पष्टता इसे कवि की प्रारंभिक रचना सिद्ध करते हैं।

वर्ण्य-विषय के रूप मे सृष्टि रचना, प्रवृत्ति-निवृत्ति-समन्वय, षड्दर्शनों की समीक्षा, गुरु-माहात्म्य,सत्संग का महत्व, गुरु व ब्रह्म की चार-चार भूमिकाएँ एवं आत्म-स्वरूप का ज्ञान एवं भक्ति मुख्य है।

(४) **गुरु-शिष्य-संवाद**—दोहा एवं चौपाइयों की मिश्रित शैली में ग्रथित यह संवाद-काव्य चार—(१) भूतना-भेद, (२) ज्ञान निर्वेद-योग, (३) मुमुक्षुना लक्षण एवं (४) तत्वज्ञान-निरूपण-खण्डों मे विभक्त है। पंचभूतों का भेद या रहस्य, सृष्टि-रचना क्रम, नित्यानित्य-विवेक द्वारा व्युत्पन्न अनासक्ति, संतों के लक्षण,तीन प्रकार के द्वैत—भावाद्वैत, क्रियाद्वैत एवं द्रव्याद्वैत का निवारण कर ब्रह्मात्मैक्यानुभूति की उपलब्धि, मन एवं माया के गुण-धर्मो एवं गुरु-शिष्य के सम्बन्धों का निरूपण आदि वर्ण्य विषय है। यह रचना भी 'अखानी वाणी' एवं 'अखाकृत काव्यो भाग १ आदि मे प्रकाशित है।

(५) **कैवल्यगीता**—'राग असावरी' मे, सब कुल ४८ पंक्तियों की, यह एक लघु किन्तु स्वतंत्र रचना है। प्रत्येक दो पंक्तियो को एक,दो, तीन आदि के क्रमांक देकर प्रथम पंक्ति को दुहराने का संकेत किया गया है। इसमे सर्वभूतान्तर्यामी ब्रह्म के सर्व-व्यापकत्व एवं सर्वकारणत्व का निरूपण एवं उसके साथ स्वय ( आत्मा ) की एक-रूपता का वर्णन आत्म-कथन शैली मे मुख्यत. किया गया है। 'अखानी वाणी' मे यह रचना प्रकाशित है।

(६) **पद**—(भजन, प्रभातिया, विष्णुपद, पत्र, आरती एव जीवन्मुक्ति हुलास सहित) डा० रमणलाल पाठक ने अपने शोध प्रबंध मे, अखाकृत गुजराती-पदों की संख्या निश्चित करने का प्रयत्न प्राय. नही किया। फिर भी एतद्विषयक जो सूचनाएँ उन्होने यहाँ

---

१. दे०, न०दे० मेहता : अखाकृत काव्यो भाग १, पृ० १२५।

एकत्रित की है। उनके अनुसार 'अखानी वाणी' मे प्रकाशित १२६ पद अप्रसिद्ध अक्षयवाणी में प्रकाशित २७ भजन एवं १८ प्रभातियाँ[1], फार्वस गुजराती साहित्य सभा मुंबई की पोथी [ सं० ११८ एवं ३३६ ] मे संकलित ४७ एवं करणेट गाव [ ता डमोई ] की किसी प्रति से प्राप्त १ पद [ इस प्रकार कुल ४८ अप्रकाशित पद, जिनकी सूची उन्होंने परिशिष्ट—२ ई० मे दी है ], अखेगीता मे प्रकाशित ६ पद[2] एवं गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी पाण्डुलिपि सं० ५७८ के आधार पर परिशिष्ट—२ आ मे उद्धृत ५ अप्रकाशित पद। कुल २३० पद होते है।

'अखो एक स्वाध्याय' मे उन्होंने जो संशोधन किया है उसके अनुसार 'अखानीवाणी' के १२६ पद, अखेगीता के ७ पद, अप्रसिद्ध अक्षयवाणी के ४५ भजन एवं प्रभातियाँ, फार्वस गुजराती साहित्य सभा मुंबई, गु०व०सो० अहमदाबाद, डा० मंजुलाल वडोदरा के पास से एवं करणेट [ ता० डमोई ] आदि की पाण्डुलिपियों मे से प्राप्त लगभग ४० अप्रकाशित पद तथा गु०व०सो० की अहमदाबाद की पाण्डुलिपि उपलब्ध 'दशेक' विष्णु पद। कुल २२८ होते है।[3]

अखेगीता के गुजराती ६ पदों को ७ पद लिखे जाने की उनको भूल तो समझी जा सकती है, किन्तु गु. व. सो. अहमदाबाद एवं डा० मंजुलाल वडोदरा की पाण्डुलिपियों मे कितने-कितने पद उपलब्ध है ? और उपर्युक्त परिशिष्ट २ ई०, के कितने पद अप्रमाणित सिद्ध हो गये कि जिसके कारण संख्या ४८ से घटकर ४० ही रह गई, तथा विष्णुपदों की संख्या ५ से बढ़कर 'दशेक' कैसे हो गई ? आदि का कोई स्पष्टीकरण विद्वान् लेखक ने नही किया।

तदुपरांत उल्लेख्य यह है कि अपने शोध प्रबंध के परिशिष्ट २ आ मे उन्होंने जिन ५ विष्णुपदों का अप्रकाशित पदों के रूप मे संकलन किया है उनमे से चार क्रमांक १, २, ३, २६* तो 'अखानीवाणी अने मनहर पद' मे क्रमश पद-क्रमाक १०८, ११६ एवं २२, २६ एवं ७ मे प्रकाशित है। पद क्रमाक ४ की उक्तियाँ भी अन्य पदों मे मिलती है अतः वस्तुतः इनमे से एक भी पद अप्रकाशित नही है, फिर उनकी संख्या का दश तक पहुँचना तो काल्पनिक ही प्रतीत होता है।

१. दे०, सं० अ०जी०उ०हि०कृ०आ०अ० [अप्रकाशित], पृ० १४१।

२. दे०, वही, पृ० १७३।

३. दे०, 'अखो अेक स्वाध्याय', पृ० १०५।

* डा० पाठक के शोध प्रबंध में विष्णुपद ५ को गु०व०सो० की पाण्डुलिपि सं० ५७८ का क्रमाक १६ दिया गया है।
विष्णुपद २ का पूर्वार्द्ध अ०वा०अने म० पद के पद क्रमांक ११६ एवं उत्तरार्द्ध प० क्रमाक २२ में उपलब्ध होता है।

'अखानीवाणी' में प्रकाशित गुजराती पदों की संख्या १२६ बताना और तदुपरात अखेगीता के ६ [भूल से ७] पद गिनाना भी ठीक नही है, क्योंकि जिस 'अखानीवाणी अने मनहर पद' मे कुल पदसंख्या १५२ है उसमे अखेगीता के [गुज० के ६ और हिन्दी के ४ ] १० पद सम्मिलित है। जिन परवर्ती संस्करणो मे ये १० पद नही है उनमें गुजराती पदों की संख्या १२० ही हो सकती है। डा० पाठक ने परिशिष्ट २ ई० मे जिन ४७ अप्रकाशित पदों की प्रथम पंक्तियाँ उद्धृत की है यद्यपि वे भी सूक्ष्म परीक्षण की अपेक्षा से मुक्त नही कही जा सकती फिर भी थोडी देर के लिए यदि उन्हें प्रामाणिक हो मान लिया जाय तो लेखक के अनुसार अखानीवाणी के १२६ पद [ जिनमे अखेगीता के ६ पद सम्मिलित है] अप्रसिद्ध अक्षयवाणी के ४५ भजन एवं प्रभातियाँ एवं ४८ अप्रकाशित पद, इस प्रकार कुल २१९ पद व भजन होते है। किन्तु 'अखानीवाणी' मे पदसंख्या ३७ व ४७ का पद एक ही है और सख्या ५५ एवं ७८ पर भी एक ही पद है। इसलिए कुल २१७ पद होते है। कुछ गुजराती भजनों मे प्रेमाभक्ति के सयोग पक्ष का जो वर्णन हुआ है उस पर सगुणभक्ति की कृष्ण-भक्ति-शाखा का प्रभाव उल्लेखनीय है, शेष के वर्ण्य विषय वे ही है जिनका उल्लेख हिन्दी पदो के परिचय मे किया जा चुका है।

[७] **सोरठा**—अखाकृत २५३ सोरठा 'अखानीवाणी' मे प्रकाशित है, किन्तु सोरठा क्रमाक १९५ एवं १९६ पर सोरठा क्रमांक ५ व ६ ही दुबारा छाप दिये गये है अत उनकी ठीक संख्या २५१ है। तदुपरांत फार्बस गुज०सा० सभा बम्बई की पाण्डुलिपि संख्या २६७ के आधार पर प्राध्यापक भूपेन्द्र त्रिवेदी ने फार्बस गुजराती सभा के त्रैमासिक [जुलाई सेप्टेम्बर ६५] के अंक में ९४ सोरठा और प्रकाशित किये है। इस प्रकार कुल संख्या ३४५ होती है। इन सभो मे वर्ण्य-विषय के रूप मे आत्म-ज्ञान, अनासक्ति, ब्रह्म स्वरूप का निरूपण आदि मुख्य है। सभी मुक्तक रचनाएँ है। गुजराती भाषा मे इन्हें 'परजिया दूहा' या 'राग हालारी दूहा' नामों से भी जाना जाता है।

[८] **कक्का**—वर्णमाला के अक्षरों से प्रारंभ करके लिखे गये 'बावनाक्षरी' जैसे इस काव्य को कवि ने 'कक्का' कहा है। जिसमे अ से ह तक के बावनाक्षरो को न लेकर क से क्ष तक के चौतीस अक्षर ही लिये गये है। अत. इसे 'ज्ञान-चौतीसा' जैसा काव्य कहा जा सकता है। एक प्रारंभ की प्रार्थना और तीन फलश्रुति के, इस प्रकार कुल अड़तीस दोहा छंद की यह रचना है जिसमे राग धन्याश्री के होने का सकेत है। अप्रसिद्ध अक्षयवाणी मे यह रचना प्रकाशित है।

गुजराती साहित्य मे नाकर [सं० १५७२-१६२४ वि०] आदि कुछ जैन कवियों की इस प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध होती है।[1] किन्तु संत काव्य मे अखा ही इसके प्रारभ-

१ दे०, अनन्तराय रावल : गुजराती साहित्य [मध्यकाल], पृ० ४९।

कर्ता कहे जा सकते है। इनके वर्ण्य विषय के रूप में ज्ञान, भक्ति, वैराग्य एवं गुरु-सेवा का निर्देश स्वयं कवि द्वारा किया गया है।[1]

[९] **बार-मास [बारहमासा]**—विप्रलम्भ शृंगार-निरूपण में स्वीकृत 'बारहमासा' काव्य रूप से भिन्न सिद्ध करने की दृष्टि से गुजराती के कुछ विद्वानों ने इन्हें 'ज्ञान मास' की संज्ञा से अभिहित कराया है। संत काव्य में सर्वप्रथम इनकी रचना करने का श्रेय अखा को दिया गया है। अखा की इस कृति मे बारह महीनों की गणना कार्तिक से प्रारंभ करके आश्विन मास तक स्वीकार की गई है। एक प्रार्थना का और एक फलश्रुति का तथा बारह महीनों के इस प्रकार कुल १४ छंद है, जो 'राग सामेरी' मे लिखे गये हैं। रचना अप्रसिद्ध अक्षयवाणी [पृ० ७-१२] मे प्रकाशित है। वर्ण्य विषय के रूप में अद्वैत ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, चेतावनी एवं गुरु-सेवा आदि मुख्य है।

[१०] **सात वार**—फलश्रुति सहित कुल ८ छंदों की यह रचना 'राग मारू' में लिखी गई है और 'अप्रसिद्ध अक्षयवाणी' [पृ० १२-१४] में प्रकाशित है। वारो का प्रारंभ गुरुवार से किया गया है। वर्ण्य-विषय के रूप मे गुरु-माहात्म्य एवं ज्ञानोपदेश मुख्य है। इस काव्य-रूप की स्वीकृति गोरखबानी एवं अन्य निर्गुणी संतों के काव्यों मे भी हुई है।

[११] **तिथि**—फलश्रुति सहित चार-चरणी सत्रह चौपाइयो की यह रचना डा० रमणलाल पाठक कृत 'अखो अेक स्वाध्याय' [पृ० २९६] में प्रकाशित है। सोलह तिथियों की गणना इसमे अमावस्या से पूर्णिमा तक स्वीकार की गई है। गोरखबानी [पृ० १८१-१८३] में संकलित पंद्रह तिथि में भी यही गणना एवं चौपाई छन्द स्वीकार किया गया है। इस काव्य-रूप के मूल 'सिद्ध-साहित्य' में भी उपलब्ध है; अतः निर्गुण संतों के काव्य में स्वीकृति इसी परंपरा की देन प्रतीत होती है।

वर्ण्य-विषय के रूप में सत्संग-माहात्म्य एवं अद्वैत ज्ञानोपदेश मुख्य हैं।

[१२] **अवस्था निरूपण**—इस रचना मे कवि ने शरीरावस्था, अज्ञानावस्था, जीव-ईश्वर ज्ञान एवं कैवल्यज्ञान शीर्षकों के अंतर्गत जीवात्मा को जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय आदि अवस्थाओं का निरूपण किया है। माण्डूक्योपनिषद् के 'आगम-प्रकरण' के श्लोक ३-६ में आत्मा की उक्त चार अवस्थाओं का निर्देश किया गया है। किन्तु अखा की इस रचना मे उक्त चारों अवस्थाओ को जीव की अवस्था माना गया है–[२।९]; और उनसे आगे की पांचवीं अवस्था तुरीयातीत [३।८]; तथा उससे भी आगे 'सत्यनित्य अनुपम परम पद' माना है, जिसका निरूपण अंतिम [कैवल्य ज्ञान] शीर्षक के अंतर्गत किया गया है।

प्रत्येक शीर्षक के अंतर्गत चार-चरणी दश-दश चौपाइयाँ लिखी है, इस प्रकार कुल

---

१. 'अेमां ज्ञान भक्ति वैराग्य छे,मांहे गुरु शुश्रूषा भेद ॥' अप्रसिद्ध अक्षयवाणी,पृ० ६।

४० चौपाइयों की यह रचना है और 'अप्रसिद्ध अक्षयवाणी' [पृ० ७५-८०] में प्रकाशित है। डा० पाठक के अनुसार गुजराती साहित्य मे इस प्रकार की यह प्रथम रचना है।[१]

[१३] **अखेगीता**—अखाकृत समस्त गुजराती रचनाओ में अखेगीता सर्वोत्तम रचना मानी जाती है। यदि यह कहा जाय कि गुजरात प्रान्त व गुजराती साहित्य मे कवि की अक्षयकीर्ति 'अखेगीता' एवं 'छप्पाओ' पर ही मुख्य रूप से अवलंबित है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। विचारों की प्रौढ़ता व तार्किक अन्विति, कलात्मक सौष्ठव एवं भाव-सौन्दर्य का जो रूप इस रचना मे आदि से अन्त पर्यन्त देखा जाता है वह उनकी अन्य रचनाओं मे कम ही पाया जाता है।

इस कृति मे कुल ४० 'कडवक' छन्द हैं, जिन्हे 'कडवा' कहा गया है। प्रत्येक चार कड़वा के वाद एक पद दिया गया है। ४ हिंदी के व ६ गुजराती के, कुल १० पद हैं। प्रत्येक कडवा का वर्ण्य विपय उसकी 'पूर्वछाया' की पंक्तियां मे दे दिया गया है, शेप पंक्तियों मे उसी का विस्तार किया गया है और उपमा, रूपक, दृष्टात, प्रमाण आदि देकर बोधगम्य बनाया गया है।

अंतिम 'कड़वा' मे इसके वर्ण्य विषय के रूप मे मोक्ष-दायिनी आत्मविद्या का निर्देश किया गया है जिसके अंतर्गत गुरु-माहात्म्य, जीव, माया, अविद्या, ब्रह्म आदि के गुणधर्म एवं स्वरूप-निरूपण, सृष्टि-रचना की तत्वमीमासा, लययोग, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, पड्-दर्शन-मीमांसा, शून्यवादियों की आलोचना, सत्संग, साधुसेवा एवं जीवन्मुक्त-अवस्था आदि का समावेश किया गया है। इसका प्रत्येक छन्द मुक्तक है और इसका रचना-काल सं० १७०५ वि० दिया गया है।

'अखानी वाणी' एवं 'अखाकृत काव्यो' भाग १ आदि संकलनों मे यह कृति प्रकाशित है, साथ ही श्री विष्णुप्रसाद त्रिवेदी [वि०सं० २०१३], प्राध्यापक भूपेन्द्र त्रिवेदी [वि०सं० २०१४] एवं श्री उमाशंकर जोशी व डा० रमणलाल जोशी [ १९६७ ई० ] आदि द्वारा इसके स्वतंत्र संपादन भी प्रकाशित हुए हैं। श्री उमाशंकर जोशी का संपादन सं० १७७३-७४ एवं १८२३ वि० की लिखी गई चार पाण्डुलिपियों के आधार पर किया गया होने के कारण सर्वाधिक शास्त्रीय व मान्य कहा जा सकता है किन्तु विद्वान् संपादक ने, जैसा कि स्व-सपादित 'अखेगीता' के 'प्रवेशक' पृ० ९-१० पर स्वीकार किया है, शब्दो की प्राचीन वर्तनी व रूपों को अद्यतन रूपों मे परिवर्तित करके रचना को अद्यतन गुजराती भाषा मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके इस प्रयत्न से रचना की सप्रेषणीयता मे अभिवृद्धि तो हुई है किन्तु तत्कालीन भापा-रूप को समझने मे एक अडचन भी पैदा हुई है। तदुपरान्त उन्होंने प्रथम 'कडवा' की प्रथम पंक्तियों मे 'ब्रह्मानंदनी' की जगह जो 'ब्रह्मनदनी' पाठ स्वीकार किया है और एक विशेप लेख मे उसका जो औचित्य

१. दे०, अखो अेक स्वाध्याय, पृ० ९३।

सिद्ध किया है[1] उसमे अखा को ब्रह्मानंद स्वामी का शिष्य सिद्ध न होने देने का उनका पूर्वग्रह स्पष्ट है। फिर भी एकाधिक पाण्डुलिपियों के आधार पर संपादित होने के कारण लेखक ने इस अनुशीलन मे इसी संकल्प का उपयोग किया है। गीता—'काव्य-रूप' की परंपरा संस्कृत के अतिरिक्त गुजराती के 'अनुवाद-काव्य' एवं नरहरि आदि की रचनाओं में स्वतंत्र रूप से भी पाई जाती है। अखेगीता इसी परंपरा की एक उत्तम रचना है।

[१४] छप्पा—अखाकृत 'छप्पा' गुजरात प्रान्त मे लगभग उमी प्रकार प्रसिद्ध हैं जैसे उत्तर-भारत मे कबीर व रहीम के दोहे एवं 'मानस' की चौपाइयाँ। इनमें से कुछेक तो लोकोक्ति व मुहावरों का रूप ग्रहण कर चुके हैं। इनकी इस अतिशय प्रसिद्धि का मुख्य कारण सचोट व्यंग्यात्मकता, बोलचाल की भाषा एवं अनुभूत दैनिक या लौकिक-जीवन से ग्रहण की गई उपमाएँ, रूपक एवं दृष्टांत आदि है।

उल्लेखनीय यह है कि ये छप्पा, रोला छंद के प्रथम चार और उल्लाला छन्द के अंतिम दो, इस प्रकार छह चरणों के पिंगल-मान्य छप्पय या छप्पा नहीं वरन् छह चरणी चौपाइयाँ है, जिन्हे षट्पदी या छह पदी चौपाई कहने के स्थान पर 'छप्पा' कह दिया गया है। श्री उमाशंकर जोशी के अनुसार इन्हे 'छप्पा' की संज्ञा स्वयं कवि द्वारा नहीं वरन् किसी अन्य द्वारा दी गई है।[2] इनमे यद्यपि अधिकाशतः चौपाई के छह चरणो को एक इकाई या छप्पा माना गया है किन्तु लगभग १६ छप्पाओं मे अष्टपदी चौपाई को, तो दो मे चतुष्पदी चौपाई को भी 'छप्पा' मान लिया गया है।[3] अखा से लगभग १५० वर्ष पूर्व इसी रूप मे इस छन्द का प्रयोग कवि माडण बँधारा-कृत 'प्रबोध बत्तीसी' मे हुआ देखा जाता है। सभी मुक्तक रचनाएँ है और संत-काव्य की साखियों की तरह अंगों में विभक्त हैं।

वर्ण्य विषय के रूप मे ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, गुरु, सत्संग, पाखंड-खडन आदि संत-काव्य के परम्परागत विषय ही मुख्यतः स्वीकार किये गये है।

'अखानी वाणी' आदि संकलनो मे प्रकाशित होने के उपरान्त पूजारा कानजी भीमजी द्वारा 'ब्रह्मज्ञानी अखा भगतना छप्पा' [ १८२९ ई० ], पुस्तक वृद्धि कर नारी मंडली अमदावाद द्वारा, 'अखाजीना छप्पानो चोपडो' [ १८६४ ई० ]; कुंजविहारी मेहता एवं रमेश शुक्ल द्वारा 'अखाना छप्पा' [१९६३ ई०], भूपेन्द्र बालकृष्ण त्रिवेदी द्वारा 'अखाना छप्पा' [ १९७२ ई० ] आदि में उनको स्वतंत्र रूप से संपादित एवं प्रकाशित किया जा चुका है। किन्तु इन सभी संपादनों से श्री उमाशंकर जोशी संपादित 'अखाना छप्पा'

---

१. दे०, संस्कृति [ गुजराती मासिक पत्रिका ] वर्ष १९, अंक ९, सितम्बर १९६५ में 'ब्रह्मानदनो नहि ब्रह्मनंदनो' लेख।

२. दे०, अखानां छप्पा [द्वि० सं०] अखानी आतमसूझ, पृ० ३९।

३. दे०, वही, पृ० ३९।

[ १९६२ ई० ] अधिक प्रसिद्ध व मान्य हुए हैं। इस संपादन में जोशीजी ने विभिन्न साधनों से उपलब्ध कुल ८ प्रतिलिपियों का आधार ग्रहण किया है, जिनमें से २४७ छप्पाओं की सं० १८८२ वि० की प्रतिलिपि सर्वाधिक प्राचीन मानी गई है, शेष का प्रतिलिपि-काल अज्ञात है, इनमे से एक में सबसे अधिक ६५७ छप्पा है। कुछ छप्पा पूर्व प्रकाशित पूजारा कानजी के संपादन एवं मणिलाल महासुखराम नी कं० मुबई द्वारा [१८९४ ई०] प्रकाशित 'अखानी वाणी अने गंग विनोद' से ज्यों के त्यों ग्रहण किये गये हैं—अर्थात् वे उपर्युक्त किसी भी प्रतिलिपि में नही है—इस प्रकार कुल ७५६ छप्पाओं का संपादन किया गया है।[1] इनके विभिन्न संपादनो को देखने से जो तथ्य प्रकाश में आता है वह यह कि इनके अगों की संख्या, नाम या शीर्षक एवं क्रम, विभिन्न अंगों मे स्वीकृत इनकी सख्या, क्रमाक एवं समग्रत उनकी संख्या आदि के विषय में कोई सर्व-स्वीकृत मत नही है।

श्री उमाशंकर जोशी ने अपने संपादन में एक तो अखेगीता की तरह ही छप्पाओं की 'लोकभोग्य' आवृत्ति प्रस्तुत करने के परिणाम-स्वरूप शब्दो के प्राचीन रूपों एवं वर्तनी [Spellings] को अद्यतन रूपों एवं वर्तनी में बदल दिया है। दूसरे उन्होंने कुछ अयुक्त पाठ भेद स्वीकार करने एवं कुछ पंक्तियों को एक छप्पा में से उठाकर दूसरे में जोड देने, के प्रयत्न महज इसलिए किये है कि उनके यथारूप व यथास्थान पर रहने से अखा द्वारा की गई गोकुलनाथजी की निन्दा स्पष्ट लक्षित होती है और वह उनके गुरु-शिष्य होने की, जोशी जी की, मान्यता के विरुद्ध है। फिर भी जैसा कि ऊपर कहा गया है; श्री जोशी का संपादन सर्वाधिक मान्य हुआ है। अतः यहां उसी का उपयोग किया गया है।

[१५] **साखियां**—अखाकृत गुजराती साखियो का वर्गीकरण व कोई स्वतंत्र संपादन अभी तक अस्तित्व मे नही है। अतः इनका पृथक् परिचय सम्भव न हो सकने के कारण पूर्ववर्ती पृष्ठो में दिये गये हिन्दी साखियों के परिचय को ही यहां पर भी समझना चाहिए।

**विशेष**

श्री उमाशंकर जोशी ने 'अखो अेक अध्ययन' [ १९४१ ई० ] में अखाकृत 'संतना लक्षण' अथवा 'कृष्ण-उद्धव-संवाद' को; तो डा० अनिलकुमार त्रिपाठी ने आर्ट्स एण्ड कामर्स कालेज, मियाँगाम की वार्षिक पत्रिका 'दीप' के एक अंक [१९६९-७०] मे 'चतुः श्लोकी भागवत' को उनकी प्रमाणित रचना मानकर प्रकाशित किया है। डा० रमणलाल पाठक ने इन दोनो कृतियो को अखा की प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है किन्तु जिन कारणों से ये रचनाएँ प्रामाणिक मानी गई हैं उनमें सन्देह को स्थान होने के कारण उनकी पुनः समीक्षा आवश्यक है।

१. दे०, श्री उमाशकर जोशी : अखाना छप्पा, अखानी आतम सूझ, पृ० ५०-५१।

[१] संतना लक्षण

इस रचना की किसी भी उक्ति में कवि के नाम की स्पष्ट छाप नही है और न इसके आदि-अंत में दी गई पुष्पिकाओं मे ही इसके रचियता का उल्लेख किया गया है। इसे अखाकृत मानने का एक मात्र आधार इसकी अंतिम चौपाई में प्रयुक्त 'अषेपद' शब्द है—

कृष्ण उधवनो अे संवाद। अषेपद पाम्युं उहुलाद ॥
जो इछो निजपद पामवा। तो हिंडो लक्षण साधवा ॥

श्री जोशीजी ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है 'कृति अखा की है, यह तो [इसकी] अंतिम पंक्तियों के 'अषेपद' मे से 'अषे' [अखे] मे श्लेष देखें तभी कहा जा सकता है।'[1] कहना न होगा कि 'अषे', 'अषेपद' आदि शब्द नाथपंथियों एवं सन्तों के रूढ शब्द है[2], जिनका प्रयोग प्रायः सभी सन्तों ने किया है। अत इसमे प्रयुक्त 'अषेपद' शब्द इसके अखाकृत होने का समुचित कारण नही बन सकता। डा० पाठक ने किसी अन्य साक्ष्य से इसकी समीक्षा किये बिना ही प्रमाणित रचनाओं मे स्थान दे दिया है।

प्रारंभ मे एक साखी और ३१ चतुष्पदी चौपाइयो की इस रचना को देखने से जो तथ्य प्रकाश मे आते है वे निम्नांकित है—

[१] प्रारंभिक साखी में वक्ता [कृष्ण] द्वारा श्रोता [ उद्धव ] के प्रति वर्ण्य-विषय का निर्देश है। क्रमांक २ से ५ तक की चौपाइयों मे सन्त व असन्त की पहचान उसके लक्षणो से ही होती है। इसलिए लक्षण ही मुख्य है आदि कहकर लक्षणों के महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

[२] क्रमांक ६ से $१८_२$ तक की साखियों मे सन्त के लक्षण गिनाए गये है। उल्लेख्य यह है कि ये सभी साखियाँ, कुछ पाठभेदो के साथ, ज्यों की त्यो गुरु-शिष्य-संवाद मे प्रकाशित है।

[३] क्रमाक $१८_२^१$ से ३२ तक की चौपाइयाँ साधुसेवा, आत्मज्ञान, सर्वात्मभाव एवं भक्ति का महत्व आदि विषयों से सम्बन्धित है। उल्लेख्य यह है कि प्रायः इन सभी उक्तियों की वैकल्पिक या साम्यसूचक उक्तियाँ अखाकृत छप्पाओं में मिल जाती है।

[४] इस रचना में कवि के नाम की छाप के अभाव का समाधान यह कहकर किया जा सकता है कि इसमे प्रत्यक्ष वक्ता के रूप मे कृष्ण है, कवि नही, इसलिए उसके नाम की छाप के लिए अवकाश नही रहता।

---

१. दे०, अखो अेक अध्ययन [१९४१ई०], पृ० १८०, नवीन आवृत्ति [ १९७३ई० ], पृ० १९७।

२. दे०, गोरखबानी सबदी ७७ एवं पद ६ तथा क० ग्रं०, पृ० १७० ख प्रति ग्रंथवावनी।

इस प्रकार यह रचना अखाकृत तो सिद्ध हो जाती है किन्तु साथ ही इसके वैशिष्ट्य का महत्व नहीवत् ही रह जाता है।

**चतुःश्लोकी भागवत**

श्रीमद्भागवत पुराण के द्वितीय स्कंध के अध्याय ९ के ३२ से ३६ तक के श्लोक 'चतु श्लोकी भागवत' के नाम से जाने जाते है। अखाकृत कही जानेवाली 'चतुःश्लोकी भागवत' मे इन्ही श्लोको की टीका गद्य मे की गई है।

डा० अनिलकुमार त्रिपाठी ने इसके अखाकृत होने के समर्थन मे इसके अतिरिक्त कोई प्रमाण नही दिया कि 'यह उनके पिता डा० योगीन्द्र त्रिपाठी को कहानवाँ बंगला—कि जहाँ से अखाकृत अन्य कृतियो की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली थी—प्राप्त हुई है और जिस प्रति मे यह रचना सकलित है उसमे अखाकृत अनुभवबिंदु-अपूर्ण रूप मे—भी लिपिबद्ध है।[1] कहना न होगा कि एक ही पोथी मे विभिन्न कवियो की विभिन्न रचनाओ को, अपनी रुचि व आवश्यकतानुसार, लिपिबद्ध कर लेने की प्रथा उन दिनो प्रचलित थी, और कहानवाँ बंगले से उसका प्राप्त होना कोई प्रमाण नही है अत. डा० त्रिपाठी का एक भी तर्क उसे अखाकृत सिद्ध करने मे असमर्थ है।

इस रचना की प्रतिलिपि मे इसकी समाप्ति की सूचक पुष्पिका के बाद एक साखी दी गई है जिसमे 'सोना' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

> आदि सोना अन्ते सोना। मध्ये सोनम सोना।
> तीन घट की रेवण जाणे। ता घट पाप न पोना॥

डा० पाठक की मान्यता है कि इस 'सोना' शब्द मे श्लेष द्वारा कवि ने अपने नाम 'अखा सुनारा' का संकेत किया है। अखा ने अपनी अन्य रचनाओं मे इस [रचना के नाम का] का उल्लेख किया है, इसकी हस्तलिखित प्रति १००वर्ष से अधिक पुरानी है।[2] अत. यह अखा को प्रामाणिक रचना है। कहना न होगा कि उक्त साखी मे 'सोना' मे से डा० पाठक आवश्यकता से अधिक 'कस-काढना' चाहते है; क्योकि आभूषणो के आदि, मध्य एवं अंत मे स्वर्ण की सत्यता का उदाहरण प्रायः सभी अद्वैतवादी और काया शोध के लिए सोने को शुद्ध करने की स्वर्णकार द्वारा अपनाई गई प्रक्रिया, या अग्नि परीक्षा का उदाहरण, सभी योगी, देते देखे जाते है।[3] अखा की रचनाओ मे अनेक ग्रंथो का

---

१ दे०, दीप : [१९६९-७०], पृ० १-३।

२ अखो अेक स्वाध्याय, पृ० १००।

३. सोना ल्यौ रस सोना ल्यौ मेरी जाति सुनारी रे।

+ + +

आपै सोना नै आप सुनारो भूल चन्द्र अंगीठा॥ गोरखबानी, पद ६, पृ० ९१-९२।

उल्लेख हुआ है किन्तु उन सभी पर उन्होंने टीकाएँ नही लिखी, प्रतिलिपि का १०० वर्ष पुरानी होना भी कोई प्रमाण नही है। अतः इस रचना के अखाकृत होने के डा० पाठक द्वारा दिये गये कारण भी अपर्याप्त ही है।

तदुपरान्त उल्लेख्य यह है कि इस रचना को अखाकृत मानकर डा० पाठक अखा को 'संस्कृत भाषा साहित्य का अध्येता [अभ्यासी] व संस्कृत ग्रंथों पर टीका, उनके अनुवाद एवं भाष्य लिखने वाला'[1] भले कहे; किन्तु सामान्य और सही मान्यता यही है कि अखा [दे०, छ० १६३-६४] सस्कृत व प्राकृत करके लिखने वालों का निन्दक, अनुभूतवाणी का सन्त-कवि था, गद्यकार भी नही। तदुपरान्त महत्वपूर्ण यह भी है कि उपर्युक्त साखी, कुछ पाठ या शब्द भेद के साथ, गोरखबानी मे भी मिलती है—

अरधे सोनां उरधे सोना मध्ये सोनम् सोना।
तीनि सुन्यं की रहनीं जाने ता घटि पाप न पुन्नां ॥ [गो०बा०, पद ६, पृ० ९२]

इस प्रकार 'चतुश्लोकी भागवत' का अखाकृत होना सिद्ध नही किया जा सकता। अतः वह किसी अन्य की रचना है। ध्यातव्य यह है कि डा० पाठक ने उसे प्रमाणित मानते हुए भी अखा की प्रामाणिक रचनाओं की सूची मे स्थान नही दिया।[2] साथ ही इतना संकेत कर देना भी अयुक्त न होगा कि श्री उमाशंकर जोशी सपादित 'अखाना छप्पा' एवं 'अखेगीता', डा० अनसूया भूपेन्द्र त्रिवेदी संपादित 'अनुभव बिन्दु', कुछ अशों मे डा० चन्द्रप्रकाश सिंह संपादित 'अक्षयरस', एवं डा० रमणलाल पाठक संपादित 'संतप्रिया' [ अप्रकाशित ] जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर अखा की वाणी के जितने भी संकलन अद्यावधि प्रकाशित हुए है उनके पीछे संकलनकर्ताओं का उद्देश्य अखा की वाणी को प्रकाशित कर देना मात्र रहा है। अत. जिन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर उन्होंने अपने संकलन प्रकाशित किये है, उनका समुचित या क्वचित् उल्लेख करना भी आवश्यक नही समझा है। उपर्युक्त संपादनों मे भी जो त्रुटियाँ है उनका उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। सब मिलाकर अखा की हिन्दी व गुजराती रचनाओं के वैज्ञानिक सपादन की आवश्यकता अद्यापि बनी हुई है।

प्रस्तुत अध्ययन मे 'अखानीवाणी अने मनहर पद', जिसे आगे 'अखानीवाणी' कहा गया है, 'अप्रसिद्ध अक्षयवाणी', अक्षयरस, एवं श्री उमाशंकर जोशी संपादित 'अखाना छप्पा' तथा 'अखेगीता' तथा 'अखो एक स्वाध्याय' मे प्रकाशित तिथि का उपयोग किया गया है।

ध्यातव्य यह है कि प्रमाणित मानी गई, आलोच्य कवियों की उपर्युक्त रचनाओं में

---

१. दे०, अखो अेक स्वाध्याय, पृ० ९९-१००।
२. दे०, अखो एक अध्याय पृ० १३०।

उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय मे विशेष रूप से यद्यपि कुछ नही कहा गया, तथापि कथन की स्पष्टता के लिए अपने लौकिक जीवन से जो रूपक व उदाहरण उन्होंने अपनाये है उनमे कुछ ऐसी उक्तियां है जिनसे उनके नाम, जाति, व्यवसाय, परिवार, एवं गुरु, आर्थिक स्थिति. निवास-स्थान, मृत्यु-स्थान एव पर्यटन आदि पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कुछ प्रकाश अवश्य पडता है। ऐसी उक्तियों का उपयोग, लेखक द्वारा इन कवियों के जीवन-वृत्त के आलेखन मे, 'अन्त.साक्ष्य' के रूप मे किया गया है।

**निष्कर्ष**

उल्लेख्य है कि कबीर के कुछ पदों एवं रमैणियों मे यद्यपि प्रश्नोत्तर-शैली या संवाद-शैली को अपनाया गया है तथापि अखा के 'गुरु-शिष्य-संवाद' एवं 'चित्त-विचार-सवाद' जैसा कोई संवाद-काव्य उन्होने नही लिखा। कबीर की रचनाओं मे सात बार, तिथि, ऋतु, एवं मास विषयक काव्य-रूप छुट-पुट रूप मे प्रयुक्त हुए देखे अवश्य जाते है किन्तु उन्हें स्वतंत्र रचनाओ का जो व्यवस्थित रूप अखा ने दिया है उन्होने नही दिया। अखा की रचनाओं मे यद्यपि सोरठा, छप्पा, कडवक, कवित्त, सवैया, झूलणा, कुण्डलियाँ आदि छन्दों एवं जकड़ी आदि काव्यरूपो का जो प्रयोग हुआ है वह कबीर की रचनाओ मे नही है फिर भी दोनों ही कवियो की रचनाओं का अधिकाश भाग पद, रमैणी, एवं साखी के ही रूप मे है।

कबीर द्वारा प्रयुक्त साखी को गुजराती भाषा एव गुजरात की हिन्दी काव्य-परम्परा मे लाने का श्रेय अखा को ही दिया जाता है। इसके अतिरिक्त रमैणी एवं जकडी की परंपरा को भी उन्होने संभवतः इसी परंपरा से ग्रहण किया होगा। कबीर एवं अखा के मध्य समय का वडा अन्तराल है अत· काव्य-शैली के क्षेत्र मे उन पर कबीर का कोई सीधा प्रभाव है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर ने अपनी रचनाओ मे जिन छन्दो एवं काव्यरूपों को अपनाया है, उन्हें अथवा उनके कालान्तर मे विकसित रूपों को व्यक्तित्वगत वैशिष्ट्य एवं वैविध्य के साथ अखा ने भी अपनाया है।

**[२] बहिःसाक्ष्य**

बहि साक्ष्य के अंतर्गत, जैसा कि प्रारंभ मे सकेत किया गया है, अधिकाश मे उन उल्लेखो एवं ग्रन्थों को समाविष्ट किया गया है जिनसे आलोच्य कवियो के जीवन-वृत्त के किसी पक्ष पर न्यूनाधिक प्रकाश पड़ता हो। कबीर और अखा विषयक इस सामग्री और इससे प्राप्त सूचनाएँ संक्षेप मे निम्नाकित है—

**कबीर विषयक**

**[क] समवर्ती एवं परवर्ती संतों की वाणी**

संत रविदास, सेन-नाई, धनां भक्त, एवं संत-पीपा, स्वामी रामानंद के शिष्य एवं

कबीर के समकालीन माने जाते हैं। संत रविदास ने अपनी एक उक्ति में कबीर के परिवार मे ईद, बकरीद, के मनाये जाने, गो-वध होने व शेख व पीरों की पूजा मान्य होने एवं पिता-पुत्र [ कबीर ] के कर्मो मे भारी अंतर होने की बात कही है।[1] सेन-नाई विरचित 'कबीर और रैदास-संवाद' मे कबीर को निर्गुणोपासक एवं रैदास का गुरु-भाई कहा गया है।[2] धना भक्त की एक उक्ति मे कबीर को नीच जुलाहा जाति मे व्युत्पन्न किन्तु गंभीर गुणों से युक्त बताते हुए भक्ति-भाव से प्रेरित होकर उनके व्यवसाय-त्याग का उल्लेख किया है।[3] सन्त-पीपा ने कबीर की श्रद्धा भाव से युक्त प्रशंसा की है।[4] दादू की एक उक्ति के अनुसार कबीर जुलाहा जाति के त्यागवृत्ति वाले भक्त थे। कमाल उनके पुत्र थे। भक्ति के लिए उन्होंने अपने व्यवसाय को त्याग दिया था।[5] तदुपरांत धर्मदास, गरीबदास एवं सन्त तुकाराम की रचनाओ मे भी कबीर-विषयक उल्लेख मिलते हैं।

ओडछे वाले हरिराम शुक्ल 'व्यास जी' [ सम्वत १५६७-१६६९ वि० ] कृत एक पद राधा-कृष्ण-ग्रंथावली में सङ्कलित है—[दे०, डा० बडथ्वाल : हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० १०१] जिसमें कबीर को रामानंद का शिष्य कहा गया है। किन्तु इस पद की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

**[ख] प्राचीन ग्रन्थ**

**[१] भक्तमाल**

नाभादास-कृत भक्तमाल [ रचना सं० १६४२ वि० ] के एक छप्पय [ सं० ३६ ] में कबीर को रामानन्द का शिष्य कहा गया है। एक अन्य उक्ति [ दे०, छप्पय ६० ]

१. जाके ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि।
जाके बापि वैसी करी पूत ऐसी करी।
तिहु रे लोक प्रसिद्ध कबीरा ॥ आदिगुरु ग्रंथ साहेब, पृ० ६९८।

२. दे०, डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३५२।

३. बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
नीचा कुला जुलाहरा भइओ गुनीय गंभीरा। गुरु ग्रंथ साहब [ भगतधनेजो रागु आसा ]।

४. जो कलि मांझ कबीर न होते।
तौं ले वेद अरु कलिजुग मिलि करि भगति रसातलि देते। डा० रामकुमार वर्मा
नांम कबीर साच परकास्या तहां पीपै कछु पाया ॥ सन्त कबीर : प्रस्तावना, पृ० ५४५।

५. दे०, चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी सम्पादित, 'दादू-ग्रंथावली'।

में उनके तीन काव्यरूपों—साखी, सवदी, रमैनी—के उल्लेख के साथ उनके द्वारा किये गये वर्णाश्रम-धर्म के विरोध तथा उनके पक्षपातरहित स्वभाव का उल्लेख किया गया है। भक्तमाल के इन उल्लेखों को निष्पक्ष एवं प्रमाण-रूप माना जाता है।

[ २ ] भक्तमाल की टीका प्रियादास ने सं० १७६९ वि० में पूर्ण की।[1] जिसमें उन्होने अपने समय तक प्रचलित कबीर-विपयक जनश्रुतियो के आधार पर उनका विस्तृत जीवन-चरित्र लिखा है। जिसके अनुसार कबीर रामानन्द के शिष्य और शाह सिकन्दर के समकालीन थे। सिकन्दर ने उन्हे दण्डित भी किया था, किन्तु भगवत्कृपा से वे वच गये। भक्ति हेतु अंत मे उन्होने अपना व्यवसाय छोड दिया था।

[ ३ ] अनंतदास [ सं० १६५७ वि० ] कृत 'कबीर साहब की परचई' में कबीर का जन्म काशी में बताया गया है। साथ ही उन्हे जाति का जुलाहा, रामानन्द का शिष्य एवं वीरसिंह बघेला का समकालीन कहा गया है। तदुपरात यह कि सिकन्दर ने उन पर अत्याचार किये थे और उनकी मृत्यु १२० वर्प की आयु में मगहर में हुई थी।

[ ४ ] **आदि ग्रन्थ**—सिक्ख धर्म के इस धार्मिक ग्रंथ [ सं० १६६१ वि०] में अनेक सन्तों की बानियाँ संकलित है। गुरु अमरदास की एक उक्ति के अनुसार कबीर ने किसी 'पूरे गुरु' से दीक्षा ली थी।[2] डा० त्रिगुणायत[3] ने 'पूरे गुरु' से स्वामी रामानन्द का अर्थ ग्रहण करना अधिक उचित माना है तो डा० मोहन सिंह ने उसे 'ब्रह्म' का वाचक माना है।[4]

[ ५ ] चेतनदास कृत 'प्रसंग पारिजात' [ कथित रचनाकाल-सं० १५१७ वि० ] में कबीर को स्वामी रामानन्द का शिष्य कहा गया है और स्वामी रामानन्द की वर्षी सं० १५०५ वि० में बताई गई है। इस कृति की प्रामाणिकता विवादास्पद है।

**[ग] साम्प्रदायिक ग्रन्थ**

'भवतारण', 'कबीर चरित्र बोध', 'अमर सुख-निधान', 'अनुराग-सागर', 'निर्भय-ज्ञान', 'कबीर-परिचय', 'सदगुरु श्री कबीर चरितम्', 'कबीर मंसूर', 'कबीर कसौटी', आदि कबीर-पंथी साहित्य एवं दरिया साहेब कृत ज्ञानदीप' आदि अनेक रचनाओं में कबीर के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु उक्त सभी ग्रन्थों मे कबीर को अवतारी पुरुष सिद्ध करने के प्रयत्नो मे पौराणिकता का आश्रय लिया गया है। अतः इनसे वैज्ञानिक ढंग से कबीर का चरित्र-चित्रण करने में कोई विशेष सहायता नही मिलती।

---

१. दे०, भक्तमाल की टीका. कवित्त पृ० ६२३।

२. नाम छिपा कबीर जुलाहा पूरे गुरु ते गति पाई।—आदि ग्रंथ गुरु अमरसिंह, महला ३, सीरोगग पद २२।

३. दे०, कबीर की विचारधारा, पृ० ६।

४ दे०, कबीर एण्ड हिज बायोग्राफी, पृ० २३।

**[घ] पौराणिक ग्रन्थ**

[१] **अगस्त्य संहिता**—इस ग्रंथ के रचनाकाल एवं रचयिता का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसकी उल्लेखनीय बात यह है कि इसमे स्वामी रामानन्द का आविर्भाव काल कलियुग का ४४०० वाँ वर्ष दिया है। जो गणना करने पर सं० १३५६वि० या १२९९ ई० मे पड़ता है। डा० आर०जी० भंडारकर ने इसको प्रामाणिक माना है।[1]

[२] 'भविष्य पुराण' में भी कबीर चरित्र दिया गया है लेकिन उससे उनके जीवन के वैज्ञानिक निरूपण मे कोई सहायता नही मिलती।

**[ङ] इतिहास ग्रन्थों में कबीर-विषयक उल्लेख**

[१] **आईने अकबरी**—अबुल फजल अल्लामी द्वारा यह ग्रंथ सन् १५९८ मे लिखा गया है।[2] इसमे एक स्थान पर कहा गया है कि अपने उदार सिद्धान्तों के कारण कबीर हिन्दू व मुसलमान दोनों मे पूजित थे, उनके निधन पर हिन्दू उनके शव को जलाना चाहते थे, मुसलमान गाड़ना चाहते थे। दूसरे स्थल पर कहा गया है कि कुछ लोग उनकी समाधि रतनपुर [सूबा अवध] मे बतलाते है और कुछ उसे पुरी के पास सिद्ध करते है। उन्हें हिन्दो का कवि कहा गया है। इस ग्रंथ की रचना कबीर की मृत्यु के पर्याप्त समय के बाद होने के कारण जनश्रुतियों पर विश्वास किया गया लगता है।

[२] **खजीन अस्फुल असफिया**—इस ग्रंथ के कर्ता मौलवी गुलाम सरवर ने कबीर की जन्मतिथि हिजरी सन् मे दी है जो गणना करने पर सं० १४५१ मे आती है। कबीर को शेख तकी का मुरीद कहा गया है। इस ग्रंथ का रचनाकाल सन् १८६८ ई० है। लेखक ने अपनी मान्यताओ के आधारो का कोई उल्लेख नही किया है।

[३] **दबिस्ताने मजाहिब**—इस ग्रंथ के कर्ता मोहसिन फानी अकबर के समकालीन माने जाते है।[3] इसका अनुवाद ट्रायर एवं शी महोदयों ने किया है। इसमें कबीर को जाति का जुलाहा और एकेश्वरवादी कहा गया है। जो किसी सच्चे गुरु की शोध मे अनेक हिन्दू व मुसलमानों से मिला और अंत मे किसी ने उसे प्रतिभाशाली बृद्ध ब्राह्मण रामानन्द की सेवा मे जाने का निर्देश किया।[4]

[४] **तजकिरुल फुकरा**—इस ग्रंथ के कर्ता मौलवी नसीरुद्दीन है। इसमे कबीर को रामानन्द का शिष्य कहा गया है।

**[च] जन-श्रुतियाँ**

कबीर के जीवन से संबंधित यों तो सैकड़ों जनश्रुतियाँ प्रचलित है किन्तु उनके जन्म

---

१. दे०, कलैक्टेड वर्क्स ऑफ आर०जी० भंडारकर, वाल० ४, पृ० ९४-९५।

२. दे०, ब्लैकमेन द्वारा अनूदित—आईन ए अकबरी, इन्ट्रोडक्शन, पृ० १०।

३. दे०, डा० पी० दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी काव्य मे निर्गुण संप्रदाय, पृ० ११०।

४. दे०, ट्रायर एवं शी का अनुवाद : फर्स्ट वाल्यूम, पृ० ४४६।

के सम्वन्ध में केवल दो जनश्रुतियाँ विशेष महत्व की हैं, यहाँ उन्ही का उल्लेख पर्याप्त समझा गया है।

[१] कहते हैं कोई ब्राह्मण अपनी बाल-विधवा पुत्री के साथ स्वामी रामानन्द के दर्शनार्थ उनके पास गया था। निकट पहुँचने पर पुत्री ने स्वामीजी को नमस्कार किया, जिसे उन्होंने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया। पिता ने स्वामीजी से जब उसके विधवा होने की बात कही तो उन्होंने यह कहकर समाधान किया कि—मेरा वचन तो मिथ्या न होगा किन्तु तेरी पुत्री को दोष न लगेगा। यथासमय जब कन्या के पुत्र उत्पन्न हुआ तो लोक-लाज के भय से वह उसे लहर तालाव के किनारे फेंक आई। प्रातः काल द्विरागमन से आते हुए नीमा-नीरू नामक जुलाहे दंपति ने, कुछ हिचक व संकोच के साथ, बालक को उठा लिया और अपनाकर उसका पालन-पोषण किया। यही बालक आगे कबीर नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह जनश्रुति इतनी प्रचलित है कि एक या दूसरे रूप में कबीर पथियो मे भी मान्य है।[१]

[२] दूसरी जनश्रुति है कि एक दिन स्वामी अष्टानन्द ने एक विचित्र ज्योति को आकाश से लहर-तालाब मे अवतरित होते देखा और इस दृश्य का उल्लेख उन्होने स्वामी रामानन्द से किया। स्वामी जी ने कहा कि—यह ज्योति एक बालक के रूप मे परिणत हो जायगी और यह बालक लोक का महान् कल्याण करेगा। यही बालक कबीर नाम से प्रसिद्ध हुआ।[२]

स्पष्ट है कि कबीर के जोवन से संबंधित उपर्युक्त सामग्री का अधिकांश सदिग्ध एवं अपूर्ण है, जिसके आधार पर कतिपय तथ्यों को छोड़कर उनकी जीवनी के विषय में किसी अंतिम निष्कर्ष पर नही पहुचा जा सकता।

### [छ] इतर-सामग्री

गुजराती भाषा मे कवि मुकुन्द गागुली[३], पंडित डाह्याभाई धेलाभाई[४], श्री भीमराव जोटे[५] एवं अंग्रेजी भाषा में डा० आर०जी० भण्डारकर[६], मैकलिफ[७], फर्कुहर[८] एवं

---

१. दे०, सद्गुरु श्री कबीरचरितम्।

२. रेवरेण्ट अहमदशाह ने इन्ही स्वामी अष्टानन्द को कबीर की असली पिता माना है, जिन्होंने लोक लाज के भय से उस विधवा को पत्नी रूप मे स्वीकार नही किया, जिसका उल्लेख पहली जनश्रुति मे हुआ है। दे०, दी बीजक ऑफ कबीर, पृ० ४-५।

३. भक्तोनी चरित्र माला [रचना १६५२ ई०]।

४. कवि चरित्र, भाग २ [१८६९ ई०]।

५. कबीरदास।

६. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ आर०जी० भण्डारकर, वाल० ४।

७. सिक्ख रिलीजन वा० १-२।

८. आउट लाइन ऑफ रिलीजस लिटरेचर ऑफ इंडिया।

वेस्टकाट[1] एवं विलसन[2] आदि अनेक विद्वानों ने कबीर के जीवन का परिचय दिया है। किन्तु प्राय. सभी ने कोई तर्क-सगत मत व्यक्त न करके जनश्रुतियो का ही उल्लेख किया है। फिर भी आवश्यकतानुसार इन विद्वानों के प्रयत्नों से लाभ उठाया गया है। डा० मोहनसिंह[3] एवं डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[4] के प्रयत्न इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हिन्दी के विद्वानों मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी[5], डा० रामकुमार वर्मा[6], श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'[7], डा० श्यामसुन्दर दास[8], आ० परशुराम चतुर्वेदी[9], डा० सरनाम सिंह[10], चन्द्रबली पाण्डेय[11], डा० रामप्रसाद त्रिपाठी[12], श्री पुरुषोत्तम-लाल श्रीवास्तव[13], डा० गोविन्द त्रिगुणायत[14] एवं डा० रामजी लाल सहायक[15] आदि विद्वानो ने कबीर के जीवन के समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किये हैं। लेखक ने अपने इस अध्ययन मे इन सभी के मतों से लाभ उठाया है।

कबीर की विचारधारा एव साधना पद्धति आदि के विवेचन की दृष्टि से डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, डा० रामजी लाल सहायक, डा० सरनाम सिंह एव श्री परशुराम चतुर्वेदी के प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय है, किन्तु इनमे अनेक स्थानो पर अपने निष्कर्षों के लिए उन्होने कबीर की सदिग्ध रचनाओ को भी आधार बनाया है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि एवं सत साहित्य में अभि-

---

१. कबीर एण्ड हिज फालोअर्स।
२. रिलीजस सैक्टस ऑफ हिन्दूज।
३. कबीर एण्ड हिज बायोग्राफी।
४. दी निर्गुन स्कूल ऑफ हिन्दी पोइट्री।
५. कबीर।
६. संत कबीर : प्रस्तावना एवं हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।
७ कबीर वचनावली : मुखबंध।
८. कबीर ग्रथावली—प्रस्तावना।
९. 'उत्तरभारत की संत परपरा', 'संत साहित्य', 'कबीर साहित्य की परख' एवं 'कबीर साहित्य चिन्तन'।
१०. 'कबीर : एक विवेचन', 'कबीर : व्यक्तित्व कृतित्व एवं सिद्धान्त'।
११. ना०प्र० त्रैमासिक पत्रिका, भाग १४, 'कबीर साहेब का जीवन वृत्त'।
१२. हिन्दुस्तानी पत्रिका, भाग २, अक २, कबीर जी का समय।
१३. कबीर साहित्य का अध्ययन।
१४. कबीर की विचार धारा।
१५. कबीर दर्शन।

व्यक्त भारतीय संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से डा० मदनगोपाल गुप्त[1] का शोध प्रबंध उल्लेखनीय है।

डा० प्रह्लाद मौर्य का शोध प्रबंध 'समकालीन भारतीय समाज और कबीर का समाज दर्शन' हाल ही मे 'कबीर का समाज दर्शन' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित हुआ है। जिसमे लेखक ने कबीर की उक्तियों के अर्थघटन मे अपने विचारों का असंगत आरोपण करके उनकी रचनाओं मे गाँधी जी के रामराज्य, आचार्य विनोबा भावे के सर्वोदय एवं कार्ल मार्क्स के साम्यवाद का प्रतिपादन हुआ सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है। डा० धर्मपाल मैनी-कृत 'कबीर के धार्मिक विश्वास' एवं डा० रामरतन भटनागर-कृत 'कबीर साहित्य की भूमिका' तथा डा० रवीन्द्रकुमार सेठ कृत 'तिरुवल्लुवर एव कबीर का तुलनात्मक अध्ययन' मे कबीर के धार्मिक एवं सामाजिक आदि विचारों का अध्ययन किया गया है, किन्तु इनमे से प्रथम दो का आधार 'आदि ग्रंथ' मे संकलित 'कबीर वाणी' अथवा डा० रामकुमार वर्मा द्वारा संपादित 'संत कबीर' है; तो तृतीय का आधार डा० पारसनाथ तिवारी संपादित 'कबीर ग्रंथावली' है। डा० रामजी लाल सहायक कृत 'महात्मा कबीर और महात्मा गाँधी का तुलनात्मक अध्ययन' मे महत्व गाँधीजी को दिया गया है, कबीर को नहीं।

अतः निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि एतद्विषयक उपर्युक्त अध्ययनों का यद्यपि अपना महत्व है किन्तु उनके अनेक निष्कर्ष पूर्वग्रह से युक्त व असंगत है, जिन पर प्रसंगानुसार आगे विचार किया जायगा।

**अखा विषयक**

समकालीन एवं परवर्ती व्यक्तियों द्वारा अखा के जीवन वृत्त से सम्बन्धित किये गये कथन, जनश्रुतियाँ एवं विद्वानों के विवेचनों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

**[क] समवर्ती एवं परवर्ती संतों की वाणी**

[१] भगवान् जी महाराज द्वारा उद्धृत एक साखी मे अखा, गोपाल, बूटा एवं नरहरि का एक साथ उल्लेख हुआ है।

अखे कर्यो डखो गोपाले करी धेंस।
बूटे कर्यो कूटो नरहर कहे शीरावा वेश ॥[2]

१. मध्यकालीन हिन्दी काव्य मे भारतीय संस्कृति।

२. दे०, सन्तोनी वाणी, पृ० १७।

श्री के०का० शास्त्री ने इस साखी का यह पाठ दिया है—

अखे कीधो डखो गोपाले कीधी घेंश।
नरहरिअे कीधी रावडी बूटो कहे शिरावा वेश ॥

दे०, कवि-रचित भाग १-२, पृ० ५२९।

उक्त चारों ही कवि ज्ञानमार्गी एवं समकालीन थे अतः उनके एक ही गुरु ब्रह्मानन्द के शिष्य होने की संभावना व्यक्त की जाती है।[1]

( २ ) श्रीमहातमराम ( सं० १८९७ वि० ) ने उक्त चारों को ब्रह्मानन्द के बालक या शिष्य कहा भी है—

अखा नरहर बूटा गोपाला।
ऐ च्यों ब्रह्मानन्द के बाला॥[2]

लेकिन विद्वानों की राय मे यह बात उक्त कवियों की रचनाओं के अन्तःसाक्ष्यों से सिद्ध नही होती।[3]

( ३ ) लालदास ने अखा को स्वयं का गुरु कहा है—

वाहाय अभितरय राम। श्री अंसि गुरुई बतायो हिं॥
कहि लालदास यानी राम। राममि समायो हिं॥[4]

प्रीतमदास ( सं० १७८१-१८५४ वि० ) ने भक्त नामावली मे अखा, गोपाल एवं बूटा को 'ब्रह्मज्ञानी' कहा है।[5] श्री करुणासागर ( सं० १८७८ वि० ) सारसा वालों ने कबीर एवं अखा को ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त संत कहा है।[6] भीखा ( सं० १८५० वि० के आसपास ) ने अखा की शिष्य-परम्परा मे विद्याधर, प्रेमदास एवं प्रभुराम का उल्लेख किया है।[7] वस्ता विश्वम्भर ( सं० १८०० वि० के आसपास ) ने अखा को अपनी एक उक्ति मे निरंतर शीतल छाया से युक्त एक ऐसा वृक्ष कहा है जो कभी तप्त नहीं होता।[8] अर्जुन भक्त (सं० १९०६-१९५६ वि०) ने अखा को अपने साधना-क्षेत्र का बख्तर कहा है।[9] भोजा भगत ( सं० १८४१-१९०६ ) ने अखा की सहायता के लिए रघुनाथ के दौडकर आने का उल्लेख किया है।[10]

---

१. दे०, संतोनी वाणी, पृ० १७ एवं श्री न० दे० मेहता-कृत : अखो, पृ० १६।
२. महातम ज्ञान प्रकाश, पृ० ८।
३. सन्तोनी वाणी : लालदास : भजन १ से ५ देखें।
४. दे०, उमाशंकर जोशी : अखो एक अध्ययन, पृ० ६३-६८।
५. प्रियादास जसवंत जन ज्ञानी। अखो गोपाल बूटो ब्रह्मधानी।—'प्रीतमदासनी वाणी' पृ० ५२।
६. अखा कबीर आधे जेटला। अयं ब्रह्म अस्मि तेटला।—'अगाध बोध', पृ० १७।
७. दे०, महादेव देसाई सम्पादित : अर्जुन वाणी, पृ० ५।
८. दे०, श्री योगीन्द्र त्रिपाठी बड़ौदा के यहाँ उपलब्ध—अमरपुरी गीता ( अप्र० ) गोलाट ७, चौ० ६८०, हप्र० पृ० १४८।
९. दे०, अरजुन वाणी, पृ० २।
१०. दे०, प्राचीन काव्य माला, भाग ५, पृ० ५०।

अखा जी वारे उतावलो, तु रघुनाथ धायो।

सम्भव है, इस उक्ति मे टकसाल प्रसंग मे अखा को मिली मुक्ति का उल्लेख हो।

उपर्युक्त बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अखा उच्च कोटि के ज्ञानमार्गीय साधक थे, सन्त समाज में उनका प्रभाव था, तथा वे ब्रह्मानन्द से सम्बन्धित थे, किन्तु ये तथ्य उनकी जीवनी के अनुशीलन में अपर्याप्त है।

**(ख) आलोचनात्मक सामग्री**

जनवार्ता ( या दंतकथा ), उसकी (अखा की) कविता और स्वयं के विचार—इन तीन आधारों पर अखा के जीवन को लिपिबद्ध करने का सर्वप्रथम प्रयास श्री नर्मदाशंकर ने सन् १८६५ ई० मे किया।[1] उन्होंने अखा के विषय मे जो कुछ लिखा उसी का अनुगमन श्री डाह्याभाई घेलाभाई पंडित ने किया है।[2] अक्टूबर सन् १८८४ ई० मे श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने अहमदाबाद जाकर अखा के विषय में कुछ तथ्यों का पता लगाने का प्रयत्न किया लेकिन मुख्यतः उनका प्रयत्न निष्फल रहा। देसाई पोल (गली) जहाँ अखा का निवासस्थान कहा जाता है वहाँ से उन्हें यत्किंचित् भी जानकारी प्राप्त न हुई, परन्तु मांडवी पोल मे रहने वाले किसी मोतीराम सोनी से उनकी आकस्मिक मुलाकात हुई। उन्होने अखा के विषय में कुछ जानकारी दी, उसमे से जो विश्वास करने योग्य थी उसका समावेश उन्होने बृहद्-काव्य दोहन भाग—३ के प्रारंभ मे दिये गये अखा के जीवन-चरित्र मे किया। विद्वान् लेखक ने सर्वप्रथम अखा का जीवनकाल निश्चय करने का प्रयत्न भी किया है।[3] श्री जयसुखलाल जोशीपुरा[4], स्वामी स्वयं ज्योति[5], श्री नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता[6], डा० एन० ए० थूठी[7], श्री उमाशंकर जोशी[8], श्री के०का० शास्त्री[9], कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह[10], डा० अम्बाशंकर नागर[11], एवं डा० रमणलाल

१. दे०, जूनुं नर्मगद्य (१८६५ ई०), पृ० ४५७-४६०।
२. दे०, कवि चरित्र ( १८६९ ई० ) भाग—२ प्राकृत कवि, पृ० ७१-७३।
३. दे०, बृहद-काव्य-दोहन भाग ३ ( १८८८ ई० ), पृ० ७-१४।
४. दे०, सचित्र साक्षर माला ( १९१२ ई० ), पृ० २४-२८।
५. दे०, अखानी वाणी, अखानो परिचय ( १९१४ ई० )।
६. दे०, अखाकृत काव्यो भाग १ ( १९३१ ई० ), अखानो क्षर जीवन, पृ० २-१७।
७. दे०, वैष्णवाज आफ गुजरात ( १९३५ ई० ), पृ० २३५-२४३।
८. दे०, अखो एक अध्ययन (द्वि० सं० १९७३ ई०) (प्रथम सं० १९४१ई०) १-७७।
९. दे०, कवि-चरित भाग १-२, पृ० ५६३-५८३।
१०. दे०, अक्षयरस ( १९६३ ई० ), पृ० १२-४४।
११. दे०, गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ।

पाठक[1], आदि के प्रयत्न मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। तदुपरांत श्री के०एम० मुन्शी[2], श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी[3], श्री अम्बालाल जानी[4] आदि के प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं।

हमने अपने इस अध्ययन में उपर्युक्त सभी विद्वानों के ग्रंथों का यथासम्भव व यथा-योग्य उपयोग किया है, अतः यहाँ उनका विशेष परिचय देना अनावश्यक होगा।

**(ग) जनश्रुतियाँ**

अखा के जीवन-परिचय का मूल आधार जनश्रुतियाँ ही हैं। जिनमें से उनका जेतलपुर से अहमदावाद आकर बसना, किसी धर्मभगिनी द्वारा उन पर अविश्वास व्यक्त करना, टकसाल मे नौकरी करते समय एक झूठे आरोप का भोग बनना आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इन सभी पर हमने आगे विस्तार से विचार किया है इसलिए यहाँ उनका उल्लेख ही पर्याप्त माना गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि अखा की जीवनी के अनुशीलन में अध्येता को प्रधानतया जनश्रुतियों और विद्वानों द्वारा समय-समय पर की गई उनकी व्याख्याओं की सामग्री पर निर्भर रहना पडता है।

**(घ) इतर सामग्री**

अखा के विषय में जो सामग्री उपलब्ध है वह अधिकांशतः उनकी रचनाओं के संकलनों में सम्पादकों की भूमिका या प्रस्तावना या टीका के रूप मे है, या फिर पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित लेखों या इतर ग्रंथों मे दिये गये अखा-विषयक विवरणों में विकीर्ण रूप से उपलब्ध होती है, जिसका अधिकांश भाग श्री मंजूलाल मजूमदार द्वारा सम्पादित 'साहित्यकार अखो' मे संकलित है।[5] अखा की विचारधारा पर यद्यपि उन्होंने कोई स्वतंत्र ग्रंथ नही लिखा तथापि इस दृष्टि से श्री नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता के प्रयत्न उल्लेखनीय है।[6] तदुपरांत श्री योगीन्द्र त्रिपाठी[7], श्री उमाशंकर जोशी[8] के साथ डा० रमणलाल पाठक[9] का भी उल्लेख किया जा सकता है। इनमे से डा० त्रिपाठी ने अखा-

१. दे०, सं० क०अ०की०जी० और उ०हि०कृ०का०आ०अ०।
२. दे०, दि गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर।
३. दे०, गु० सा० मा० स्त० अने व० मा० सू० स्त०।
४. 'अखो भक्त अने तेमनी कविता' : त्रीजी गुजराती साहित्य-परिषद्, १९०७ ई०।
५. दे०, साहित्यकार अखो ( बीजी आवृत्ति १९७४ ई० ) प्रेमानन्द सभा, वड़ोदा।
६. दे०, अखाकृत काव्यो, भाग १ में दी गई टीकाएँ।
७. दे०, कैवलाद्वैत इन गुजराती पोइट्री।
८. दे०, अखो एक अध्ययन।
९. दे०, सं० क० अ० जी० और उ० हि० कृ० आ० अ० ( अप्र० ) तथा अखो एक स्वाध्याय।

कृत अखेगीता, ब्रह्मलीला, कैवल्यगीता एवं छप्पाओं के आधार पर अखा को अजातवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, तो उमाशंकर जोशी ने उन्हें एक अनुभवी सन्त सिद्ध किया है। दोनों ही विद्वानों ने अखा की हिन्दी रचनाओं का कोई आधार ग्रहण नही किया। डा० पाठक ने अखा की दार्शनिक या आध्यात्मिक विचारधारा के विषय में जो कुछ कहा है वह न केवल अपर्याप्त एवं अपूर्ण है, वरन् उसमें गम्भीर अध्ययन का अभाव भी लक्षित होता है। अखा के समय के समाज का निरूपण छिट-फुट रूप में यत्र-तत्र मिलता है, इस दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रयत्न नही किया गया। तदुपरात इधर डा० कुञ्जविहारी वार्ष्णेय-कृत हिन्दी और गुजराती के निर्गुण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, श्री केशवलाल ठक्कर-कृत 'फिलोसफी आफ अखा' एवं डा० मणिशंकर केशरी-कृत 'सन्त कवि अखा का जीवन और कृतित्व' ( १९७३ ई० ) का भी पता चला है, लेकिन लेखक को इन कृतियों को देखने का अवसर अभी तक प्राप्त नही हुआ है।

### तुलनात्मक निष्कर्ष

कवीर एवं अखा-विषयक सामग्री के उपर्युक्त विवरण के तुलनात्मक निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि कवीर से लगभग डेढ सौ वर्ष वाद होने के कारण अखा की जीवनी एवं उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता-सम्बन्धी आधारभूत सामग्री के उपलब्ध होने की सम्भावना अपेक्षाकृत रूप से अधिक रहती है, किन्तु स्थिति इसके विपरीत है। थोड़ी बहुत सन्दिग्ध होने पर भी कवीर की रचनाओ की हस्तलिखित प्रतियाँ उनके जीवन काल के जितने निकट हैं, अखेगीता की सं० १७७३ वि० की हस्तलिखित प्रति के जैसे एकाध अपवाद को छोडकर, अखा की रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ उनके जीवन के उतने निकट की नही हैं। अधिकांश पाण्डुलिपियों में तो उनका प्रतिलिपिकाल निर्दिष्ट ही नहीं किया गया। कवीर की रचनाओं की इतनी प्राचीन प्रतियो का सुरक्षित रहना शायद उनकी असाधारण लोकप्रियता, व्यापक प्रभाव एवं उनके नाम पर एक व्यवस्थित पंथ की स्थापना के कारण सम्भव हुआ है। अखा की स्थिति इससे भिन्न प्रकार की रही है। उनकी शिष्य-परम्परा यद्यपि आज भी पाई जाती है किन्तु कवीर-पंथ जैसा कोई व्यवस्थित पंथ उनके नाम पर अस्तित्व में नही है। असाधारण प्रतिभा के धनी होने पर भी उन्हें राष्ट्रीय स्तर की लोकप्रसिद्धि की प्राप्ति नही हो सकी। गुजरात में भी उनकी लोकप्रियता का मुख्य आधार उनके छप्पा एवं अखेगीता है, शेष रचनाओ की चर्चा उनसे सम्वन्धित शोध प्रबन्धों तक ही सीमित कही जा सकती है। उनके नाम पर किसी व्यवस्थित पंथ के अभाव की स्थिति से मुख्य लाभ यह हुआ कि उनकी रचनाएँ अनुयायियों की रचनाओं के सम्मिश्रण से और उनकी जीवनी अलौकिक कथा-प्रसङ्गों के प्रचलन से सुरक्षित रह सकी है।

कबीर की भाषा, काव्यरूप, दर्शन, समाज-दर्शन आदि को लेकर जैसे विविध-लक्ष्यी
अध्ययन हुए हैं और कबीर की रचनाओं की प्रामाणिकता पर जो विस्तृत कार्य हुआ है,
अखा के विषय मे ऐसे अध्ययनों का अभाव है। किन्तु उनके प्रभाव-क्षेत्र के सीमित
रहने व उनसे सम्बन्धित अध्ययनों की न्यूनता आदि के आधार पर ही उन्हे कबीर की
तुलना मे निम्नस्तर का कवि नही कहा जा सकता।

कबीर के जीवनवृत्त के आलेखन मे उनके समकालीन एवं परवर्ती सन्तो की उक्तियाँ,
भक्तमालो के विवरण, ऐतिहासिक ग्रयों में प्राप्त उल्लेख, एवं विद्वानों की सम्मतियाँ आदि
को उनसे सम्बन्धित जनश्रुतियो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है। किन्तु
अखा की जीवनी के लेखन में कतिपय सन्तों की उक्तियों के अतिरिक्त कोई आधारभूत
सामग्री उपलब्ध न होने के कारण, अन्तःसाक्ष्य एवं ऐतिहासिक वातावरण के सन्दर्भ मे,
श्री नर्मदाशंकर एवं श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई द्वारा सकलित उनसे सम्बन्धित जन-
श्रुतियों की समीक्षा के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नही रह जाता।

इस पूर्वपीठिका के साथ अपनी निजी सीमाओ मे रहकर हम सर्वप्रथम दोनों कवियों
की जीवनी एव व्यक्तित्व पर विचार करेगे, जो इस अध्ययन के परवर्ती अध्याय के
विवेचन के विषय है।

## परिशिष्ट–ख

# संदर्भ-ग्रन्थ

### (क) हिन्दी-ग्रन्थ


| | |
|---|---|
| १. अक्षयरस | कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह |
| २. अर्ध कथानक | बनारसीदास |
| ३. उत्तर भारत की संत परंपरा | पं० परशुराम चतुर्वेदी |
| ४. औरंगजेब | डा० यदुनाथ सरकार |
| ५. कबीर | डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| ६. कबीर एक विवेचन | डा० सरनाम सिंह शर्मा |
| ७. कबीर और कबीर पंथ | डा० केदारनाथ द्विवेदी |
| ८. कबीर-कसौटी | |
| ९. कबीर का रहस्यवाद | डा० रामकुमार वर्मा |
| १०. कबीर का सहज दर्शन | प्रो० जयबहादुरलाल |
| ११. कबीर के धार्मिक विश्वास | धर्मपाल मैनी |
| १२. कबीर-ग्रंथावली | डा० पारसनाथ तिवारी |
| १३. कबीर-ग्रंथावली | डा० माताप्रसाद गुप्त |
| १४. कबीर ग्रंथावली | डा० श्यामसुन्दर दास |
| १५. कबीर चरित्र बोध | |
| १६. कबीर-दर्शन | डा० रामजीलाल 'सहायक' |
| १७. कबीर मंसूर | |
| १८. कबीर वचनावली | 'हरिऔध' |
| १९. कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धांत | डा० सरनाम सिंह शर्मा |
| २०. कबीर सागर | स्वामी युगलानन्द |
| २१. कबीर का सामाजिक दर्शन | डा० प्रह्लाद मौर्य |
| २२. कबीर साहब का बीजक | कबीर-ग्रंथ प्रकाशक समिति |
| २३. कबीर साहब की परिचयी | अनंतदास |
| २४. कबीर साहित्य और सिद्धान्त | यज्ञदत्त शर्मा |
| २५. कबीर साहित्य का अध्ययन | पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव |
| २६. कबीर साहित्य की परख | पं० परशुराम चतुर्वेदी |
| २७. कबीर साहित्य चिन्तन | पं० परशुराम चतुर्वेदी |

२८. कवितावली — तुलसीदास

२९ क्रान्तिकारी कबीर — गोविन्दलाल छावड़ा

३०. गीता-रहस्य — बालगंगाधर तिलक

३१. गुजरात के कवियों की हिन्दी काव्य-साहित्य को देन — डा० नटवरलाल व्यास

३२. गुजरात के संतो की हिन्दी वाणी — डा० अम्बाशकर नागर

३३. गुजरात के हिन्दी गौरव ग्रंथ — डा० अम्बाशंकर नागर

३४. गुजरात के संतों की हिन्दी साहित्य को देन — डा० रामकुमार गुप्त

३५. गुजरात मे कबीर परपरा — डा० कातिकुमार भट्ट

३६ गुरु ग्रंथ साहब — गुरु अर्जुन देव

३७. गोरखनाथ और उनका युग — डा० रांगेय राघव

३८. गोरखबानी — डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

३९. चिन्तामणि — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

४०. जायसी-ग्रंथावली — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

४१. तिरुवल्लुवर एवं कबीर का तुलनात्मक-अध्ययन — डा० रवीन्द्रकुमार सेठ

४२. दर्शन-दिग्दर्शन — राहुल सांकृत्यायन

४३. दोहा-कोश — सरहपाद

४४. नाथ-पंथ और निर्गुण संत-काव्य — डा० कोमलसिंह सोलंकी

४५. नाथ-संप्रदाय — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

४६. निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि — डा० मोती सिंह

४७. परिचयी साहित्य — डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

४८. बौद्ध-दर्शन मीमांसा — बलदेव उपाध्याय

४९. भक्तमाल — नाभादास

५०. भक्तमाल टीका — प्रियादास

५१. भक्ति का विकास — डा० मुंशीराम शर्मा

५२. भारत का इतिहास — डा० ईश्वरीप्रसाद

५४. भारत मे मुस्लिम शासन का इतिहास — एस०आर० शर्मा

५५. भारतीय दर्शन — बलदेव उपाध्याय

५६. भारतीय दर्शन भाग १-२ — डा० राधाकृष्णन्

५७. भारतीय साहित्य और संस्कृति — डा० मदनगोपाल गुप्त

५८. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग १-२ — डा० गोपीनाथ कविराज

५९. मध्यकालीन धर्म-साधना — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

६०. मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना — डा० हरवंशलाल शर्मा

६१. मध्यकालीन भारत — पी०डी० गुप्ता

६२. मध्यकालीन हिन्दी कविता पर शैवमत का प्रभाव — डा० कमला भंडारी

६३. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति — डा० मदनगोपाल गुप्त

६४. मध्यकालीन हिन्दी संत विचार और साधना — डा० केशनीप्रसाद चौरसिया

६५. मध्यकालीन संत साहित्य — डा० रामखेलावन पांडेय

६६. महात्मा कबीर और महात्मा गाँधी के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन — डा० रामजी लाल 'सहायक'

६७ मिश्रबन्धु विनोद, भाग १-२ — मिश्रबंधु

६८. योग-प्रवाह — डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल

६९. राजस्थान एवं गुजरात के मध्यकालीन संत एवं भक्त कवि — डा० मदनकुमार जानी

७०. रामचरित मानस — तुलसीदास

७१. रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

७२. रामानन्द संप्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव — डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव

७३. विचार-विमर्श — चन्द्रबली पांडेय

७४. शैवमत — डा० यदुवंशी

७५. संत कबीर — डा० रामकुमार वर्मा

७६ संत कवि अखा की जीवनी और उनकी हिन्दी कृतियो का आलोचनात्मक अध्ययन — डा० रमणलाल पाठक

७७ संत-काव्य — पं० परशुराम चतुर्वेदी

७८ संतमत मे साधना का स्वरूप — प्रतापसिंह चौहान

७९. संत साहित्य और साधना — डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र

८०. सत साहित्य के प्रेरणा स्रोत — पं० परशुराम चतुर्वेदी

८१. समाजशास्त्र — डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल

८२. समाजशास्त्र की प्रारंभिक धारणाएँ — डा० राजेश्वरप्रसाद अर्गल

८३. सहज साधना — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

८४. साहित्य पथ — प० परशुराम चतुर्वेदी

८५. साहित्य सहचर — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

८६. सिद्ध साहित्य — डा० धर्मवीर भारती

८७. सूफीमत और हिन्दी साहित्य — डा० विमलकुमार जैन

८८. शाकर अद्वैत वेदात का निर्गुण काव्य पर प्रभाव — डा० शातिस्वरूप त्रिपाठी

| | |
|---|---|
| ८९. हिन्दी और मराठी का संत काव्य | डा० प्रभाकर माचवे |
| ९०. हिन्दी काव्य की निर्गुणधारा मे भक्ति | डा० श्यामसुन्दर शुक्ल |
| ९१ हिन्दी काव्य मे निर्गुण संप्रदाय | डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल |
| ९२. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि | डा० गोविन्द त्रिगुणायत |
| ९३. हिन्दी को मराठी संतों की देन | डा० विनयमोहन शर्मा |
| ९४. हिन्दी संत साहित्य | डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित |
| ९५. हिन्दी संत साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव | डा० विद्यावती मालविका |
| ९६. हिन्दी साहित्य का आदिकाल | डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| ९७. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास | डा० रामकुमार वर्मा |
| ९८. हिन्दी साहित्य का इतिहास | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| ९९. हिन्दी साहित्य की भूमिका | डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी |
| २००. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि | डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय |

## (ख) गुजराती-ग्रन्थ

| | |
|---|---|
| १. श्री अखाजीनी साखिओ | भगवानजी महाराज |
| २. अखाकृत काव्यो भाग-१ | नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता |
| ३. अखानां छप्पा | डा० उमाशंकर जोशी |
| ४. अखानी वाणी अने गंग विनोद | महादेव रामकृष्ण जागुष्टे |
| ५. अखानी वाणी तथा मनहर पद | भिक्षु अखंडानन्द |
| ६. अखेगीता | डा० उमाशंकर जोशी |
| ७. अखो | नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता |
| ८. अखो अेक अध्ययन | डा० उमाशंकर जोशी |
| ९. अखो अेक स्वाध्याय | डा० रमणलाल पाठक |
| १०. अखो अने मध्यकालीन संत परंपरा | डा० योगीन्द्र त्रिपाठी |
| ११. अखो वर वहू अने बीजा नाटको | चन्द्रवदन चिमनलाल महेता |
| १२. अप्रसिद्ध अक्षयवाणी | भगवानजी महाराज |
| १३. उपायन | विष्णुप्रसाद त्रिवेदी |
| १४. कविचरित भाग १-२ | के०का० शास्त्री |
| १५. कविचरित भाग १-२ | डाह्याभाई घेलाभाई पंडित |
| १६. गुजरातनो अर्वाचीन इतिहास | गोविंदभाई हाथीभाई देसाई |
| १७. गुजरातनो पाटनगर अमदावाद | रत्नमुनि भीमराव जोटे |

१८. गुजराती भाषा अने साहित्य, पुस्तक-२ — नरसिंहराव दिवेटिया
१९. गुजराती साहित्य (मध्यकालीन) — अनंतराय रावल
२०. गुजराती साहित्यनां मार्गसूचक अने वधूं मार्ग-सूचक स्तंभो — कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी
२१. गुजराती साहित्यनी रूपरेखा, भाग-१ — विजयराय वैद्य
२२. गुजराती साहित्यनी विकासरेखा, खण्ड-१ — धीरुभाई ठाकर
२३. गुर्जर साक्षर जयंतियो
२४. गुजरातनो सांस्कृतिक वारसो — डा० रामचन्द्र ना० पंड्या
२५. जूनुं नर्मगद्य — नर्मदाशंकर महेता
२६. बृहद् काव्य-दोहन, भाग-३ — इच्छाराम सूर्यराम देसाई
२७. मध्यकालीन गुजराती साहित्यमां तत्वविचार — डा० निपुण पड्या
२८. संतोनी वाणी — भगवानजी महाराज
२९. सचित्र साक्षर माला — जयसुखलाल जोशीपुरा
३०. साहित्यकार अखो — मंजुलाल र० मजूमदार
३१. हिन्द तत्वज्ञाननो इतिहास — नर्मदाशंकर देवशंकर महेता
३२. हिन्दीनां विकासमां गुजरातिओनो फालो — जनकशंकर मनुशंकर दवे

## (ग) संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थ

१. ऋग्वेद
२. उपनिषद्—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, मुण्डक, प्रश्न, ईश, श्वेताश्वतर, केन, कठ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, माण्डूक्य
३. काव्यधारा — राहुल सांकृत्यायन
४. दैवी मीमासा — अंगिरा
५. दोहा-कोश — सरहपाद
६. धम्मपद
७. नारद भक्तिसूत्र — गीता-प्रेस
८. पातंजल योगप्रदीप — गीता-प्रेस
९. पाहुड दोहा — मुनिराम सिंह
१०. मनुस्मृति
११. महाभारत — गीता-प्रेस
१२. यजुर्वेद
१३. लययोग संहिता

१४. विवेक चूड़ामणि — आचार्य शंकर
१५. शांडिल्य भक्तिसूत्र
१६. श्रीमद्‌भागवत पुराण — गीता-प्रेस
१७. श्रीमद्‌भगवद्‌गीता — गीता-प्रेस
१८. सर्वदर्शन संग्रह — माधवाचार्य
१९. सांख्य कारिका
२०. सामवेद
२१. हठयोग प्रदीपिका

### (घ) आंग्ल-ग्रन्थ

१. ए सर्वे आफ इंडियन हिस्ट्री — के०एम० पनिकर
२. ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुहमडन रूल इन इंडिया — स्टैनले लेनपूल
३. एन आउट लाइन आफ रिलीजस लिटरेचर आफ़ इंडिया — फर्कुहर
४. एन एडवान्स हिस्ट्री आफ इंडिया — आर०सी० मजूमदार एण्ड एच०सी० राय चौधरी
५. आब्स्क्योर रिलीजस कल्ट्स — एस०बी० दास गुप्ता
६. आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया नार्थवेस्ट प्रोविन्सेज, भाग-२ — फ्यूरं
७. इंडिया थ्रू द एजेज — के०सी०व्यास एण्ड प्रो० सर देसाई
८. इंडियन इस्लाम — टिटस
९. इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर — डा० ताराचन्द
१०. कबीर एण्ड द कबीर पंथ — एच०जी० वेस्टकॉट
११. कबीर एण्ड हिज फालोअर्स — डा० एफ०ई० की
१२. कबीर : हिज बायोग्राफी — डा० मोहनसिंह
१३. कलैक्टेड वर्क्स आफ डा० भण्डारकर, वाल० ४
१४. लाइफ एण्ड कंडीशन आफ दी पीपुल आफ हिन्दुस्तान — डा० के०एम० अशरफ
१५. द अग्रेरियन सिस्टम आफ मुस्लिम इंडिया — डब्ल्यू०एच० मूरलैण्ड
१६. द बीजक आफ कबीर — रे० अहमदशाह
१७. द क्लासीकल पोएट्स आफ गुजरात — गोवर्धनराम त्रिपाठी
१८. दी हिस्ट्री आफ इंडिया, वाल्यूम-४ — इलियट एण्ड डाउसन

१९. गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर — के०एम० मुशी
२०. मिडिवल मिस्टिसिज्म — डा० क्षितिमोहन सेन
२१. मुगल एम्पायर इन इंडिया — डा० श्रीराम शर्मा
२२. मुगल रूल इन इंडिया — एडवर्ड एण्ड जेरेट
२३. फ्रॉम अकबर टू औरंगजेब — डब्ल्यू० एच० मूरलैण्ड
२४. केवलाद्वैत इन गुजराती पोयट्री — डा० योगेन्द्र त्रिपाठी
२५. रिलीजस सैक्ट्स आफ हिन्दूज — एच०एच० विल्सन
२६. दी वैष्णवाज आफ गुजरात — डा० एन०ए० थूंठी
२७. वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलोजस सिस्टम्स — डा० भण्डारकर
२८. कल्चरल हिस्ट्री आफ गुजरात — एम०आर० मजूमदार
२९. सिक्ख रिलीजन वाल्यूम-६
३०. सोसाइटी एण्ड द स्टेट इन द मुगल पीरियड — डा० ताराचन्द
३१ शक्ति एण्ड शाक्त — वुडरफ
३२. हिस्ट्री आफ राइज आफ मोहमडन पावर इन इंडिया — जान ब्रिग्स
३३. द सल्तनत आफ दिल्ली — डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव
३४. हिस्ट्री आफ मिडीवल इंडिया — डा० ईश्वरीप्रसाद


## (ङ) फारसी आदि ग्रन्थ


१, दबिस्ताने मजाहिब
२. मुहसिन फानी
३ आईने अकबरी — ब्लैकमैन द्वारा अनूदित
४. खुलासतुत्तवारीख
५. कुरान शरीफ
६ मिराते अहमदी — सैयद नवाबअली द्वारा अनूदित


## (च) हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ


१. कल्याण—भक्त-चरितांक, उपासनांक, धर्मांक, साधनांक, योगांक तथा वर्ष ४८ का अंक १२
२. खोजरिपोर्ट सन् १९०९ एवं १९११ ई०

३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक ४
४. साहित्य संदेश संत-साहित्य विशेषांक, सन् १९५८ ई०
५. हिन्दी वार्षिकी सन् १९६२ ई०
६. हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक पत्रिका) सन् १९३२ ई०

## (छ) गुजराती पत्र-पत्रिकाएँ

१. 'दीप' (१९६९-७० ई०)
२. वीणेला मोती १९७० ई०
३. फार्बस गुजराती सभा त्रैमासिक पत्रिका, सन् १९६२ ई० जुलाई-सेप्टेम्बर
४. संस्कृति : सेप्टेम्बर १९६५

●